सचित्र
योगवासिष्ठ
महारामायण

प्रथम खण्ड

❀ श्री परमात्मने नमः ❀

महर्षि वाल्मीकिजी रचित

सम्पूर्ण योगवासिष्ठ भाषा

सचित्र

प्रथम खण्ड	द्वितीय खण्ड
वैराग्य प्रकरण	निर्वाण प्रकरण
मुमुक्षु प्रकरण	–पूर्वार्द्ध
उत्पत्ति प्रकरण	निर्वाण प्रकरण
स्थिति प्रकरण	–उत्तरार्द्ध
उपशम प्रकरण	

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक भगवान श्रीरामचन्द्र और परम पूज्य ज्ञानस्वरूप महर्षि वशिष्ठ के सम्वाद के रूप में इस महान् ग्रन्थ में आत्मा–परमात्मा, जीव-जगत, बंधन-मोक्ष आदि दुरूह विषयों का बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है।

आत्म–बोध के लिए सर्वोत्तम ग्रन्थ

सम्पादक
अनेक धार्मिक ग्रन्थों के रचयिता 'श्री गिरधरजी'

प्रकाशक
काशी पुस्तकालय
सी–14, इण्डस्ट्रियल एरिया
मथुरा

सर्वाधिकार स्वरक्षित है।

[redacted]

प्रथम बार २०००

योगवासिष्ठ के पाठक से नम्र निवेदन

यह महान् आदरणीय ग्रन्थ आपके समक्ष है। हमारी नम्र प्रार्थना है कि इसका दुरुपयोग कदापि नहीं होना चाहिए। कुछ महानुभाव पन्ना पलटने में मुख में उंगली लगाकर प्रयोग करते हैं, यह सर्वथा वर्जनीय है। हमने ग्रन्थ में पृष्ठ चिन्ह के लिए डोरी लगाई हुई है उसी का प्रयोग करना चाहिए।

धर्मविमुख महानुभावों को यह ग्रन्थ नहीं लेना चाहिए। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक स्वयं परमात्मा भगवान श्रीराघवेन्द्र में पूर्ण आस्था रखते हुए इस ग्रन्थ के मनन करने पर साधक को अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होना अवश्यम्भावी है।

साधक को पूर्णतया शुद्ध होकर इस धर्मग्रन्थ का पाठ करना चाहिए। यह ग्रन्थ साधारण आख्यानों की तरह पढ़ने की वस्तु न होकर परमात्मा के चिन्तन की ओर अग्रसर करने वाला ग्रन्थ है।

ग्रन्थ को सुरक्षित एवं शुद्ध रखने के लिए रेशम का वसना अतिरिक्त १०/- मात्र अधिक देकर प्राप्त कर सकते हैं।

जैसे स्वप्न में दीखने वाले दृश्य, बालक को दीखने वाला बेताल, रज्जु में दीखने वाला सर्प, स्वर्ण में दीखने वाले कड़े-बाजूबन्द, प्रशान्त महासागर में उठने वाली तरंगें और आवर्त, मिट्टी में दीखने वाले घड़े-सिकोरे और आकाश में दीखने वाले नगर-घर आदि सब उपाधिमात्र हैं, भ्रममात्र हैं, वैसे ही ब्रह्म में दीखने वाला यह सम्पूर्ण जगत् भ्रममात्र है। वस्तुतः उसकी कोई भिन्न सत्ता है ही नहीं।

श्रीपरमात्मने नमः

सम्पूर्ण योगवासिष्ठ भाषा

वैराग्य–प्रकरण

प्रथम सर्ग

कथा का आरम्भ

सृष्टि के आरम्भ में सम्पूर्ण भूत जिनसे प्रकट होकर प्रतीति के विषय होते हैं और प्रलयकाल आने पर जिनमें ही लीन हो जाते हैं, उन सत्यस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तथा कर्ता, कारण और क्रिया–इन सबका जिनसे ही अविर्भाव होता है, उन ज्ञानस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।

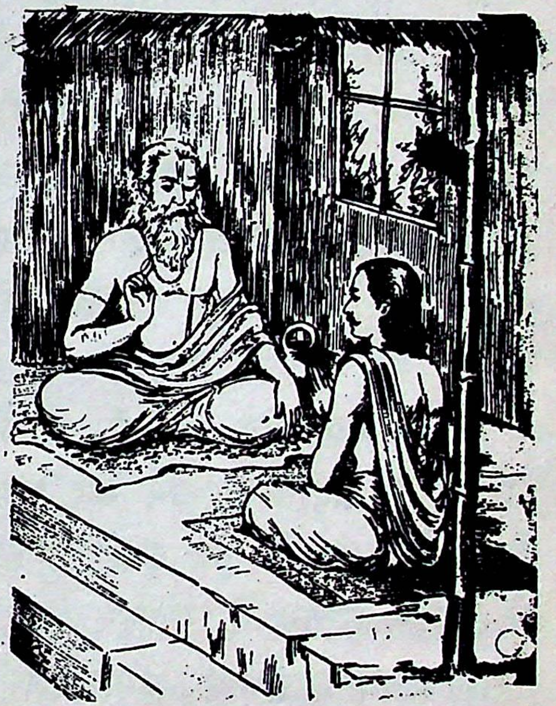

जिनसे स्वर्ग और भूतल आदि सभी लोकों में आनन्दरूपी जल के कण स्फुरित होते हैं–प्राणियों के अनुभव में आते हैं तथा जो समस्त जीवों के जीवनाधार हैं, उन पूर्ण चिन्मय आनन्द के महासागर रूप परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है।

पूर्वकाल में सुतीक्ष्ण नाम से प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जिनके मन में संशय छा गया था; अतः उन्होंने महर्षि अगस्त्य के आश्रम में जाकर उन महामुनि से आदरपूर्वक पूछा–'भगवन्! आप धर्म के तत्व को जानते हैं, आपको सम्पूर्ण शास्त्रों के सिद्धान्त का सुनिश्चित ज्ञान है। मेरे हृदय में एक महान् संदेह है, आप कृपापूर्वक इसका समाधान कीजिये। मोक्ष का साधन कर्म है या ज्ञान है अथवा दोनों ही हैं। इन तीनों पक्षों से किसी एक का निश्चय करके जो वास्तव में मोक्ष का कारण हो, उसका प्रतिपादन कीजिये।'

अगस्त्य ने कहा– ब्रह्मन्! जैसे दोनों ही पंखों से पक्षियों का आकाश में उड़ना सम्भव होता है, उसी प्रकार ज्ञान और निष्काम कर्म दोनों से ही परमपद

की प्राप्ति होती है। इस विषय में एक प्राचीन इतिहास है, जिसका मैं तुम्हारे समक्ष वर्णन करता हूँ। एक समय की बात है, कारुण्य नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मण थे, जो अग्निवेश्य के पुत्र थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन किया था तथा वे वेद–वेदांगों के पारंगत विद्वान थे। गुरू के यहाँ से विद्या पढ़कर अपने घर लौटने के बाद वे संध्या–वन्दन आदि कोई भी कर्म न करते हुए चुपचाप बैठे रहने लगे। उनके मन में संशय भरा हुआ था। पिता अग्निवेश्य ने देखा कि मेरा पुत्र शास्त्रोक्त कर्मों का परित्याग करके निन्दनीय हो गया है, तब वे उसके हित के लिये इस प्रकार बोले 'बेटा! यह क्या बात है ? तुम अपने कर्तव्य–कर्मों का पालन क्यों नहीं करते ? बताओ तो सही। यदि सत्कर्मों के अनुष्ठान में नहीं लगोमे तो तुम्हें परम सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ? तुम जो इस कर्तव्य–कर्म से निवृत्त हो रहे हो, इसमें क्या कारण है ?

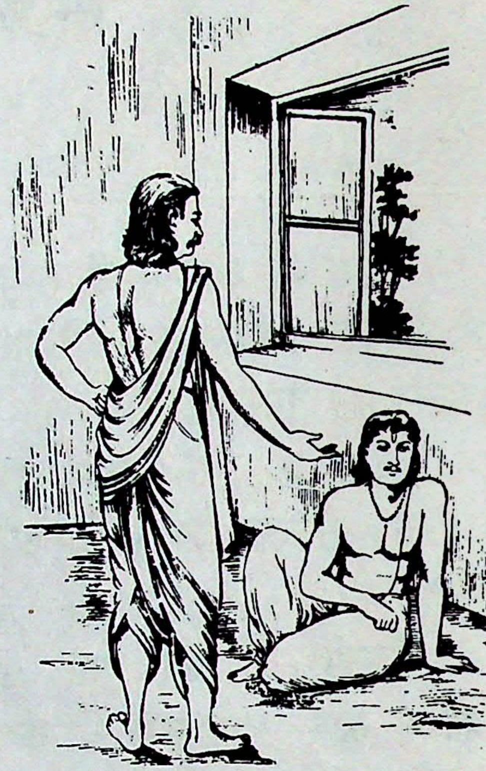

कारुण्य बोले–पिताजी! आजीवन अग्निहोत्र और प्रतिदिन संध्योपासना करे– इस प्रवृत्तिरूप धर्म का श्रुति और स्मृति ने विधान अथवा प्रतिपादन किया है। साथ ही एक दूसरी श्रुति भी है, जिसके अनुसार न धन से, न कर्म से और न संतान के उत्पादन से ही मोक्ष प्राप्त होता है। मुख्य–मुख्य यतियों ने एकमात्र त्याग से ही अमृतस्वरूप मोक्ष–सुख का अनुभव किया है। पूज्य पिताजी! इन दो प्रकार की श्रुतियों में से मुझे किसके आदेश का पालन करना चाहिये ? इस संशय में पड़कर मैं कर्म की ओर से उदासीन हो गया हूँ।

अगस्त्य कहते हैं– तात सुतीक्ष्ण! पिता से यों कहकर वे ब्राह्मण कारुण्य चुप हो गये। पुत्र को इस प्रकार कर्म से उदासीन हुआ देख पिता ने पुनः उससे कहा कि बेटा! मैं तुमसे एक कथा कहता हूँ, उसे सुनो और उसके सम्पूर्ण तात्पर्य का अपने हृदय में निश्चय कर लेने के पश्चात् तुम्हारी जैसी

इच्छा हो, वैसा करो।

सुरुचि नाम से प्रसिद्ध कोई देवलोक की स्त्री थी जो अप्सराओं में श्रेष्ठ समझी जाती थी। एक दिन वह मयूरों के झुंड से घिरे हुए हिमालय के एक शिखर पर बैठी थी। उसी समय उसने अन्तरिक्ष में इन्द्र के एक दूत को कहीं जाते देखा। अप्सरा ने उससे पूछा– 'महाभाग देवदूत! आप कहाँ से आ रहे हैं और इस समय कहाँ जायँगे यह सब कृपा करके मुझे बताइये।'

देवदूत ने कहा– भद्रे! सुनो; जो वृत्तान्त जैसे घटित हुआ है, वह सब मैं तुम्हें विस्तार से बता रहा हूँ। धर्मात्मा राजा अरिष्टनेमि अपने पुत्र को राज्य देकर स्वयं वीतराग हो तपस्या के लिये वन में चले गये और अब गन्धमादन पर्वत पर वे तपस्या कर रहे हैं। वहाँ वन में ज्यों ही उन्होंने दुस्तर तपस्या आरम्भ की, त्यों ही देवराज इन्द्र ने मुझे आदेश दिया– 'दूत! तुम यह विमान लेकर शीघ्र वहाँ जाओ। इस विमान में अप्सराओं के समुदाय को भी साथ ले लो। नाना प्रकार के वाद्य इसकी शोभा बढ़ाते रहें। गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष और किंनर आदि से भी यह सुशोभित होना चाहिये। इसमें ताल, वेणु और मृदंग आदि भी रख लो। इस प्रकार भाँति-भाँति के वृक्षों से भरे हुए सुन्दर गन्धमादन पर्वत पर पहुँचकर तुम राजा अरिष्टनेमि को इस विमान पर चढ़ा लो और उन्हें स्वर्ग का सुख भोगने के लिये अमरावती नगरी में ले जाओ।'

देवराज इन्द्र की यह आज्ञा पाकर मैं सामग्रियों से संयुक्त विमान् ले उस पर्वत पर गया। वहाँ पहुँचकर राजा अरिष्टनेमि के आश्रम पर गया; फिर मैंने देवराज इन्द्र की सारी आज्ञा राजा से कह सुनायी। शुभे! वे मेरी बात सुनकर संदेह में पड़ गये और इस प्रकार बोले– 'देवदूत! मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ, आप मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें। स्वर्ग में कौन-कौन से गुण हैं और कौन-कौन से दोष ? स्वर्गलोक में रहने के गुण-दोष को जानने के पश्चात् मेरी जैसी रुचि होगी, वैसा करूँगा।'

मैंने कहा– 'राजन्! स्वर्गलोक में जीव अपने पुण्य की सामग्री के अनुसार उत्तम सुख का उपभोग करता है। उत्तम पुण्य से उत्तम सुख का उपभोग करता है। उत्तम पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मध्यम पुण्य से मध्यम स्वर्ग मिलता है और इनकी अपेक्षा निम्न श्रेणी के पुण्य से उसके अनुरूप स्वर्ग सुलभ होता है। इसके विपरीत कुछ नहीं होता। स्वर्ग में भी दूसरों को अपने से ऊँची

स्थिति में देखकर लोगों के लिये उनका उत्कर्ष असह्य हो उठता है। जो लोग समान स्थिति में होते हैं, वे भी अपने बराबर वालों के साथ स्पर्धा रखते हैं तथा जो स्वर्गवासी अपने से हीन स्थिति में होते हैं, उनको अपनी अपेक्षा अल्पसुखी देखकर अधिक सुखवालों को संतोष होता है। इस प्रकार असहिष्णुता, स्पर्धा और संतोष का अनुभव करते हुए पुण्यात्मा पुरुष तभी तक स्वर्ग में रहते हैं, जब तक उनके पुण्यों का भोग समाप्त नहीं हो जाता। पुण्यों का क्षय हो जाने पर वे जीव पुनः इस मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं और पार्थिव-शरीर धारण करते हैं। राजन्! स्वर्ग में इसी तरह के गुण और दोष विद्यमान हैं।'

भद्रे! मेरी यह बात सुनकर राजा ने इस प्रकार उत्तर दिया– 'देवदूत! जहाँ ऐसा फल प्राप्त होता है, उस स्वर्गलोक में मैं नहीं जाना चाहता। आप इस विमान को लेकर जैसे आये थे, वैसे ही देवराज इन्द्र के पास चले जाइये। आपको नमस्कार है।'

भद्रे! जब राजा ने मुझसे ऐसी बात कही, तब मैं इन्द्र के समक्ष यह वृतान्त निवेदन करने के लिये लौट गया। वहाँ जब मैंने सब बातें ज्यों की त्यों कह सुनायीं, तब देवराज इन्द्र को महान् आश्चर्य हुआ और वे मुझसे पुनः बोले– दूत! तुम फिर वहाँ जाओ और उस विरक्त राजा को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये तत्त्वज्ञ महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ले जाओ। वहाँ महर्षि वाल्मीकि से मेरा यह संदेश कह देना– 'महामुने! इन विनयशील, वीतराग तथा स्वर्ग की भी इच्छा न रखने वाले नरेश को आप तत्त्वज्ञान का उपदेश दीजिये। ये जन्म-मरणरूप संसार-दुःख से पीड़ित हैं; अतः आपके दिये हुए तत्त्वज्ञान के उपदेश से उन्हें मोक्ष प्राप्त होगा।'

यों कहकर देवराज ने मुझे राजा अरिष्टनेमि के पास भेजा। तब मैंने पुनः वहाँ जाकर राजा को वाल्मीकिजी के पास पहुँचाया, उनसे देवराज इन्द्र का संदेश कहा तथा राजा ने उन महर्षि से मोक्ष का साधन पूछा। तदनन्तर वाल्मीकिजी ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कुशल प्रश्न की बात आरम्भ करते हुए राजा से उनके आरोग्य का समाचार पूछा। तत्पश्चात् श्री वाल्मीकिजी ने कहा– राजन्! सुनो; मैं तुमसे अखण्ड रामायण की कथा कहूँगा। उसे सुनकर यत्नपूर्वक

हृदय में धारण कर लेने पर तुम जीवनमुक्त हो जाओगे।

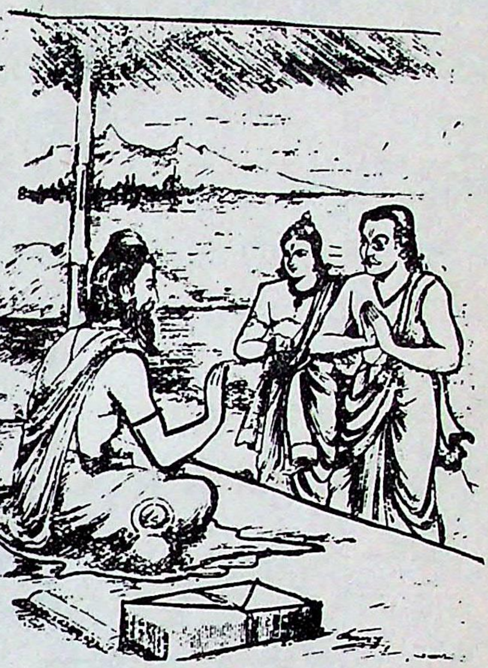

राजा ने पूछा- हे श्रेष्ठ महामुने! श्रीराम कौन हैं ? उनका स्वरूप कैसा है ? वे किसके वंशज थे ? वे बद्ध थे या मुक्त ? पहले आप मुझे इन्हीं बातों का निश्चित ज्ञान प्रदान कीजिये।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा- स्वयं भगवान् श्रीहरि ही शाप के पालन के बहाने राजा श्रीराम के रूप में अवतीर्ण हुए थे। वे प्रभु सर्वज्ञ होने पर भी आरोपित अथवा स्वेच्छा से गृहीत अज्ञान से युक्त हो साधारण मनुष्यों की भाँति अल्पज्ञ से हो गये।

राजा ने पूछा- महर्षे! श्रीराम तो सच्चिदानन्दस्वरूप चैतन्यघनविग्रह थे। उन्हें शाप प्राप्त होने का क्या कारण था?

श्री वाल्मीकिजी ने कहा- राजन्! सनत्कुमार, जो सर्वथा निष्काम थे, ब्रह्मलोक में निवास करते थे। एक दिन त्रिलोकीनाथ भगवान् विष्णु वैकुण्ठलोक से वहाँ पधारे। उस समय ब्रह्माजी ने वहाँ उनका पूजन किया। सत्यलोक में निवास करने वाले दूसरे महात्माओं ने भी उनका स्वागत-सत्कार किया। केवल सनत्कुमार ने उनके आदर-सत्कार में कोई भाग नहीं लिया-वे चुपचाप बैठे ही रह गये। तब उनकी ओर देखकर भगवान् श्रीहरि ने कहा- 'सनत्कुमार! तुम अपने को निष्काम समझकर अहंकारी हो गये हो, इसीलिये जड़वत् स्तब्ध बने बैठे हो। इस गर्वयुक्त चेष्टा के कारण तुम शाप या दण्ड पाने के योग्य हो, अतः शरजन्मा कुमार के नाम से विख्यात हो दूसरा शरीर धारण करो।' यह सुनकर सनत्कुमार ने भी भगवान् विष्णु को शाप दिया-'देवेश्वर! आप भी अपनी सर्वज्ञता को कुछ काल के लिये छोड़कर अज्ञानी जीव के समान हो जायँगे।' एक समय अपनी पत्नी को श्रीहरि के चक्र से मारी गयी देख महर्षि भृगु का क्रोध बहुत बढ़ गया। वे उन्हें शाप देते हुए बोले- 'विष्णो! आपको भी कुछ काल के लिये अपनी पत्नी से वियोग का कष्ट सहना पड़ेगा।' इस प्रकार सनत्कुमार और भृगु के शाप देने पर (उनकी वाणी सत्य करने के लिये)

संसार में अनासक्त भाव से रह कर किया था।'

महामना भरत, लक्ष्मण, शत्रुघन, कौशल्या, सुमित्रा, सीता, राजा दशरथ, श्रीरामसखा कृतास्त्र और अविरोध, पुरोहित वसिष्ठ, वामदेव तथा अन्यान्य आठ मन्त्री-ये सभी ज्ञान में पारंगत थे। धृष्टि, जयन्त, भास, सत्यवादी विजय, विभीषण, सुषेण, हनुमान् और इन्द्रजित्-ये श्रीराम के आठ मन्त्री बताये गये हैं। ये सब-के-सब समदर्शी थे। इनका चित्त विषयों में आसक्त नहीं था। ये सभी जीवन्मुक्त महात्मा थे और प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त होता, उसी में संतुष्ट रहकर तदनुकूल व्यवहार करते थे। बेटा! इन लोगों ने जिस प्रकार होम, दान और आदान-प्रदान किया था, इन्होंने जगत् में जिस प्रकार निवास किया था और जिस प्रकार स्मरण-चिन्तन अथवा श्रौत-स्मार्त कर्मों का पालन किया था, उसी प्रकार यदि तुम भी बर्ताव करते हो तो संसार रूपी संकट से छूटे हुए ही हो। उदार एवं सत्त्वगुण से सम्पन्न पुरुष अपार संसार-समुद्र में गिरने पर भी यदि उपर्युक्त उत्कृष्ट साधन को अपना ले तो उसे न तो शोक प्राप्त होता है और न वह दीनता अथवा दुःख में ही पड़ता है। सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो वह परमानन्द सुधा का पान करके सदा के लिये परम तृप्त है।

द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीय सर्ग

श्रीराम की तीर्थ यात्रा का वर्णन

भरद्वाज बोले- ब्रह्मन्! आप श्रीरामचन्द्र जी की कथा से आरम्भ करके क्रमशः जीवन्मुक्त की स्थिति का मुझ से वर्णन कीजिये।

श्री वाल्मीकिजी ने कहा-साधु भरद्वाज! जैसे रूप रहित आकाश में नील-पीत आदि वर्णों का भ्रम होता है, उसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्म में अज्ञानवश जगत् की सत्ता का भ्रम होता है। यह जो जगत्सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हो गया है, इसे इस तरह भुला दिया जाय कि फिर कभी इसका स्मरण ही न हो-इसी को मैं उत्तम ज्ञान मानता हूँ। इस दृश्य प्रपञ्च का अत्यन्त अभाव है-यह बिना हुए ही भासित हो रहा है, जब तक ऐसा बोध नहीं होता, तब तक कोई कभी भी उस उत्कृष्ट आत्मज्ञान का अनुभव नहीं कर सकता; इसलिये आत्मज्ञान का अन्वेषण-उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

इस (योगवासिष्ठरूप) शास्त्र का ज्ञान होने पर इसी जीवन में उस आत्मतत्त्व का बोध हो जाय–यह सर्वथा सम्भव ही है– वह होकर ही रहेगा। इसी उद्देश्य से इस शास्त्र का विस्तार किया जाता है। यदि तुम इस शास्त्र का श्रवण करोगे तो निश्चय ही तुम्हें उस आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो जायेगाः अन्यथा उसकी प्राप्ति असम्भव है।

निष्पाप भरद्वाज! यह जगत्रूपी भ्रम यद्यपि प्रत्यक्ष दिखायी देता है, तो भी इस शास्त्र के विचार से अनायास ही ऐसा अनुभव हो जाता है कि 'यह है ही नहीं'–ठीक उसी तरह जैसे आकाश में नील आदि वर्ण प्रत्यक्ष दीखने पर भी विचार करने से बिना परिश्रम के ही यह समझ में आ जाता है कि इसका अस्तित्व नहीं है। यह दृश्य जगत् वास्तव में है ही नहीं, ऐसा बोध होने पर जब मन से दृश्य–प्रपञ्च का निवारण या अभाव हो जाय, तब परमनिर्वाण रूप शान्ति का स्वतः अनुभव होने लगता है। ब्रह्मन्! सम्पूर्ण रूप से वासनाओं का जो परित्याग (अत्यन्त अभाव) है, वही उत्तम मोक्ष कहलाता है। उसे अविद्यारूपी मल से रहित ज्ञानी ही प्राप्त कर सकते हैं। विप्रवर! जैसे शीत के नष्ट होने पर हिमकण तुरंत गल जाते हैं, उसी प्रकार वासनाओं के क्षीण हो जाने पर (वासना–पुञ्जरूप) चित्त भी शीघ्र ही गल जाता है (उसका अभाव–सा हो जाता है)।

वासना दो प्रकार की बतायी गयी है–एक शुद्ध वासना और दूसरी मलिन वासना। मलिन वासना जन्म की हेतुभूत है–उसके द्वारा जीव जन्म–मृत्यु के चक्कर में पड़ता है और शुद्ध वासना जन्म का नाश करने वाली (अर्थात् मोक्ष की साधिका) है। विद्वानों ने मलिन वासना को पुनर्जन्म की प्राप्ति कराने वाली बताया है। अज्ञान ही उसकी घनीभूत आकृति है तथा वह बढ़े हुए अहंकार से सुशोभित होती है। जो भुने हुए बीज के समान पुनर्जन्मरूपी अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति को त्यागकर केवल शरीर धारण मात्र के लिये स्थित रहती है, वह वासना 'शुद्ध' कही गयी है। जो लोग शुद्ध वासना से युक्त हैं, वे फिर जन्मरूप अनर्थ के भाजन नहीं होते। जानने योग्य परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले वे परम बुद्धिमान् पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहलाते हैं।

महामते भरद्वाज! अब तुम श्रीरामचन्द्रजी की जीवनचर्या से सम्बन्ध रखने वाली इस मंगलकारिणी कथा का क्रमशः श्रवण करो। मैं उसका वर्णन करूँगा,

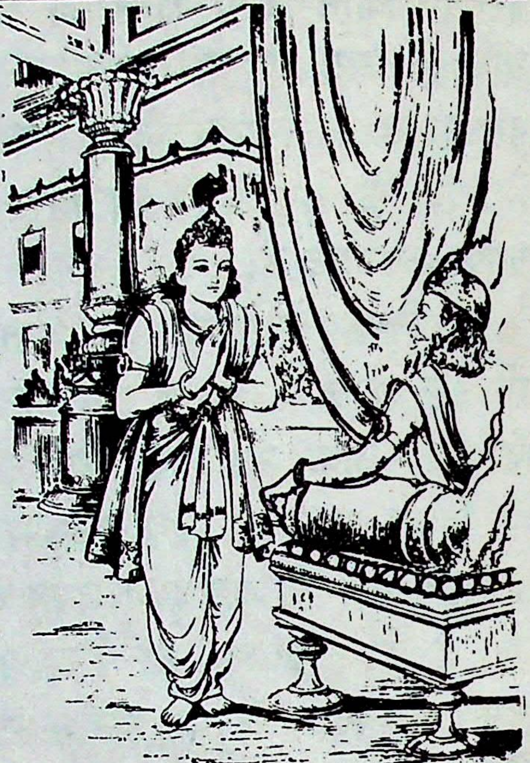

उसी के द्वारा तुम सदा के लिये सम्पूर्ण तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लोगे। वत्स! जिन्हें कहीं से भी कोई भय नहीं है, वे कमल नयन भगवान् श्रीराम जब अध्ययन के पश्चात् विद्यालय से निकलकर घर को लौटे, तब भाँति-भाँति की लीलाएँ करते हुए उन्होंने राजभवन में कुछ दिन व्यतीत किये। तदनन्तर कुछ समय बीतने पर, जब कि राजा दशरथ भूमण्डल के पालन में लगे थे और प्रजा वर्ग के लोग रोग-शोक से रहित हो बड़े सुख से दिन बिता रहे थे एक दिन अनन्त कल्याणमय गुणों से सुशोभित होने वाले श्रीरामचन्द्रजी के मन में तीर्थों तथा पुण्यमय आश्रमों के दर्शन की अत्यन्त उत्कण्ठा जाग उठी। तब श्रीराम ने पिता के पास जाकर उनके चरण-कमलों में प्रणाम किया और इस प्रकार कहा।

श्रीराम बोले-पिताजी! मेरे मन में तीर्थों, देवमन्दिरों, वनों तथा आश्रमों का दर्शन करने की बड़ी उत्कण्ठा हो रही है। आपके समक्ष मेरी यह पहली याचना है, आप इसे सफल करने योग्य हैं। नाथ! संसार में ऐसा कोई याचक नहीं है, जिसे अभीष्ट वस्तु देकर आपने उसका आदर न किया हो।

श्रीराम पहली बार प्रार्थी होकर राजा के समक्ष उपस्थित हुए थे। उनके इस प्रकार प्रार्थना पर राजा दशरथ ने वसिष्ठजी के साथ विचार करके उन्हें तीर्थ-दर्शन के लिये आज्ञा दे दी। उस समय शुभ नक्षत्र और शुभ दिन में ब्राह्मणों ने आकर उनके लिये स्वस्तिवाचन किया। उनके शरीर को मांगलिक वेष-भूषा से अलंकृत किया गया। माताओं ने उन्हें हृदय से लगा-लगाकर अशीर्वाद दिये और आभूषण पहनाये। फिर वे रघुनाथजी तीर्थ-यात्रा के लिये उद्यत हो लक्ष्मण और शत्रुघन-इन दो भाइयों, वसिष्ठजी के भेजे हुए शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों तथा अपने ऊपर स्नेह रखने वाले कुछ इने-गिने राजकुमारों के साथ अपने उस राजभवन से बाहर निकले। श्रीरामचन्द्रजी दान-मान आदि से

ब्राह्मणों को अपने अनुकूल बनाते, सब ओर से प्रजाओं के अशीर्वाद सुनते और सम्पूर्ण दिशाओं के दृश्यों पर दृष्टिपात करते वन्य-प्रदेशों में भ्रमण करने लगे। उन्होंने अपने निवास स्थान उस कोसल जनपद से आरम्भ करके स्नान, दान, तप और ध्यानपूर्वक क्रमशः समस्त तीर्थ-स्थानों का दर्शन किया। नदियों के पवित्र तट, पुण्य वन, पावन आश्रम, जंगल, जनपदों की सीमाओं में स्थित समुद्र और पर्वतों के तट, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल आभावाली गंगा, नील कमल की सी कान्तिवाली निर्मल कलिन्दनन्दिनी यमुना, सरस्वती, शतद्रू (सतलज), चन्द्रभागा (चिनाब), इरावती (रावी), वेणी, कृष्णवेणी, निर्विन्ध्या, सरयू, चर्मण्वती (चम्बल), वितस्ता (झेलम), विपाशा (व्यास), बाहुदा, प्रयाग, नैमिषारण्य, धर्मारण्य, गया, वाराणसी (काशीपुरी), श्रीशैल, केदारनाथ, पुष्कर, क्रमप्राप्त मानस सरोवर, उत्तरमानस, वड़वामुख, अन्य तीर्थ समुदाय, अग्नि तीर्थ, महा तीर्थ, सरोवर, सरिताएँ, नद, तालाब या कुण्ड-इन सबका उन्होंने आदरपूर्वक दर्शन किया।

स्वामी कार्तिकेय, शालग्राम स्वरूप श्रीविष्णु, भगवान् विष्णु और शिव के चौसठ स्थान, नाना प्रकार के आशचर्यजनक दृश्यों से विचित्र शोभा धारण करने वाले चारों समुद्रों के तट, विन्ध्य पर्वत और मन्दराचल के कुञ्ज, हिमालय आदि सात कुल-पर्वतों के स्थान तथा बड़े-बड़े राजर्षियों, ब्रह्मर्षियों, देवताओं और ब्राह्मणों के मंगलकारी पावन आश्रमों का भी श्रीरामचन्द्र ने दर्शन किया। दूसरों को मान देने वाले श्रीरघुनाथजी अपने भाइयों के साथ बारंबार चारों दिशाओं के प्रान्तभागों तथा भूमण्डल के सभी छोरों में घूमते फिरे। जैसे देवता आदि से सम्मानित भगवान् शंकर सम्पूर्ण दिशाओं में बिहार करके पुनः शिवलोक में लौट आते हैं, उसी प्रकार रघुनन्दन श्रीराम देवताओं, किंनरों तथा मनुष्यों से सम्मानित हो इस सम्पूर्ण भूमण्डल का अवलोकन करके फिर अपने घर लौट आये।

तृतीय सर्ग समाप्त

चतुर्थ सर्ग

विश्वामित्र का आगमन

श्रीवाल्मीकिजी बोले भरद्वाज! जब श्रीराम नगर को लौटे, उस समय (उनका स्वागत करते हुए) पुरवासीजन उनके ऊपर पुष्प बिखेरने लगे। वहाँ पहुँचकर रघुनाथजी ने पहले पिता को प्रणाम किया, फिर क्रमशः कुलगुरु वसिष्ठजी को, बड़े बन्धु-बान्धवों को, ब्रह्मणों को तथा कुल के बड़े बूढ़े लोगों को मस्तक झुकाया। फिर सुहृदों, बन्धुओं, पिता तथा ब्राह्मण समुदाय ने श्रीराम को बारंबार हृदय से लगाया और श्रीराम ने भी उनके प्रति अभिवादन एवं प्रिय भाषण आदि यथोचित आचार-व्यवहार का निर्वाह किया। उस समय श्रीरघुनाथजी आनन्दोल्लास से फूले नहीं समाते थे। अयोध्या में श्रीरामचन्द्रजी के शुभागमन के उपलक्ष्य में लगातार आठ दिनों तक आनन्दोत्सव मनाया गया। उस समय हर्ष से मतवाली जनता के द्वारा सुख पूर्वक किये गये गीत-वाद्य आदि का मधुर कोलाहल सब ओर व्याप्त हो गया था। तबसे श्रीरघुनाथजी विभिन्न देशों में प्रचलित नाना प्रकार के रहन-सहन का जहाँ-तहाँ वर्णन करते हुए घर में ही सुख पूर्वक रहने लगे।

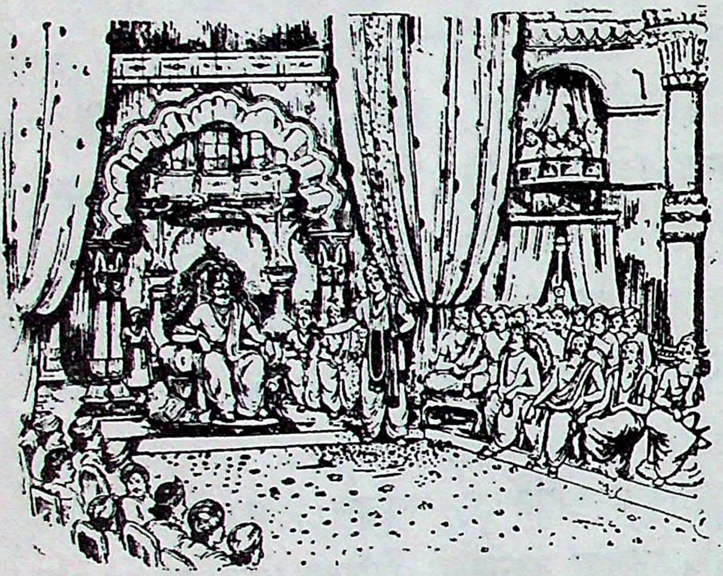

श्रीरामचन्द्रजी प्रतिदिन सबेरे उठकर विधिपूर्वक संध्या-वन्दन करके राजसभा में बैठे हुए अपने इन्द्रतुल्य तेजस्वी पिता महाराज दशरथ का दर्शन किया करते थे। वहाँ एक पहर तक वसिष्ठ आदि के साथ बैठकर आदरपूर्वक ज्ञानभरी कथा-वार्ता सुना करते थे। भाईयों के साथ तीर्थयात्रा से लौटने पर श्रीरघुनाथजी प्रायः ऐसी ही दिनचर्या को अपनाकर पिता के घर में सुख पूर्वक रहते थे। निष्पाप भरद्वाज! श्रीरामचन्द्रजी की प्रत्येक चेष्टा राजोचित व्यवहार के कारण बड़ी मनोहर प्रतीत होती थी; वह सत्पुरुषों के चित्त में चन्द्रमा की चाँदनी के समान आल्हाद उत्पन्न करती थी। सभी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा

करते थे तथा वह अमृतरस के समान मधुर, सुन्दर एवं कोमल होती थी। ऐसी ही चेष्टा के द्वारा वे दिन व्यतीत करते थे।

भरद्वाज! तदनन्तर जब श्रीरघुनाथजी की अवस्था सोलह वर्ष से कुछ ही कम थी, शत्रुघन और लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजी का निरन्तर अनुसरण करते थे, भरत सुख पूर्वक अपने नाना के यहाँ विराज रहे थे, महाराज दशरथ इस सारी पृथ्वी का यथोचित रूप से पालन कर रहे थे तथा वे महाप्राज्ञ नरेश प्रतिदिन मन्त्रियों के साथ बैठकर अपने पुत्रों के विवाह के लिये भी परामर्श करने लगे थे, उन्हीं दिनों तीर्थयात्रा पूरी करके अपने घर में रहते हुए श्रीराम दिन-पर-दिन कृश होने लगे।

भरद्वाज! महाराज दशरथ श्रीराम से बारंबार स्नेह युक्त मधुरवाणी में पूछते-'बेटा! तुम्हारे मन में कैसी बड़ी भारी चिन्ता पैदा हो गयी है ?' वे उत्तर देते-'पिताजी! मुझे कोई कष्ट नहीं है।' इतना ही कहकर कमलनयन श्रीराम पिताजी की गोद में चुपचाप बैठ जाते थे।

तदनन्तर एक दिन राजा दशरथ ने समस्त कार्यों का ज्ञान रखने वाले, वक्ताओं में श्रेष्ठ वसिष्ठजी से पूछा-'गुरुदेव! श्रीराम क्यों खिन्न हैं ?' उनके इस प्रकार पूछने पर वसिष्ठ मुनि ने कुछ सोचकर राजा से कहा-'श्रीमान्! महाराज! इसमें कुछ कारण है; किंतु इसके लिये आपके मन में दुःख नहीं होना चाहिये।'

इसी समय महर्षि विश्वामित्र अयोध्या नरेश दशरथ से मिलने के लिये वहाँ आये। उन दिनों धर्म कार्य में तत्पर रहने वाले उन बुद्धिमान् महर्षि के यहाँ एक यज्ञ हो रहा था। माया, बल और वीर्य से उन्मत्त रहने वाले राक्षसों ने एक साथ आक्रमण करके उनके उस यज्ञ का विध्वंस कर डाला। उस यज्ञ की रक्षा के लिये ही उन्होंने महाराज दशरथ से मिलने की इच्छा की थी; क्योंकि राक्षसों के उत्पात के कारण। वे मुनि अपने उस यज्ञ को बिना किसी विघ्न-बाधा के पूर्ण नहीं कर पाते थे। तब उन निशाचरों के विनाश के लिये उद्यत हो वे तपोनिधि महातेजस्वी विश्वामित्र मुनि अयोध्यापुरी में आये। वहाँ पहुँचकर राजा से मिलने की अभिलाषा लिये वे द्वारपालों से बोले-'तुम लोग शीघ्र जाकर महाराज को मेरे आने की सूचना दो। उनसे कहना-गाधि के पुत्र कुशिकवंशी विश्वामित्र आये हैं।'

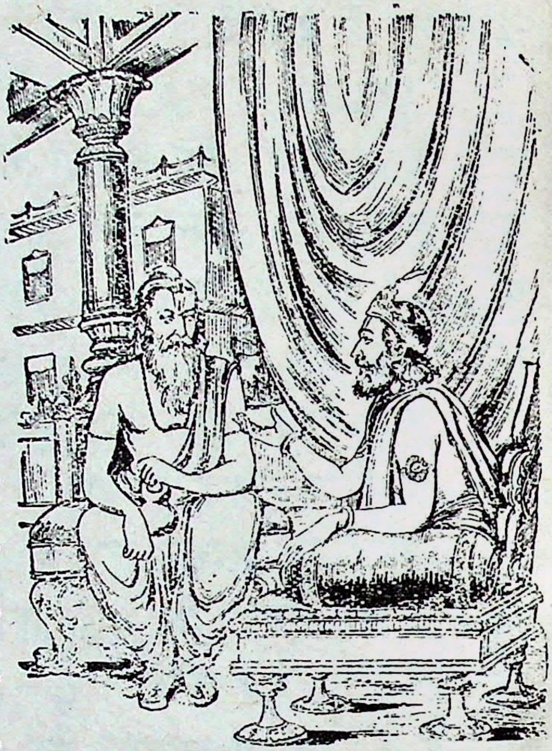

मुनि का यह वचन सुनकर राजद्वार पर रहने वाले पहरेदारों ने राजमहल में जाकर अपने स्वामी छड़ीदार से बताया-प्रभो! महर्षि विश्वामित्र पधारे हैं। तब उस छड़ीदार ने सभा मण्डप में राजाओं की मण्डली से घिरे बैठे हुए महाराज के पास तुरंत जाकर सूचना दी-'देव! राजद्वार पर नवोदित सूर्य के समान महा तेजस्वी तथा अग्नि की ज्वाला के सदृश अरुण जटाजूटधारी एक दीप्तिमान् पुरुष आकर खड़े हैं। वे महामुनि विश्वामित्र हैं।' राजा की ओर देखकर छड़ीदार ने नम्रतापूर्ण वचनों में ज्यों ही यह बात कही, उसकी उस बात को सुनते ही मन्त्री और सामन्तों सहित वे राजशिरोमणि दशरथ तत्काल सोने के सिंहासन से उठकर खड़े हो गये।

राजाओं के समुदाय से घिरे तथा सामन्तों से प्रशंसित होते हुए वे नरेश वसिष्ठ और वामदेवजी के साथ सहसा पैदल ही उस स्थान की ओर चल दिये, जहाँ महामुनि विश्वामित्र खड़े थे। राजा ने ड्योढ़ी पर खड़े हुए उन मुनिश्रेष्ठ को देखा। वे ब्राह्मणोचित तेज तथा महान् क्षात्रबल से भी सम्पन्न थे। वृद्धावस्था के कारण अधिक पकी हुई और तपस्या में ही लगे रहने से रूखी जटावल्लरी के द्वारा उनके कंधे ढके हुए थे। उन्होंने शान्त कान्तिमान्, उद्दीप्त, तेजस्वी शरीर धारण कर रक्खा था। उनका तेज सुन्दर होने के साथ ही अत्यन्त भयंकर था, प्रसाद गुण से युक्त तथा दूर तक फैला हुआ था, गम्भीर एवं अतिशय पूर्णता को प्राप्त था। उस तेज से ऋषि की अंग कान्ति अनुरञ्जित थी। उन्होंने अपने हाथ में एक कमण्डल ले रक्खी थी, जो चिकनी, निर्दोष एवं उत्तम थी। वह उनके कल्पान्त स्थायी जीवनकाल की सभी अवस्थाओं में सहचरी की भाँति उनका साथ देती थी। मुनि का अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल था। उनके चित्त में करुणा भरी थी, इसलिये उनकी वाणी बड़ी मधुर एवं प्रसन्नता सूचक होती थी। वे अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टि से इस प्रकार देखते थे,

मानो सामने खड़ी हुई जनता को अमृत से सींच रहे हों। उनके अंग में सुन्दर यज्ञोपवीत शोभा पा रहा था। वे दर्शकों के मन में अत्यन्त आश्चर्य का संचार-सा कर रहे थे। उन महर्षि को दूर से ही देखकर राजा का शरीर विनय से झुक गया और उन्होंने मुकुट मण्डित मस्तक से उनके चरणों में प्रणाम किया। मुनि ने भी, जैसे सूर्यदेव इन्द्र का प्रत्याभिवादन करते हैं, उसी प्रकार मधुर एवं उदारतापूर्ण वचनों द्वारा आशीर्वाद देकर पृथ्वीनाथ दशरथ का प्रत्याभिवादन किया। तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि सभी ब्राह्मणों ने स्वागत आदि के क्रम से विश्वामित्रजी का सत्कार किया।

दशरथ ने कहा-महात्मन्! जैसे भगवान् सूर्य अपने तेजस्वी स्वरूप का दर्शन देकर कमलों से भरे हुए सरोवरों पर अनुग्रह करते हैं, उसी प्रकार आज आपका जो यह असम्भावित तेजोमय दर्शन प्राप्त हुआ है, इससे हम सब लोग अत्यन्त अनुगृहीत हैं।

मुनि के प्रति ऐसी ही बातें कहते हुए अन्य राजा तथा महर्षि, सब लोग राजसभा में आकर यथायोग्य आसनों पर बैठ गये। राजा दशरथ ने स्वयं ही मुनि को अर्घ्य निवेदन किया।

राजा के अर्घ्य को स्वीकार करके महर्षि ने शास्त्रोक्त विधि से प्रदक्षिणा करते हुए नरेश की भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजा दशरथ द्वारा पूजित हो विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए। उनका मुखारविन्द खिल उठा। उन्होंने राजा से उनकी कुशल पूछी। तदनन्तर मुनिवर विश्वामित्र हँसकर वसिष्ठजी से मिले और यथायोग्य सत्कार करके उनके आरोग्य का समाचार पूछने लगे। क्षण भर में एक दूसरे से मिलकर यथायोग्य आदर-सत्कार करके वे सब लोग प्रसन्न चित्त हो महाराज के महल में यथायोग्य आसनों पर बैठ गये। एक दूसरे के सम्पर्क में आने से उन सबके तेज बढ़ गये थे। वे सब आदर पूर्वक आपस में एक दूसरे की कुशल पूछने लगे। तदनन्तर प्रसन्नचित्त एवं पवित्र राजा दशरथ ने हाथ जोड़कर मुनि से कहा-

''विप्रवर! आप परम धर्मात्मा तथा दान के उत्तम पात्र हैं और सौभाग्यवश यहाँ पधार गये हैं। बताइये, आपकी सर्वोत्तम अभिलाषा क्या है ? मैं आपकी कौन-सी सेवा करूँ ? भगवन्! पहले आप 'राजर्षि' कहे जाते थे, किंतु तपस्या ने आपके ब्राह्मतेज को प्रकाशित कर दिया। आपने 'ब्रह्मर्षि' का पद

प्राप्त कर लिया, अतः आप मेरे द्वारा सर्वथा पूजनीय हैं। जैसे गंगाजी के जल में स्नान करने से मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार आपके दर्शन से भी हो रही है। वह प्रसन्नता मेरे ही तन को शीतल-सा किये देती है। ब्रह्मन्! आपके अन्तःकरण से इच्छा, भय और क्रोध निकल गये हैं, राग द्वेष दूर हो गये हैं, आप सर्वथा रोग रहित हैं; तो भी मेरे पास आये, यह अत्यन्त अदभुत बात है। यहाँ पधारे हुए आप का दर्शन, पूजन और वन्दन करके मैं अपने में ही फूला नहीं समाता-वैसे ही जैसे समुद्र अपने में नहीं समाता, तट की सीमा को लाँघ कर आगे बढ़ जाता है। मुनिवर! आपका जो कार्य हो जिस प्रयोजन से आप यहाँ पधारे हों उसे आप सिद्ध हुआ ही समझिये; क्योंकि आप सर्वदा मेरे माननीय हैं। कुशिक-कुलनन्दन। आप कोई विचार न कीजिये। भगवन्! आपके लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है; क्योंकि दी हुई वस्तु आप-जैसे सत्पात्र को प्राप्त होकर ही सार्थक होती है। मैं आपका सारा कार्य पूर्ण करूँगा। आप मेरे परम देवता हैं।'

आत्मज्ञानी महाराज दशरथ के द्वारा विनय पूर्वक कहे हुए इस अत्यन्त मधुर, श्रवण सुखद एवं गुणविशिष्ट वचन को सुनकर विख्यात गुण और प्रख्यात यशवाले मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र को बड़ी प्रसन्नता हुई।

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवा सर्ग

विश्वामित्र का श्रीराम को माँगना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज! तदनन्तर महातेजस्वी विश्वामित्रजी ने प्रसन्न होकर कहा-'नृपश्रेष्ठ! आप महान् कुल में उत्पन्न हुए हैं और महर्षि वसिष्ठजी की आज्ञा के अधीन रहते हैं; अतः आपके मुख से जो बात निकली है, वह इस भूतल पर आप के ही योग्य है। महाराज! अब मैं अपना हार्दिक अभिप्राय आपसे निवेदन करता हूँ। जब-जब मैं यज्ञ के द्वारा देवसमूहों का पूजन करता हूँ, तब-तब कुछ निशाचर आकर मेरे उस यज्ञ को नष्ट कर देते हैं। मैंने अनेक बार यज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ किया, किन्तु राक्षस नायकों ने उस यज्ञ-मण्डप की भूमि में रक्त और माँस बिखेर दिये। मैं यज्ञ के लिये परिश्रम करके भी उसमें सफल नहीं हो रहा हूँ इसलिये विघ्न-निवारण के

उद्देश्य को लेकर मैं उस स्थान से यहाँ आपके पास आया हूँ। पृथ्वीनाथ! मेरे मन में यह विचार नहीं होता कि मैं क्रोध करके उन्हें शाप दे दूँ। मैं चाहता हूँ, आपके प्रसाद से उस यज्ञ को बिना किसी विघ्न-बाधा के पूर्ण करके उसके महान् पुण्य-फल का भागी होऊँ। अतः आर्त होकर शरण पाने की इच्छा से आपके पास आया हूँ, आप (उस यज्ञ की रक्षा द्वारा) मेरा संकट से उद्धार करने के योग्य हैं। आपके पुत्र श्रीराम अत्यंत पराक्रमी हैं। वे उन राक्षसों को विदीर्ण करने में पूर्ण समर्थ हैं। अतः राजसिंह! आपके जो ज्येष्ठ पुत्र काक पक्षधारी सत्य पराक्रमी, शूरवीर श्रीराम हैं, उनको मुझे सौंप दीजिये। ये मुझसे सुरक्षित रहकर अपने दिव्य तेज से उन यज्ञ विध्वंसक एवं समस्त संसार का अपकार करने वाले राक्षसों का मस्तक काटने में समर्थ होंगे। मैं इन श्रीराम को (अस्त्र-विद्या प्रदान करके) अनेक प्रकार से अनन्त कल्याण का भागी बनाऊँगा, जिससे ये तीनों लोकों के पूजनीय होंगे। वे पापी राक्षस युद्ध में कालकूट के समान भयानक हैं, उन्हें अपने बल और पराक्रम पर बड़ा गर्व है, वे खर और दूषण के भृत्य हैं तथा कुपित होने पर यमराज के समान जान पड़ते हैं। किंतु राजसिंह! वे श्रीराम के सायकों को उसी प्रकार नहीं सह सकेंगे, जैसे धूलिकण निरन्तर गिरती हुई मेघ की जलधारा को नहीं सह सकते। महाराज! मैं अपनी तपःशक्ति से इस बात को निश्चित रूप से जानता हूँ, आप भी मेरे कथनानुसार उन राक्षसों को मरा हुआ ही समझिये; क्योंकि हम तथा हमारे-जैसे दूसरे विज्ञ पुरुष संदिग्ध विषय में नहीं प्रवृत्त होते। कमलनयन श्रीराम कोई साधारण पुरुष नहीं, साक्षात् परमात्मा हैं; इन्हें मैं जानता हूँ, महा तेजस्वी वसिष्ठजी जानते हैं तथा दूसरे-दूसरे दीर्घदर्शी महर्षि भी जानते हैं। यदि आपके हृदय में धर्म, महत्ता और यश के लिये विशेष स्थान है तो अपने प्रिय पुत्र श्रीराम को आप मुझे दे दीजिये। मेरा वह यज्ञ, जिसमें श्रीराम को यज्ञद्रोही, विघ्नकर्ता राक्षसों का वध करना है, दस दिनों में पूरा हो जायगा। काकुत्स्थ! इसके लिये भी आपके वसिष्ठ आदि सभी मन्त्री आपको अवश्य अनुमति दे देंगे, अतः आप श्रीराम को मेरे साथ भेज दीजिये। ठीक समय पर किया हुआ थोड़ा सा भी कार्य बहुत उपकारी होता है और समय बीतने पर किया हुआ महान् उपकार भी व्यर्थ हो जाता है।'

इस प्रकार धर्म और अर्थ से युक्त बात कहकर धर्मात्मा, महातेजस्वी

मुनीश्वर विश्वामित्र चुप हो गये। मुनिवर विश्वामित्र का वचन सुनकर उन्हें युक्तियुक्त उत्तर देने के लिये कुछ सोचते हुए महानुभाव राजा दशरथ थोड़ी देर तक चुपचाप बैठे रहे; क्योंकि जिसका मनोरथ पूर्ण न किया गया हो, वह बुद्धिमान् पुरुष युक्तिसंगत उत्तर पाये बिना संतुष्ट नहीं होता है।

भरद्वाज! विश्वामित्रजी का यह भाषण सुनकर (वात्सल्य भावापन्न) नृपश्रेष्ठ दशरथ दो घड़ी तक निश्चेष्ट बैठे रहे, फिर इस प्रकार दीनतापूर्ण वचन बोले- 'मुनीश्वर! कमलनयन श्रीराम की अवस्था अभी सोलह वर्ष से भी कम है। ये राक्षसों के साथ युद्ध कर सकें, ऐसी योग्यता मैं इनमें नहीं देखता। प्रभो! मेरे पास यह पूरी एक अक्षौहिणी सेना है, जिसका मैं ही स्वामी हूँ। इस सेना के साथ चलकर मैं ही उन पिशाचों के साथ युद्ध करूँगा। ये सभी सैनिक मेरे भृत्य हैं-मेरे द्वारा पोषित हुए हैं। ये शूरवीर, पराक्रमी और उचित सलाह देने में भी चतुर हैं। मैं युद्ध के मुहाने पर हाथ में धनुष लेकर इन सबकी रक्षा करूँगा। इनके साथ रहकर मैं महेन्द्र से भी बढ़े-चढ़े वीरों को उसी तरह युद्ध का अवसर दूँगा, जैसे सिंह मतवाले हाथियों को देता है। श्रीराम अभी बालक हैं। इन्हें न तो उत्तम शस्त्रों का ज्ञान है और न ये युद्ध की कला में ही निपुण हुए हैं। समरांगण में कोटि-कोटि शूरवीरों के साथ अस्त्रों द्वारा कैसे युद्ध किया जाता है, इसका भी इनको ज्ञान नहीं है। केवल फुलवाड़ियों में, नगर के उपवनों में तथा उद्यानवर्ती वनकुन्जों में इनका घूमना-फिरना होता है। ये राजकुमारों के साथ आँगन की उस भूमि में विचरण करना जानते हैं, जिस पर फूल बिछे होते हैं।

'ब्रह्मन्! आजकल तो मेरे भाग्य के उलट-फेर से ये उसी तरह अत्यन्त कृश और पाण्डु वर्ण के हो गये हैं, जैसे पाला पड़ने से कमल पीला पड़कर गलने लगता है। अपने चारों पुत्रों में मेरा सबसे अधिक प्रेम इन श्रीराम पर ही है। अतः मेरे धर्मात्मा ज्येष्ठ पुत्र श्री राम को आप यहाँ से न ले जायँ। मुने! यदि आपको निशाचर-सेना का नाश ही अभीष्ट है तो मेरे साथ मेरी चतुरंगिणी सेना को लेकर चलिये। सुना जाता है कि रावण नाम से प्रसिद्ध एक महापराक्रमी राक्षस है, जो साक्षात् कुबेर का भाई और विश्रवा मुनि का पुत्र है। यदि वही दुर्बुद्धि राक्षस आपके यज्ञ में विघ्न डालता है, तब तो हम लोग उस

दुरात्मा के साथ युद्ध करने में असमर्थ हैं।'

छठा सर्ग समाप्त

⟷

सातवां सर्ग

विश्वामित्र का रोष

श्री वाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! स्नेहवश नेत्रों में आँसू भरकर राजा के द्वारा कही गयी इस बात को सुनकर विश्वामित्र कुपित हो उठे और उन भूपाल से इस प्रकार बोले- 'राजन्! मैं आपकी माँग पूरी करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके आप उसे तोड़ रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि आप सिंह होकर अब सियार बनना चाहते हैं! रघुवंशियों के लिये यह व्यवहार अनुचित है। इससे तो इस कुल की मर्यादा ही उलट जायेगी। शीतरश्मि चन्द्रमा से कभी उष्ण किरणें नहीं प्रकट होतीं (आपसे ऐसे व्यवहार की कदापि आशा नहीं की जाती थी)। राजन्! यदि आप अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति करने में असमर्थ हैं तो मैं जैसे आया था, उसी तरह लौट जाऊँगा। ककुत्स्थवंशी नरेश! आप अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर बन्धु-बान्धवों के साथ सुखी होइये।''

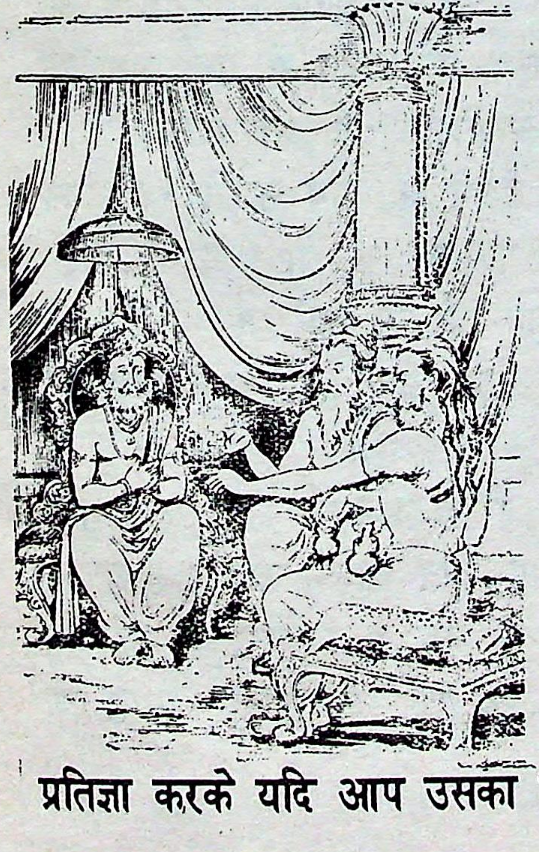

महामुनि विश्वामित्र को क्रोध से आक्रान्त जान उत्तम व्रत का पालन करने वाले धैर्यवान् वशिष्ठजी बोले- ''राजन्! आप इक्ष्वाकुकुल में साक्षात् दूसरे धर्म के समान उत्पन्न हुए हैं। आप श्रीमान् दशरथ तीनों लोकों में सज्जनोचित सदगुणों से विभूषित हैं। धैर्यवान् तथा उत्तम व्रत के पालक हैं। आपको धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। आप धर्म और यश से सम्पन्न होकर ही तीनों लोकों में विख्यात हुए हैं। अपने धर्म को समझिये। उसका परित्याग न कीजिये। ये मुनि तीनों लोकों का शासन करने में समर्थ हैं, आपको इनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये। राजन्! 'करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके यदि आप उसका पालन नहीं करते तो यह मिथ्याभाषण आपके

इष्ट और आपूर्त (यज्ञ-यागादि तथा वापी, कूप आदि के निर्माण से होने वाले पुण्य) को हर लेगा। इसलिये श्रीराम को विश्वामित्र जी के हाथ में सौंप दीजिये। आप इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए हैं और स्वयं विख्यात राजा दशरथ हैं। यदि आप अपने वचन का पालन नहीं करते तो दूसरा कौन करेगा ? ये विश्वामित्रजी धर्म के मूर्तिमान् स्वरूप हैं। ये बल और पराक्रम से सम्पन्न वीर पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। संसार में सबसे अधिक बुद्धिमान् हैं तथा तपस्या के परम आश्रय हैं। चराचर प्राणियों सहित त्रिलोकी में यह प्रसिद्ध है कि ये विश्वामित्रजी नाना प्रकार के अस्त्रों को जानते हैं। जिन अस्त्रों का इन्हें ज्ञान है, उन्हें दूसरा कोई पुरुष न तो जानता है और न भविष्य में जान सकेगा। देवता, ऋषि, असुर, राक्षस, नाग, यक्ष और गन्धर्व-ये सब एक साथ मिलकर आ जायँ तो भी वे विश्वामित्र मुनि की समानता नहीं कर सकते। जिन दिनों ये विश्वामित्रजी राज्य करते थे, उन दिनों इन्हें इनकी तपस्या से संतुष्ट हुए रुद्रदेव ने कृशाश्व द्वारा उत्पन्न किये गये अस्त्रों का दान किया था। वे अस्त्र दूसरों के लिये अत्यन्त दुर्जय हैं। उन अस्त्रों के अभिमानी देवता कृशाश्व के पुत्र हैं और संहार करने में प्रजापति के पुत्र रुद्रदेव की समानता करते हैं। उन कान्तिमान् महातेजस्वी और बल-विक्रमशाली अस्त्र-देवताओं ने सदा इनका अनुसरण किया है (क्योंकि इन्होंने अपनी तपस्या के प्रभाव से उन्हें सदा के लिये वश में कर लिया है)। ये विश्वविख्यात महातेजस्वी विश्वामित्र ऐसे महान् शक्तिशाली हैं, अतः श्रीराम को इनके साथ भेजने में आप अपने हृदय को व्याकुल न होने दें। ये महामुनीश्वर महान् प्रभावशाली हैं। साधु स्वभाव वाले नरेश! ये जिस पुरुष के समीप खड़े हों, वह मृत्यु के आ जाने पर भी अमरत्व को प्राप्त होगा। अतः आप मूढ़ मनुष्य की भाँति अपने मन में दीनता को स्थान न दीजिये।''

भरद्वाज ! जब वसिष्ठजी ऐसी बातें कहकर समझाने लगे, तब राजा दशरथ का चित्त प्रसन्न हो गया और उन्होंने अपने पुत्र श्रीराम तथा लक्ष्मण को बुलाने के लिये द्वारपाल को पुकारा-'प्रतीहार! तुम सत्य-पराक्रमी महाबाहु श्रीराम और लक्ष्मण को विश्वामित्रजी के पुण्यमय यज्ञ की निर्विघ्न सिद्धि के लिये शीघ्र यहाँ बुला ले आओ।'

महाराज के इस प्रकार आज्ञा देने पर वह द्वारपाल अन्तःपुर के श्रीराम-मन्दिर में गया और दो ही घड़ी में वहाँ से लौटकर उन भूपाल से बोला-'देव! अपने बाहुबल से समस्त शत्रुदल का दर्प दलन करने वाले महाराज! जैसे भ्रमर रात को कमल में बंद होकर उदास बैठा रहता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी भी अपने भवन में अनमने होकर बैठे हैं।'

सातवां सर्ग समाप्त

आठवां सर्ग

श्रीराम का वैराग्य

द्वारपाल के यह कहने पर उसके साथ आये हुए श्रीराम के समस्त सेवकों को महाराज ने आश्वासन दिया और क्रमशः उनका समाचार पूछा-'राम कैसे हैं ? उनकी ऐसी अवस्था कैसे हो गयी है ? भूपाल के इस तरह पूछने पर श्रीराम के सेवकों ने दुखी होकर उनसे कहा-''देव! आपके पुत्र श्रीराम का शरीर अत्यन्त कृश हो गया है। उनके खेद से हम लोग भी इतने खिन्न हो गये हैं कि हम लोगों का शरीर भी गलकर छड़ी के समान पतला हो गया है और हम किसी तरह इसे ढोये जा रहे हैं। कमलनयन श्रीराम जब से तीर्थयात्रा से लौटकर आये हैं, तभी से उनका मन बहुत उदास रहता है। जो वस्तु उपयोग में लाने के योग्य, स्वादिष्ट, सुन्दर और मनोहर है, उसी से वे इस तरह खिन्न हो उठते हैं, मानो उन के नेत्रों में आँसू भर आये हों। भोजन, शय्या, सवारी, विलास, स्नान, आसन आदि उत्तम कार्य या वस्तु के प्रस्तुत होने पर भी वे उसका अभिनन्दन नहीं करते (उसकी ओर से विरक्त हो जाते हैं)। 'सम्पत्ति से, विपत्ति से, घर से अथवा विभिन्न चेष्टाओं से क्या होने-जाने वाला है ? क्योंकि सब कुछ मिथ्या है।' यह कहकर वे चुप हो जाते हैं और अकेले बैठे रहते हैं। परिहास होने पर

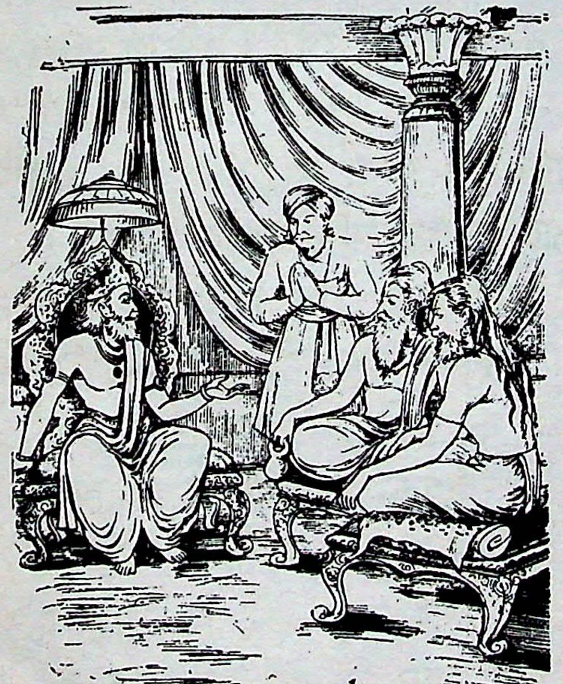

वे प्रसन्न नहीं होते। भोगों में उनकी आसक्ति नहीं है। किसी प्रकार के कार्यों में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। वे सदा मौनभाव का ही अवलम्बन किये रहते हैं। एकान्त में, विभिन्न दिशाओं में, नदियों के तटों पर, जंगलों में तथा गहन वनों में उन्हें सुख मिलता है-वहीं उनका मन लगता है। भूपाल ! वे पहनने के वस्त्र तथा खाने-पीने की वस्तुऐं न लेकर सदा उनकी ओर से विमुख ही रहते हैं तथा उस विमुखता या विरक्ति के द्वारा सन्यासी या तपस्वी के आचार का अनुसरण करते हैं। जनेश्वर! श्रीरामचन्द्रजी निर्जन स्थान में अकेले ही रहकर न कभी हँसते हैं, न गाते हैं और न रोते ही हैं। सदा पद्मासन लगाये शून्यचित्त (संकल्परहित) हो केवल बैठे रहते हैं। न किसी बात का अभिमान करते हैं न राजा होने की अभिलाषा रखते हैं, न सुख प्राप्त होने पर प्रसन्न होते हैं और न दुःख मिलने पर विषाद ही करते हैं। हम नहीं समझ पाते कि वे कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं, क्या चाहते हैं, किसका अनुसरण करते हैं। वे प्रतिदिन दुबले हो रहे हैं। रोज-रोज पीले पड़ते चले जा रहे हैं और नित्यप्रति उनका वैराग्य बढ़ता ही जाता है। राजन्! सदा श्रीरामचन्द्रजी का अनुसरण करने वाले ये शत्रुघन और लक्ष्मणजी भी उन्हीं के समान दुर्बल होते जा रहे हैं। श्रीराम अपने पास रहने वाले सुहज्जनों-मित्रों को यह उपदेश देते हैं कि 'ये भोग ऊपर-ऊपर से मनोरम दिखायी देते हैं, वास्तव में नश्वर हैं। अतः इनमें तुम लोग अपना मन न लगाओ। हम लोगों ने आयासरहित परम पद की प्राप्ति से दूर हटाने वाली चेष्टाओं द्वारा ही अपनी सारी आयु व्यर्थ बिता दी।' इस प्रकार मधुर और स्फुट वाणी द्वारा वे बारंबार गुनगुनाते रहते हैं। यदि पास बैठा हुआ कोई सेवक उनका अभिनन्दन करते हुए यह कहे कि 'आप सम्राट हों' तो वे उसके इस कथन को उन्मत्त प्रलाप-सा समझकर अन्यमनस्क हो हँसने लगते हैं। न तो किसी की कही हुई बात को सुनते हैं और न सामने पड़ी हुई वस्तु की ओर दृष्टिपात ही करते हैं। सुन्दर से सुन्दर वस्तु प्राप्त होने पर भी सर्वत्र उसकी अवहेलना ही करते हैं। जैसे मेघ द्वारा बरसाये गये जल की धाराएँ किसी बड़े भारी दुर्भेद्य पत्थर का भेदन नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार कामदेव के बाण कान्तिमती वनिताओं के बीच में रहते हुए भी श्रीरामचन्द्रजी के मन का भेदन नहीं कर पाते। 'धन आपत्तियों का एकमात्र स्थान है। तू

इसकी इच्छा क्यों करता है ? श्रीरामचन्द्रजी सबको ऐसी ही शिक्षा देते हैं और अपना सारा धन उसकी इच्छा रखने वाले दीन याचकों को बाँट देते हैं। 'यह आपत्ति है, यह सम्पत्ति है-इस प्रकार की कल्पनाओं के रूप में केवल मन का मोह (अज्ञान) ही प्रकट होता है। 'हाय ! मैं मारा गया, मैं अनाथ हो गया- इस प्रकार सब लोग चीखते चिल्लाते रहते हैं, तो भी किसी को इस संसार से वैराग्य नहीं होता-यह कितने आश्चर्य की बात है!' श्रीराम प्रायः ऐसी ही बातें कहा करते हैं।'

आठवां सर्ग समाप्त

नवां सर्ग

वैराग्य का कारण बताना

तब विश्वामित्र जी ने कहा-परम बुद्धिमान् सत्पुरुषो ! यदि ऐसी बात है तो जैसे मृगों का झुंड अपने यूथपति को ले आता है, उसी प्रकार आप लोग भी रघुकुलनन्दन श्रीराम को शीघ्र यहाँ बुला लाइये। श्रीरामचन्द्रजी को यह मोह न तो किसी आपत्ति से हुआ है और न आसक्ति से ही। वे विवेक और वैराग्य से सम्पन्न हैं। अतः उन्हें मोह नहीं, बोध ही प्राप्त हुआ है, जो महान् अभ्युदयकारक है। इस विचारमूलक मोह का युक्तिद्वारा निवारण कर देने पर रघुकुलनन्दन श्रीराम हम लोगों की ही भाँति परम पद में प्रतिष्ठित हो जायँगे। हमारे उपदेश से वास्तविक बोध का उदय हो जाने पर श्रीरामचन्द्रजी अमृत पीये हुए पुरुष की भाँति सत्यता (त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूपता), मुदिता (परमानन्दस्वरूपता), प्रज्ञा (अपरिच्छिन्न ज्ञानरूपता) को प्राप्त होकर विश्रान्ति-सुख से सम्पन्न, संतापशून्य, शरीर से हृष्ट-पुष्ट और उत्तम कान्ति से युक्त हो जायँगे। फिर तो मन में अपनी पूर्णता का अनुभव करते हुए माननीय श्रीरामचन्द्रजी अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार प्राप्त होने वाली व्यवहार-परम्परा का निर्बाध रूप से पालन करने लगेंगे। वे महान् सत्वगुण से युक्त तथा लोकव्यापी निर्गुण-सगुणरूप परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान से सम्पन्न हो जायँगे। उन्हें सुख-दुःख की दशाएँ नहीं प्राप्त होंगी। वे मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण में कोई अन्तर नहीं देखेंगे- इन सबको समान समझने लगेंगे।

मुनीश्वर विश्वामित्र के यों कहने पर राजा दशरथ बड़े प्रसन्न हुए, मानो

उनका सारा मनोरथ पूर्ण हो गया। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी को बुला लाने के लिये बारंबार दूत पर दूत भेजना आरम्भ किया। जब राजा और मुनि का संवाद हो रहा था, उसी समय श्रीरामचन्द्रजी अपने थोड़े-से सेवकों और दोनों भाई लक्ष्मण तथा शत्रुघन के साथ अपने पिता के पवित्र स्थान-राजसभा में गये। श्रीराम ने दूर से ही महाराज दशरथ को देखा। जैसे इन्द्र देवसमूह से घिरकर बैठते हैं, उसी प्रकार वे भी राजाओं की मण्डली से घिरे हुए बैठे थे। उनके दोनों ओर महर्षि वसिष्ठ और विश्वामित्र जी विराजमान थे। सम्पूर्ण शास्त्रों के अर्थ का ज्ञान रखने वाले मन्त्रीगण माला की भाँति उन्हें सब ओर से घेरकर बैठे थे। इधर वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियों तथा दशरथ आदि राजाओं ने भी कुमार कार्तिकेय के समान सुन्दर श्रीरामचन्द्रजी को दूर से ही अपने पास आते देखा। वे सौम्य और समदर्शी थे। उनकी आकृति मंगलमय थी। उनका हृदय विनीतभाव से युक्त और उदार था। शरीर कान्तिमान् और शान्त (सौम्य) दिखायी देता था तथा वे परम पुरुषार्थ के भाजन (परमार्थस्वरूप) थे। पवित्र गुणवाले पुरुषों के आश्रय थे। समस्त सद्गणों ने मानो एकमात्र महान् सत्वगुण के लोभ से उनका आश्रय ले रक्खा था।

मुनीश्वर विश्वामित्र जब राजा से पूर्वोक्त बात-चीत करते हुए श्रीराम को बुलाने का अनुरोध कर रहे थे, उसी समय कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी पिता के चरणों में प्रणाम करने के लिये उनके सामने आये। सबके सुहृद् श्रीराम ने पहले पिता के चरणों में मस्तक झुकाया। तदनन्तर माननीय पुरुषों द्वारा भी मुख्यरूप से सम्मानित होने वाले दोनों मुनि वसिष्ठ और विश्वामित्र जी को प्रणाम किया। इसके बाद अन्य ब्राह्मणों, बन्धु-बान्धवों तथा गुरुजनों का अभिवादन किया। तत्पश्चात् राजाओं के समूह द्वारा की जाने वाली प्रणाम-परम्परा को उन्होंने प्रसन्न दृष्टि से उनकी ओर देखकर अपने मस्तक को किंचित् झुकाकर तथा मधुर वाणी के द्वारा कुछ बोलकर स्वीकार किया।

इसके बाद दोनों महर्षियों ने श्रीरामचन्द्रजी को आशीर्वाद दिया। तदनन्तर जिनके हृदय में अत्यन्त समता का भाव भरा हुआ था, वे देवोपम सुन्दर श्रीराम अपने पिता की पवित्र सनिधि में आये। उस समय भूपाल दशरथ ने अपनी चरण-वन्दना करने वाले पुत्र को हृदय से लगाकर उनका मस्तक सूँघा।

इसी तरह शत्रुवीरों का संहार करने वाले राजा दशरथ ने स्नेह से युक्त हो लक्ष्मण और शत्रुघन को भी हृदय से लगाया (और उनके मस्तक सूँघे)। फिर श्रीरामचन्द्रजी पृथ्वी पर ही परिजनों द्वारा बिछाये गये वस्त्र के ऊपर बैठ गये।

तत्पश्चात् राजा बोले–बेटा! तुम्हें विवेक प्राप्त हो गया है। तुम विविध कल्याणमय गुणों के भाजन हो। तुम्हारे–जैसे पुरुष बड़े–बूढ़े लोगों, ब्राह्मणों तथा गुरुजनों की आज्ञा का पालन करते हुए ही पवित्र परमपद प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग मोह का अनुसरण करते हैं, उन्हें वह पद नहीं प्राप्त होता। वत्स! तभी तक आपत्तियाँ दुर्बल एवं तुच्छ होकर दूर ही रहती हैं (पास नहीं फटकने पातीं) जब तक कि मोह को फैलने का अवसर नहीं दिया जाता।

इसके बाद श्रीवसिष्ठजी ने कहा–महाबाहु राजकुमार! तुम बड़े शूरवीर हो। तुमने उन विषयरूपी शत्रुओं पर भी विजय पा ली है, जो दुःख की परम्परा के उत्पादक तथा बड़ी कठिनाई से नष्ट होने वाले हैं। ऐसे प्रभावशाली होने पर भी तुम अज्ञानी मनुष्यों के योग्य विक्षेपरूपी अगणित तरंगमालाओं से युक्त तथा आवरणरूपी जड़ता (जलरूपता) से सुशोभित होने वाले व्यामोह के समुद्र में आत्मज्ञानशून्य पुरुष की भाँति क्यों डूबे जा रहे हो ?

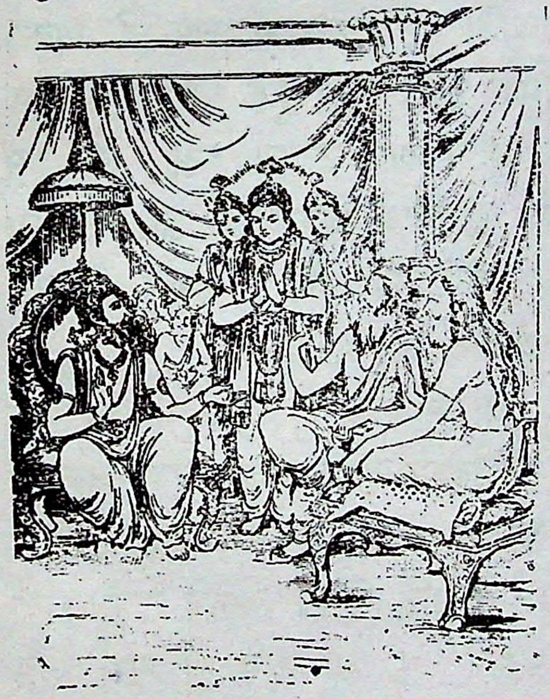

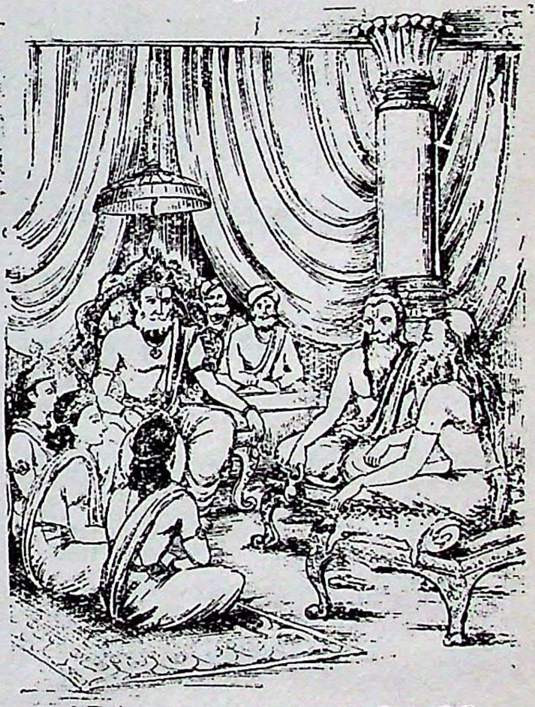

श्रीविश्वामित्रजी ने कहा–राजकुमार! हिलते हुए नील कमलों के समूह की भाँति जो तुम्हारे नेत्र चंचल हो रहे हैं, इसमें तुम्हारे चित्त की व्यग्रता ही

कारण है। इस व्यग्रताजनित नेत्रों की चंचलता को त्यागकर बताओ, क्यों मोहित हो रहे हो ? तुम्हारे इस मोह अथवा भ्रम का क्या कारण है ? निष्पाप श्रीराम! तुम्हारे मन में जो अभिलाषा हो, उसे शीघ्र बताओ। तुम्हें वह सब मनोरथ प्राप्त होगा, जिससे मानसिक व्यथाएँ फिर तुम्हें कष्ट नहीं पहुँचायेंगी।

उत्तम बुद्धि वाले विश्वामित्रजी का यह वचन, जिसके भीतर अपनी अभिलाषा के अनुरूप अर्थ का प्रकाश निहित था, सुनकर रघुकुलकेतु श्रीराम ने खेद त्याग दिया।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–भरद्वाज! मुनीश्वर विश्वामित्र के इस प्रकार पूछने पर श्रीरामचन्द्रजी ने धैर्य धारण करके परिपूर्ण अर्थ के गौरव से दबी हुई-सी मन्द-मन्द मनोहर वाणी में कहा–

श्रीराम बोले–मुनीश्वर ! मैं अपने पिताजी के इस महल में उत्पन्न हुआ, क्रमशः बढ़ा और फिर मैंने विद्या भी प्राप्त की। तत्पश्चात सदाचार के पालन में तत्पर रहकर तीर्थयात्रा के उद्देश्य से समुद्रों द्वारा घिरी हुई सारी पृथ्वी पर भ्रमण किया। इतने समय में मेरे मन में जो विचार उत्पन्न हुआ, वह इस संसारविषयक आस्था को उठा देने वाला है। तीर्थयात्रा करने के अनन्तर मेरा मन विवेक से पूर्ण हो गया, जिससे मेरी बुद्धि भोगों की ओर से नीरस (विरक्त) हो गयी और उसके द्वारा मैंने इस प्रकार विचारना आरम्भ किया–

यह जो संसार का विस्तार है, इसमें क्या सुख है ? (कुछ भी तो नहीं है।) चर और अचर प्राणियों की चेष्टाओं के विषय तथा केवल वैभवकाल में ही रहने वाले ये जितने भोग के साधनभूत पदार्थ हैं, सब-के-सब अस्थिर (क्षणभंगुर), आपत्तियों के स्वामी (अर्थात् केवल विपत्ति में ही डालने वाले) तथा पापस्वरूप हैं। जैसे मरीचिका में जल न होने पर भी भ्रम से उसे जल समझकर उसके द्वारा मोहित हुए मृग वन में बड़ी दूरतक खिंचे चले जाते हैं, उसी प्रकार मूढ़बुद्धि हुए लोग संसार के पदार्थों में सुख न होने पर भी उनमें सुख मानते हैं और उसी के लोभ से आकृष्ट होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं। यद्यपि यहाँ लोग किसी के द्वारा बेचे नहीं गये हैं तथापि बिके हुए के समान परवश हो रहे हैं। इस बात को जानते हुए भी कि यह सब कुछ माया का खेल है, हम सब लोग मूढ़ बने बैठे हैं (इस माया से मुक्त होने का प्रयत्न

नहीं करते), यह कितने खेद की बात है।

संसार के इस प्रपन्चों में जो अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण भोग दिखायी देते हैं, ये क्या हैं-इस पर विचार करना चाहिये। सब लोग व्यर्थ ही उनके मोह में पड़कर भ्रान्तिवश अपने को बद्ध मानकर बैठे हुए हैं। जैसे वन में किसी गड्ढे के भीतर गिरे हुए मूढ़ मृग दीर्घकाल के पश्चात यह जान पाते हैं कि हम गड्ढे में पड़े हैं, उसी प्रकार लोगों ने बहुत समय के बाद यह जाना है कि हम मूढ़ जीव व्यर्थ ही मोह में पड़े हुए हैं। मुझे राज्य से क्या लेना है और भोगों से क्या प्रयोजन है ? मैं कौन हूँ ? यह दृश्य प्रपन्च क्या है और किस लिये सामने आया है ? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही रहे। उसके मिथ्या होने से किसकी क्या हानि होने वाली है। ब्रह्मन् ! जैसे यत्र-तत्र भ्रमण करने वाले पथिक को मरूभूमि से विरक्ति हो जाती है, वैसे ही इस प्रकार विचार करते-करते सभी भोग्य पदार्थों से मेरी अरुचि हो गयी है।

मुनीश्वर ! देखिये, भिन्न-भिन्न रूपों में उपलब्ध होने वाले उन तुच्छ भोगों ने हमको उसी प्रकार जर्जर बना दिया है, जैसे प्रचण्ड वायु पर्वतीय वृक्षों को जर्जर कर देती है। सब लोग अचेतन-से होकर प्राणनामधारी पवन से प्रेरित हो व्यर्थ ही शब्दोच्चारण कर रहे हैं, जैसे कीचक नामक बाँस अपने छेदों में हवा भर जाने से बाँसुरी की सी ध्वनि करने लगते हैं। संसार की सम्पदाएँ सदा सबकी वंचना करती रहती हैं। ये मनुष्यों की मनोवृत्ति को मोह लेती हैं, उनकी सदगुणराशिका नाश कर देती हैं और तरह-तरह के दुःख दिया करती हैं। दुःखों का जाल-सा बिछाती रहती हैं। ये धन-वैभव चिन्ताओं के चक्कर में डालने वाले हैं, इसलिये मुझे आनन्द नहीं देते तथा बच्चोंवाली स्त्रियों से भरे हुए घर भी भयानक विपत्तियों के आवास-स्थान की भाँति मुझे दुःख ही प्रदान करते हैं, सुख नहीं। मुने! जैसे बाँस और तिनकों से आच्छादित गर्त में गिरने के कारण प्राप्त होने वाले क्षुधा, पिपासा आदि दोषों का तथा बन्धन आदि दुर्दशाओं का विचार करते रहने से बँधे हुए हाथी को कभी सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार देह आदि पदार्थों की क्षणभंगुरता के कारण उनमें अनेक प्रकार के दोषों और दुर्दशाओं का स्मरण करके मेरे मन को भी शान्ति नहीं मिल रही है। अज्ञानरूपी रात्रि में तीव्र मोहरूपी कुहरे से लोगों की ज्ञान रूपी ज्योति के नष्ट हो जाने पर दूसरों को दुःख देने में परम चतुर विषयरूपी

सैकड़ों चोर हर समय और प्रत्येक दशा में विवेकरूपी श्रेष्ठ रत्न का अपहरण करने के लिये जी-जान से लगे हुए हैं। युद्ध में उन्हें मार भगाने के लिये तत्वज्ञानी पुरुषों को छोड़कर दूसरे कौन-से सुभट समर्थ हो सकते हैं (तत्वज्ञानी ही उनको नष्ट करने में समर्थ हैं, दूसरे नहीं)

नवाँ सर्ग समाप्त

दसवां सर्ग

धन सम्पत्ति तथा आयु की निस्सारता

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं-मुने! यह लक्ष्मी, यह धन-सम्पत्ति संसार में यदि स्थिर होकर रहे तो बहुत से सुखों की साधनभूत होने के कारण वह सबसे उत्कृष्ट वस्तु है- यह मूढ़ मनुष्यों की ही कल्पना है। वास्तव में न तो वह कभी स्थिर रहती है और उत्कृष्ट ही कहलाने योग्य है; क्योंकि वह सबको व्यामोह में ही डालती रहती है। अतः (विषयों की भाँति) वह भी निश्चय ही अनर्थ की प्राप्ति कराने वाली है। जैसे नदी से असंख्य चंचल तरंगें प्रकट होती और वायु की सहायता से बढ़ती रहतीं हैं, उसी प्रकार इस श्री अथवा सम्पत्ति से बहुत सी चिन्तारूपिणी पुत्रियाँ उत्पन्न होती हैं और विविध दुश्चेष्टाओं द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती रहती हैं। यह सम्पत्ति शास्त्रोक्त सदाचार से रहित पुरुष को पाकर इधर-उधर दौड़ती रहती है, कहीं एक जगह पैर जमाकर स्थिर नहीं रहती। यह मूढ़ सम्पत्ति किसी गुणवान् पुरुष के द्वारा बड़े दुःख से उपार्जित होने पर भी प्रायः उसके उपभोग में नहीं आती और राजाओं की प्रकृति के समान (श्रेष्ठ पुरुष की उपेक्षा करके भी) गुण अवगुण का विचार किये बिना ही जो कोई भी अपने पास रहता है, उसी का अवलम्बन कर लेती है। लोग तभी तक अपने और पराये जनों के प्रति शीतल-मृदुल (दया, उदारता और स्नेह आदि से सम्पन्न) बने रहते हैं जब तक कि वे प्रबल वायु के वेग से बर्फ की भाँति धन-सम्पत्ति के द्वारा कठोर एवं दुस्सह नहीं बना दिये जाते। जैसे मुट्ठी भर धूल मणियों को मलिन कर देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्ति ने बड़े-बड़े विद्वान, शूरवीर, कृतज्ञ, सुन्दर और कोमल स्वाभाव वाले पुरुषों को भी मलिन (कलंकित) कर दिया है। भगवन्! धन-सम्पत्ति सुख देने के लिये नहीं, दुःख देने के लिये ही बढ़ती हैं; जैसे विष की बेल सुरक्षित रक्खी जाय तो वह मौत

ही देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्ति की रक्षा करने पर भी वह विनाश का ही कारण होती हैं।

जो धन-सम्पत्ति से युक्त होकर भी जनता की निन्दा का पात्र न हो, शूरवीर होकर भी अपने ही मुँह से अपनी बढा-चढ़ा कर प्रशंसा न करे तथा स्वामी होकर भी समस्त सेवकों अथवा प्रजा-जनों पर समान दृष्टि रखता हो-ये तीन तरह के पुरुष संसार में दुर्लभ हैं। यह धन-सम्पत्ति दुःखरूपी सर्पों के रहने के लिये विषम (भयंकर) और गहन (दुर्गम) गुफा है तथा महान् मोहरूपी गजराजों के निवास के लिये विन्ध्याचल की विशाल तटभूमि है। अर्थात् यह महान् दुःख देने वाली और महान् मोह से आवृत करने वाली है। सत्कर्मरूपी कमलों को संकुचित करने के लिये यह रात्रि के समान है। दुःखरूपी कुमुदों के विकास के लिये चाँदनी का काम करने वाली है तथा उत्तम दृष्टि (श्रेष्ठ बुद्धि) रूपी दीपक को बुझाने के लिये वायु के तुल्य है। धन-सम्पत्ति भय और भ्रान्तिरूपी बादलों की उत्पत्ति तथा वृद्धि करने वाली है, विषाद रूपी विष को बढ़ाने वाली है, विकल्प (संशय) रूपी खेती की उपज के लिये क्यारी के समान है तथा खेद या कष्ट प्रदान करने के लिये भयंकर सर्पिणी के तुल्य है। वैराग्यरूपी लताओं को नष्ट करने के लिये ओले के समान है। काम आदि मनोविकाररूपी उल्लुओं को सबल बनाने के लिये अँधेरी रात्रि के तुल्य है। विवेकरूपी चन्द्रमा को ग्रस लेने के लिये राहु की दाढ़ है और सौजन्यरूपी कमल को संकुचित कर देने के लिये चन्द्रमा की चाँदनी है। इतना ही नहीं, यह इन्द्र-धनुष के समान क्षणस्थायी विविध रंगों (रागों) के कारण मनोहर जान पड़ती है तथा बिजली के समान चपल तथा उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाने वाली है। प्रायः जड़ ही इसके आश्रय हैं। यह एक रूप से कहीं क्षणभर भी नहीं ठहरती। पानी की लहर और दीपक की लौ के समान चंचल है तथा जिन्हें जानना अत्यन्त कठिन है, ऐसी असंख्य दुर्दशाओं की प्राप्ति कराने वाली है। यह धन सम्पत्ति मनोरम होने के कारण चित्त-वृत्ति को अपनी ओर खींच लेती है। प्रायः अनर्थकारी कर्मों से इसकी प्राप्ति होती है और प्राप्त होकर भी यह क्षणभर में नष्ट हो जाने वाली है।

मुने ! जीव की आयु पत्ते के सिरे पर लटकते हुए जल-बिन्दु के समान अस्थिर है। वह उन्मत्त के समान असमय में ही इस कुत्सित शरीर को छोड़कर

चल देती है। जिनका चित्त विषयरूपी विषधर सर्पों के संसर्ग से सर्वथा जर्जर हो गया है और जिनमें प्रौढ़ आत्म-विवेक का अभाव है, उन लोगों की आयु उन्हें क्लेश देने वाली ही है। जो जानने योग्य वस्तु (परब्रह्म परमात्मा) को जान चुके हैं और उस अपरिच्छिन्न ब्रह्मपद में प्रतिष्ठित हैं ऐसे महापुरुषों की आयु लाभ-हानि एवं सुख-दुख में चित्त को समानभाव से सुस्थिर रखने वाली होने के कारण सुखदायिनी है। महर्षे ! हमलोग नपे-तुले आकारवाले शरीर में ही 'यह आत्मा है' ऐसा निश्चय किये बैठे हैं। अतः संसाररूपी मेघ में बिजली के समान चमककर विलुप्त हो जाने वाली इस क्षणभंगुर आयु में हम सुखी नहीं हैं। शरदऋतु के छिटपुट बादल, तेलरहित दीपक तथा जल की तरंग के समान चंचल आयु गयी हुई ही देखी जाती है। तरंग को, जल आदि में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को, विद्युत-पुंज को और आकाशकमल को हाथ से पकड़ने का तो मैं विश्वास रख सकता हूँ; परंतु इस अस्थिर आयु पर मेरा कोई भरोसा नहीं है (असम्भव है)। जैसे खच्चरी दुःख भोगने के लिये ही गर्भ धारण की इच्छा करती है, उसी प्रकार जिसका मन विश्रान्त (तृष्णाओं से अत्यन्त उपरत) नहीं है, ऐसा मूर्ख मनुष्य कष्ट उठाने के लिये ही व्यर्थ आयु का विस्तार (अधिक काल तक जीना) चाहता है। ब्रह्मन ! इस संसार-चक्र में जो देहरूपी लता है, यह सृष्टिरूपी समुद्र के जल का विकारभूत फेन ही है (क्योंकि उसी के समान अत्यन्त अस्थिर है)। अतः इसमें अधिक कालतक जीवित रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। वास्तव में वही जीवन उत्तम कहलाता है, जिससे अवश्य पाने योग्य वस्तु (परमात्म-ज्ञान) की प्राप्ति होती है, जिससे फिर शोक नहीं करना पड़ता तथा जो परम निर्वाणरूप सुख का स्थान है। यों तो वृक्ष भी जीते हैं, पशु और पक्षी भी जीवित रहते हैं; परंतु वास्तव में उसी पुरुष का जीवन सफल है, जिसका मन मनन के द्वारा जीवित न रहे-अमनीभाव को प्राप्त हो जाय। संसार में उन्हीं जीवों का जन्म लेना सफल है और उन्हीं का जीवन श्रेष्ठ है, जो फिर यहाँ जन्म नहीं लेते। शेष प्राणी तो बूढ़े गदहों के समान हैं (जैसे गदहे अधिक काल तक जीने पर भी उत्तम जीवन नहीं बिताते, उसी प्रकार उन प्राणियों का भी जीवन है, जो इस अपवित्र देह को ही आत्मा माने बैठे हैं)।

अविवेकी मनुष्य के लिये शास्त्रों का अध्ययन भाररूप है। रागी

(विषयासक्त) पुरुष के लिये तत्वज्ञान भार है। अशान्त मनुष्य के लिये मन भार है तथा जो आत्मज्ञान से शून्य है, उसके लिये शरीर भार है। जिसकी बुद्धि दूषित है, उस पुरुष के लिये रूप, आयु, मन बुद्धि, अहंकार तथा चेष्टा-ये सब के सब उसी प्रकार दुःखदायक हैं, जैसे बोझ ढोने वाले मनुष्य के लिये उसके सिर का बोझ कष्टदायक होता है। आयु कठोर परिश्रम एवं सुदृढ़ कष्ट को ही देने वाली है। इसमें श्रम की निवृत्ति कभी नहीं होती, कामनाओं की पूर्ति का भी अभाव ही रहता है। यह आपत्तियों का परम आश्रय और रोग रूपी पक्षियों का घोंसला है। जैसे बिल में विश्राम करने वाले तथा विष के द्वारा संताप देने वाले भयंकर सर्प बन की वायु का पान करते हैं, उसी प्रकार शरीर रूपी बिल में रहकर विषतुल्य दाह पैदा करने वाले भीषण रोगरूपी सर्प जीव की आयु का पान करते हैं। जैसे काठ के छोटे-छोटे कीड़े उसके भीतर रहकर पुराने पेड़ को सदा काटते और उससे धूल सी गिराते रहते हैं, उसी प्रकार सदा पीब, रक्त और मल बहाने वाले तथा देह के भीतर निवास करने वाले दुष्ट रोग आदि दुःख निरन्तर आयु का उच्छेद करते रहते हैं। जैसे बिल्ली चूहे को शीघ्र निगल जाने के लिये उत्कट अभिलाषा के साथ निरन्तर उसकी ओर ताकती रहती है, उसी प्रकार मृत्यु भी आयु को अपना ग्रास बनाने के लिये ही सदा उसकी ताक में बैठी रहती है। इस संसार में यह आयु जिस प्रकार स्थिरता और सुख के द्वारा सदा के लिये परित्यक्त, अत्यन्त तुच्छ, गुणहीन तथा मृत्यु की भाजन है, वैसी दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

दसवां सर्ग समाप्त

ग्यारहवां सर्ग

अहंकार और चित्त के दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं-मुनिश्रेष्ठ! यह अनेक रूप वाला संसार दीपों से दीन विषयलम्पट लोगों को अहंकार के वशीभूत होने के कारण ही निरन्तर राग-द्वेष आदि दोषों के कोशरूप अनर्थ की प्राप्ति कराता रहता है। अहंकार के वश में होने से ही मनुष्य पर आपत्ति आती है-उसे शारीरिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। अहंकार से ही अनेक दुःखद मानसिक व्यथाएँ होती हैं तथा अहंकार से ही राग अथवा दुश्चेष्टाएँ होती हैं। जैसे बहेलिये के द्वारा मृगों को पकड़ने

के लिये बहुत बड़ा जाल बिछाया जाता है, उसी प्रकार अहंकाररूपी दोष के कारण संसाररूपी अँधेरी रात में जीवों के मन को मोहित करने वाली विशाल माया बिछी हुई है। अहंकार शान्तिरूपी चन्द्रमा को निगलने के लिये राहु का मुख है, पुण्यरूपी कमलों का विनाश करने के लिये हिमरूप वज्र है और सब भूतों में समदर्शितारूपी मेघ का विध्वंस करने के लिये शरद ऋतु है। ऐसे अहंकार का मैं त्याग करता हूँ। न मैं अमुक नाम वाला हूँ, न विषयों में मेरी रुचि है और न मन ही मेरा है। मैं शान्त होकर मन को जीतने वाले महात्मा पुरुष की भाँति अपने–आप में ही स्थित रहना चाहता हूँ। ब्रह्मन् ! यदि अहंकार रहता है तो आपत्तिकाल में मुझे दुःख होता है और यदि नहीं रहता तो मैं निरन्तर सुख का अनुभव करता हूँ। इसलिये अहंकार रहित होना ही श्रेष्ठ है।

मुने! मैं अहंकार का त्याग करके शान्तचित्त हो उद्वेगशून्य होकर बैठा रहता हूँ; क्योंकि भोगों के समूह का आधार ही क्षणभंगुर है। इस देहरूपी विशाल वन में जो घनीभूत अहंकाररूपी मोटा–ताजा सिंह है, उसी ने इस जगत् का विस्तार किया है (इसे अपनी क्रीड़ास्थली बनाया है)। मुने! जैसे शत्रु किसी को मारने के लिये मन्त्र–तन्त्र के द्वारा मारण–उच्चाटन आदि का जाल फैलाता है, उसी प्रकार इस अहंकाररूपी महान् शत्रु ने संसार में जीव का पतन करने के लिये बिना मन्त्र–तन्त्र के ही स्त्री, पुत्र, मित्र आदि के जाल फैला रक्खे हैं। इस अहंकार का मूलोच्छेदपूर्वक निराकरण कर देने पर ये सभी मानसिक दुश्चिन्ताएँ तुरंत अपने–आप विलीन हो जाती हैं। अहंकाररूपी बादल के फट जाने पर शान्ति का विनाश करने वाला एवं हृदयाकाश में छाया हुआ महान् मोहरूपी कुहासा धीरे–धीरे न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। महानुभाव मुनीश्वर! जो सम्पूर्ण आपत्तियों का घर, शान्ति आदि उत्तम गुणों से रहित तथा हृदय के भीतर निवास करने वाला है, उस अनित्य अहंकार का मैं आश्रय लेना नहीं चाहता (उसके अधीन होना नहीं चाहता)। अपने सुदृढ़ विवेक के द्वारा मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ कि यह अहंकार नामक वस्तु सब ओर से अतिशय दुःखरूप ही है। अतः अब मेरे लिये जो कुछ भी कर्तव्य शेष रह गया हो, उसे बताते हुए आप मुझे अध्यात्मविषयक उपदेश दीजिये।

मुनीश्वर! जैसे वायु के प्रवाह में पड़कर मोरपंख का अग्रभाग वेग से हिलता रहता है, उसी प्रकार यह चंचल चित्त भी अत्यन्त व्यग्र होकर व्यर्थ ही इधर-उधर दौड़ता रहता है। जैसे कुत्ता अपना पेट भरने के लिये व्याकुल हो गाँव में दूर दूर तक के घरों या स्थानों का चक्कर लगाया करता है, वही दशा इस चंचल मन की है। इसे कहीं भी कोई अनुकूल वस्तु नहीं प्राप्त होती। इसलिये यह दीन बना रहता है। यदि इसे कभी विशाल धन का भंडार प्राप्त हो जाय, तो भी यह भीतर से तृप्त नहीं होता। जैसे बाँस या बेंत की बनी हुई पिटारी कभी जल से नहीं भरती, उसी प्रकार धन से मनुष्य का जी नहीं भरता। मुने! जैसे अपने झुंड से बिछुड़कर जाल में जकड़े हुए मृग को कभी सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार समस्त साधनों से शून्य (एवं सत्संगरहित) मन सदा दुर्वासनाओं के जाल में जकड़ा रहता है। इसलिये उसे कभी सुख और संतोष नहीं प्राप्त होता। मुने! तरंगों के समान चंचल वृत्ति को धारण करने वाला यह मन अपने स्थूल-सूक्ष्म अवयव विभाग को छोड़कर एक क्षण के लिये भी हृदय में स्थिर नहीं रहता। विषयों के चिन्तन से क्षोभ को प्राप्त हुआ यह मन मन्दराचल के आघात से उछलती हुई क्षीरसागर की दुग्धराशि के समान दसों दिशाओं में दौड़ता या भटकता फिरता है, किंतु कहीं भी शान्ति को नहीं पाता।

ब्रह्मन्! जैसे मृग गड्ढे में गिरने की कोई चिन्ता न करके हरी-हरी दूब चरने की इच्छा से प्रेरित हो बहुत दूर तक दौड़ लगाता रहता है, उसी प्रकार यह मन नरक के गर्त में गिरने की परवाह न करके भोग-लाभ की आशा से बड़ी दूर तक चक्कर लगाता रहता है (भाँति-भाँति के मनसूबे बाँधता रहता है)। जैसे पिंजड़े में बंद किया हुआ सिंह चिन्ता के कारण एक जगह स्थिर होकर नहीं रहता, उसी तरह नाना प्रकार की चिन्ताओं से अत्यन्त चपल हुआ मन अपनी चंचल वृत्ति के कारण कहीं स्थिर नहीं रह पाता। जैसे हंस जल से दूध को निकाल लेता है, वैसे ही मोहरूपी रथपर आरूढ़ हुआ यह मन भी इस शरीर से उद्वेगशून्य समता के सुख का अपहरण कर लेता है। ब्रह्मन्! मन रूपी ग्रह अग्नि से भी अधिक उष्ण है। उसके ऊपर चढ़ना पर्वत पर चढ़ने से भी अधिक कठिन है तथा वह वज्र से भी बढ़कर कठोर है। जैसे मांसभक्षी पक्षी मांस पर टूट पड़ता है, उसी प्रकार मन भी इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध होने वाले विषयों की ओर दौड़ पड़ता है। परंतु जैसे बालक पहले तो खिलौने की ओर

ललकता है, फिर उसे पाकर थोड़ी ही देर में उससे मुँह मोड़ लेता है, उसी तरह यह मन प्राप्त हुए विषय से क्षणभर में ही विरत हो जाता है (और नये-नये विषय की खोज करने लगता है)।

समुद्र को पी जाना, सुमेरू पर्वत को जड़ से उखाड़ फेंकना तथा अग्नि का ही आहार करना-ये महान् एवं दुस्साध्य कार्य हैं। परंतु चंचल चित्त को वश में कर लेना इनसे भी महान् एवं कठिन कार्य है। सम्पूर्ण पदार्थों का कारण चित्त ही है। जब तक चित्त है, तभी तक तीनों लोकों की सत्ता है, उसके क्षीण होते ही जगत् क्षीण हो जाता है। इसलिये इस चित्तरूपी रोग की यत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये। मुने! जैसे महान् पर्वत से अनेकानेक वनों एवं क़ानों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मन से ये सैकड़ों सुख-दुख पैदा हुए हैं-इसमें संशय नहीं है। अध्यात्मविषयक विवेक से जब यह मन दुर्बल हो जाता है, तब ये सारे सुख-दुःख निश्चय ही पूर्णरूप से गल जाते हैं-ऐसा मेरा विश्वास है। महान् मुमुक्षु पुरुष जिसके जीते जाने पर शम्, दम, क्षमा, दया, समता, शान्ति, संतोष, सरलता आदि समस्त सदगुणों के स्वाधीन होने की आशा करते रहे हैं, उस शत्रुरूप चित्त को जीतने के लिये मैं सब प्रकार से उद्यत हुआ हूँ। अतएव जैसे चन्द्रमा मेघमाला अभिनन्दन नहीं करता, उसी प्रकार मैं तीव्र वैराग्य-सम्पत्ति से युक्त होने के कारण जड़ और मलिन विलासवाली लक्ष्मी का अभिनन्दन नहीं करता।

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

तृष्णा की निन्दा

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं-मुनीश्वर! चेतन जीवरूपी आकाश में हृदय के अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण दुस्तर तृष्णारूपिणी रात्रि का सहारा पाकर नाना प्रकार के दोषरूपी उल्लुओं की जमातें क्रियाशील हो उठती हैं। जैसे रात में ओस के कणों से अभिषिक्त तथा आसपास के उपवनों में खिले हुए कांचन पुष्प (धतूरे के फूल) की उज्जवल शोभा से सुशोभित चने की फलियाँ निश्चय ही अधिक विकास को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार अनेक तरह के दुःखमय विलापों से प्रकट हुए अश्रुविन्दुओं से आर्द्र तथा निकटवर्ती सुवर्ण आदि की अभिलाषा

उज्ज्वल हुई चिन्ता या तृष्णा अवश्य अधिकाधिक बढ़ने लगती है। जैसे समुद्र के भीतर भँवर एवं हलचल उत्पन्न करने के लिये ही तरंगे उठा करती हैं, उसी तरह हृदय को चंचल बना देने वाली तृष्णा अन्तःकरण में भ्रम एवं आकुलता पैदा करने के लिये ही उस सीमातक आ पहुँचती हैं, जहाँ वह धनादिकी प्राप्ति के लिये कष्टप्रद उत्साह को बढ़ावा देती है। यद्यपि तृष्णा के वेग को रोकने के लिये न जाने कहाँ-कहाँ से उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार कलंकिनी तृष्णा ने इसे न जाने कहाँ-किस अयोग्य अवस्था में पहुँचा दिया। जैसे जाल में फँसे हुए पक्षी अपने घोंसले में जाने की शक्ति से वंचित हो वहीं शोक-दुःख से मोहित हो जाते हैं, वैसे ही हमलोग चिन्ता या तृष्णा के जाल में फँसकर अपने पारमार्थिक स्वरूप को प्राप्त करने में असमर्थ हो मोह में डूबे रहते हैं।

तृष्णा एक पागल घोड़ी के समान है, जो यहाँ से दूर-दूर जाकर बारंबार लौट आती और फिर तुरंत ही सम्पूर्ण दिशाओं में चक्कर काटने लगती है। जैसे घटीयन्त्र (रहट) के ऊपर लगी हुई रस्सी घट के साथ सदा ऊपर-नीचे आती रहती है, जड़ या जल से सम्बन्ध रखती है, अपने भीतर गाँठें रखती है और चंचल बनी रहती है, उसी तरह यह तृष्णा धर्म और अधर्म के अनुसार सदा स्वर्ग और नरक में गमनागमन कराती, चेतन और जड़ की ग्रन्थि से जुड़ी रहती, जड़ पदार्थों से सम्बन्ध रखती और सदा विक्षुब्ध बनी रहती है। जो देह के भीतर मन में गुँथी हुई है, जिसका छेदन करना प्रायः सभी के लिये अत्यन्त कठिन है, उस तृष्णा के द्वारा मनुष्य उसी प्रकार शीघ्र भारवाही बना लिया जाता है, जैसे रासकी रस्सी बैल को तत्काल भार ढोने के लिये विवश कर देती है। जैसे बहेलिये की स्त्री पक्षियों को फँसाने के लिये जाल बनाती है, उसी प्रकार सदा आकर्षणशील स्वभाव वाली तृष्णा लोगों को फँसाने के लिये स्त्री, पुत्र और मित्र आदि की परम्परा रचती रहती है। यद्यपि मैं धीर हूँ, तथापि भयानक काली रात के समान तृष्णा मुझे भयभीत सा कर देती है। विवेकरूपी नेत्र से सम्पन्न हूँ, तो भी वह मुझे अंधा-सा बना देती है और सच्चिदानन्द होने पर भी मुझे वह मानो खेद में डाल देती है।

तृष्णा को काली नागिन के समान समझना चाहिये। वह सहस्त्रों कुटिलताओं से भरी हुई है। विषयभोग सुख ही उसका कोमल स्पर्श है। वह

विषमतारूपी विष को ही उगलती है और तनिक सा स्पर्श हो जाने पर भी डँस लेती है (अपने सम्पर्क में आये हुए प्राणी का नाश कर देती है)। इतना ही नहीं, तृष्णा काली-कलूटी राक्षसी के समान भी बतायी गयी है। वह पुरुषों के हृदय का भेदन करने वाली तथा दीनता की प्रतिमूर्ति है। पर्वत की गुफा में एक प्रकार की लता होती है, जो सूर्य-किरणों के न मिलने से सदा अत्यन्त मलिन रहती है। वह खाने में कड़वी और परिणाम में उन्माद का रोग पैदा करने वाली है। उसकी बेल बहुत लंबी होती है और उसमें रस की मात्रा अधिक रहती है। यह तृष्णा भी उसी लता के समान निरन्तर अत्यन्त मलिन, परिणाम में दुःख से पागल बना देने वाली, वासनारूपी विशाल ताँतों से युक्त तथा विषयों में गहरा स्नेह पैदा करने वाली है। जैस ऊँचे वृक्षों की शाखा के अग्रभाग में स्थित सूखी हुई मञ्जरी पुष्पशून्य, निष्फल तथा कण्टकाकीर्ण होने के कारण आनन्ददायिनी नहीं होती, उसी प्रकार तृष्णा सर्वथा सूनी, निष्फल, व्यर्थ विस्तार को प्राप्त होने वाली, अमंगलकारिणी और क्रूर है। यह कभी सुखदायिनी नहीं होती। संसाररूपी विशाल वन में तृष्णारूपिणी विष की बेल फैली हुई है। जरा मृत्यु आदि ही इसके फूल तथा विनिपात और उत्पात (अधःपतन और उपद्रव) ही फल हैं।

मुने ! चिन्ता (तृष्णा) चंचल मोरनी के समान है। मोरनी वर्षा की बूँदें पड़ने पर बारंबार नृत्य करती है, शरद् ऋतु का प्रकाश आ जाने पर शान्त हो जाती है और दुर्गम स्थानों में भी पैर रखती है, इसी तरह तृष्णा भी कुहरे के समान मोह के आवरण में स्फुरित होती है-नाच उठती है, विवेक का प्रकाश छा जाने पर शान्त हो जाती है और असाध्य वस्तुओं में भी पाँव रख देती है। केवल वर्षा काल में इतराकर बहने वाली छोटी नदी वर्षा के अतिरिक्त समय में चिरकाल तक जलशून्य पड़ी रहती है। वर्षा ऋतुओं में भी बीच-बीच में जब वृष्टि रुक जाती है, वह जल से खाली हो जाती है परंतु पानी बरसने पर उसमें क्षणभर में बाढ़ आ जाती है और जल की बहुत सी उत्ताल तरगें उड़ने लगती हैं। इसी प्रकार तृष्णा भी चिरकाल तक फल शून्य हो जाती है। जड़ पदार्थों में ही इसे अधिक आनन्द मिलता है और क्षण भर में ही यह उल्लसित हो उठती है। चारे के लोभ से चंचल हुई चिड़िया जैसे फलशून्य खड़े हुए वृक्ष

को छोड़कर दूसरे-दूसरे फलयुक्त वृक्ष पर चली जाती है, उसी प्रकार तृष्णा भी विवेकी एवं विरक्त पुरुष को छोड़कर विषयासक्त पुरुष के पास चली जाती है।

तृष्णा और चंचल बंदरिया दोनों का स्वभाव एक जैसा है। वे अलंघ्यस्थान में भी पैर रख देती हैं, तृप्त हो जाने पर भी नये-नये फल की इच्छा करती हैं और विषयरूप एक स्थान पर अधिक काल तक नहीं ठहरतीं। तृष्णा हृदयरूपी कमल में निवास करनेवाली भ्रमरी है। यह क्षण भर में पाताल को चली जाती है, फिर दूसरे ही क्षण आकाश की सैर करने लगती है और क्षण-भर में ही दिगन्तरूपी निकुंज में मड़राती दिखायी देती है। संसार में जितने दोष हैं, उन सबमें एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है, जो दीर्घकाल तक दुःख देती रहती है। वह अन्तःपुर में रहने वाले मनुष्य को भी भीषण संकट में डाल देती है। तृष्णारूपिणी मेघमाला मोहरूपी नीहार-पुंज से घनीभूत होकर परम ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश को ढँक देती है और जगत् को केवल जड़ता (जल अथवा अज्ञान) ही प्रदान करती है। तृष्णा सांसारिक व्यवहार में फँसे हुए समस्त प्राणियों को बाँधने के लिये एक मजबूत रस्सी के समान है। उस ने सबके मन को बाँध रक्खा है। इन्द्रधनुष जिन लक्षणों अथवा धर्मों से युक्त दिखायी देता है, वे ही तृष्णा के भी लक्षण अथवा धर्म हैं। वह इन्द्र-धनुष की ही भाँति बहुरंगी, गुणहीन, विशाल, मलिन (मेघ अथवा अशुद्ध अन्तःकरण वाले प्राणी के) आधार पर स्थित, शून्य रूप और शून्य में ही पैर रखने वाली है। तृष्णा गुणरूपी हरी-भरी खेती को नष्ट करने के लिये वज्रपात के समान है। आपत्तियों को बढ़ाने के लिये उस शरद्-ऋतु के तुल्य है, जिसके आने पर धान आदि की खेती पकी हुई बालों से सम्पन्न हो जाती है। तत्व-ज्ञानरूपी कमलों का विध्वंस करने के लिये ओले के सदृश और अज्ञानरूपी अन्धकार की वृद्धि के लिये वह हेमन्त की लंबी रात के समान है।

तृष्णा इस संसार रूपी नाटक की नटी है, प्रवृत्तिरूप नीड़ में निवास करने वाली पक्षिणी है, मनोरथरूपी महान् वन में चरनेवाली हरिणी है और कामरूपी संगीत को उद्बुद्ध करने वाली वीणा है। वह व्यवहाररूपी समुद्र की लहर है। मोहरूपी मतवाले गजराज को बाँधे रखने के लिये साँकल है, सृष्टि रूपी वटवृक्ष की सुन्दर वरोह है और दुःखरूपी कुमुदों को विकसित करने वाली

चाँदनी है। इतना ही नहीं, तृष्णा जरा-मृत्युरूप दुःखमय रत्नों का संग्रह करने के लिये एकमात्र रत्न-पेटिका है तथा आधि-व्याधिरूप विलासों का नित्य विस्तार करने वाली मदमत्त विलासिनी है। तृष्णा को व्योमवीथी (आकाश) के समान समझना चाहिये। जैसे आकाश कभी सूर्य के प्रकाश से निर्मल हो जाता है, कभी मेघों की घटा घिर आने से वहाँ कुछ क्षणों के लिये कुछ-कुछ अँधेरा छा जाता है और कभी वह कुहरे से ढक जाता है, उसी प्रकार तृष्णा भी कभी किंचित् विवेक का प्रकाश पाकर निर्मल हो जाती है, विवेक न होने पर अज्ञान से मलिन रहती है और कभी कुहरे के समान मोह से आवृत हो जाती है। जब तक विष-विशेष उद्‌भव से प्रकट होने वाले विसूचिका (हैजा) नामक रोग के समान मृत्यु की हेतुभूता तृष्णा पीछे लगी रहती है, तभी तक यह चंचल-चित्त मूढ़ जन-समुदाय मोह को प्राप्त होता रहता है।

लोग विषयों का चिन्तन त्याग देने से ही अपने सम्पूर्ण दुःख को दूर कर सकते हैं। विषय चिन्तन का त्याग ही तृष्णारूपिणी विसूचिका के निवारण का मन्त्र कहा गया है। तृष्णा वेणुलता (बाँस) बतायी जाती है। जैसे बाँस भीतर से खोखला, बीच-बीच में गाँठों से युक्त और कोंपलरूपी बड़े-बड़े काँटों से भरा होता है तथा उसमें सबको प्रिय लगने वाले मोती उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार तृष्णा भी भीतर से खोखली, कपट-दुराग्रह आदि गाँठों से भरी, चिन्ता और दुःखरूपी कण्टकों से परिपूर्ण तथा मोती-मणि आदिधन-सम्पत्ति में अधिक प्रेम रखने वाली है। फिर भी यह बड़े आश्चर्य की बात है कि परम बुद्धिमान ज्ञानीजन विवेक की चमचमाती हुई तलवार से उस दुश्छेद्य चिन्ता को भी काट डालते हैं। ब्रह्मन्! जीवों के हृदय में रहने वाली यह तृष्णा जैसी तीखी है, वैसी तीखी न तो तलवार की धार है, न वज्राग्नि की लपटें हैं। और न आग में तपाये हुये लोहकणों की चिनगारियाँ ही हैं। तृष्णा दीप-शिखा के समान कही गयी है। जैसे दीपक की शिखा बीच में उज्ज्वल, अन्त में काली होती है, उसका अग्रभाग तीखा होता है, उसमें तेल और लंबी-सी बत्ती रहती है, वह प्रकाशमान होती है और दाह के कारण उसका स्पर्श दुस्सह होता है, उसी प्रकार तृष्णा भी बीच में भोग-वैभव से उज्ज्वल और अन्त में दुःख एवं मृत्यु देने वाली होने के कारण काली होती है, उसका अग्रभाग या आरम्भ भी

असह्य होता है। वह स्त्री-पुत्र आदि के स्नेह से पूर्ण तथा बाल्य, यौवन, बुढ़ापा नामक अवस्था-विशेषरूपी बत्तियों से युक्त होती है, इसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा इष्ट वस्तु के वियोग-जनित अन्तर्दाह उत्पन्न करने के कारण यह सबके लिये असह्य हो उठती है। महर्षे ! मेरू पर्वत के समान परम उन्नत, विद्वान, शूरवीर, सुस्थिर और श्रेष्ठ मनुष्य को भी यह एकमात्र तृष्णा ही पल भर में याचक बनाकर तिनके के समान हल्का कर देती है।

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

शरीर निन्दा

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं- महामुने! गीली आँतों (मल-मूत्र आदि की थैलियों) और नाड़ियों से भरा हुआ, नाना प्रकार के विकारों से युक्त तथा अन्त में पतनशील (मरणधर्मा) जो शरीर संसार में सबके सामने प्रकाशित हो रहा है, वह भी केवल दुःख भोगने के लिये ही है। यह थोड़े से खान-पान आदि के द्वारा ही आनन्दित हो उठता है और थोड़े से ही शीत, धाम आदि से खिन्न हो जाता है; अतः इस शरीर के समान गुणहीन, शोचनीय और अधम दूसरा कोई नहीं है। यह शरीर वृक्ष के तुल्य है। दोनों भुजाएँ इसकी दो शाखाएँ हैं, परिपुष्ट कंधा तना है। दो नेत्र इसके बिल या खोडर हैं। मस्तक का स्थान इसका बड़ा भारी फल है। यह दाँत रूपी श्रेणीबद्ध पक्षियों के बैठने के लिये स्तम्भ के समान सुन्दर आधार है। दोनों कान शब्द रूपी कठफोरवा पक्षियों के प्रवेश करने के लिये खोंखले हैं। हाथ और पैरों की अंगुलियाँ इसके सुन्दर पल्लव हैं। गुल्म नामक (पेट का) रोग ही इस पर फैली हुई लताएँ अथवा झाड़ियाँ हैं। यह कर्म करने के लिये पञ्चभूतों के समूह से संगठित हुआ है। जीव तथा ईश्वर रूप पक्षियों ने इस पर अपने घोंसले बना रक्खे हैं। दाँत रूपी केसरों से सुशोभित, उत्पत्ति विनाशशील तथा मन्द हासमय विकास से युक्त हर्षरूपी फूलों द्वारा यह शरीर-वृक्ष सदा अलंकृत होता रहता है। सुन्दर क्रान्ति ही इसकी छाया है। यह देहरूपी वृक्ष जी रूपी पथिकों का विश्राम स्थान है। इसे किसका आत्मीय कहा जाय और किसका पराया ? इसके ऊपर आस्था और अनास्था ही क्या हो सकती है ? तात! भवसागर तथा नदी आदि को पार करने के लिये बारंबार

अपनायी गयी देहलता एवं नौका में कौन आत्मीयता की भावना कर सकता है? जहाँ रोम रूपी असंख्य वृक्ष उगे हुए हैं, जो इन्द्रिय रूपी बहुसंख्य गड्ढों से भरा हुआ है,उस देहरूपी निर्जन वन में कौन विश्वरत (निर्भय) होकर रह सकता है?

जो संसार रूपी वन में उगा और बढ़ा है, जिस पर चित्तरूपी चंचल वानर उछलता-कूदता रहता है, जिसका प्रत्येक अवयव विषय-चिन्तन रूपी मञ्जरी से अलंकृत है, महान् दुःख रूपी घुनों के लग जाने से जिसमें सब ओर छेद या घाव हो गये हैं, जो तृष्णा रूपिणी सर्पिणी का घर है, जिसपर कोपरूपी कौए ने घोंसला बना रक्खा है, जिसमें मन्द मुसकान रूपी पुष्प प्रकट होते और खिलते हैं, इसीलिये जिसकी बड़ी शोभा होती है, शुभ और अशुभ (सुख और दुःख) जिसके महान् फल हैं, सुन्दर कंधे और बाँहें जिसकी शाखाएँ हैं, अंगुलियों से युक्त हाथ रूपी पुष्प-गुच्छों के कारण जो बड़ा सुन्दर जान पड़ता है, प्राणवायु रूपी पवन के स्पन्दन से जिसके सम्पूर्ण अवयव रूपी पल्लव हिलते रहते हैं, जो समस्त इन्द्रिय रूपी पक्षियों का आधार है, सुन्दर घुटनों से युक्त शरीर का निचला भाग जिसका तना है, जो बहुत ऊँचा है, यौवन की कान्ति रूपी छाया से युक्त होने के कारण जो सरस प्रतीत होता है, काम रूपी पथिक जिसका सेवन करता है, मस्तक पर उगे हुए बड़े-बड़े केश-कलाप जिस पर जमे हुए तिनकों के समुदाय हैं, अहंकार रूपी गीध जिस पर घोंसला बनाकर रहता है, जो भीतर से खोखला (छिद्रयुक्त) है, नाना प्रकार की वासना रूपिणी जटाओं के जाल का उद्गम-स्थान होने के कारण जिसे काटना अत्यन्त कठिन है तथा परिश्रम रूपी शाखा-विस्तार के कारण जो विरस (रूखा) दिखायी देता है, वह शरीर रूपी वृक्ष सुखद नहीं प्रतीत होता है।

मुने! शरीर अहंकार रूपी गृहस्थ का विशाल गृह है। यह गिरकर सदा के लिये धरती पर लोट जाय अथवा चिरकाल तक स्थिर बना रहे, इससे मेरा क्या प्रयोजन है ? जहाँ इन्द्रिय रूपी पशु कतार बाँधकर खड़े रहते हैं, तृष्णा रूपिणी गृहस्वामिनी बारंबार (घर-आँगन में) डोलती-फिरती है तथा जिसके समस्त अवयवों को आसक्ति रूपी गेरु आदि के रंग से रँगा गया है, वह शरीर रूपी गृह मुझे अभीष्ट नहीं है। पीठ की हड्डी (रीढ़) रूपी शहतीरों के परस्पर मिलने से जिसके भीतर खाली स्थान बहुत थोड़ा रह गया है तथा जो आँत की

रस्सियों से बाँधकर खड़ा किया गया है, वह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। जिसमें सब ओर नस-नाड़ी और आँतों की रस्सियाँ फैली हुई हैं, जिसे रक्त रूपी जल से बनाये गारे के द्वारा लीपा गया है तथा बुढ़ापा रूपी चूने से जिस पर सफेदी की गयी है, वह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। चित्तरूपी भृत्य ने नाना प्रकार की अनन्त चेष्टाओं द्वारा जिसकी स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ कर दी है तथा मिथ्या और मोह (असत्य, सुदृढ़ अज्ञान) ये दो जिसके बड़े-बड़े खंभे हैं, वह देहरूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है। दुःख रूपी छोटे-छोटे बच्चों ने जहाँ रो-रोकर कोलाहल मचा रक्खा है, गाढ़ निद्रारूपी सुख शय्या के कारण जो मनोरम प्रतीत होता है तथा जिसमें दुश्चेष्टारूपिणी दग्ध दासी निवास करती है, वह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। मुनीश्वर! जो मल आदि दोषों से युक्त विषय-समूहरूपी बर्तनों तथा अन्यान्य उपकरणों से ठसाठस भरा हुआ है तथा जिसमें अज्ञानरूपी नोनछा लगा हुआ है, वह देहरूपी गेह मुझे अभीष्ट नहीं है। गुल्फरूपी आधारकाष्ठ पर स्थित जो पिंडलियाँ हैं, वे मानो खंभे हैं। घुटना उनका मस्तक है, वह जिसके ऊरु स्तम्भ का आधार है तथा दोनों बड़ी-बड़ी भुजाएँ दो आड़ी लकड़ियों के समान जिसे दृढ़ता पूर्वक धारण करती हैं, वह देहरूपी घर मुझे इष्ट नहीं है।

तेरहवां सर्ग समाप्त

चौदहवां सर्ग

इन्द्रिय निग्रह

ब्रह्मन्! जहाँ ज्ञानेन्द्रियरूपी झरोखों के भीतर प्रज्ञारूपिणी गृहस्वामिनी क्रीड़ा कर रही है तथा चिन्तारूपिणी पुत्रियाँ खेल रही हैं, वह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है। जो सिर के केशरूपी छाजन से छाया हुआ है, कानरूपी शोभाशाली चन्द्र शालाओं से सुशोभित है तथा कुछ लंबी अंगुलिरूप काष्ठ-चित्रों से सुसज्जित है, वह शरीररूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है। जिसके समस्त अंगरूपी भित्तियों के समूह में रोमरूपी घने जौ के अंकुर उगे हैं और जहाँ पेट का गड्ढा कभी भरता नहीं, ऐसा देहरूपी गेह मुझे नहीं चाहिये। जिसमें नखरूपी मकड़ियों का निवास है, जहाँ भूखरूपी कुतिया निरन्तर शोर मचाये रहती है तथा जिसमें भयानक शब्द करने वाली प्राणवायु सदा चलती रहती है,

ऐसे देह-गेह की प्राप्ति मुझे प्रिय नहीं है। जहाँ श्वास-प्रवास के रूप में वायु के वेग का निरन्तर भीतर-बाहर आना-जाना लगा रहता है और जिसकी इन्द्रियरूपी खिड़कियाँ सदा खुली रहती हैं, वह देहरूपी घर मुझे कभी इष्ट नहीं है। जिसके मुखरूपी दरवाजे पर जिव्हारूपिणी वानरी सदा डटी रहती है, अतएव जो भयंकर दिखायी देता है तथा जिसके दाँतरूपी हड्डियों के टुकड़े स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, वह शरीररूपी घर मुझे नहीं चाहिये। यह देह-गेह त्वचारूपी चूने के लेप (या पलस्तर) से चिकना किया हुआ है। नाड़ीरूप यन्त्रों के संचार से यह चंचल बना रहता है और मनरूपी सुन्दर चूहे ने इसमें सब ओर बिल खोद रक्खे हैं; इसलिये यह मुझे प्रिय नहीं है। जो मन्द मुस्कानरूपी दीपक की प्रभा से क्षण भर के लिये उद्भासित हो उठता है, एक ही क्षण में आनन्दोल्लास से सुन्दर दिखायी देता है और फिर क्षणमात्र में ही अज्ञानान्धकार से व्याप्त हो जाता है, वह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। जो समस्त रोगों का घर है, झुर्रियों तथा पके बालों का नगर है और समस्त मानसिक चिन्ताओं का दुर्गम वन है, वह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है।

यह शरीर एक भयानक वन है। इन्द्रियाँ ही इस जंगल के भालू हैं, जो अपने रोष के कारण इसे दुर्गम बनाये हुए हैं। यह भीतर से सूना है तथा अनेकानेक निस्सार खोडरों से युक्त है। इसकी दिशारूपी कुंजें घोर अज्ञानान्धकार से व्याप्त होने के कारण गहन जान पड़ती हैं; अतः यह मुझे कदापि प्रिय नहीं है। यहाँ धन-सम्पत्ति, राज्य, शरीर, नाना प्रकार की चेष्टाओं और मनोरथों से क्या लेना देना है; क्योंकि काल कुछ ही दिनों में इन सबको अपना ग्रास बना लेता है। मुने! यह शरीर केवल रक्त और मांस का ही बना हुआ है। इसका एक ही धर्म है-विनाश। फिर इसके बाहरी और भीतरी स्वरूप पर विचार करके बताइये, इसमें कौन-सी रमणीयता है ?

तात! जो शरीर मरने के समय जीव का अनुसरण नहीं करते-उसका साथ छोड़ देते हैं, वे कितने बड़े कृतघ्न हैं। फिर आप ही कहिये, उन पर बुद्धिमान् पुरुषों की क्या आस्था हो सकती है ? यह शरीर उस कोमल पल्लव के समान है, तनिक-सी वायु का संचार होते ही जोर-जोर से हिलने लगता है, यह आधिव्याधिरूपी सैकड़ों कण्टकों से क्षत-विक्षत होने के कारण जर्जर हो

जाता है। इसका स्वभाव क्षुद्र है तथा यह कड़वा और नीरस है; अतएव मुझे प्रिय नहीं है। चिरकाल तक यत्न पूर्वक खा–पी लेने के बाद भी नूतन पल्लवों के समान कोमल कृशता को प्राप्त हो यह बारंबार विनाश की ओर ही दौड़ता है। दीर्घकाल तक लोगों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके धन–सम्पत्ति का सेवन करने के बाद भी न तो यह ऊँचे उठता है और न स्थिरता को ही प्राप्त होता है, फिर इस शरीर का किसलिये पालन किया जाता है ? कोई भोग–वैभव से सम्पन्न हो या दरिद्र–दोनों का शरीर समान ही होता है, बुढ़ापे के समय बूढ़ा होता और मृत्युकाल में मर जाता है। उसे अपने में किसी विशेषता का अनुभव नहीं होता। जो लोग इन नाशवान् शरीरों में आस्था रखते हैं–इन्हें नित्य स्थिर रहने वाला मानते हैं तथा जो संसार की स्थिरता पर भी विश्वास करते हैं, वे मोहरूपी मदिरा का पान करके उन्मत्त हो गये हैं। उन्हें बारंबार धिक्कार है।

मुने! 'मैं न तो इस शरीर का कोई सम्बन्धी हूँ और न शरीर हूँ। न यह शरीर मेरा है और न मैं ही यह शरीर हूँ।' ऐसा विचार करके जिनका चित्त परमात्मा में विश्राम ले रहा है, वे ही लोग पुरुषों में उत्तम हैं। जो मान और अपमान से वृद्धि को प्राप्त हुई हैं और प्रचुर लाभ से मनोरम प्रतीत होती हैं, वे दोषपूर्ण दृष्टियाँ केवल शरीर में नित्यत्व का विश्वास रखने वाले मनुष्य को नष्ट कर देती हैं। जो शरीररूपी गड्ढे में सोती है और अहंकार का चमत्कार पूर्ण कार्य है, उस मनोहर अंगवाली (भोगतृष्णामयी दोषदृष्टिरूपिणी) पिशाची ने छल से हमारा सर्वस्व हर लिया है। शरीर में ही नित्यता का विश्वास रखनेवाली इस मिथ्या–ज्ञानरूपिणी दुष्ट राक्षसी ने अकेली (असहाय) दीन–हीन प्रज्ञा (सुबुद्धि) को पूर्णरूप से ठग लिया, यह कितने दुःख की बात है।

कुछ ही दिनों में जीर्णता को प्राप्त होकर यह शरीररूपी पल्लव झरने के जल की बूँदों के समान बिना किसी यत्न के अपने आप गिर पड़ता है। समुद्र में उत्पन्न हुए पानी के बुलबुलों की तरह इस शरीर का बहुत शीघ्र विनाश हो जाता है। ब्रह्मन्! यह शरीर मिथ्याभूत अज्ञान का विकार है और स्वप्नरूपी भ्रान्तियों का भंडार है। इसका विनाश बहुत स्पष्ट दिखायी देता है। इसलिये इसमें मेरा क्षणभर के लिये भी विश्वास नहीं है। जिस पुरुष ने बिजली, शरद् ऋतु के बादल और गन्धर्व नगर के चिरस्थायी होने का निर्णय कर लिया है,

वही इस शरीर की नित्यता पर विश्वास करे (मैं तो नहीं कर सकता)। शीघ्रतापूर्वक नष्ट हो जाने में हठपूर्वक अपना उत्कर्ष जताने के लिये जो होड़ लगाकर प्रवृत्त हुए हैं, उन सतत् विनाशशील पदार्थों की अपेक्षा भी अधिक क्षणभंगुर है, उस प्रबल दोषयुक्त शरीर की तिनके के समान उपेक्षा करके मैं सुखी हो गया हूँ।

चौदहवां सर्ग समाप्त

पन्द्रहवां सर्ग

बाल्यावस्था के दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं–मुनीश्वर! असमर्थता, आपत्तियाँ, तृष्णा, मूकता (बोल न सकना), मूढ़ बुद्धिता (बुद्धि द्वारा कुछ जान न पाना), खिलौने आदिकी अभिलाषा, चंचलता और दीनता आदि सारे दोष बाल्यावस्था में ही प्रकट होते हैं। बाल्यावस्था में पशु–पक्षियों की सी चेष्टाएँ होती हैं। बालक सभी लोगों के द्वारा तिरस्कृत होता है। बालकों की चपल चेष्टा मृत्यु से भी बढ़कर दुःख देनेवाली होती है। बाल्यावस्था में अज्ञानवश जल, अग्नि और वायु से निरन्तर उत्पन्न होने वाले भय के कारण पग–पग पर जो दुःख प्राप्त होता है, वह आपत्तिकाल में भी किसको होता होगा ? बालक भाँति–भाँति लीलाओं, दुर्विलासों, दुश्चेष्टाओं तथा दूषित अभिप्राय में हठात् प्रवृत्त होकर बड़े भारी मोह में पड़ जाता है। बाल्यावस्था में बालक जिस किसी के भी कहने से निष्फल कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं, अनेक प्रकार की दुश्चेष्टाएँ करते हैं तथा किसी प्रकार भी प्रतिष्ठा की प्राप्ति उनके लिये दुर्लभ है इसी तरह मनुष्य का शैशवकाल केवल गुरुजनों का शासन स्वीकार करने के लिये ही है, सुख और शान्ति प्रदान करने के लिये नहीं। जैसे उल्लू दिन में अन्धकार से भरे हुए दूषित गड्ढों में छिपे रहते हैं, उसी प्रकार जो–जो दोष, जितने दुराचार तथा जो–जो दुर्लंघ्य दुश्चिन्ताएँ हैं, वे सब–के–सब बाल्यावस्था में ही जीव के हृदय में छिपकर बैठे रहते हैं।

ब्रह्मन्! जो लोग 'बाल्यावस्था बड़ी रमणीय है' ऐसी कल्पना करते हैं, उन सब की बुद्धि व्यर्थ है। उन हतचित्त मूढ़बुद्धि लोगों को बारंबार धिक्कार है। जहाँ झूले के समान चंचल मन विविध विषयों के आकार को प्राप्त होता है

तथा जो तीनों लोकों में अमंगलरूप है, वह बाल्यावस्था कैसे संतोषदायक हो सकती है ? मुने! सभी प्राणियों का मन अन्य सब अवस्थाओं की अपेक्षा बाल्यावस्था में ही दस गुना चंचल हो उठता है। मन स्वभाव से ही चंचल है और बाल्यावस्था सम्पूर्ण चंचल पदार्थों में सबसे बढ़कर है। जहाँ उन दोनों का संयोग हो, वहाँ अन्तःकरण में चपलताजनित अनर्थ से बचाने वाला कौन है! बचपन और मन–ये दोनों सभी वृत्त्यों (व्यवहारों) में सदा दो सहोदर भाइयों के समान दृष्टिगोचर होते हैं। इन दोनों की स्थिति क्षणभंगुर है। बालक कुत्ते के समान थोड़ा सा ही खाना देने या पुचकारने से वश में हो जाता है और थोड़ा-सा ही घुड़कने या छड़ी आदि दिखाने से बिगड़ जाता या डर जाता है। वह सदा अपवित्र स्थान में ही रमता या खेलता है।

बाल्यावस्था में प्राणी केवल दूसरों से डरता और खाता-पीता रहता है। वह सदा दीन रहता है, देखी और बिना देखी सभी वस्तुओं की इच्छा करता है। उसकी बुद्धि और शरीर दोनों चंचल होते हैं। ऐसी बाल्यावस्था को मनुष्य केवल दुःख भोगने के लिये धारण करता है। निर्बल बालक अपने मानसिक संकल्प से जिन पदार्थों को पाने की इच्छा करता है, उन्हें न पाकर उसकी बुद्धि सदा संतप्त होती रहती है और उसे इतना दुःख होता है मानो किसी ने उसके हृदय में घाव कर दिया है। जब तक बाल्यावस्था रहती है, तब तक असत्य पदार्थों में ही सत्यता की बुद्धि बनी रहती है, हृदय में नाना प्रकार के मनोरथ उदित होते रहते हैं तथा अन्तःकरण बड़ा कोमल होता है। अतः बाल्यकाल अत्यन्त दीर्घ दुःख प्रदान करने के लिये ही होता है, सुख देने के लिये नहीं। परम बुद्धिमान् मुनीश्वर! जिसके अन्तःकरण में सर्दी, गरमी का अनुभव तो होता है, परंतु जो उनका निवारण करने में समर्थ नहीं होता, उस बालक और वृक्ष में क्या अन्तर है ? बाल्यकाल में गुरु से, माता-पिता से, अन्य लोगों से तथा अपनी अपेक्षा बड़े बालकों से भी भय प्राप्त होता है। अतः बाल्यावस्था भय का मन्दिर ही है। महामुने! बाल्यावस्था में समस्त दोषपूर्ण दशाओं द्वारा अन्तःकरण दूषित होता है और बाल्यकाल अविवेक-नामधारी विलासी का विलास भवन है। इसलिये इस जगत में यह बाल्यावस्था किसी के लिये भी पूर्ण संतोषदायक नहीं है।

←पंद्रहवा सर्ग समाप्त→

सोलहवां सर्ग

युवावस्था के दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं–महर्षे! बचपन के बाद मनुष्य बाल्यावस्था के अनर्थों का त्याग कर भोगने के उत्साह, भ्रान्ति अथवा कामरूप पिशाच से दूषित चित्त होकर नकर में गिरने के लिये ही यौवनारूढ़ होता है। यौवनावस्था में मूर्ख मनुष्य अनन्त विलास (चेष्टा) वाले अपने चंचल चित्त की राग–द्वेषादि वृत्तियों का अनुभव करता हुआ एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता है। अपने चित्तरूपी बिल में स्थित हो नाना प्रकार की भ्रान्ति पैदा करने वाला कामरूपी पिशाच अपने वश में हुए पुरुष का बलपूर्वक तिरस्कार करता है। मुने! युवावस्था में स्त्री, द्यूत और कलह आदि दुर्व्यसनों को उत्पन्न करने वाले वे राग–लोभ आदि प्रसिद्ध एवं दुष्ट दोष जैसे (काम, चिन्ता आदि के वशीभूत) अन्तःकरण वाले पुरुष को, जो काम आदि में तन्मय हो रहा है, यौवन के ही सहारे नष्ट कर डालते हैं। जो महान् नरक का बीज है और सदा भ्रान्ति पैदा करने वाला है, उस यौवन के द्वारा जिनका नाश नहीं हुआ, वे मनुष्य दूसरे किसी से नष्ट नहीं हो सकते। श्रृंगारआदि नाना प्रकार के रसों से पूर्ण और अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक वृत्तान्तों से युक्त भीषण यौवनरूपा भूमि को जिसने पार कर लिया, वही पुरुष धीर कहलाता है। जो क्षणभर के लिये प्रकाशमान, चंचल मेघों की गंभीर गर्जना (अभिमान पूर्ण वचन) से व्याप्त और बिजली की तरह चमककर लुप्त हो जानेवाला है, वह अमंगलमय यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। जो भोग के समय मधुर अतएव स्वादिष्ट (मनोरम) और अन्त में दुःखदायी होने के कारण तिक्त प्रतीत होता है, जिसमें दोष–ही–दोष भरे हैं, जो सब दोषों का आभूषण तथा मदिरा के मद–विलास के समान मोहक है, वह यौवन मुझे कदापि अच्छा नहीं लगता। जो असत्य होकर भी सत्य सा प्रतीत होता है, शीघ्र ही धोखा देनेवाला है तथा स्वप्नावस्था में किये गये स्त्री–सहवास के समान है, वह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। यह क्षणभर के लिये सुन्दर प्रतीत होने वाली सम्पूर्ण वस्तुओं में अग्रगण्य है। सारी आयु बीत जाने पर दिखायी देने वाले गन्धर्व नगर के समान है। यह सब लोगों को क्षण मात्र के लिये मनोहर प्रतीत होता है। अतः यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

यह यौवन ऊपर से तो रमणीय प्रतीत होता है, किंतु भीतर से सद्भाव

शून्य है। अतः वेशया स्त्री के समागम के समान घृणित होने के कारण मुझे रुचिकर नहीं जान पड़ता। जैसे प्रलयकाल में सबको दुःख देनेवाले बड़े-बड़े उत्पात सब ओर से उमड़ उठते हैं, उसी प्रकार युवावस्था में सबको कष्ट प्रदान करने वाले जो कोई भी आयोजन हैं, वे सब निकट आ जाते हैं। युवावस्था का मोह मंगलमय आचार को भुला देनेवाले और बुद्धि को कुण्ठित कर देनेवाले भ्रम का अतिशय मात्रा में उत्पादन करता है। जैसे दावाग्नि वृक्ष को जला देती है, उसी प्रकार युवावस्था में जीव प्रियतमा के वियोगजनित दुस्सह शोकाग्नि से मन-ही-मन जलता रहता है। जैसे अत्यन्त निर्मल, विस्तृत एवं पवित्र नदी भी वर्षा ऋतु में मलिन हो जाती है, उसी प्रकार परम निर्मल, विशाल एवं शुद्धबुद्धि भी युवावस्था में कलुषित हो जाती है। बहुत-सी उत्ताल तरंगों से युक्त भयानक नदी लाँघी जा सकती है, परंतु भोगतृष्णा की चपलता से युक्त युवावस्था नहीं लाँघी जा सकती। ‘वह प्राणवल्लभा, उसके वे मोटे-मोटे स्तन, वे मनोहर विलास और वह सुन्दर मुख कितना मनोरम है!’ युवावस्था में इसी तरह की चिन्ताओं से मनुष्य जर्जर हो जाता है। रजोगुण और सदगुण-समुदायक मूलोच्छेद करता है। अतएव उसे पाप-वैभव का विलास कहा गया है। शरीररूपी उपवन में उत्पन्न हुई यौवन की बेल बड़ी रमणीय है। वह ज्यों-ज्यों बढ़ती या ऊँचे चढ़ती है, त्यों-ही-त्यों अपने से सटे हुए मनरूपी भ्रमर को उन्मत्त बना देती है। शरीररूपी मरुभूमि में कामरूपी घाम के ताप से प्रकट हो भ्रान्तिरूप में प्रतीत होनेवाली जो यौवनरूपिणी मृगतृष्णा है, उसी ओर दौड़ते हुए मनरूपी मृग विषयों के गड्ढे में गिर जाते हैं। यह युवावस्था देहरूपी जंगल में कुछ दिनों के लिये प्रकाशित होनेवाली शरद ऋतु के समान है। लोगो! तुम इस पर विश्वास न करो।

जब-जब यौवन अपनी चरम सीमा पर आरूढ़ हो जाता है, तब-तब संतापयुक्त कामनाएँ केवल विनाश के लिये ही बढ़ने या नृत्य करने लगती हैं। ये राग-द्वेषरूपी पिशाच तभी तक विशेष रूप से नाचते फिरते हैं, जब तक कि यह यौवनरूपिणी रात्रि पूर्णरूप से नष्ट नहीं हो जाती। जो महामुग्ध पुरुष मोहवश क्षणभंगुर यौवन से हर्ष को प्राप्त होता है, वह मनुष्य होता हुआ भी निरा पशु ही माना गया है। जो मनुष्य अभिमान या अज्ञान के कारण मदोन्मत्त यौवनावस्था की अभिलाषा करता है, उस दुर्बुद्धि को शीघ्र ही पश्चाताप का

भागी होना पड़ता है। साधो! इस भूतल पर वे ही पुरुष पूजनीय और महात्मा हैं जो यौवनरूपी संकट से सुखपूर्वक पार हो गये हैं। बड़े-बड़े मगरों से भरे हुए महासागर को सुखपूर्वक पार किया जा सकता है, किंतु विषय-चिन्तन आदि महातरंगों के कारण उमड़े हुए और दुर्गुण दुराचाररूप अनेक दोषों से भरे हुए इस निन्दनीय यौवन के पारजाना बहुत ही कठिन है। ब्रह्मन्! विनय से अलंकृत, श्रेष्ठ पुरुषों को आश्रय देनेवाला, करुणा से प्रकाशित तथा शम, दम, क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, सरलता आदि विविध गुणों से युक्त उत्तम यौवन इस संसार में उसी तरह दुर्लभ है, जैसे आकाश में वन।

सोलहवां सर्ग समाप्त

सत्रहवां सर्ग

नारी शरीर की रमणीयता निराकरण

श्रीरामचन्द्रजी बोले-मुनीश्वर! इधर केश हैं, इधर रक्त और मांस है, यही तो युवती स्त्री का शरीर है। जिसका हृदय विवेक से विशाल हो गया है, उस ज्ञानी पुरुष को इस निन्दित नारी-शरीर से क्या काम ? आदरणीय मुने! बहुमूल्य वस्त्र और केसर-कस्तूरी आदिके लेप से जिन्हें बारंबार सजाकर दुलराया गया था समस्त देहधारियों के उन्हीं अंगों को किसी समय गीध और सियार आदि मांसाहारी जीव नोंचते और घसीटते हैं। जिस स्तन मण्डल पर मेरु पर्वत के शिखर प्रान्त से सोल्लास प्रवाहित होने वाली गंगाजी के जल की धारा के समान मोतियों के हार की शोभा देखी गयी थी, मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण दिशाओं की श्मशान भूमियों में नारी के उसी स्तन का कुत्ते अन्न के छोटे-से-पिण्ड की भाँति आस्वादन करते हैं। जैसे वन में चरने वाले गदहे या ऊँट के अंग रक्त-माँस और हड्डियों से सम्पन्न हैं, उसी प्रकार कामिनियों के अंग भी उन्हीं उपकरणों से युक्त हैं। फिर नारी के प्रति ही लोगों का इतना आग्रह या आकर्षण क्यों है ?

मुने! लोग केवल स्त्री के शरीर में जिस आपात रमणीयता की कल्पना करते हैं, मेरी मान्यता के अनुसार वह भी उसमें है नहीं। उसमें जो रमणीयता की प्रतीति होती है, उसका एकमात्र कारण मोह ही है। मन में विकार उत्पन्न करने वाली मदिरा में और युवती स्त्री में क्या अन्तर है ? एक जहाँ मद (नशे)

के द्वारा मनुष्य को प्रचुर उल्लास प्रदान करती है, वहाँ दूसरी काम का भाव जगाकर पुरुष के लिये आनन्ददायिनी बनती है (अतः अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष के लिये दोनों ही सामान्य रूप से त्याज्य हैं)। जैसे विष की लता सुन्दर फूलों से मनोहर लगती, नये-नये पल्लवों से सुशोभित होती, भ्रमरों की क्रीड़ास्थली बनती पुष्प-गुच्छ धारण करती, फूलों के केसर से पीले रंग की प्रतीत होती, अपना सेवन करने वाले मनुष्य को मार डालती या पागल बना देती है, उसी प्रकार कमनीया कामिनी फूलों का श्रृंगार धारण करने के कारण मनोहारिणी लगती, करपल्लवों से सुशोभित होती, भ्रमरों के समान चंचल नेत्रों के कटाक्ष-विलास का प्रदर्शन करती, पुष्प-गुच्छों के समान स्तनों को वक्ष पर धारण करती, फूलों के केसर की भाँति सुनहरी गौर-कान्ति से प्रकाशित होती, मनुष्यों के विनाश के लिये तत्पर रहती और कामभाव से अपना सेवन करने वालों को उन्माद एवं मृत्यु आदि के अधीन कर देती है। मुनिश्रेष्ठ! कामरूपी किरात (बहेलिये) ने मूढ़ चित्त मानवरूपी पक्षियों को फँसाने के लिये स्त्रीरूपी जाल को फैला रक्खा है। जन्म-स्थान-रूपी छोटे-छोटे जलाशयों में उत्पन्न हो धनरूपी पंख में विचरने वाले पुरुषरूपी मत्स्यों को फँसाने के लिये नारी बंसी के काँटे में लगी हुई आटे की गोली के समान है और दुर्वासना ही उस बंसी की डोर है। नारी के स्तन से, नेत्र से, नितम्ब से अथवा भौंह से, जिसमें सार वस्तु के नाम पर केवल मांस है, अतएव जो किसी काम की वस्तु नहीं है, मेरा क्या प्रयोजन है ? मैं वह सब लेकर क्या करूँगा ? ब्रह्मन्! इधर मांस, इधर रक्त और इधर हड्डियाँ हैं; यही नारी का शरीर है, जो कुछ ही दिनों में जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। संसार के मनुष्यो! नारी के अंग का थोड़े ही समय में होनेवाला यह परिणाम मैंने तुम्हें बताया है, फिर तुम क्यों भ्रम के पीछे दौड़ रहे हो ? पाँच भूतों के सम्मिश्रण से बना हुआ अंगों का संगठन ही नारी नाम से प्रसिद्ध हो रहा है; अतः विवेक बुद्धि से सम्पन्न कोई भी पुरुष आसक्ति से प्रेरित होकर क्यों उसकी ओर टूट पड़ेगा ? जैसे हथिनी के लिये चंचल हुआ हाथी विन्ध्याचल पर्वत पर उसे फँसाने के लिये बनाये हुए गड्ढे में गिरकर बँध जाता और परम शोचनीय अवस्था को पहुँच जाता है, यही दशा तरुणी स्त्री के मोह में फँसे हुए तरुण पुरुष की होती है।

सत्रहवां सर्ग समाप्त

अठारहवां सर्ग

वृद्धावस्था दुःखरूपता

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं- महर्षे! जैसे हिमरूपी वज्र कमल को, आँधी ओसकण को और नदी तटवर्ती वृक्ष को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वृद्धावस्था शरीर का नाश कर डालती है। जैसे लेशमात्र विष का भक्षण शरीर को शीघ्र ही कुरूप बना देता है, उसी प्रकार बुढ़िया जरावस्था मनुष्य के सारे अंगों को जर्जर करके शीघ्र ही कुरूप कर देती है। जिनके सारे अंग शिथिल होकर झुर्रियों से भर गये हैं और जरावस्था ने जिनके सारे अंगों को जर्जर बना दिया है, उन समस्त पुरुषों को कामिनियाँ ऊँट के समान समझती हैं। वृद्धावस्था के कारण जिसके अंग काँपते रहते हैं, ऐसे मनुष्य को नौकर-चाकर, स्त्री-पुरुष, बन्धु-बान्धव तथा सुहृद्गण भी उन्मत्त के समान समझकर उसकी हँसी उड़ाते हैं। जो दीनतारूपी दोष से परिपूर्ण, हृदय में संताप पहुँचाने वाली तथा समस्त आपत्तियों की एकमात्र सहचरी है, वह विशाल तृष्णा वृद्धावस्था में बढ़ती ही जाती है। 'हाय! बड़े खेद की बात है, मैं परलोक में क्या करूँगा ?' इस प्रकार का अत्यन्त दारुण भय, जो प्रतिकार के योग्य नहीं है, वृद्धावस्था में बढ़ता जाता है। बुढ़ापे में 'मैं बेचारा कौन हूँ ? मेरी हस्ती ही क्या है ? मैं किस प्रकार क्या करूँ ? अच्छा, मैं चुप ही रहता हूँ।' इस प्रकार की दीनता का उदय होता है। मुझे किसी स्वजन से कब, क्या और किस प्रकार का स्वादिष्ट भोजन प्राप्त हो सकता है ?' इस प्रकार चिन्तारूपिणी दूसरी जरावस्था बुढ़ापे में निरन्तर चित्त को जलाती रहती है। वृद्धावस्था में मनुष्य अपनी शक्ति का संतुलन खो बैठता है-कभी खाने की शक्ति होने पर पचाने की शक्ति नहीं रहती और कभी पचाने की शक्ति होने पर खाने की शक्ति नहीं रहती। इस प्रकार शक्तिह्रास के कारण भोग की इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, परंतु उपभोग किया नहीं जा सकता। उस दशा में निश्चय ही हृदय जलता रहता है। मुने! शरीररूपी वृक्ष के सिरे पर बैठी हुई जरावस्थारूपिणी वृद्धा बगुली, जो नाना प्रकार के क्लेशों से शरीर का अपकार करने वाली है, रोगरूपी सर्पों से आक्रान्त होकर ज्यों ही चें-चें करने लगती है, त्यों ही मूर्छारूपी गहरे अन्धकार की इच्छा रखने वाला मृत्युरूपी उल्लू कहीं से झटपट आया हुआ ही दिखायी देता है।

जैसे सायंकाल की संध्या के प्रकट होते ही अन्धकार दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार शरीर में जरावस्था को देखते ही मृत्यु दौड़ी चली आती है। सूना नगर, जिसकी लताएँ कट गयी हों वह वृक्ष तथा जहाँ वर्षा न हुई हो वह देश भी कुछ-कुछ शोभित होता है। किंतु जरा से जर्जर हुए शरीर की तनिक भी शोभा नहीं होती। वृद्धावस्था की मार खाकर जर्जर हुआ शरीर हिम समूह से आक्रान्त हो मुरझाये हुए कमल की-सी शोभा को धारण करता है।

मस्तकरूपी पर्वत के शिखर पर उगी हुई यह वृद्धावस्थारूपिणी चाँदनी बात रोग और खाँसीरूपिणी कुमुदिनी को यत्न पूर्वक विकसित कर देती है। यह बुढ़ापारूपिणी बेगवती गंगा आयु के समाप्त होने पर शरीररूपी तटवर्ती वृक्ष की जड़ को तुरंत ही काट गिराती है। तात! जैसे श्वेत पत्रवाली और फूलों से लदी हुई पतली लता कुछ टेढ़ी हो जाती है, उसी प्रकार जिसके सारे अवयव सफेद हो गये हैं, मनुष्यों का वह दुबला-पतला शरीर वृद्धावस्था से टेढ़ा हो जाता है-कमान की तरह झुक जाता है। मुने! जैसे कपूर से सफेद हुए केले के पेड़ को हाथी क्षणभर में उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार मृत्युरूपी गजराज वृद्धावस्था से कपूर की भाँति सफेद हुई देह को निश्चय ही क्षणभर में उखाड़ फेंकता है। तात! जो वृद्धावस्था को प्राप्त होकर भी जीता है, उस दुष्ट जीवन के लिये दुराग्रह रखने से क्या लाभ ? भूतल पर किसी से पराजित न होने वाली यह जरावस्था मनुष्यों की समस्त एषणाओं का तिरस्कार कर देती है-उनकी किसी भी इच्छा को सफल नहीं होने देती

अठारहवां सर्ग समाप्त

उन्नीसवां सर्ग

काल के स्वरूप का विवेचन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं-मुनीश्वर! 'यह मेरी भोग्य वस्तु है। मैं इसका भोक्ता हूँ। ये भोग के साधन हैं। इस साधन से इस तरह भोग्य वस्तु को प्राप्त करके मैं चिरकाल तक इसका उपभोग करूँगा। आज यह वस्तु मैंने प्राप्त कर ली और अब इस मनोरथ को प्राप्त करूँगा' इत्यादि असंख्य मानसिक संकल्प विकल्पों द्वारा जो अनन्त व्यावहारिक वचनों का प्रयोग करते हैं तथा अल्प (तुच्छ) शरीर में महत्त्व बुद्धि (आत्मभाव) रखते हैं, उन मूढ़ जनों ने हेयोपादेय,

शत्रु-मित्र तथा राग द्वेषादि भेदों द्वारा इस संसार रूपी गुफा में भ्रम को अत्यन्त गौरवपूर्ण (दुश्छेद्य) बना दिया है। जैसे बड़वाग्नि उमड़े हुए समुद्र को सोखती है, उसी प्रकार यह सर्वभक्षी काल भी उत्पन्न हुए जगत् को ग्रास बना लेता है। भयंकर कालरूपी महेश्वर इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच को निगल जाने के लिये सदा उद्यत रहते हैं; क्योंकि सारी वस्तुएँ उनके लिये सामान्यरूप से ग्रास बना लेने के योग्य हैं। युग, वर्ष और कल्प के रूप में काल ही प्रकट है। इसका वास्तविक रूप कोई देख नहीं सकता। वह सब संसार को अपने वश में करके बैठा है। संसार में जो रमणीय, शुभ कर्म करने वाले तथा उच्चता या गौरव में सुमेरु पर्वत के भी गुरू थे, उन सबको काल ने उसी तरह निगल लिया है, जैसे गरुड़ सर्पों को निगल जाते हैं। यह काल बड़ा निर्दय, कठोर, क्रूर, कर्कश, कृपण और अधम है। संसार में अब तक ऐसी कोई वस्तु नहीं हुई, जिसे यह काल उदरस्थ न कर ले। इस काल का विचार सदा सबको निगल जाने का ही रहता है। यह एक को निगलता हुआ भी दूसरे को चबा जाता है। अब तक असंख्य लोग इसकी उदरदरी में प्रवेश कर चुके हैं, तो भी यह महाखाऊ काल तृप्त नहीं होता। यह रात्रिरूपी भौंरों भरी हुई और दिनरूपी मंजरियों से सुशोभित वर्ष, कल्प और कलारूपिणी लताओं की निरन्तर सृष्टि करता रहता है, किंतु कभी थकता नहीं।

मुने! यह काल धूर्तों का शिरोमणि है। इसे कितना ही तोड़ा जाए, टूटता नहीं। जलाने पर भी जलता नहीं और दृश्य होने पर भी दीखता नहीं। मनोराज्य की भाँति फैला हुआ है। एक ही निमेष में किसी वस्तु को उत्पन्न कर देता है और पलभर में किसी भी वस्तु का पूर्णतः विनाश कर डालता है। काल केवल अपना ही पेट भरने में संलग्न रहने के कारण तिनका, धूल, इन्द्र, सुमेरू, पत्ता और समुद्र-सबको अपने अधीन करने-निगल जाने के लिये उद्यत रहता है। केवल इस काल में ही पर्याप्त क्रूरता भरी है, लोभ भी इसी के भीतर डेरा डाले हुए है। सारा-का-सारा दुर्भाग्य भी इसी में उपलब्ध होता है। यह काल महाकल्प नामक वृक्षों से देवता, मनुष्य और असुर आदि प्राणिसमूहरूपी फलों के भारों को गिराता हुआ-सा खड़ा है। सैकड़ों महाकल्प बीत जाने पर भी यह काल न तो खिन्न होता है न किसी के द्वारा समादृत

होता है और न इसका उदय ही होता है। यौवनरूपी कमलिनी को संकुचित करने के लिये यह चन्द्रमा के समान है, आयुरूपी गजराज का मस्तक विदीर्ण करने के लिये सिंह के सदृश है। इस संसार में तुच्छ या महान् कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे यह कालरूपी चोर चुरा न ले जाता हो; यह काल ही व्यावहारिक अवस्था में संसार का कर्ता, भोक्ता, संहार करने वाला और स्मरण कर्ता आदि सभी पदों पर प्रतिष्ठित होता है। किसी ने भी बुद्धि कौशल द्वारा इस काल के रहस्य का निश्चय नहीं किया है। पुण्य और पाप के फलभोग के अनुसार सुन्दर और कुरूप रूप धारण करने वाले समस्त शरीरों को काल ही उत्पन्न करता, काल ही उनकी रक्षा करता और काल ही सहसा उनका संहार कर देता है।

इस प्रकार इस जगत् में सर्वत्र काल का विलास देखा जाता है। मनुष्यों में तो काल का बल प्रसिद्ध ही है। इस काल की पत्नी है-चण्डी (अत्यन्त कोपवती कालरात्रि), जो बड़ी चतुराई से चलती है। इसे काल ने संसाररूपी वन में विहार करने के लिये नियुक्त किया है, इसके साथ सारी मात्रिकाएँ (डाकिनी, शाकिनी आदि) रहती हैं। यह कालरात्रि बाघिन के समान प्राणिसमूह का विनाश करने वाली है। काल के धनुष का नाम है-अभाव या संहार। वह निरन्तर टंकार करता रहता है, उससे दुःखरूपी बाणों की झड़ी लगी ही रहती है। वह कालरूपी राजकुमार संसार में दौड़ते हुए प्राणियों के पीछे दौड़ता है और उनको बाणों से विदीर्ण करता रहता है। इस काल से बढ़कर शक्तिशाली दूसरा कोई नहीं है। यही सबसे अधिक विलास करने में प्रवीण है और समस्त लक्ष्य भेदियों से ऊपर उठकर अनुपम शोभा पाता है।

यह जो कुछ भी विस्तृत जगन्मण्डल दिखायी देता है, वह उस काल की नृत्यशाला है। इसमें वह खूब जी भरकर नृत्य करता है। जैसे बालक गीली मिट्टी को लेकर नाना प्रकार के खिलौने बनाते हैं, उसी प्रकार काल भी बारंबार चौदह भुवन, विभिन्न वन, लोक-लोकान्तर, जीव-समुदाय तथा उनके नाना प्रकार के आचार-विचारों की सृष्टि करता है। उन आचार-विचारों की प्रवृत्ति सत्ययुग और त्रेता में अचल तथा द्वापर और कलि में चल होती है। इन सबकी सृष्टि करने में काल कभी थकता नहीं।

उन्नीसवां सर्ग समाप्त

बीसवां सर्ग

मानव जीवन की अनित्यता

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं– महामुने! जब जगत् में काल आदि के चरित्र ऐसे हैं, तब आप ही बताइये इस संसार-नामधारी प्रपंच में मेरे-जैसे लोगों की क्या आस्था हो सकती है। मुने! इन दैव (प्रारब्धकर्म) आदि के द्वारा की हुई सुख-दुःख आदि रूप प्रपंच-रचनाओं से मोहित हुए हम लोग किसी के हाथ बिके हुए दासों तथा वन के मृगों की भाँति पराधीन हो रहे हैं। जैसे सर्प वायु को पीता है, उसी प्रकार यह क्रूर आचरण करने वाला काल तरुण शरीर को बुढ़ापे में पहुँचा कर समस्त प्राणि समुदाय को निरन्तर अपना ग्रास बनाता रहता है। काल निर्दयों का राजा है। वह किसी भी आर्त प्राणी के ऊपर दया नहीं करता। सम्पूर्ण भूतों पर दया करने वाला उदार पुरुष तो इस संसार में दुर्लभ हो गया है। मुने! जगत् में जितनी भी प्राणियों की जातियाँ हैं, उन सबका वैभव अल्प एवं तुच्छ है तथा जितने भी भोग के स्थान हैं, वे सभी भयंकर और परिणाम में दुरन्त दुःख की ही प्राप्ति कराने वाले हैं। प्राणियों की आयु अत्यन्त चपल (अस्थिर) है, मृत्यु बहुत ही निर्दय है। जवानी भी अधिक चंचल होती है और बाल्यावस्था मोह में ही बीत जाती है। संसारी मनुष्य गाने बजाने की कला के रस (अथवा विषयानुसंधान) से कलंकित हैं। बन्धु-बान्धव संसार में बाँधने के लिये रस्सी के समान हैं। भोग महान रोग के समान हैं। बिना जीती हुई इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं। सत्यस्वरूप आत्मा असत्य सा हो गया अर्थात् जीवात्मा अज्ञान के कारण देह को ही अपना स्वरूप मानने लग गया। बिना जीता हुआ मन बन्धन का हेतु होने से आत्मा का शत्रु है एवं अज्ञानवश यह जीवात्मा स्वयं ही अपने-आप पर उस मन के द्वारा प्रहार करता है। बुद्धियाँ अत्यन्त कोमल (आत्मनिष्ठा से रहित) हैं। क्रियाएँ शास्त्र विरुद्ध होने से दुःखरूप फल देने वाली हैं और लीलाएँ (शरीर और मन की चेष्टाएँ) स्त्री की प्राप्ति में ही केन्द्रित हैं, केवल स्त्रियाँ ही उनका विषय हो गयी हैं। इच्छाएँ विषयों में ही शोभा पाती हैं-वे भोगों की ओर ही दौड़ती हैं। परमात्म स्फूर्तिरूप चमत्कार नष्ट हो गये हैं। स्त्रियाँ दोषों की सेनाएँ हैं तथा सम्पूर्ण विषय-रस वास्तव में नीरस हैं।

महात्मन्! दूषित बुद्धि ने सबके अन्तःकरण को व्याकुल कर रक्खा है। अज्ञान के कारण सभी संतप्त हो रहे हैं। रागरूपी रोग दिनों दिन बढ़ रहा है

और वैराग्य दुर्लभ हो रहा है। आत्मदर्शन की शक्ति रजोगुण से नष्ट हो गयी है। अतः सत्त्वगुण नहीं प्राप्त होता, केवल तमोगुण बढ़ रहा है। इसलिये तत्त्व (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) अत्यन्त दूर है। जीवन अस्थिर हो गया है। मृत्यु जल्दी ही आने के लिये उत्सुक है। धैर्य शिथिल हो गया है और तुच्छ विषय-भोगों के प्रति लोगों की आसक्ति प्रतिदिन बढ़ रही है। बुद्धि मूढ़ता से मलिन हो गयी है। शरीर का अन्तिम परिणाम एकमात्र पतन (विनाश) ही है। देह में जरावस्था प्रज्वलित हो उठी है और पाप की ही बारंबार स्फुरणा होती है। जवानी यत्नपूर्वक भागी जा रही है। सत्संग दुर्लभ हो गया है। कभी कोई उत्तम आश्रय नहीं मिलता और सत्भाव का उदय तो हो ही नहीं रहा है। मन मोह से आच्छन्न सा हो रहा है। दूसरे को सुखी देखकर होने वाला आत्मसंतोष मानो दूर चला गया है। उज्ज्वल करुणा का उदय नहीं हो रहा है और नीचता दूर से निकट चली आ रही है। धीरता अधीरता में परिणत हो रही है। जीवों का काम केवल आवागमन-जन्मना-मरना रह गया है। दुष्टों का संग पग-पग पर सुलभ है; परन्तु सत्पुरुषों का संग अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। सम्पूर्ण पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं। वासना संसार में बाँधनेवाली है और काल प्राणियों की परम्परा को नित्य कहीं अज्ञात स्थान में लिये जाता है। दिशाएँ भी नहीं दिखायी देतीं। देश भी विदेश-सा हो जाता है और पर्वत भी बिखर कर ढह जाते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्य की स्थिरता में क्या विश्वास है। सत्तामात्र ही जिसका स्वरूप है, वह काल आकाश को भी खा जाता है। चौदहों भुवनों को भी अपना भोजन बना लेता है। पृथ्वी भी विनाश को प्राप्त हो जाती है। फिर मेरे-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या विश्वास किया जा सकता है। कालवश समुद्र भी सूख जाते हैं, तारे भी टूटकर बिखर जाते हैं, सिद्ध भी नष्ट हो जाते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या आस्था हो सकती है ? बड़े-बड़े दानव भी विदीर्ण हो जाते हैं। ध्रुव भी अध्रुवजीवी बन जाते हैं और अमर भी मरण को प्राप्त होते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या विश्वास हो सकता है ? काल अपने अगणित मुखों से इन्द्र को भी चबा जाता है, यमराज को भी वश में कर लेता है और उसी के प्रभाव से वायु भी अवायु हो जाती है-अपना अस्तित्व खो बैठता है; फिर मुझ-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या विश्वास हो सकता है ?

सोम (चन्द्रमा) भी कालवश व्योम (आकाश) में विलीन हो जाता है। मार्तण्ड (सूर्य) के भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और अग्नि भी भग्नता (विनाश) को प्राप्त हो जाती है; फिर मुझ-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या आस्था की जा सकती है ? जो काल (मृत्यु) को भी कवलित कर लेता है, नियति को भी टाल देता है और अनन्त आकाश को भी अपने आप में विलीन कर लेता है, उस महाकाल के होते हुए मुझ-जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या विश्वास किया जा सकता है ? जिसका कानों से श्रवण, वाणी से वर्णन और नेत्रों से दर्शन नहीं होता, ऐसे अज्ञातस्वरूप एवं माया के उत्पादक किसी सूक्ष्म तत्त्व के द्वारा चौदहों भुवन अपने-आप में ही माया द्वारा दिखाये जा रहे हैं वह तत्त्व निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है। समष्टि अहंकाररूप कला को प्राप्त होकर सबके भीतर निवास करने वाला वह काल का भी कालरूप परमात्मतत्त्व सबसे महान् है। तीनों लोकों में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो उसके द्वारा नष्ट न किया जा सके। स्वर्ग में देवता, भूतल पर मनुष्य और पाताल में सर्पों की सृष्टि उसी ने की है। वही अपने संकल्प मात्र से इन सबको जर्जर दशा में पहुँचा देता है। अनुरागयुक्त कामिनियों ने अपने चंचल लोचनों द्वारा कटाक्षपूर्वक जिसकी ओर देखा है, उस पुरुष के मन को महान् विवेक भी स्वस्थ नहीं कर पाता। जो दूसरों का उपकार करने वाली है और दूसरों की पीड़ा देखकर संतप्त हो उठती है, अपनी आत्मा को शान्ति प्रदान करने वाली उस शीतल बुद्धि से युक्त ज्ञानी महात्मा ही सुखी है-ऐसा मेरा विश्वास है। जैसे समुद्र में उत्पन्न हो बडवाग्नि के मुँह में गिरकर नष्ट होने वाली असंख्य लहरों को कोई गिन नहीं सकता, उसी तरह संसार में उत्पन्न हो काल के मुँह में पड़ने वाले अनन्त प्राणियों की गणना कौन कर सकता है। जैसे झाड़ियों में बैठे हुए मृग या पक्षी अपनी जिव्हा की लोलुपता के कारण मोहवश जाल में पड़कर नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह दुराशा-पाश में बँधे हुए सभी मनुष्य दोषरूपी झाड़ियों के मृग बने हुए हैं। वे सब-के-सब मोह-जाल में फँसकर पुनर्जन्मरूपी जंगल में नष्ट हो जाते हैं इस संसार में लोगों की आयु विभिन्न जन्मों में किये गये कुकर्मों से नष्ट हो रही है। यदि आकाश में वृक्ष हो, उस वृक्ष में लता हो और लता से गले में फाँसी लगाकर मनुष्य को लटका दिया जाय तो उससे जो

दुःख होगा, वैसा ही दुःखमय फल उन कुकर्मों का भी बताया गया है। उस दुःख की निवृत्ति के लिये उपाय करना तो दूर की बात है, उस उपाय का विचार करने वाले लोग भी यहाँ हैं या नहीं, हमें इसी का पता नहीं है। मुनीश्वर! इस संसार में लोगों की बुद्धि चंचल और मृदु है। उसी बुद्धि से युक्त मनुष्य व्यर्थ ही अनेक संकल्प-विकल्पों का जाल रचते हुए कहते हैं-'आज उत्सव है।' यह बड़ी सुहावनी ऋतु है, इसमें यात्रा करनी चाहिये, वे लोग हमारे भाई-बन्धु हैं और यह सुख विशिष्ट भोगों से युक्त है, इन्हीं संकल्पों में पड़े-पड़े वे सब लोग एक दिन काल के गाल में चले जाते हैं।

बीसवां सर्ग समाप्त

इक्कीसवां सर्ग

सांसारिक वस्तुओं की निस्सारता

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं-तात! मुनीश्वर! इस जगत् का स्वरूप अत्यन्त अरमणीय (अभद्र) है, तो भी यह ऊपर से मनोरम प्रतीत होता है। इसमें कोई ऐसा पदार्थ मेरी दृष्टि में नहीं आता, जिसके प्राप्त होने से चित्त को अत्यन्त विश्राम (परम सुख) मिल सके। बाल्यावस्था विविध प्रकार से कल्पित क्रीड़ा-कौतुक में ही चपलता-पूर्वक बीत जाती है। युवावस्था आने पर मनरूपी मृग स्त्रीरूपिणी गुफाओं में रमता हुआ जीर्ण हो जाता है; फिर वृद्धावस्था प्राप्त होने पर जब यह शरीर जर्जर हो जाता है, उस समय जन समुदाय केवल दुःख ही दुःख भोगता रहता है (उसे कहीं कभी भी सुख-शान्ति का लेश भी प्राप्त नहीं होता)। बुढ़ापारूपी हिम की वर्षा से जब देहरूपिणी कमलिनी नष्ट हो जाती है, उस समय प्राणरूपी भ्रमर इसे छोड़कर दूर, बहुत दूर चला जाता है। उस दशा में उस मनुष्य के लिये यह संसार में तृष्णा नाम की नदी निरन्तर बहती रहती है, जिसने अपने प्रबल प्रवाह के वेग से यहाँ के समस्त अनन्त पदार्थों को ग्रस लिया है (नष्ट कर दिया है)। यह संतोषरूपी तटवर्ती वृक्ष की जड़ खोदने में बड़ी दक्ष है। संसाररूपी समुद्र में चमड़े से मढ़ी हुई शरीररूपिणी नौका क्षुधा, पिपासा आदि विविध तरंगों से आहत हो हिलती-डोलती हुई इधर-उधर घूम रही है। पाँच इन्द्रिय नामक ग्राह इसे टक्कर मारकर डुबाने के लिये उद्यत रहते हैं। इस तरह यह नौका क्रमशः नीचे जा रही है-डूबना चाहती

है। इसमें धैर्य और वैराग्य से सुशोभित होने वाले विवेकी जीव नहीं बैठे हैं। जहाँ तृष्णारूपिणी लताओं का ही प्राधान्य है, ऐसे संसाररूपी वनों में विचरने वाले ये मनरूपी बंदर कामरूपी वृक्षों की सैकड़ों शाखाओं पर भटकते हुए अपनी आयु नष्ट करते हैं, परंतु कभी मनोवांछित फल नहीं पाते। महर्षे! आपत्तियों की प्राप्ति होने पर भी दुःख और मोह जिनसे दूर ही रहते हैं, स्वास्थ्य और सम्पत्ति में जो अहंकार शून्य मन से सुशोभित होते हैं तथा सुन्दरी रमणियाँ जिनके अन्तःकरण में चोट नहीं पहुँचातीं (विकार नहीं उत्पन्न करतीं), ऐसे महात्मा पुरुष इस समय अत्यन्त दुर्लभ हैं। जो हाथियों की सेनारूपी तरंगों से उद्वेलित होने वाले समर-सागर को अपने बल-विक्रम के द्वारा पार कर जाते हैं, मेरी दृष्टि में वे शूरवीर नहीं हैं। मैं तो उन्हीं को शूरवीर मानता हूँ, जो मनरूपी उत्ताल तरंगों से पूर्ण इस देह और इन्द्रियरूपी समुद्र को विवेक, वैराग्य आदि के द्वारा लाँघ जाते हैं।

जो कीर्ति से जगत् को, प्रताप से सम्पूर्ण दिशाओं के प्रदेशों को, सम्पत्ति से याचकों के घरों को और सात्त्विक बल (क्षमा, विनय, उदारता आदि) से लक्ष्मी को परिपूर्ण करते हैं तथा जिनके धैर्य का बन्धन कभी टूटता नहीं, वे महापुरुष इस पृथ्वी पर सुलभ नहीं हैं (परम दुर्लभ है) कोई पर्वत की प्रस्तरमयी दीवार के भीतर (गहन गुफा में) निवास करता हो या वज्रनिर्मित अभेद्य दुर्ग में रहता हो, सभी मनुष्यों के पास प्रारब्ध के अनुसार पुण्य के फलस्वरूप सम्पत्तियाँ अणिमा आदि सिद्धियों को साथ लिये सदा वेग पूर्वक चली आती हैं और पाप के फलस्वरूप आपत्तियाँ भी निरन्तर अपने-आप आ जाती हैं। तात! पुत्र, स्त्री और धन-इन सबको मनुष्य भ्रमवश अपनी बुद्धि के द्वारा रसायन के समान सुखद मान लेता है; परंतु मृत्युकाल आने पर वे सब के सब कोई उपकार नहीं करते, किंतु अत्यन्त रमणीय भोग भी उस समय विषपान करने से होने वाली मूर्छा के समान दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं। शरीर की बाल्य और युवावस्थाओं के अन्त में बुढ़ापे की विषम अवस्था को पहुँचा हुआ जराजीर्ण शरीर वाला जीव विषादमग्न हो इस लोक में अपने संचित किये हुए धर्म शून्य (पाप पूर्ण) भावों (कर्मों एवं विचारों) का स्मरण करके दुस्सह अन्तर्ज्वाला से जलता रहता है। जीवन के प्रारम्भ में केवल काम, अर्थ और

सकाम धर्म की प्राप्ति के लिये ही जिन्होंने हृदय में स्थान बना रक्खा है, उन क्रियाओं द्वारा ही अपने दिन बिताकर वृद्धावस्था को पहुँचे हुए उन मनुष्यों का हिलते हुए मोर पंख के समान चंचल चित्त किस उपाय से विश्राम (सुख-शान्ति) लाभ करे ? (अर्थात् निष्काम धर्म या परमार्थ-साधन के बिना सुख-शान्ति का मिलना कठिन है)। इनको अभी करना है और उन्हें बाद में-इस प्रकार जिनके लिये चिन्ता की जाती है, वे आपात रमणीय एवं परिणाम में अनर्थरूप सिद्ध होने वाले कार्य स्त्रियों तथा अन्य लोगों के चित्त को वेगपूर्वक जीर्ण-शीर्ण (विवेक भ्रष्ट) करते रहते हैं। जैसे वृक्षों के पत्ते उत्पन्न होकर थोड़े ही दिनों में पीले पड़कर झड़ जाते या नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्म विवेक से रहित मनुष्य इस लोक में जन्म ले एक दूसरे से मिलकर कुछ ही दिनों में साथ छोड़कर चल देते हैं।

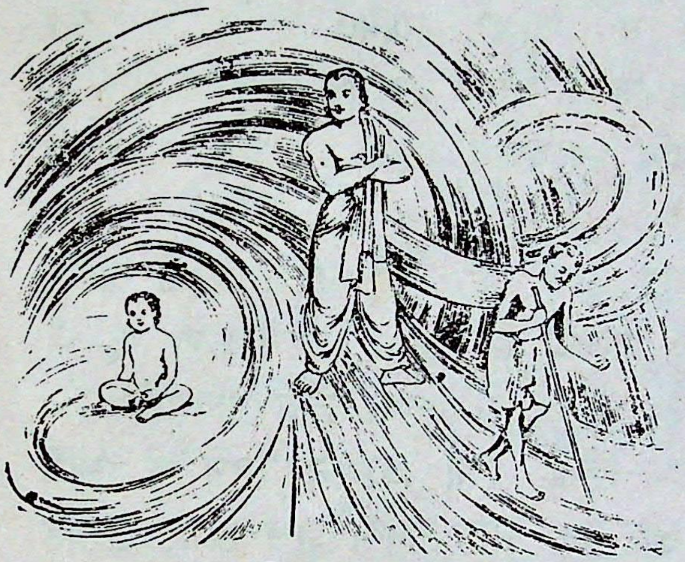

भला, कौन समझदार मनुष्य दिन में दूर-दूर तक व्यर्थ इधर-उधर घूमता हुआ ज्ञानी महापुरुषों का संग एवं सत्कर्म का अनुष्ठान न करके सायंकाल घर में लौटने पर रात में सुख की नींद सो सकेगा ? समस्त शत्रुओं को मार भगाने पर जब चारों ओर से धन सम्पत्ति प्राप्त होने लगती है, उस समय पुरुष, जब तक इन विषयसुखों के सेवन में लगता है, जब तक ही मृत्यु कहीं से सहसा आ धमकती है। जो किसी कारण से वृद्धि को प्राप्त होकर भी क्षण भर में ही नष्ट होते देखे गये हैं, उन अत्यन्त तुच्छ विषय भोगों द्वारा इधर-उधर भटकायी जाती हुई जनता इस भूतल पर अपने निकट आयी हुई मृत्यु को नहीं जान पाती, यह कितने आश्चर्य की बात है। समुद्र की क्षणभंगुर लहरों के समान यह चपल जनता इस भूतल पर निरन्तर कहीं से वेगपूर्वक आती और फिर सदा वेग से ही चली जाती है। जैसे चंचल भ्रमररूपी नेत्रों और लाल पल्लवरूपी अधरोंवाली तथा विष-वृक्ष पर चढ़कर फैली हुई चंचल विष-लताएँ देखने में अति सुन्दर होने के कारण पहले मन को हर लेती हैं,

पीछे सेवन करने पर प्राणों का नाश कर देती हैं, उसी प्रकार लाल अधरों और भ्रमर तुल्य चंचल नेत्रों से सुशोभित होनेवाली सुन्दरी स्त्रियाँ मनोहारिणी होने के कारण पहले तो मनुष्यों के चित्त को चुराती हैं, फिर सर्वथा उनके प्राणों का अपहरण करने वाली बन जाती हैं। जैसे तीर्थयात्रा अथवा देवोत्सव में बहुत से मनुष्यों का मेला जुट जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोक से व्यर्थ ही आये हुए और अमुक स्थान पर हम लोगों की भेंट होगी, इस तरह आपस के संकेत युक्त अभिप्राय से एकत्र हुए लोगों का जो स्त्री, पुत्र और मित्र आदिके रूप में यहाँ मिलन होता है, यह व्यवहार मायामय ही है। यह संसार वेगपूर्वक घूमने वाले कुलालचक्र के समान है। यद्यपि यह वर्षा ऋृतु के पानी के बुलबुलों के समान क्षणभंगुर है, तथापि असावधान मनुष्यों की बुद्धि में अपनी चिरस्थायिता की ही प्रतीति कराता है।

जहाँ दैववश बारंबार जन्म लेकर अपने शरीर को धारण करके छाया, पत्र और पुष्प आदि के द्वारा निरन्तर प्राणियों का उपकार करने वाला वृक्ष भी कुल्हाड़ी से काट दिया जाता है, उस संसार में मनुष्य जैसा अपराधी और उपकार शून्य प्राणी सदा जीवित ही रहेगा, ऐसा विश्वास करने के लिये कौन-सा कारण है ? विष का वृक्ष और विषयासक्त मनुष्य दोनों ऊपर से बड़े मनोहर लगते हैं, किंतु उनके भीतर बड़ाभारी दोष भरा रहता है। एक (विषवृक्ष) हृदयस्थित प्राणों के विनाश के लिये खड़ा है तो दूसरा (विषयासक्त मनुष्य) आन्तरिक शान्ति के विघात के लिये तैयार रहता है। इनके संग से तत्काल मूर्छा या मूढ़ता ही प्राप्त होती है। संसार में ऐसी कौन-सी दृष्टियाँ हैं, जिनमें दोष नहीं है ? वे कौन सी दिशाएँ हैं, जहाँ दुःख और दाह नहीं है ? वे कौन से जीव शरीर हैं, जो क्षणभंगुर नहीं हैं ? और कौन-सी लौकिक क्रियाएँ हैं, जिनमें छल-कपट नहीं है ? बीते हुए और आने वाले अनन्त कल्पों की संख्या का परिज्ञान नहीं होता। इसलिये जैसे क्षण अनन्त हैं, उसी प्रकार कल्प भी अनन्त हैं। भगवान् विष्णु और रुद्र आदि की दृष्टि में कल्प भी क्षण ही हैं। अतः ब्रह्मलोक के निवासी भी कलाओं (विभिन्न अंशों) से सुशोभित होने वाले काल समूह में लघुत्व और दीर्घत्व-चिरजीवन और क्षणजीवन की बुद्धि भी द्रष्टा की कल्पना के अधीन होने के कारण असत्य ही है। सर्वत्र पत्थर के ही

पहाड़ हैं-उनमें पत्थर के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसी तरह सब जगह मिट्टी की ही पृथ्वी है, काष्ट के ही वृक्ष हैं और हाड़-मांस के ही मनुष्य हैं। लोगों के बनाये हुए संकेत के अनुसार ही उनके विशेष नाम आदि भाव नियत हो गये हैं। इस भोग्य वर्ग में कोई भी वस्तु विकार से हीन अथवा अपूर्व नहीं है। सब कुछ विकाररूप होने के कारण ही असत्य है। जल, अग्नि, वायु, आकाश और पृथ्वी-ये पाँच महाभूत ही परस्पर मिलकर घट-पट आदि नाना पदार्थों के रूप में अविवेकी पुरुषों को प्रतीत होते हैं। चेतन के सानिध्य से ही उन्हें पदार्थों की प्रतीति होती है। विवेक-दृष्टि से पृथक्-पृथक् विभागपूर्वक अलोचना करने पर यह जगत् पाँच भूतों से अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं सिद्ध होता।

महात्मन्! मिथ्या होने पर भी इस पदार्थ समूह के विषय में व्यवहार-कुशलता के कारण विद्वान् पुरुषों के भी मन में भोग सम्बन्धी चमत्कार (चेष्टा) को उत्पन्न करने वाली जो व्यवहार चमत्कृति या प्रवृत्ति देखी जाती है वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि कभी-कभी स्वप्न में मिथ्याभूत विषय को लक्ष्य करके भी किन्हीं लोगों की उस प्रकार की चमत्कारपूर्ण प्रवृत्ति होती देखी जाती है।

जैसे पशु किसी हरी-हरी लता के फल को पाने की इच्छा से ही आगे बढ़ने पर निस्संदेह पर्वत शिखर से गिर जाता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ पुरुषों के पद (स्थान या धन-वैभव आदि) को हठात् लेने की इच्छा रखने वाला पुरुष राग-लोभ आदि दोषों से दूषित हुए अपने चित्त के द्वारा ही मारा जाकर अवश्य पतन के गर्त में गिर जाता है।

इक्कीसवां सर्ग समाप्त

बाईसवां सर्ग

जगत की परिवर्तनशीलता एवं अस्थिरताका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं- ब्रह्मन्! यह जो कुछ भी स्थावर-जंगमरूप दृश्य जगत् दिखायी देता है, वह सब सपने में लगे हुए मेले के समान अस्थिर है-चिरकाल तक टिकने वाला नहीं। आज जिस शरीर को रेशमी वस्त्र, फूलों के हार तथा भाँति-भाँति के अनुलेपनों से सजाया गया है, वहीं कल नंगा होकर

ग्राम या नगर से बहुत दूर किसी गड्डे में पड़ा-पड़ा सड़ जायगा। जिस स्थान में आज विचित्र आहार-व्यवहार और चहल-पहल से भरा हुआ चंचल सा नगर देखा गया है, वहीं कुछ ही दिनों में सूने वन के धर्म का उदय हो जायगा-वह भूमि गहन वन के समान निर्जन एवं अगम्य हो जायगी। जो पुरुष आज तेजस्वी है और अनेक मण्डलों पर शासन करता है, वहीं कुछ दिनों के अनन्तर राख का ढेर बन जाता है। आज जो आकाश मण्डल के समान नीला और महाभयंकर वन है, वही कुछ काल के पश्चात् ध्वजा-पताकाओं से आकाश को ढक देने वाला विशाल नगर बन जाता है। आज जो लता-वल्लरियों से आवेष्टित भयंकर वन श्रेणी दृष्टिगोचर होती है, वही कतिपय दिनों में मरुभूमि (रेगिस्तान) का स्थान ग्रहण कर लेती है। जल स्थल हो जाता है और स्थल जल। काठ, जल और तिनकों सहित सारा जगत् ही विपरीत अवस्था को प्राप्त होता रहता है। जवानी, बचपन, शरीर और द्रव्य संग्रह-ये सब के सब अनित्य हैं और तरंग की भाँति निरन्तर एक भाव से दूसरे भाव को प्राप्त होते रहते हैं। इस संसार में प्राणियों का जीवन हवा से भरे स्थान में रखे हुए दीपक की लौ के समान चंचल (शीघ्र ही बुझ जाने वाला) है और तीनों लोकों के सम्पूर्णपदार्थों की शोभा (चमक-दमक) बिजली की चमक के समान क्षणिक है।

महर्षे! वे उत्सव और वैभव से सुशोभित होने वाले दिन, वे महाप्रतापी पुरुष, वे प्रचुर सम्पत्तियाँ तथा वे बड़े-बड़े कर्म-सब के सब दृष्टिपथ से दूर हो केवल स्मरण के विषय रह गये हैं। इसी तरह हम भी क्षणभर में अज्ञात स्थान को चले जायँगे और लोगों के लिये केवल स्मरणीय बनकर रहे जायँगे। यह संसार प्रतिदिन नष्ट होता है और प्रतिदिन पुनः उत्पन्न हो जाता है। अतः आज तक इस नष्टप्रायः जले हुए संसार का अन्त नहीं हुआ। प्रभो! मनुष्य पशु-पक्षियों की योनि को प्राप्त होते हैं। पशु-पक्षी मानव जन्म धारण करते हैं तथा देवता भी देवेतर योनियों में जन्म लेते हैं ? स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ-ये सब के सब विनाशरूपी वड़वानल के लिये सूखे ईधन के समान हैं। धन, भाई-बन्धु, भृत्यवर्ग, मित्र तथा वैभव-ये सब के सब विनाश के भय से डरे हुए पुरुष के लिये नीरस ही हैं। मुनीश्वर! जगत् में मनुष्य क्षणभर में ऐश्वर्य (धन वैभव) प्राप्त कर लेता है और क्षणभर में दरिद्र

हो जाता है। वह क्षणभर में ही रोगी और क्षणभर में नीरोग हो जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण विपरीत अवस्था प्रदान करने वाले इस नश्वर जगत्‌रूपी भ्रम से कौन बुद्धिमान मनुष्यं मोहित नहीं हुए हैं ? (इस भ्रम ने सभी लोगों को मोह में डाल रक्खा है।)

आकाशमण्डल क्षणभर में ही अन्धकाररूपी कीचड़ से ढक जाता है, फिर क्षणभर में ही सुवर्ण द्रव के समान शीतल मृदुल चाँदनी आदि के उज्ज्वल प्रकाश से उद्‌भासित हो परम सुन्दर दिखायी देने लगता है। दूसरे ही क्षण मेघरूपी नील कमलों की माला से उसका अन्तःप्रदेश (वृक्ष एवं उदर) ढक जाता है। क्षणभर में ही वहाँ उच्च स्वर से मेघों की गम्भीर गर्जना होने लगती है और क्षण में ही वह मूक की भाँति नीरव हो जाता है। क्षण में ही ताराओं की हारावली से अलंकृत और क्षण में ही सूर्यरूपी मणि से विभूषित हो जाता है। क्षण में ही वहाँ चन्द्रमा की चटकीली चाँदनी से आल्हाद छा जाता है और क्षणभर में ही वह सबसे सूना हो जाता है। इस तरह जैसे आकाश की स्थिति क्षण-क्षण बदलती रहती है, उसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। महर्षे! संसार में कौन ऐसा पुरुष है, जो धीर होता हुआ भी क्षणभर में स्थित और क्षणभर में नष्ट होने वाली, आवागमन की परम्परा से युक्त इस सांसारिक स्थिति से भयभीत नहीं होता ? मुने! यहाँ क्षणभर में आपत्तियाँ आती हैं और क्षणभर में सम्पत्तियाँ। क्षण में ही जन्म होता है और क्षण में ही मृत्यु। इस जगत में कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो क्षणिक न हो ? भगवन्! यहाँ उत्पन्न हुआ मनुष्य पहले कुछ और ही था और थोड़े दिनों बाद अन्य प्रकार का हो जाता है। यहाँ सदा एकरूप रहने वाली सुस्थिर वस्तु कोई नहीं है। यहाँ कायर के द्वारा शूरवीर मारा जाता है। एक ही व्यक्ति के हाथ से सैकड़ों मनुष्य मारे जाते हैं और साधारण लोग भी राजा बन बैठते हैं। इस प्रकार यह सारा जगत् विपरीत अवस्था में परिवर्तित होता रहता है। बाल्यावस्था थोड़े ही दिनों में चली जाती है, फिर यौवन की शोभा छा जाती है और कुछ ही दिनों में वह भी समाप्त हो जाती है। तत्पश्चात् वृद्धावस्था का पदार्पण होता है। जब हमारे शरीर में भी एकरूपता (स्थिरता) नहीं है, तब बाह्य वस्तुओं में एकरूपता का विश्वास क्या हो सकता है ? उत्पन्न और विनष्ट होने वाले संसारी पुरुषों की न तो आपत्तियाँ स्थिर रहती हैं और न सम्पत्तियाँ ही। यह

काल चतुर मनुष्यों को भी अवहेलना पूर्वक विपरीत स्थितियों में परिवर्तित करने के कार्य में अत्यन्त कुशल है। प्रायः सब लोगों को आपत्ति में ढकेल कर यह क्रीड़ा करता है।

बाइसवां सर्ग समाप्त

तेईसवां सर्ग

तत्त्व ज्ञान के उपदेश के लिये प्रार्थना

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं–मुनीश्वर! विषयभोग दुःख रूप और अनित्य हैं, इस प्रकार विषयों में दोष–दर्शन रूपी दावानल के द्वारा मेरा चित्त दग्ध हो निर्मूल एवं महान् हो गया है। अतः जैसे जलाशयों में मृगतृष्णा का उदय नहीं होता, उसी तरह मेरे उस चित्त में भोगों की आशा अंकुरित नहीं होती। जैसे नीम के वृक्षपर फैली हुई रसहीन गिलोय काल पाकर उत्तरोत्तर कड़वी होती जाती है, उसी प्रकार यह सांसारिक स्थिति भी दिन–प्रतिदिन तीव्र वैराग्य के कारण मेरे लिये अधिकाधिक कटुता को प्राप्त हो रही है। मुनीश्वर! विविध चिन्ताओं से परिपूर्ण भोग–समूहों एवं राज्यों की अपेक्षा चिन्तारहित महात्मा पुरुषों द्वारा स्वीकृत एकान्त–सेवन ही मुझे अच्छा लगता है। सुन्दर उद्यान मुझे आनन्द नहीं देता, स्त्रियों से मुझे सुख नहीं मिलता और धन की आशा पूर्ति से मुझे हर्ष नहीं होता। मन के साथ–साथ शान्ति पाना चाहता हूँ। मैं न तो मृत्यु का अभिनन्दन और न जीवन का ही स्वागत करता हूँ। जिस तरह संतापरहित होकर स्थित हूँ, उसी तरह रह रहा हूँ, मुझे राज्य से, भोगों से, धन से और नाना प्रकार की चेष्टाओं से भी क्या प्रयोजन है ? अहंकारवश ही मनुष्य इन राज्य आदि से सम्बन्ध रखता है, किंतु मेरा वह अहंकार ही गल गया है (अतः मेरे लिये इनकी आवश्यकता नहीं रह गयी है)। जैसे हाथी अपने खुरों के प्रहार से कोमल कमल को कुचल डालता है, उसी प्रकार कामदेव ने मानवती कामिनियों के द्वारा मनुष्यों के मन को मथ डाला है। मुनीन्द्र! यदि अभी निर्मल बुद्धि के द्वारा इस चित्त की चिकित्सा नहीं की जाती तो फिर इसकी चिकित्सा का अवसर ही कहाँ रह जायगा ? (क्योंकि रोग बढ़ जाने पर उसकी चिकित्सा कठिन हो जाती है।) विषयों की विषमता ही विष है। लोकप्रसिद्ध विष को वास्तव में विष नहीं कहा जाता; क्योंकि विष एक ही शरीर का (जिसके द्वारा

उसका सेवन किया जाता है, उसी का) नाश करता है, परंतु विषय (विष) जन्म-जन्मान्तरों तक जीवन को मौत के मुँह में डालते रहते हैं। सुख-दुःख, मित्र, भाई-बन्धु, जीवन और मरण-ये सब (बन्धन के कारण होते हुए भी) ज्ञानी पुरुष के चित्त को नहीं बाँधते (अज्ञानी का ही मन इससे बँधता है)।

ब्रह्मन्! आप प्राचीन और अर्वाचीन बातों के जानने वाले महात्माओं में श्रेष्ठ हैं। इसलिये जिस प्रकार मैं शोक, भय और खेद से मुक्त हो यथार्थ ज्ञान से सम्पन्न हो जाऊँ, वैसा उपदेश मुझे शीघ्र प्रदान कीजिये। अज्ञान एक भयंकर वन के समान है। जैसे वन में मृगों को फँसाने के लिये जाल बिछे होते हैं, काँटेदार झाड़ झँखाड़ फैले रहते हैं तथा जगह-जगह बहुत से ऊँचे-नीचे स्थान रहते हैं, उसी प्रकार अज्ञानरूपी वन भी विषय वासना के जाल से आवेष्टित, दुःखरूपी कण्टकों से व्याप्त तथा सम्पत्ति-विपत्तिरूपी ऊँचे-नीचे स्थानों से युक्त है। महात्मन्! जैसे रात में ऐसी अन्धकार राशि नहीं होती, जो चन्द्रमा की चाँदनी से नष्ट न हो जाती हो, उसी प्रकार संसार में ऐसी दुश्चिन्ताएँ नहीं हैं, जो उत्तम अन्तःकरण वाले महात्मा पुरुषों के संग से क्षीण न हो जायँ। आयु वायु से टकरायी हुई मेघों की घटा से झरते हुए जल-बिन्दुओं के समान क्षणभंगुर है। भोग मेघमाला के बीच में चमकती हुई बिजली के समान चंचल हैं तथा युवावस्था के मनोरंजन जल के वेग के समान चपल हैं-ऐसा विचार कर मैंने इन सबको त्याग दिया और तुरंत ही चिरकाल तक बनी रहने वाली शान्ति को आज से अपने चित्त पर शासन करने के लिये सुदृढ़ अधिकार मुद्रा समर्पित कर दी है।

जैसे मृग तुच्छ तृणों के लोभ से ठगे जाकर गड्डों में गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरण की वृत्तियाँ निस्सार विषयों द्वारा ठगी जाती और विक्षेपरूपी दुःखों को भोगने के लिये उनके गहरे गर्त में गिर जाती हैं। जैसे देवता विधि भोग-सामग्रियों से परिपूर्ण तथा चतुर्दश भुवनों के भीतर विचरण करने वाले अपने शीघ्रगामी विमान का परित्याग नहीं करते, उसी प्रकार विविध भोगवासनाओं से विस्तार को प्राप्त हुआ और समस्त लोकों में बेरोक-टोक विचरने वाला मनुष्यों का यह चंचल चित्त भी कभी चपलता को नहीं छोड़ता।

अतः महात्मन्! जन्म-मरण आदि दुःखों से रहित, देह आदि उपाधियों से शून्य तथा भ्रान्तिरहित वह महान् विश्रान्तिदायक परमपद कौन सा है, जहाँ

पहुँच जाने से शोक का अभाव हो जाता है ? समस्त कर्मों का सुचारु रूप से अनुष्ठान करने वाले तथा सदा लौकिक व्यवहार में ही तत्पर रहने वाले जनक आदि महापुरुष कैसे उत्तम पद को प्राप्त हुए ? दूसरों को अधिक मान देने वाले महामुने! वह कौन–सा उपाय है, जिससे संसाररूपी पंख का अनेक अंगों से सम्पर्क हो जाने पर भी मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता ? किस दृष्टि (बुद्धि) का आश्रय लेकर आप–जैसे पाप रहित महामना महापुरुष इस जगत् में जीवन्मुक्त होकर विचरते हैं ? जिसे मोहरूपी मतवाले हाथी ने मथ डाला है, जिसके भीतर काम आदि दोषों की कीचड़ भरी पड़ी है, वह प्रज्ञारूपी महान् सरोवर किस उपाय से अत्यन्त निर्मल हो जाता है ? जैसे कमल के पत्ते से जल का लगाव नहीं होता, उसी प्रकार प्रवाहरूप से बने रहने वाले इस संसार में समस्त व्यवहारों का निर्वाह करता हुआ भी मनुष्य बन्धन में न पड़े–इसका क्या उपाय है ? सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा के समान तथा इस समस्त भोग प्रपंच को तिनके के समान समझने वाला और मन की कामादि वृत्तियों का स्पर्श न करने वाला मनुष्य कैसे श्रेष्ठ पद को प्राप्त हो सकता है ? जिसने संसाररूपी महासागर को पार कर लिया हो, ऐसा कौन–सा महापुरुष है, जिसके चरित्र का अनुसरण करके मनुष्य कभी दुखी नहीं होता ? वह प्राप्त करने योग्य कल्याण और फल क्या है ? इस विषय संसार में (इसे पार करने के लिये) कैसे व्यवहार करना चाहिए ? प्रभो! मुझे तत्त्व का कुछ उपदेश दीजिये, जिससे मैं ब्रह्मरचित इस अव्यवस्थित जगत् का पूर्वापर (आदि–अन्त) समझ सकूँ। इस संसार में ग्रहण करने योग्य वस्तु क्या है ? त्याज्य वस्तु क्या है ? तथा इन दोनों से भिन्न अग्राह्य एवं अत्याज्य वस्तु क्या है ? मनुष्यों का यह चंचल चित्त किस प्रकार पर्वत के समान स्थिरता एवं शान्ति को प्राप्त करे ? किस पावन मंत्र से सैंकड़ों क्लेषों की सृष्टि करने वाला यह दोषयुक्त संसाररूपी विसूचिका (हैजा) का रोग अनायास शान्त हो सकता है ? महात्मन्! जैसे वन में कुत्ते विभिन्न जन्तुओं के अधमरे शरीर को पीड़ित करते रहते हैं, उसी तरह नाना प्रकार के संशय सर्वोत्कृष्ट आनन्दमय ब्रह्मपद में आत्यन्तिक निष्ठा से रहित पुरुष को सदा कष्ट देते रहते हैं।

मुनीश्वर! ऐसा कौन–सा उपाय है, क्या गति है, कौन–सा चिन्तन है, क्या आश्रय है तथा कौन–सा साधन है, जिसका अवलम्बन करने से यह

जीवनरूपी वन भविष्य में अमंगलकारी न हो ? भगवन्! इस पृथ्वी पर, स्वर्ग में अथवा देव-समाज में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे तुच्छ होने पर भी आप-जैसे परम बुद्धिमान महात्मा रमणीय न बना दें। यह नश्वर संसार निरन्तर दुःखों से परिपूर्ण और नीरस है। कृपया यह बताइये कि यह किस उपाय से अज्ञान के निवारण पूर्वक परमानन्दरूप उत्तम स्वाद से युक्त हो जाता है। मुने! यह मनरूपी चन्द्रमा काम से कलंकित हो रहा है। इसे किस साधन एवं विधि से धोया जाये कि उससे अत्यन्त निर्मल एवं परम आल्हादमयी दिव्य चाँदनी का उदय हो। जिसे संसार की गति का अनुभव है और जिसने निष्काम भाव के द्वारा दृष्ट एवं अदृष्ट कर्मफलों का विनाश कर दिया है, ऐसे किस महापुरुष की भाँति हमें इस संसाररूपी वन की गलियों में विचरते समय व्यवहार करना चाहिये ? प्रभो! किस उपाय का आश्रय लिया जाये, जिससे संसाररूपी वन में विचरने वाले जीव को राग-द्वेषरूपी बड़े-बड़े दोष तथा भोग समूह एवं ऐश्वर्यरूपी हिंसक जन्तु कष्ट न दे सकें ? मुनिश्रेष्ठ! तीनों लोकों में मन की जो मननशालिनी सत्ता (विषय-चिन्तनरूप अस्तित्व) है, उसे किसी साधनरूप युक्ति के बिना नष्ट नहीं किया जा सकता। अतः आप उस उत्तम युक्ति का पूर्णरूप से उपदेश कीजिये अथवा जिसका अवलम्बन करने से लोक व्यवहार में तत्पर रहने पर भी मुझे दुःख प्राप्त न होसके, उस व्यवहार-सम्बन्धिनी उत्तम युक्ति का प्रतिपादन कीजिये। किस उत्तम चित्तवाले महापुरुष ने पहले युक्ति के द्वारा मोह का निवारण किया ? उसने किस प्रकार और क्या किया था, जिससे उसका मन परम पवित्र होकर शान्ति को प्राप्त हो गया ? भगवन्! मोह की निवृत्ति के लिये आप-जैसा, जो कुछ भी जानते हैं, उसका उसी रूप में मुझे उपदेश कीजिये। वह कौन-सा साधन है, जिसका आश्रय लेने से अनेक श्रेष्ठ पुरुष दुःख रहित स्थिति (कल्याण) को प्राप्त हो गये हैं ?

श्रीवाल्मीकि जी कहते हैं भरद्वाज! जैसे मोर महान् मेघों की घटाओं के सम्मुख केकारव करके थक जाने के कारण चुप हो जाता है, उसीप्रकार निर्मल चन्द्रमा के समान मनोहर एवं महान् तत्त्व विचार से विकसित चित्तवाले श्रीरामचन्द्र जी वसिष्ठ आदि महान् गुरुजनों के समक्ष उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये।

तेईसवां सर्ग समाप्त

चौबीसवां सर्ग

महर्षियों का आगमन

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–भरद्वाज! कमलनयन राजकुमार श्रीराम जब इस प्रकार मन के मोह का निवारण करने वाली बात कहने लगे, तब वहाँ बैठे हुए सब लोगों के नेत्र आश्चर्य से खिल उठे। उनकी समस्त सांसारिक वासनाएँ वैराग्य की वासना से नष्ट हो गयीं और वे सब लोग दो घड़ी के लिये मानो अमृतमय समुद्र की तरंगों में डूबने–उतराने लगे। श्रीरामचन्द्रजी की वे बातें जिन लोगों ने सुनीं, वे निश्चलता के कारण चित्रलिखित से प्रतीत होते थे। उनका हृदय आनन्द से भर गया था। सभा में बैठकर जिन श्रवण समर्थ पुरुषों ने श्रीराम की बातें सुनीं, उनके नाम इस प्रकार हैं–वसिष्ठ–विश्वामित्र आदि मुनि, मन्त्रणा कुशल जयन्त और धृष्टि आदि मन्त्री, दशरथ आदि नरेश, पुरवासी पारशव आदि संकर जाति के लोग, विभिन्न सामन्त, लक्ष्मण आदि राजकुमार, वेदवेत्ता ब्राह्मण, भृत्य और अमात्य। अपने महल की खिड़कियों में बैठी हुई महारानी कौसल्या आदि वनिताएँ भी निश्चल होकर श्रीराम की बातें सुन रही थीं। उस समय उनके आभूषणों की खनखनाहट तक नहीं होती थी। आकाशचारी सिद्ध, गन्धर्व, किंनर, नारद, व्यास और पुलह आदि श्रेष्ठ महान् दिव्य नागों ने भी श्रीरामचन्द्रजी की वे विचित्र अर्थ से परिपूर्ण और परम उदार बातें सुनी थीं।

रघुकुलरूपी आकाश के चन्द्रमा तथा शशि से भी सुन्दर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी सब उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये, तब 'साधुवाद' के गम्भीर घोष के साथ आकाश से सिद्ध समूहों द्वारा ऐसी पुष्पवृष्टि की गयी, जिससे वहाँ चँदोवा–सा तन गया। फूलों की उस वर्षा में ढेर–के–ढेर केवड़े के फूल चक्कर काट रहे थे। कमलों के गुच्छ अपनी अद्‌भुत छटा दिखा रहे थे। कुन्द पुष्पों की राशि झड़ रही थी तथा हवा में उड़ते हुए नील कमलों के पुंज बिखर रहे थे। उस महल के आँगन की भूमि पट गयी। घर, छत और चबूतरे आच्छादित हो गये तथा नगर के सभी स्त्री–पुरुष अपनी गर्दन ऊँची करके उस पुष्प वर्षा की शोभा निहारने लगे। आकाश में खड़े हुए अदृश्य सिद्ध–समूहों द्वारा की गयी वह पुष्प वृष्टि आधी घड़ी तक लगातार होती रही। सभा और उसमें बैठे हुए लोगों को आच्छादित–सा करके जब वह पुष्प वर्षा बंद हुई, तब

सभासदों ने सिद्धसमूहों का यह वार्तालाप अपने कानों से सुना-"सृष्टि के आरम्भ से लेकर अबतक सिद्धों के समुदाय में रहकर स्वर्ग के सारे प्रदेशों में घूमते हुए हम लोगों ने आज ही वेदों का सारभूत एवं कानों के लिये अमृत के समान सुखद यह अपूर्व प्रवचन सुना है। वीतराग होने के कारण इन रघुकुलचन्द्र श्रीरामने जो उदार बातें कहीं हैं, उन्हें सम्भवतः बृहस्पतिजी भी नहीं जानते होंगे। अहो! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आज हम लोगों ने श्रीरामचन्द्रजी के मुखारविन्द से प्रकट हुआ यह परम पुण्यमय प्रवचन सुना है, जो अन्तःकरण को परम आल्हाद प्रदान करने वाला है। इन रघुनन्दन ने इस समय आदरपूर्वक जो उचित भाषण किया है, वह शान्तिरूपी अमृत से भरा होने के कारण परम मनोहर है। इस भाषण ने श्रेष्ठता का पद प्राप्त कर लिया है-यह प्रवचन सर्वोत्तम सिद्ध हुआ है। इसके द्वारा हमें भी तत्काल यह ज्ञान हो गया कि स्वर्ग आदि के सुख भी निस्सार हैं।

रघुकुल तिलक श्रीराम द्वारा उठाये गये इन पावन प्रश्नवाक्यों का महर्षि लोग जो निर्णय करेंगे, उसे भी सुनना उचित होगा। नारद, व्यास और पुलह आदि मुनीश्वरो! आप सभी महर्षि उस निर्णय को निर्विघ्नरूप से सुनने के लिये शीघ्र यहाँ पधारें। जैसे केसर की शोभा से परिपूर्ण हो सुवर्ण की भाँति उद्दीप्त होने वाली कमलिनी पर भ्रमर चारों ओर से टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार हम भी धन-वैभव से पूर्ण तथा सुवर्णमयी सामग्रियों से प्रकाशित होनेवाली राजा दशरथ की इस पुण्यमयी सभा में सब ओर से प्रवेश करें।"

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज! सिद्धों के ऐसा कहने पर विमानों में निवास करने वाले दिव्य महर्षियों की वह सारी मण्डली उस राजसभा में उतरी। उस मण्डली में सबसे आगे मुनीश्वर नारद थे, जो अपनी बजती हुई वीणा को उस समय भी छोड़ न सके थे और सबसे पीछे सजल जलधर के समान श्याम कान्ति वाले महर्षि व्यास थे। इन दोनों के बीच में शेष ऋषियों की मण्डली थी। भृगु, अंगिरा और पुलस्त्य आदि मुनीश्वर उस मण्डली की शोभा बढ़ाते थे। च्यवन, उद्दालक,उशीर तथा शरलोम आदि महर्षियों ने उसे सब ओर से घेर रक्खा था।

एक दूसरे के शरीर की रगड़ से उन सबके मृगचर्म अपने स्थान से खिसककर अस्त-व्यस्त हो गये थे। उन महर्षियों के हाथों में बल पाकर

रुद्राक्षमाला हिल रही थी तथा उन सबने सुन्दर कमण्डलु धारण कर रक्खे थे। आकाश में अपने तेजःपुन्ज के प्रसार से श्वेत एवं रक्त प्रभा धारण करने वाली वह मुनिमण्डली तारों की पंक्ति के समान प्रकाशित हो रही थी। परस्पर के तेज से उन सबके मुखमण्डल ऐसे उद्‌भासित हो रहे थे, मानो तारों के समुदाय में श्याम मेघ घिर आया हो और देवर्षि नारद तारिकाओं के समूह में शीतरश्मि चन्द्रमा की-सी शोभा धारण करते थे। महर्षि पुलस्त्य देवमण्डली के बीच देवराज इन्द्र के समान विराज रहे थे। महर्षि अंगिरा ऐसे प्रकाशित होते थे, मानों देवताओं के समूह में साक्षात् सूर्य उपस्थित हों। आकाशमण्डल से वह सिद्ध-सेना ज्यों ही भूतलपर उतरी त्यों ही मुनियों से भरी हुई दशरथ-सभा के सभी लोग उठकर खड़े हो गये। वसिष्ठ और विश्वामित्र ने अर्घ्य-पाद्य तथा मधुर वचनों द्वारा क्रमशः उन सभी आकाशचारी सिद्धों तथा महर्षियों की पूजा की। आकाशचारी सिद्ध आदि के उस महान् समुदाय ने भी अर्घ्य-पाद्य एवं मधुर वचनों द्वारा वसिष्ठ और विश्वामित्र का आदरपूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् भूपाल दशरथ ने सम्पूर्ण आदरभाव के साथ उस सिद्ध-समुदाय का पूजन किया। फिर उस सिद्ध समुदाय ने भी कुशल-प्रश्न-सम्बन्धी वार्तालाप द्वारा महाराज दशरथ का सत्कार किया। उस समय प्रेमोचित दान, मान आदि क्रियाओं द्वारा एक दूसरे से सत्कार पाकर सभी आकाशचारी तथा भूमण्डल में विचरने वाले महर्षि यथायोग्य आसनों पर बैठे। उन लोगों ने सामने नत-मस्तक होकर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी का चारों ओर से मधुर भाषण, फूलों की वर्षा और साधुवाद के द्वारा पूर्ण सत्कार किया।

श्रीरामचन्द्र जी राज्यलक्ष्मी से सुशोभित होते हुए वहीं बैठे तथा विश्वामित्र, वसिष्ठ, वामदेव, राजमन्त्रीगण, ब्रह्मा के पुत्र नारदजी, मुनिवर व्यास, मरीचि, दुर्वासा, अंगिरा और उनके पुत्र आंगिरस मुनि, क्रतु, पुलस्त्य, पुलह, मुनीश्वर शरलोमा, वात्स्यायन, भरद्वाज, मुनिवर वाल्मीकि, उद्दालक, ऋचीक, शर्याति और च्यवन-ये तथा और भी बहुत से वेद-वेदांग के पारंगत विद्वान् तत्वज्ञानी महात्मा, जो उन सबमें प्रधान थे, वहाँ विराजमान हुए। तत्पश्चात् वसिष्ठ और विश्वामित्रजी के साथ नारद आदि, जो सांगवेदों का अध्ययन कर चुके थे, मस्तक झुकाये हुए श्रीरामचन्द्रजी को लक्ष्य करके इस प्रकार बोले-'अहो! बड़े आश्चर्य की बात है कि राजकुमार श्रीराम ने इस प्रकार

अनेक कल्याणमय गुणों से सुशोभित वैराग्य रस से पूर्ण तथा परम उदारता से युक्त बातें कही हैं। श्री राम के भाषण में वक्तव्य अर्थ 'इदमित्थम्' रूप से व्यवस्थापूर्वक निहित है। उसे ऐसी सुबोध भाषा में कहा गया है, जिसे सुनते ही श्रोता वास्तविक अभिप्राय को समझ ले। जो बात कही गयी है, वह सर्वथा उचित और स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित है। श्रीराम की यह वाणी उदार है-इसके भीतर बहुत से उत्कृष्ट अभिप्राय छिपे हुए हैं। यह सुनने में प्रिय और श्रेष्ठ पुरुषों के योग्य है। इसमें जो कुछ कहा गया है, वह चंचल चित्त से नहीं, स्थिरबुद्धि से विचारकर व्यक्त किया गया है। इसका भाव स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। इस भाषण का प्रत्येक पद अभिव्यक्त (व्याकरण-विशुद्ध) तथा सुस्पष्ट-ग्रस्त आदि दोषों से रहित है। यह वाणी इष्ट (प्रिय एवं हितकर) तथा आन्तरिक संतोष की सूचक है। श्रीरघुनाथजी के मुख से निकला हुआ यह वचन किसको आश्चर्य में नहीं डाल देता ? सैकड़ों में किसी एक पुरुष की वाणी सम्पूर्णतः उत्कृष्ट, चमत्कारपूर्ण और अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने में समर्थ होती है।

'राजकुमार! आपके सिवा दूसरा कौन है, जिसकी बाण के समान सूक्ष्म अर्थ का भेदन करने वाली कुशाग्र बुद्धिरूपिणी लता विवेकरूपी फल से सुशोभित हो विचार-वैराग्यरूपी उत्तम विकास को प्राप्त हो रही हो। श्रीराम की भाँति जिसके हृदय में अनुपम प्रकाश फैलाने वाली प्रज्ञारूपिणी दीप-शिखा प्रज्वलित हो रही हो, वही श्रेष्ठपुरुष कहा जाता है। जिनमें ऐसी प्रज्ञा नहीं है, वे मनुष्य रक्त, मांस और हड्डियों के यन्त्ररूपी देह में आत्मबुद्धि रखने के कारण रक्त-मांसादिरूप ही बहुत-से शब्द-स्पर्शादि पदार्थों का उपभोग करते रहते हैं। ऐसा लगता है, उनके भीतर कोई चेतन पदार्थ है ही नहीं-वे जड़ के तुल्य हो गये हैं। जो लोग सर्वथा मोहाच्छन्न होने के कारण संसार का विचार नहीं करते, वे निरे पशु हैं। वे ही बारंबार जन्म, मृत्यु और जरा आदि रूपों को प्राप्त होते हैं। जैसे लोक में सर्वोत्तम मधुर फल और सुन्दर आकृतिवाले आम के वृक्ष बिरले ही होते हैं, उसी प्रकार उत्कृष्ट चमत्कार से पूर्ण तत्व-साक्षात्कार रूप फल से सम्पन्न एवं सुन्दर शरीरवाले भव्य पुरुष इने-गिने ही होते हैं। इन आदरणीय बुद्धिवाले श्रीराम में अभी इसी अवस्था में अपने ही विवेक के कारण उस तत्वदर्शन रूप चमत्कार का उदय देखा जाता है, जिसके

द्वारा जगत के व्यवहार का सम्यक्रूप से समीक्षण हुआ है। जो देखने में सुन्दर हों, ऐसे वृक्ष प्रायः सभी देशों में उत्पन्न होते हैं; परंतु चन्दन के वृक्ष सर्वत्र नहीं होते (इसी तरह श्रीराम जैसे पुरुष सर्वत्र दुर्लभ हैं)। फल और पल्लवों से भरे-पूरे वृक्ष प्रत्येक वन में सदा सुलभ होते हैं। परंतु अपूर्व चमत्कार से युक्त लौंग का वृक्ष सदा और सर्वत्र सुलभ नहीं है (इसी तरह श्रीराम जैसे पुरुष सर्वत्र दुर्लभ हैं)। जैसे चन्द्रमा से शीतल चाँदनी उत्पन्न होती है, सुन्दर वृक्ष से मंजरी प्रकट होती है और फूल से सुगन्ध का प्रवाह प्रादुर्भूत होता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी से यह तत्वदर्शनरूपी चमत्कार का आविर्भाव देखा गया है। जो लोग सदा तत्वचिन्तन में तत्पर हो विवेक द्वारा आत्मज्ञान या परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति सार पदार्थ के लिये प्रयत्नशील रहते हैं, वे ही सुयश के भंडार, सत्पुरुषों में अग्रगण्य, धन्य एवं समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। तीनों लोकों में श्रीरामचन्द्रजी के समान विवेकशील और उदारचित्त पुरुष न तो अब तक कोई देखा गया है और न भविष्य में ही कोई होगा, ऐसी हमारी मान्यता है।'

चौबीसवां सर्ग समाप्त

वैराग्य प्रकरण सम्पूर्ण

◆

ऐसा परम तत्त्व को प्राप्त–परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित पुरुष जगत की क्षणभंगुर अवस्था को अपनी प्रशान्त ब्राह्मी स्थिति के अंदर हँसता हुआ देखता है। उसके लिये न कुछ पाना शेष रह जाता है, न कुछ करना रह जाता है। वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मास्वरूप ही बन जाता है। यही योगवासिष्ठ की शिक्षा है।

सचित्र
योगवासिष्ठ महारामायण

प्रथम खण्ड

मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण

यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान्।
स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव।।

(मुमुक्षु प्रकरण से)

"जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्म के सम्पादन में कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत के मोह-पाश से वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजरे से सिंह।

• • •

जब एक ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं रह जाती, तब भिन्न अहंकार कहाँ रहेगा और अहंकार का अभाव होते ही राग–द्वेष, ममता–मोह, मेरा–तेरा आदि सब मिथ्या विकार मिट जाते हैं जैसे स्वप्न से जागते ही स्वप्न का सारा संसार सर्वथा मिट जाता है। फिर जगत में रहता हुआ भी इस ज्ञान को प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुष नित्य निरन्तर ब्रह्म में ही स्थित रहता है। वह जगत के आदि, मध्य, अन्त सभी अवस्थाओं में समचित्त रहता है; क्योंकि तब उसका चित्त ही नहीं रह जाता। अतएव वह न तो प्राप्त हुई प्रिय कहलाने वाली वस्तु का अभिनन्दन करता है, न अप्रिय से द्वेष करता है, न नष्ट हुई प्रिय वस्तु के लिये शोक करता है और न अप्राप्त वस्तु की इच्छा ही करता है।

श्री योग वासिष्ठ महारामायण

मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण

प्रथम सर्ग

शुकदेवजी का तत्त्वज्ञान

श्रीवाल्मीकिजी बोले-भरद्वाज! इस प्रकार सभा में आये हुए सिद्ध पुरुषों ने जब श्रीराम के भाषण की भूरि-भूरि प्रशंसा की, तब विश्वामित्र जी ने अपने सामने बैठे हुए श्रीराम से कहा-'ज्ञानियों में श्रेष्ठ रघुनन्दन! तुम्हारे लिये और कुछ जानना शेष नहीं है। तुम अपनी ही सूक्ष्म बुद्धि से सब कुछ जान चुके हो-सर्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा को तत्त्व से जानते हो। तुम्हारी बुद्धि भगवान् व्यास के पुत्र शुकदेवजी की सी है। उसे जानने योग्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो चुका है। श्रीराम! मैं तुमसे व्यासपुत्र शुकदेवजी का यह वृत्तान्त कह रहा हूँ, जो तुम्हारे अपने ही वृत्तान्त के समान है, इसे सुनो। यह सुनने वाले मनुष्यों के जन्म-मरणरूप संसार के अन्त (मोक्ष) का कारण है। वे जो तुम्हारे पिता के बगल में अञ्जनगिरि के समान श्याम तथा सूर्यतुल्य तेजस्वी भगवान् व्यास बैठे हैं, इनके शुकदेव नाम से प्रसिद्ध एक महाज्ञानी पुत्र हुआ, जिसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर था। शुकदेवजी सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता थे। वे एक दिन मन-ही-मन इस जागतिक व्यवहार पर विचार कर रहे थे। उस समय उनके हृदय में भी तुम्हारी ही तरह विवेक का उदय हुआ। उन महामना शुकदेव ने अपने विवेक से स्वयं ही चिरकाल तक विचार करके जो परम मनोहर परमार्थ सत्य वस्तु है, उसे प्राप्त कर लिया। उसे प्राप्त करके भी उनके हृदय में 'यही परमार्थ वस्तु है' ऐसा पूर्ण विश्वास नहीं हुआ; इसलिये उस परम वस्तु के स्वतः प्राप्त हो जाने पर भी उनके मन को शान्ति नहीं मिली। इतना अवश्य हुआ कि उनके चित्त की चंचलता दूर हो गयी और जैसे चातक वर्षा की जलधारा के अतिरिक्त अन्य जलधाराओं से मुँह

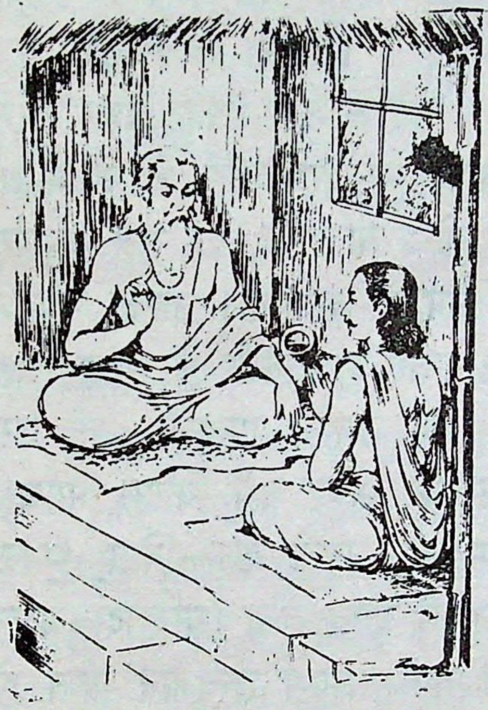

मोड़ लेता है, उसी प्रकार उनका मन अत्यन्त क्षणभंगुर भोगों से विरत हो गया।

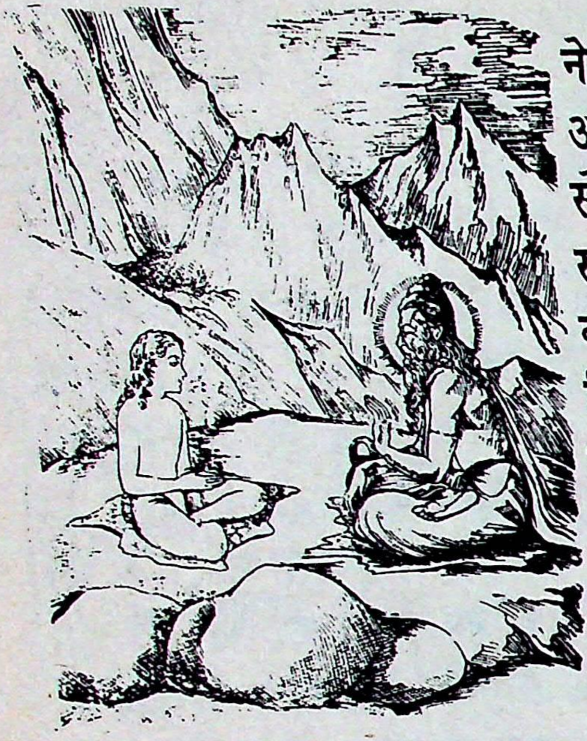

एक दिन निर्मल बुद्धि वाले शुकदेवजी ने मेरुगिरि पर एकान्त स्थान में बैठे हुए अपने पिता मुनिवर श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यास से भक्तिभाव के साथ पूछा-'मुने! यह संसाररूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ ? कैसे इसकी शान्ति या नाश होता है ? यह कितना बड़ा है ? किसका है ? और कब तक रहेगा ?' पुत्र के इस प्रकार प्रश्न करने पर आत्मज्ञानी मुनिवर व्यास ने उन्हें जो कुछ बताने योग्य बात थी, वह सब यथावत् एवं विशुद्ध रूप से बता दी। उनका उपदेश सुनने के अनन्तर शुकदेवजी ने सोचा, यह तो मैं पहले ही जान गया था ऐसा विचार कर उन्होंने पिताजी के उस उपदेश-वाक्य का अपनी शुभबुद्धि के द्वारा अधिक आदर नहीं किया। भगवान् व्यास भी अपने पुत्र के इस अभिप्राय को समझकर उससे बोले-'बेटा! भूतल पर जनक नाम से प्रसिद्ध एक राजा हैं, जो जानने योग्य तत्त्व (सच्चिदानन्दघन परमात्मा को) यथार्थ रूप से जानते हैं। उनसे तुम्हें सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायेगा।'

पिता के ऐसा कहने पर शुकदेवजी सुमेरु पर्वत से उतर कर पृथ्वी पर आये और महाराज जनक के द्वारा पालित विदेह पुरी में जा पहुँचे। वहाँ छड़ीदार द्वारपालों ने महात्मा जनक को यह सूचना दी-'राजन्! राजद्वार पर व्यासजी के पुत्र शुकदेवजी खड़े हैं।' उन्होंने शुकदेवजी की परीक्षा लेने के लिये द्वारपालों से अवहेलना पूर्वक कहा-'शुकदेवजी आये हैं तो वहीं ठहरें।' ऐसा कहकर राजा सात दिनों तक चुपचाप बैठे रहे-उनकी कोई खोज-खबर नहीं ली। तत्पश्चात् राजा जनक ने शुकदेवजी को राजमहल के आँगन में बुलाया। वहाँ आने पर भी शुकदेवजी पूरे सात दिनों तक उसी प्रकार उपरत होकर बैठे रहे। इसके बाद जनक ने शुकदेवजी को अन्तःपुर में ले आने की आज्ञा दी, किन्तु वहाँ भी राजा ने सात दिनों तक उन्हें दर्शन नहीं दिया। वे चन्द्रमा के

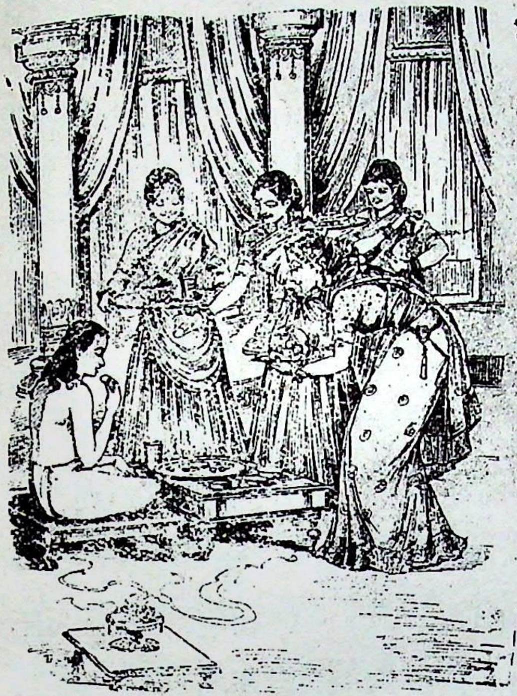

समान मुखवाले शुकदेवजी का अन्तःपुर में यौवन के मद से उन्मत्त कमनीय कान्ति वाली सुन्दरियों द्वारा भाँति-भाँति के भोजनों तथा भोग सामग्रियों से लालन-पालन कराते रहे। परंतु जैसे मन्द गति से बहने वाली वायु दृढ़मूल अविचल वृक्ष को नहीं उखाड़ सकती, उसी प्रकार वे भोग तथा अनादर एवं उपेक्षाजनित दुःख भी व्यास पुत्र के मन को अपनी ओर खींच न सके, उसमें विकार पैदा न कर सके। शुकदेव वहाँ पूर्ण चन्द्रमा के समान निर्विकार, भोग और अनादर में भी समान (हर्ष-विषाद से रहित), स्वस्थ मौन तथा प्रसन्न-चित्त बने रहे।

इस प्रकार परीक्षा द्वारा शुकदेवजी के स्वभाव को जानकर राजा जनक ने उन्हें सादर अपने पास बुलवाया और प्रसन्नचित देखकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् शीघ्रता पूर्वक उनका स्वागत करके राजा ने उनसे कहा-ब्रह्मन्! जगत् में परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये जो-जो आवश्यक कर्त्तव्य हैं, वे सब आपने पूर्ण कर लिये हैं। सारे मनोरथों को प्राप्त कर लिया है (इस तरह आप कृत कृत्य तथा आप्तकाम हो चुके हैं) अब आपको किस वस्तु की इच्छा है।'

श्रीशुकदेवजी ने कहा-महाराज! मैं जानना चाहता हूँ कि यह संसार रूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है और इसकी शान्ति या विनाश कैसे होता है। आप शीघ्र ही मुझसे इस विषय का यथावत् रूप से प्रतिपादन कीजिये।

श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं-महाराज! इस प्रकार पूछे जाने पर राजा जनक ने शुकदेवजी को उस समय वही बात बतायी, जो पहले उनके महात्मा पिता व्यासजी के द्वारा बतायी गयी थी।

तब शुकदेवजी ने कहा-वक्ताओं में श्रेष्ठ महाराज! मैंने पहले विवेक से स्वयं ही यह बात जानली थी फिर जब पिताजी से इसके विषय में पूछा, तब उन्होंने भी मुझे यही बात बतायी और आज आपने भी यही बात कही है। शास्त्रों में भी महावाक्यों का यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है। वह इस प्रकार

है–'यह विनाशशील संसार अपने संकल्प से उत्पन्न हुआ है और संकल्प का आत्यन्तिक विनाश होने से नष्ट हो जाता है अतः सर्वथा निस्सार है। यही शास्त्रों का निश्चय है।' महाबाहो! क्या यही अविचल सत्य है ? यदि हाँ तो इसका इस तरह उपदेश कीजिये, जिससे यह मेरे हृदय में अचल–असंदिग्ध रूप से बैठ जाय। संसार के विषयों में भटकते हुए चित्त के द्वारा इधर–उधर भटकाया जाता हुआ मैं आज आपसे शान्ति लाभ करना चाहता हूँ।

राजा जनक ने कहा–मुने! इस ब्रह्माण्ड में एक अखण्ड चिन्मय परम पुरुष परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आपने स्वयं विवेक के द्वारा इस तत्त्व को जाना है और फिर गुरुस्वरूप पिता के मुख से इसको सुना है। इससे बढ़कर दूसरा कोई निश्चय (जानने योग्य तत्त्व) नहीं है। मुनिकुमार! आप बालक होते हुए भी विषय भोगों के त्याग में शूरवीर होने के कारण महान् वीर हैं। आपकी बुद्धि दीर्घ काल तक बने रहने वाले रोगरूपी भोगों से पूर्णतः विरक्त हो गयी है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? ब्रह्मन्! जो प्राप्त करने योग्य वस्तु है, उसे पूर्णरूप से आपने पा लिया है। आपका चित्त पूर्णकाम हो गया है। आप दृश्य वस्तु (बाह्य विषय) की ओर दृष्टिपात नहीं करते हैं, अतः मुक्त हैं। अभी और कुछ पाना या जानना शेष रह गया है, इस भ्रम को त्याग दीजिये।

विश्वामित्र जी कहते हैं–हे श्रीराम! महात्मा जनक के द्वारा इस प्रकार उपदेश पाकर शुकदेवजी अत्यन्त शुद्ध परम वस्तु परमात्मा में चुपचाप स्थित हो गये। उनके शोक, भय और श्रम–सभी नष्ट हो गये। वे सर्वथा निरीह एवं संशय रहित हो गये। तदनन्तर वे मेरुगिरि के प्रशस्त शिखर पर समाधि लगाने के लिये चले गये। वहाँ दस हजार वर्षों तक निर्विकल्प समाधि में स्थित रहे और जैसे तेल समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार वे प्रारब्ध क्षीण हो जाने पर परमात्मा में लीन हो गये।

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

विश्वामित्रजी का वसिष्ठजी से श्रीराम को उपदेश करने के लिये अनुरोध

श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं–मुनीश्वरो! श्रीरामचन्द्रजी ने ज्ञातव्य वस्तु को

पूर्णतः जान लिया है; क्योंकि इन शुद्ध बुद्धिवाले श्रीराम को भोग अच्छे नहीं लगते। वे इन्हें रोग के समान प्रतीत होते हैं। जिसने ज्ञेय वस्तु को जान लिया है, उसके मन का अवश्य ही यही लक्षण है कि उसे सारे भोग समूह फिर कभी रुचिकर नहीं जान पड़ते हैं। भोगों के चिन्तन से अज्ञान-जनित बन्धन दृढ़ होता है और भोग-वासना के शान्त हो जाने पर संसार-बन्धन क्षीण हो जाता है।

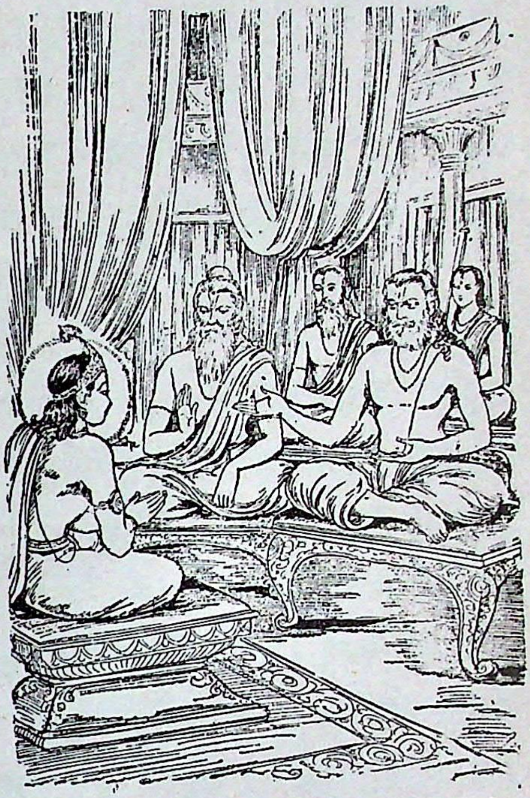

श्रीराम! विद्वान् लोग भोग वासना के क्षय को ही मोक्ष कहते हैं और विषयों में होने वाली सुदृढ़ वासना को ही बन्धन बताते हैं। जिसकी दृष्टि राग आदि दोषों से रहित है, वही तत्त्वज्ञ है। उसी ने जानने योग्य वस्तु को जाना है और वही विद्वान् है। उस महात्मा पुरुष को भोग हठात् अच्छे नहीं लगते। जैसे मरुभूमि में लता नहीं उगती, उसी प्रकार जब तक जानने योग्य तत्त्व का कुछ भी ज्ञान नहीं होता, तब तक मनुष्य के हृदय में विषयों की ओर से वैराग्य नहीं होता। अतः मुनिवृन्द! आप लोग यह निश्चितरूप से समझ लें कि रघुकुल तिलक श्रीराम को ज्ञेय तत्त्व का ज्ञान हो गया है; क्योंकि इन्हें ये भोगों के रमणीय स्थान आनन्दित नहीं कर रहे हैं। मुनीश्वरो! श्रीरामचन्द्रजी जिस तत्त्व को बुद्धि के द्वारा जानते हैं, उसके विषय में जब सदगुरु के मुख से यह सुन लेंगे कि 'यही परमार्थ वस्तु है' तब इनके चित्त को अवश्य विश्राम प्राप्त होगा। जैसे शरत्काल की शोभा मेघरहित निर्मल आकाशमात्र की अपेक्षा रखती है, उसी तरह श्रीरामचन्द्रजी की बुद्धि को केवल अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परमात्मा के तत्व में विश्राम की अपेक्षा है। अतः श्रीरामचन्द्रजी के चित्त विश्राम के लिये ये पूज्यपाद श्रीवसिष्ठजी ही यहाँ युक्ति का प्रतिपादन करें; क्योंकि ये समस्त रघुवंशियों के ही नहीं, समूचे इक्ष्वाकुवंशियों के सदा से नियन्ता एवं शिक्षक और कुलगुरु हैं। इसके सिवा ये सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी तथा तीनों कालों में मोह आदि से रहित निर्मल दृष्टि वाले हैं।

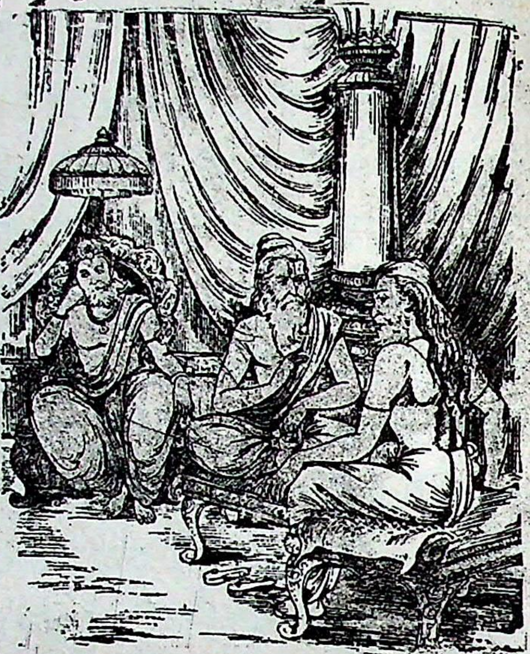

पूज्यपाद वसिष्ठजी! क्या वह पहले की बात आपको स्मरण है, जब कि हम दोनों के वैर की शान्ति तथा परम बुद्धिमान् मुनियों के कल्याण के लिये देवदारु के वृक्षों से आवृत निषद पर्वत के शिखर पर साक्षात् पद्मयोनि भगवान् ब्रह्मा ने महत्त्वपूर्ण ज्ञान का उपदेश दिया था ? ब्रह्मन्! उस युक्तियुक्त ज्ञान से यह सांसारिक वासना अवश्य उसी तरह नष्ट हो जाती है, जैसे भगवान् भास्कर के उदय से अँधेरी रात। विप्रवर! आप उसी युक्तियुक्त ज्ञेय वस्तु का अपने शिष्य श्रीराम को शीघ्र उपदेश दीजिये, जिससे ये विश्राम (शान्ति) को प्राप्त हों। इसमें आपको अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी सर्वथा निष्पाप हैं। अतः जैसे निर्मल दर्पण में बिना यत्न के ही मुँह का प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी को अनायास ही ज्ञेय वस्तु का बोध एवं विश्राम प्राप्त हो जायेगा। महात्मन्! वही ज्ञान, वही शास्त्रार्थ और वही पाण्डित्य सार्थक एवं प्रशंसित है, जिसका वैराग्य युक्त उत्तम शिष्य के लिये उपदेश दिया जाता है। जिसमें वैराग्य नहीं है तथा जो शिष्यभाव से रहित है, उसे जो कुछ भी उपदेश दिया जाता है, वह कुत्ते के चमड़े से बने हुए कुप्पे में रक्खे हुए गाय के दूध की भाँति अपवित्रता को प्राप्त हो जाता है। जहाँ आप-जैसे वीतराग, निर्भय, क्रोध शून्य, अभिमान रहित तथा निष्पाप महापुरुष तत्त्वज्ञान उपदेश देते हैं, वहाँ तत्काल बुद्धि को विश्राम प्राप्त होता है।

गाधिनन्दन विश्वामित्र के ऐसा कहने पर व्यास और नारद आदि उन सभी मुनियों ने साधु-साधु कहकर उनके उस कथन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। तत्पश्चात् राजा दशरथ के बगल में बैठे हुए ब्रह्माजी के पुत्र महातेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनि ने, जो ब्रह्माजी के समान ही ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न थे कहा।

श्रीवसिष्ठजी बोले–मुने! आप जिस कार्य के लिये मुझे आज्ञा दे रहे हैं, उसे मैं बिना किसी विघ्न-बाधा के आरम्भ कर रहा हूँ। शक्तिशाली होकर भी संतों की आज्ञा का उल्लंघन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? पूर्वकाल में

निषद पर्वत पर पूजनीय पद्मयोनि ब्रह्माजी ने संसार रूपी भ्रम को दूर करने के लिये जिस ज्ञान का उपदेश किया था, वह सब अविकल रूप से मुझे याद है।

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

जगत् की भ्रमरूपता एवं मिथ्यात्व का निरूपण

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–पूर्वकाल में सृष्टि के प्रारम्भ के समय भगवान् ब्रह्मा ने संसाररूपी भ्रम के निवारण के लिये जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, उसीका मैं यहाँ वर्णन करता हूँ। यह जगत् संकल्प के निर्माण, मनोराज्य के विलास, इन्द्रजाल द्वारा रचित पुष्पहार, कथा–कहानी के अर्थ के प्रतिभास, वातरोग के कारण प्रतीत होने वाले भूकम्प, बालक को डराने के लिये कल्पित पिशाच, निर्मल आकाश में कल्पित मोतियों के ढेर, नाव के चलने से तथा प्रतीत होने वाली वृक्षों की गति, स्वप्न में देखे गये नगर, अन्यत्र देखे गये फूलों के स्मरण से आकाश में कल्पित हुए पुष्प की भाँति भ्रम द्वारा निर्मित हुआ है। मृत्युकाल में पुरुष स्वयं अपने हृदय में इसका अनुभव करता है।

इस प्रकार जगत् मिथ्या होने पर भी चिरकाल तक अत्यन्त परिचय में आने के कारण धनीभाव (दृढ़ता) को प्राप्त होकर जीव के हृदयाकाश में प्रकाशित हो बढ़ने लगता है। यही 'इहलोक' कहलाता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक की चेष्टाओं तथा मरण आदि का अनुभव करने वाला जीव वहीं हृदयाकाश में ही इहलोक की कल्पना करता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। फिर मरने के अनन्तर वह वहीं परलोक की कल्पना करता है। वासना के भीतर अन्य अनेक शरीर और उनके भीतर भी दूसरे–दूसरे शरीर–ये इस संसार में केले के वृक्ष की त्वचा (छिलके वा वल्कल) के समान एक के पीछे एक प्रतीत होते हैं वस्तुतः इस संसार में कोई सार नहीं है। न तो पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतों के समुदाय हैं और न जगत् की सृष्टि का कोई क्रम ही है। ये सब–के–सब मिथ्या हैं। तथापि मृत और जीविका जीवों को इनमें संसार का भ्रम होता है। यह अविद्या रूपिणी नदी ही है, जिसका कहीं अन्त नहीं है। यह विभिन्न धाराओं के रूप में फैलती हुई शोभा पाती है। मूढ़ पुरुषों के लिये यह इतनी विशाल है कि वे इसे पार नहीं कर सकते। सृष्टि रूपी चंचल तरंगों से ही यह तरंगवती

जान पड़ती है।

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

पौरुष की महत्ता का वर्णन

श्रीराम! परमार्थ सत्यरूपी विशाल महासागर में बारंबार वे पुरानी और नयी सृष्टि रूप असंख्य तरगें उठती और विलीन होती रहती हैं। इस समय ब्रह्मकल्प का अवयव भूत बहत्तरवाँ त्रेतायुग चल रहा है। यह पहले भी अनेक बार हो चुका है और आगे भी होता रहेगा। यह वही पहले वाला त्रेतायुग है और उससे विलक्षण भी। ये जितने लोक हैं, वे भी पूर्ववत् हुए हैं और उनकी अपेक्षा नवीन भी हैं। इसी प्रकार तुम श्रीराम भी अनेक बार त्रेतायुग में अवतार ले चुके हो और भविष्य में भी लोगे। मैं भी कितनी ही बार वसिष्ठ रूप में उत्पन्न हो चुका हूँ और आगे भी होऊँगा। हमारे ये सभी रूप पूर्व के तुल्य होंगे और उनसे भिन्न भी। इस बात को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। सभी प्राणी कभी धन-वैभव, बन्धु-बान्धव, अवस्था, कर्म, विद्या विज्ञान और चेष्टाओं में पूर्वकल्पों के समान होते हैं और कभी नहीं भी होते। जो अविद्यारूपी आवरण से रहित है, जिसका अन्तःकरण एकाग्र होचुका है, जिसके सभी संकल्प-विकल्प शान्त हो चुके हैं तथा जो स्वरूप भूत सारतत्त्व (सच्चिदानन्दघन) मय हो गया है, वह विद्वान् पुरुष परम शान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है।

सौम्य श्रीराम! समुद्र की जलराशि शान्त हो या उत्ताल तरंगों से युक्त, दोनों दशाओं में उसकी जल रूपता समान ही है-उसमें किसी प्रकार अन्तर नहीं है। उसी तरह देह के रहते हुए और उसके न रहने पर भी मुक्त महात्मा मुनि की स्थिति एक-सी ही होती है, उसमें कोई भेद नहीं होता है। संदेह मुक्ति हो या विदेह मुक्ति, उसका विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसने सत्य मानकर भोगों का आस्वादन ही नहीं किया, उस पुरुष में भोगों की अनुभूति कहाँ से होगी ? जीवन्मुक्त और विदेह मुक्त दोनों ही प्रकार के महात्मा बोध स्वरूप हैं। उनमें क्या भेद है ? (इन दोनों में भेद कराने वाला है अज्ञान। उसके नष्ट हो जाने पर जब केवल ज्ञान ही अवशिष्ट रह जाता है, तब उन दोनों में भेद कौन हो सकता है ?) जैसे समुद्र की तरंगावस्था जो जल है, वही उसकी प्रशान्तावस्था में भी है उसमें कोई भेद नहीं है। पवन सस्पन्द (वेगवान्) हो या निष्पन्द (शान्त अथवा वेगहीन), दोनों ही दशाओं में वह वायु ही है।

अतः अब मैं जिसका प्रकरण चल रहा है, उस उत्तम ज्ञान का ही उपदेश कर रहा हूँ, तुम इसका निरूपण सुनो। यह ज्ञान कानों का आभूषण है और अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने वाला है। रघुनन्दन! इस संसार में सदा अच्छीतरह पुरुषार्थ (प्रयत्न) करने से सबको सब कुछ मिल जाता है। (जहाँ कहीं किसी को असफल देखा जाता है, वहाँ उसके सम्यक् प्रयत्न का अभाव ही कारण है।) साधन के परिपक्व होने पर हृदय में, जैसे चन्द्रमा से शीतलतायुक्त आल्हाद प्राप्त होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूप अतिशय शीतल आनन्द का उदय होता है। यह आत्यन्तिक आनन्द पुरुष के प्रयत्न सेही प्राप्त हो सकता है, अन्य हेतु (प्रारब्ध) से नहीं। (इसलिये पुरुष को प्रयत्न पर ही निर्भर रहना चाहिये।) शास्त्रज्ञ सत्पुरुषों के बताये हुये मार्ग से चलकर अपने कल्याण के लिये जो मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा की जाती है उससे भिन्न जो शास्त्र-विपरीत मनमाना आचरण है, वह पागलों की-सी चेष्टा है। जो मनुष्य जिस पदार्थ को पाना चाहता है, उसकी प्राप्ति के लिये यदि वह क्रमशः यत्न करता है और बीच में ही उससे मुँह नहीं मोड़ लेता तो अवश्य उसे प्राप्त कर लेता है। कोई एक विशेष प्राणी ही पुरुषोचित प्रयत्न के द्वारा तीनों लोकों के ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण परम सुन्दर प्रतीत होने वाली इन्द्रपदवी को प्राप्त हो गया है। निरन्तर यत्न में लगे रहकर सुदृढ़ अभ्यास में तत्पर हुए बुद्धिमान् और साहसी पुरुष मेरु पर्वत को भी निगल जाने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र से नियन्त्रित पुरुषार्थ के सम्पादन में तत्पर जो पुरुष का पौरुष (उद्योग) है, वही मनोवांछित फल की सिद्धि का कारण होता है। शास्त्र के विपरीत किया हुआ प्रयत्न अनर्थ की ही प्राप्ति कराने वाला होता है। कोई पुरुष जब शास्त्रीय प्रयत्न को शिथिल कर देता है, तब स्वयं दरिद्रता, रोग और बन्धन आदि अपनी दुर्दशा के कारण वह ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ उसके लिये पानी की एक बूँद भी बहुत समझी जाती है (दुर्लभ हो जाती है); परंतु किसी को शास्त्रानुसार आचरण के प्रभाव से ऐसी उत्तम अवस्था प्राप्त होती है, जहाँ समुद्र, पर्वत, नगर और द्वीपों से व्याप्त विशाल भूमण्डल का साम्राज्य भी अधिक नहीं समझा जाता (वह अनायास सुलभ हो जाता है)।

चौथा सर्ग समाप्त

पांचवा सर्ग

प्रारब्धवाद का खण्डन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–हे रघुनन्दन! जैसे नीले, पीले आदि भिन्न-भिन्न रंगों की अभिव्यक्ति में प्रकाश ही मुख्य कारण है, उसी प्रकार शास्त्र के अनुसार मन, वाणी और शरीर द्वारा व्यवहार करने वाले अधिकारी पुरुषों के समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति ही प्रधान साधन है। मनुष्य केवल मन से किसी वस्तु की इच्छा करता है, शास्त्रानुसार कर्म से नहीं, वह पागलों की–सी चेष्टा करता है। उसकी वह चेष्टा केवल मोह में डालने वाली है, पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली नहीं। जो मनुष्य जैसा प्रयत्न (कर्म) करता है, वह वैसा ही फल भोगता है, (जो यह कहते हैं कि दैववश फल में विपरीतता भी आ जाती है तो उनका कथन ठीक नहीं; क्योंकि) अपना पूर्वकृत कर्म ही फल देने के लिये उन्मुख होने पर दैव कहलाता है। उससे अतिरिक्त दैव नाम की कोई वस्तु नहीं दिखायी देती। पुरुषार्थ दो प्रकार का है–एक शास्त्रानुमोदित (पुण्य–कर्म) और दूसरा शास्त्र विरुद्ध (पाप–कर्म)। इन दोनों में जो शास्त्र विरुद्ध पुरुषार्थ है, वह अनर्थ का कारण होता है और शास्त्रानुमोदित पौरुष परमार्थ वस्तु की प्राप्ति में कारण है इसलिये पुरुष को शास्त्रीय प्रयत्न से तथा साधु पुरुषों के संगसे ऐसा उद्योग करना चाहिये कि इस जन्म का पौरुष पूर्व जन्म के पौरुष (प्रारब्ध) को शीघ्र जीत ले। अपने उत्तम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर दाँतों से दाँतों को पीसते हुए (तत्परता–पूर्वक प्रयत्न में लगे हुए) पुरुष को अपने शुभ पौरुष को जीत लेना चाहिये। 'यह पूर्वजन्म का पुरुषार्थ (प्रारब्ध) मुझे प्रेरित करके विशेष परिस्थिति में डाल देता है' क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रयत्न से अधिक प्रबल नहीं है। तब तक प्रयत्नपूर्वक उत्तम पुरुषार्थ के लिये सचेष्ट रहना चाहिये, जब तक कि पूर्वजन्म का अशुभ पौरुष स्वयं पूर्णतः शान्त न हो जाय। अर्थात् जब तक पहले जन्मों का किया हुआ अशुभ कर्म समूल नष्ट न हो जाय, तब तक तत्परता से उत्साह पूर्वक साधन करते रहना चाहिये।

जैसे अपने द्वारा कल घटित हुए दोष का आज प्रायश्चित कर लेने पर नाश हो जाता है, उसी प्रकार इस जन्म के गुणों से (शुभ पौरुष से) पूर्वजन्म का दोष (अशुभ पौरुष) अवश्य नष्ट हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। पूर्व जन्म के अशुभ या दुःखदायक प्रारब्ध को इस जन्मके शुभ कर्मों से विशुद्ध एवं

पुष्ट हुई बुद्धि के द्वारा तिरस्कृत करके संसार-सागर से पार होने के उद्देश्य की सिद्धि के लिये अपने भीतर दैवी सम्पत्ति के संग्रह के निमित्त सदा यत्न करना चाहिये। उद्योगशून्य आलसी मनुष्य गदहों के समान गये-बीते हैं। अतः स्वयं भी उद्योग छोड़कर उन्हीं की श्रेणी या तुलना में नहीं जाना चाहिये। शास्त्र के अनुसार किया हुआ उद्योग इहलोक और परलोक दोनों की सिद्धि में कारण है। मनुष्य को पुरुषार्थरूपी प्रयत्न का आश्रय लेकर इस संसाररूपी गड्ढे से स्वयं बलपूर्वक निकल जाना चाहिये। अपने शरीर को प्रतिदिन नाश होता हुआ समझे। पशुओं के समान आचरणका त्याग करे और सत्पुरुषों के योग्य आचार-व्यवहार का आश्रय ले। जैसे कीड़ा घाव में पीब आदि का आस्वादन करके ही अपना जीवन समाप्त कर देता है, उसी तरह मनुष्य को घर में स्त्री, अन्न, पान आदि द्रवयुक्त एवं कोमल तुच्छ पदार्थों का किंचित् आस्वाद लेकर सम्पूर्ण पुरुषार्थों के साधनभूत आयु को भस्म नहीं कर देना चाहिये (मानव-जीवन को व्यर्थ नहीं गवाँ देना चाहिये)। शुभ पुरुषार्थ से शीघ्र ही शुभफल की प्राप्ति होती है और अशुभ पुरुषार्थ से सदा अशुभ फल ही मिलता है। इन शुभ-अशुभ पुरुषार्थों के सिवा दैव नाम की दूसरी कोई वस्तु नहीं है (इन्हीं का नाम दैव या प्रारब्ध है)। इसलिये पहले पुरुषार्थ के द्वारा विवेक का आश्रय लेकर आत्मज्ञानरूपी महान् प्रयोजन वाले शास्त्रों का विचार करना चाहिये। जो शास्त्र के अनुसार अपनी श्रवण, मनन आदि चेष्टाओं द्वारा साधन नहीं करते और चित्त में विषयों का ही चिन्तन करते रहते हैं, उन मूढ़ पुरुषों की अत्यन्त दूषित भोगेच्छा को धिक्कार है। पूर्वोक्त पुरुषप्रयत्न यदि सत्शास्त्र के अनुकूल तथा सत्संग और सदाचार से युक्त होता है तो वह परमात्मसाक्षात्काररूप अपने फल को देता है। यह उसका स्वभाव है। अन्यथा (सत्-शास्त्र के प्रतिकूल तथा सत्संग और सदाचार से रहित होनेपर) उससे परमात्मसाक्षात्काररूप परमफल की सिद्धि नहीं होती। यही पौरुष का स्वरूप है। इस प्रकार व्यवहार करने वाले किसी भी पुरुष का प्रयत्न कभी विफल नहीं होता। बाल्यावस्था से लेकर भलीभाँति अभ्यास में लाये हुए सत्-शास्त्रानुशीलन और सत्पुरुषों के संग आदि सद्गुणों द्वारा पुरुषार्थ करने से परम स्वार्थरूप परमात्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष देखी हुई, अनुभव में आयी हुई, सुनी हुई और साधनों द्वारा प्राप्त की हुई परमार्थ वस्तु को जो लोग दैव के अधीन मानते हैं, उनकी बुद्धि

कुत्सित है और वे साधन से नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। निरन्तर कल्पित क्रीड़ाओं (खेल-कूद) के कारण अत्यन्त चंचलतापूर्ण बाल्यावस्था के व्यतीत हो जाने पर जब (दुखी और गुरुजनों की सेवा में समर्थ) बाहुदण्ड से अलंकृत यौवन-अवस्था का आरम्भ हो जाय, तभी से मनुष्य को पद-पदार्थ के ज्ञान से विशुद्ध-बुद्धि होकर सत्पुरुषों के संग से अपने गुणों और दोषों का विचार करना चाहिये। तात्पर्य यह कि विचारपूर्वक दोषों को त्याग करके गुणों को ग्रहण करना चाहिये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज! मुनिवर वसिष्ठजी के इस प्रकार प्रवचन करने पर वह दिन व्यतीत हो गया। सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये तथा उस सभा के लोग वसिष्ठजी को नमस्कार करके सायंकालिक कृत्य (संध्योपासना और अग्निहोत्र आदि) करने के लिये चले गये और रात्रि व्यतीत होने पर पुनः सूर्यदेव की किरणों के साथ ही उस सभा भवन में आ गये।

पांचवा सर्ग समाप्त

छठवां सर्ग

पुरुषार्थ की श्रेष्ठता और दैववाद का निराकरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम! पूर्वजन्म के पौरुष से भिन्न दैव कोई वस्तु नहीं है। इसलिये 'मैं दैव के अधीन हूँ, कर्म करने में स्वतंत्र नहीं हूँ' ऐसी बुद्धि या विचारधारा को सत्संग तथा सत्-शास्त्र के अभ्यास द्वारा मन से दूर करके जीवात्मा का इस संसार-सागर से बल पूर्वक उद्धार करे (आलस्यवश सत्कर्म अथवा साधन कभी नहीं छोड़े)। जैसे-जैसे प्रयत्न होगा, वैसे-ही-वैसे शीघ्रतापूर्वक फल प्राप्त होगा। इसी का नाम पौरुष है। पूर्वजन्म के उस पौरुष को ही कोई दैव की संज्ञा देना चाहे तो दे सकता है। जो तुच्छ विषय, सुखों के क्षणिक लोभ में फँसकर उस पूर्वकृत पौरुष या दैव को वर्तमान जन्म के पुरुषार्थ द्वारा जीतने का प्रयत्न नहीं करते और सदा दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे दीन, पामर और मूढ़ हैं (क्योंकि पुरुषार्थ के बिना आत्म-कल्याण सिद्ध नहीं होता)। पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के पुरुषार्थ (कर्म) दो भेड़ों की तरह आपस में लड़ते हैं। उनमें जो भी बलवान् होता है, वही दूसरे को क्षणभर में पछाड़ देता है। जैसे पूर्व जन्म के किसी प्रतिबन्धक कर्म के कारण किसी मनुष्य को पुत्र की प्राप्ति नहीं होने वाली है; परन्तु यदि वह पुत्र प्राप्ति के

लिये शास्त्रीय विधान के साथ पुत्रेष्टि-यज्ञ अथवा उसी कोटि के दूसरे किसी सत्कर्म का अनुष्ठान करता है तो उसे पुत्रप्राप्ति हो जाती है। यहाँ पूर्वजन्म के प्रतिबन्धक कर्म से इस जन्म का पुरुषार्थ अधिक बलवान् होने के कारण नवीन प्रारब्ध का निर्माण करके विजयी हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वजन्म के कर्मानुसार यदि किसी की मृत्यु अवश्यम्भावी है तो उसके प्रतिकार के लिये अनेकप्रकार के उपाय करने पर भी मनुष्य उसे टाल नहीं पाता। अतः यहाँ पूर्वकृत कर्म (दैव या प्रारब्ध) ही प्रबल होने के कारण विजयी होता है। इस जन्म में किया गया प्रबल पुरुषार्थ अपने बल से पूर्वजन्म के पौरुष या दैव को नष्ट कर देता है और पूर्वजन्म का प्रबल पौरुष इस जन्म के पुरुषार्थ को अपने बल से दबा देता है। पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप प्रारब्ध और वर्तमान जन्म के पुरुषार्थ-इन दोनों में वर्तमान जन्म का पुरुषार्थ ही प्रत्यक्षतः बलवान् है, इसलिये अधिकारी मनुष्य को पुरुषार्थ का सहारा लेकर सत्-शास्त्रों के अभ्यास और सत्संग द्वारा बुद्धि को निर्मल बनाकर संसार-सागर से अपना उद्धार कर लेना चाहिये। इस जन्म के और पूर्वजन्म के दोनों पुरुषार्थ पुरुषरूपी वन में उत्पन्न हुए फल देनेवाले वृक्ष हैं। उन दोनों में जो अधिक बलवान् होता है, वही विजयी होता है अर्थात् धर्माचरण और मुक्ति के विषय में तो इस जन्म का पुरुषार्थ बलवान् है और अर्थ एवं काम के विषय में पूर्वजन्म का फलदानोन्मुख कर्म या दैव प्रबल है।

जो पुरुष उदार स्वभाव से युक्त एवं सत्कर्म के लिये प्रयत्न करने में कुशल है, सदाचार ही जिसका लीलाविहार है, वह जगत् के मोहरूपी फंदे से उसी प्रकार निकल जाता है, जैसे सिंह पिंजड़े से। जो मनुष्य दृष्ट (पुरुषार्थ या परम कल्याण के लिये प्रयत्न) का त्याग करके 'मुझे तो कोई ऐसा करने के लिये प्रेरित कर रहा है' ऐसी अनर्थकारिणी कुत्सित कल्पना में स्थित है, उसे दूर से ही त्याग देना चाहिये; क्योंकि वह मनुष्यों में अधम है। संसार में सहस्त्रों व्यवहार हैं, जो आते-जाते रहते हैं। उनमें सुख और दुःख-बुद्धि (अनुकूलता तथा प्रतिकूलताजनित राग-द्वेष) का त्याग करके शास्त्र के अनुसार आचरण करना चाहिये। शास्त्र के अनुकूल और कभी उच्छिन्न न होने वाली अपनी मर्यादा का जो त्याग नहीं करता, उस पुरुष को सारी अभीष्ट वस्तुएँ उसी प्रकार प्राप्त होती हैं, जैसे सागर में गोता लगाने वाले को रत्न। सुख की प्राप्ति

वाले जो आवश्यक कर्त्तव्य या साधन हैं, एकमात्र उन्हीं में तत्पर रहने को हीं विद्वान् लोग पौरुष कहते हैं। वह तत्परता यदि शास्त्र से नियन्त्रित हो तो परम पुरुषार्थ की प्राप्ति कराने वाली होती है। कर्त्तव्य पालन के लिये जो शरीर आदि का संचालन होता है, वही जिसका धर्म है, उस क्रिया (श्रवण-मनन आदि साधन) से, सत्संग से और सत्-शास्त्रों के स्वाध्याय से शुद्ध एवं तेज की हुई अपनी बुद्धि के द्वारा जो स्वयं ही आत्मा का उद्धार किया जाता है, वही परम स्वार्थ की सिद्धि है। विद्वान् लोग अन्तरहित, समतारूप परमानन्द से पूर्ण परमार्थ वस्तु (परब्रह्म) को जानते हैं। जिन साधनों से उसकी प्राप्ति होती है, उनका नित्य-निरन्तर सेवन करना चाहिये। वे साधन हैं शास्त्रों का स्वाध्याय और सत्संग आदि। जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक आत्म-कल्याण के साधन में संलग्न होता है, उसे अपने पुरुषार्थ से ही हाथ पर रक्खे हुए आँवले की भाँति वह अभीष्ट फल प्रत्यक्ष दिखायी देता है। जो इस प्रत्यक्ष पुरुषार्थ को छोड़कर दैवरूपी मोह में निमग्न होता है, वह मूढ़ है।

अतः शुभाशय श्रीराम! अपनी कोरी कल्पना के बल से उत्पन्न, मिथ्याभूत सम्पूर्ण कारण और कार्य से रहित दैव की अपेक्षा न रखकर आत्म कल्याण के लिये अपने उत्तम पुरुषार्थ का आश्रय लो। शास्त्रों द्वारा तथा महापुरुषों के सदाचार से विस्तार को प्राप्त हुए विविध देश-धर्मों द्वारा समर्थित जो परमात्मा की प्राप्तिरूप अतिशय प्रसिद्ध फल है, उसके लिये हृदय में अत्यंत उत्कट अभिलाषा होने पर उसकी प्राप्ति के लिये चित्त में स्पन्दन या चेष्टा होती है। तत्पश्चात् इन्द्रियों और हाथ-पैर आदि अंगों में क्रिया होती है-इनके द्वारा श्रवण-मनन आदि एवं यम-नियमादि साधनों का आरम्भ होता है, इसी को उत्तम पुरुषार्थ कहते हैं। अधिकारी पुरुष का जन्म पुरुषार्थ के सिद्ध होने पर ही सफल होता है, अन्यथा नहीं-ऐसा जानकर सदा आत्म कल्याण के प्रयत्न में ही संलग्न रहना चाहिये। तत्पश्चात् साधन विषयक उस तत्परता को सत्-शास्त्रों के अभ्यास एवं संत महात्माओं तथा ज्ञानी पुरुषों के सेवन द्वारा आत्मज्ञानरूप फल की प्राप्ति से सफल बनाना चाहिये। आत्म कल्याण के विषय में यदि परम पुरुषार्थ का आश्रय लिया जाय तो यह अवश्य दैवको जीत लेता है, ऐसी धारणा रखकर दैव और पौरुष के बलाबल का विचार करने के कारण जो परम सुन्दर प्रतीत होते हैं तथा जिनमें शम, दम आदि साधन भी विद्यमान हैं

एवं श्रेष्ठपुरुषों की सेवा से जिनका अन्तःकरण सदा भावित रहता है, ऐसे अधिकारी पुरुषों को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये अवश्य उधम करना चाहिये। इस जन्म में सम्पादन करने योग्य स्वाभाविक प्रयत्न ही परम पुरुषार्थ की सिद्धिका हेतु है, ऐसा निश्चित रूप से जानकर यह अधिकारी जीव नित्य संतुष्ट एवं उत्तम ज्ञानीजनों की सेवारूप अमोघ मधुर और उत्कृष्ट औषध से जन्म-मरण की परम्परारूप भवरोग को शान्त करे।

छठवां सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

पुरुषार्थ की प्रधानता का समर्थन

जो लोग उद्योग का त्याग करके केवल दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे आलसी मनुष्य स्वयं ही अपने शत्रु हैं। वे अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-चारों पुरुषार्थों का नाश कर डालते हैं। बुद्धि, मन और कर्मेन्द्रियों के द्वारा की जाने वाली चेष्टाएँ पौरुष के रूप हैं। इन्हीं से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। साक्षी चेतन में पहले जैसी विषय अनुभूति होती है, मन वैसी ही चेष्टा करता है। मन के व्यापार के अनुसार शरीर चलता है-शारीरिक क्रिया होती है। लोक में जहाँ-तहाँ जैसे-जैसे पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है, वहाँ-वहाँ वैसे-ही-वैसे पौरुष के उपयोग से तदनुरूप लौकिक या बैदिक फल की सिद्धि होती है। पुरुषार्थ से ही बृहस्पति देवताओं के गुरु बने हुए हैं और पुरुषार्थ से शुक्राचार्य ने दैत्यराजों के गुरु का पद प्राप्त किया है। जो नाना प्रकार के आश्चर्यजनक बैभव के आश्रय (अधिपति) थे और वैभवभोग की दृष्टि से महान् समझे जाते थे, ऐसे पुरुष भी अपने दोष युक्त पौरुष (पापाचरण) से ही नरकों के अतिथि हुए हैं-उच्च पदवी से भ्रष्ट हो गये हैं। सहस्त्रों सम्पदाओं और हजारों विपत्तियों से पूर्ण नानाप्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल दशाओं में पड़े हुए विभिन्न जातियों के प्राणी अपने पुरुषार्थ से ही उन्हें लाँघकर कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। शास्त्रों के अभ्यास, गुरु के उपदेश और अपने प्रयत्न-इन तीनों से ही सर्वत्र पुरुषार्थ की सिद्धि देखी जाती है। कल्याणकारी पुरुष अशुभ कर्मों में लगे हुए मन को वहाँ से हटाकर प्रयत्न-पूर्वक शुभ कर्मों में ही लगायें। यही सम्पूर्ण शास्त्रों के सारांश का संग्रह है। वत्स! जो वस्तु कल्याणकारी है, जो तुच्छ नहीं (सबसे उत्कृष्ट) है तथा जिसका कभी विनाश नहीं होता, उसी का यत्नपूर्वक

आचरण करो। यही सब गुरुजन उपदेश देते हैं। पौरुष से ही अभीष्ट वस्तु की सिद्धि होती देखी जाती है। पौरुष से ही बुद्धिमानों की कल्याण मार्ग में प्रगति होती है। दैव तो दुःख-सागर में डूबे हुए कोमल एवं दुर्बल चित्त वाले लोगों के लिये आश्वासन मात्र है।

लोक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा पुरुष का प्रयत्न सदा सफल होता देखा जाता है। पुरुष अपने पौरुष से ही देशान्तर में आता-जाता है। उत्तम बुद्धि वाले मनुष्य पौरुष से ही उन भीषण संकटों से अनायास पार हो जाते हैं, जिनसे पार पाना अत्यन्त कठिन होता है। यह जो व्यर्थ दैव की कल्पना की गयी है, उसके भरोसे वे संकटों से पार नहीं होते। जो मनुष्य जैसा प्रयत्न करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। इस जगत् में चुपचाप बैठे रहने वाले किसी भी मनुष्य को अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती। श्रीराम! शुभ पुरुषार्थ से शुभफल प्राप्त होता है और अशुभ पुरुषार्थ से अशुभ। अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो। अपने परम अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कराने वाले एकमात्र कार्य के प्रयत्न में जो तत्पर हो जाना है उसी को विद्वान पुरुष पौरुष कहते हैं। उस तत्परता से ही सब कुछ प्राप्त किया जाता है। अपने पैरों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना, हाथ का किसी द्रव्य को धारण करना तथा दूसरे-दूसरे अंगों का तदनुकूल व्यापार में प्रवृत्त होना-यह सब पुरुषार्थ से ही सम्भव होता है, दैव से नहीं। अनर्थ की प्राप्ति कराने वाले एकमात्र कार्य के प्रयत्न में जो तत्पर होता है, उसे विद्वानों ने पागलों की-सी चेष्टा बतायी है। उससे कोई भी शुभ फल नहीं प्राप्त होता है (अशुभ फल की ही प्राप्ति होती है)। कर्त्तव्य-पालन के लिये जो शरीर आदि का संचालन होता है, वही जिसका धर्म है, उस क्रिया से, सत्संग से और सत्-शास्त्रों के स्वाध्याय से शुद्ध एवं तेज की हुई अपनी बुद्धि के द्वारा जो स्वयं ही आत्मा का उद्धार किया जाता है, वही परम स्वार्थ की सिद्धि है। विद्वान् लोग अनन्त, समतारूप परमानन्द से पूर्ण अपने परम प्राप्य अर्थ (परब्रह्म परमात्मा) को जानते हैं। जिन साधनों से उसकी प्राप्ति होती है, उन्हीं का नित्य-निरन्तर सेवन करना चाहिये। वे साधन हैं शास्त्रों के स्वाध्याय और सत्संग आदि। जैसे शरत्काल में सरोवर और कमल एक दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार सद्बुद्धि से सत्-शास्त्रों का अभ्यास और सत्संगरूपी गुण विकसित होता है तथा सत्-शास्त्रों के स्वाध्याय और सत्संगरूपी गुण से

सद्‌बुद्धि की वृद्धि होती है। चिरकाल के अभ्यास से ये दोनों एक दूसरे के वर्धक और पोषक होते हैं। बाल्यावस्था से ही पूर्णतः अभ्यास में लाये गये शास्त्र और सत्संग आदि गुणों से पौरुष द्वारा अपना हितकारी स्वार्थ सिद्ध होता है।

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

सत्कर्म करने की प्रेरणा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम! बताओ तो सही, इस लोक में जो शूरवीर, पराक्रमी, बुद्धिमान् और पण्डित हैं, वे किस दैव की प्रतीक्षा करते हैं ? इन महामुनि विश्वामित्रजी ने दैव को दूर से त्यागकर पौरुष से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है, और किसी साधन से नहीं। हमने तथा दूसरे-दूसरे पुरुषों ने, जो इस समय मुनि-पदवी को प्राप्त हैं, चिरकाल तक किये गये पौरुष से ही आकाश में विचरण करने की शक्ति प्राप्त की है। हिरण्यकशिपु आदि दानवेन्द्रों ने पुरुषोचित प्रयत्न से ही देव समुदाय को दूर भगाकर त्रिलोकी का साम्राज्य प्राप्त किया था। फिर इन्द्र आदि देवेश्वरों ने पुरुषोचित प्रयत्न से ही शत्रु सेना को छिन्न-भिन्न एवं जर्जर करके दानवों से बल पूर्वक इस विशाल जगत् का राज्य छीन लिया था।

श्रीराम ने पूछा–भगवन्! आप सब धर्मों के ज्ञाता हैं। ब्रह्मन्! लोक में जो बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है, वह दैव क्या है ? किसे दैव कहते हैं, यह बताइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन! अवश्यम्भावी फल से सुशोभित होने वाले पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हुए फल का जो शुभ और अशुभ भोग है, उसी को 'दैव' शब्द से कहा जाता है। अथवा पौरुषद्वारा इष्ट और अनिष्ट कर्म का जो प्रिय और अप्रियरूप फल प्राप्त होता है, उसी को 'दैव' नाम दिया गया है। एकमात्र पुरुषार्थ से सिद्ध होने वाला जो अवश्यम्भावी फल है, वही इस जन समुदाय में 'दैव' शब्द से प्रतिपादित होता है। सिद्ध पुरुषार्थ के शुभ और अशुभ फल का उदय होने पर जो यह कहा जाता है कि 'यह इसी रूप में मिलने वाला था-वही होनहार थी,' इसी को 'दैव' कहते हैं कर्म फल की प्राप्ति होने पर जो यह कहा जाता है कि 'ऐसी ही मेरी बुद्धि हुई थी, ऐसा ही मेरा निश्चय था,' इसी का नाम 'दैव' है। इष्ट और अनिष्ट फल के प्राप्त होने पर

जो आश्वासन मात्र के लिये यह कहा जाता है कि 'मेरा पूर्व जन्म का कर्म ही ऐसा था' इस तरह की भावनाओं को व्यक्त करने वाला वचन ही 'दैव' कहलाता है।

श्रीराम! मनुष्यों के मन में पहले जो अनेक प्रकार की वासनाएँ थीं, वे ही इस समय कायिक, वाचिक, कर्मरूप में परिणत हुई हैं। जीव में जिस प्रकार की वासना होती है, वह शीघ्र वैसा ही कर्म करता है। मन में वासना और हो और वह कर्म किसी और ही प्रकार का करे, यह सम्भव नहीं। जो गाँव में जाने की इच्छा रखता है, वह गाँव में और जो नगर में जाना चाहता है, वह नगर में पहुँचता है। जो मनुष्य जिस वासना से युक्त होता है, वह उसी के लिये सदा प्रयत्न करता है। पूर्वजन्म में फल की उत्कट अभिलाषा होने से जो कर्म प्रबल प्रयत्न के द्वारा किया जाता है वही इस जन्म में 'दैव' शब्द से कहा जाता है। पूर्वजन्म के उस कर्म का पर्यायवाची शब्द 'दैव' है। कर्म करने वालों के सभी कर्म इसी रीति से होते हैं। अपनी प्रबल वासना ही कर्म है। वासना मन से भिन्न नहीं है और मन ही पुरुष है, अर्थात् पुरुष का संकल्प होने से वह पुरुषरूप ही है। मन आदि भाव को प्राप्त हुआ यह प्राणी ही अपने हित के लिये जो-जो प्रयत्न करता है, 'दैव' नाम से प्रसिद्ध अपने उस कर्म से ही वह तदनुरूप फल पाता है। श्रीराम! मन, चित्त, वासना कर्म, दैव और निश्चय-ये सब कठिनता से समझ में आने वाले मन की (मनोरूपता को प्राप्त हुए पुरुष की) संज्ञाएँ हैं, ऐसा सत्पुरुषों का कथन है।

श्रीराम! इस प्रकार पूर्वोक्त संज्ञाएँ धारण करने वाला पुरुष अपनी सुदृढ़ वासना के द्वारा प्रतिदिन जैसा प्रयत्न करता है, उसके अनुसार ही उसे पर्याप्त फल मिलता है। रघुनन्दन! इस प्रकार पौरुष से मनुष्य इस जगत् में सभी कुछ प्राप्त कर सकता है, दैव से नहीं। अतः वह पुरुषार्थ तुम्हारे लिये शुभफल देने वाला हो। तुम अपने प्रयत्न से प्राप्त परम पुरुषार्थ द्वारा ही सदा बने रहने वाले परम कल्याण को प्राप्त होओगे, अन्यथा नहीं। श्रुति में जो चैतन्यमात्र स्वरूप प्राज्ञ पुरुष बताया गया है, वही तुम हो, जड़ शरीर नहीं हो। तुम स्वयं प्रकाश रूप चेतन हो। अन्य चेतन से प्रकाशित होने की योग्यता तुममें कहाँ है ? यदि तुम्हें दूसरा कोई चेतन प्रकाशित करता है, ऐसा मान लिया जाय तो फिर उसे दूसरा कौन प्रकाशित करता है, यह प्रश्न खड़ा हो जायगा। यदि उसका भी

कोई अन्य चेतन प्रकाशक हो तो फिर इसको कौन प्रकाशित करेगा ? इस प्रकार अनवस्था-दोष प्राप्त होता है, जो वस्तु का साधक नहीं है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह शुभ और अशुभ मार्गों से बहती हुई वासनारूपिणी नदी को पुरुषोचित प्रयत्न के द्वारा अशुभ मार्ग से हटाकर शुभ मार्ग में ही लगाये।

मनुष्य का चित्त शिशु के समान चंचल होता है, उसे अशुभमार्ग (पाप) से हटा दिया जाय तो शुभमार्ग (पुण्य) में जाता है और यदि शुभमार्ग से हटाया जाय तो अशुभमार्ग में चला जाता है। इसलिये उसे बलपूर्वक पापमार्ग से हटा कर पुण्य के मार्ग में लगाना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य के लिये उचित है कि वह पूर्वोक्त क्रम से चित्तरूपी बालक को शीघ्र ही समतारूप सान्त्वना देकर पुरुषोचित प्रयत्न के द्वारा धीरे-धीरे आत्मस्वरूप में लगाये, हठपूर्वक एकाएक उसका निरोध न करे। यही उसका लालन-पालन है। लोक में मनुष्य जिस-जिस विषय का अभ्यास करता है, निस्संदेह उसीमें तन्मय हो जाता है। यह बात बालकों से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों तक में देखी गयी है। अतः श्रीराम! तुम परम कल्याण की प्राप्ति के लिये उत्तम पुरुषार्थ का आश्रय ले पाँचों इन्द्रियों को जीतकर यहाँ शुभवासना से युक्त हो जाओ। तुम श्रेष्ठतम पुरुषों द्वारा सेवित और अत्यन्त सुन्दर शुभवासना का अनुसरण करके मनोरम भावयुक्त बुद्धि से परम पुरुषार्थ द्वारा सदा शोक रहित पद को प्राप्त करो। तत्पश्चात् उस शुभ वासना का भी परित्याग करके परब्रह्म परमात्मा में भलीभाँति स्थित हो जाओ।

आठवाँ सर्ग समाप्त

नवाँ सर्ग

श्रीवसिष्ठजी द्वारा ब्रह्माजी के और अपने जन्म का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-हे श्रीराम! जो सर्वत्र नित्य समतारूप से स्थित सच्चिदानन्दमय ब्रह्मतत्त्व है, उससे सम्बन्ध रखने वाली सत्ता को नियति कहते हैं। वही नियन्ता की नियन्त्रण में रहने वाले पदार्थों में जो नियन्त्रित होने की योग्यता है, वह भी सत्ता ही है। अब मैं उस सारगर्भित संहिता का वर्णन करूँगा, रूपफल प्रदान करने वाली और मोक्ष के उपायभूत साधनों से सम्पन्न है। उसे तुम सावधानतया श्रवण करो।

प्राचीन काल की बात है-सृष्टि के आदि में परमेष्ठी ब्रह्मा ने इस मोक्ष कथा का वर्णन किया था। यह सम्पूर्ण दुःखों का विनाश करने वाली है। सारे विवेकशील पुरुषों के साथ इस मोक्षकथा को सुनकर तुम उस दुःखरहित सच्चिदानन्दमय परम पद को प्राप्त कर लोगे जहाँ जाने पर पुनः विनाश का भय नहीं रह जाता।

श्रीराम ने पूछा-ब्रह्मन्! पूर्वकाल में ब्रह्माजी ने किसलिये इस कथा का वर्णन किया था ? और आपको इसकी प्राप्ति कैसे हुई ? प्रभो! यह वृत्तान्त मुझे बताइये।

श्री वसिष्ठजी ने कहा-श्री राम! परब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापक, सबका आश्रय-स्थान, नित्यचेतन, अविनाशी, समस्त प्राणियों में प्रकाशकरूप से वर्तमान और अनन्त विलासों का एकमात्र अधिष्ठान है। प्रकृति की साम्यावस्था तथा विषमावस्था में भी वह निर्विकाररूप से स्थित रहता है। उसी परमात्मासे विष्णु का प्राकट्य हुआ, ठीक उसी तरह जैसे प्रवहणशील जल से परिपूर्ण सागर से तरंग उत्पन्न होती है। उन विष्णु के हृदयकमल से ब्रह्मा प्रकट हुए जो वेद तथा वेदार्थ के तत्त्वज्ञ हैं। उन्होंने देवताओं और मुनियों के समुदायों से संयुक्त होकर अनेकविध विकल्पों की सृष्टि करने वाले मन की भाँति विभिन्नप्रकार की सृष्टि रचना की। जम्बूद्वीप के इस भाग में, जो भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध है, ब्रह्माजी द्वारा रचित सारा प्राणिसमुदाय आधि-व्याधि से संयुक्त, लाभ-हानि से पीड़ित और जन्म-मरणशील था। प्राणियों की इस सृष्टि में सारे जनसमुदाय को नाना प्रकार के व्यसनजन्य कष्टों से पीड़ित देख सर्वलोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा का हृदय उसी प्रकार दयार्द्र हो गया, जैसे पुत्र को दुखी देखकर पिता को दया आ जाती है। फिर तो वे उनके कल्याण के लिये क्षणभर एकाग्रचित्त हो यों विचार करने लगे कि इन हताश तथा अल्पायु जीवों के दुःख का अन्त किस प्रकार होगा। ऐसा विचारकर सामर्थ्यशाली स्वयं भगवान् ब्रह्मा ने उनके कष्टापहरण के लिये तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ-सेवन आदि साधनों का निर्माण किया। इन्हें उत्पन्न करके सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने पुनः स्वयं विचार किया कि इन साधनों से लोगों के सांसारिक दुःख का समूल विनाश नहीं हो सकता; बल्कि परम निर्वाणरूप मोक्ष ही परम सुख है, जिसकी प्राप्ति हो जाने पर जीव जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाता है। उस मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। इसलिये

जीव के लिये संसार-सागर पार होने का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है। तप, दान और तीर्थसेवन आदि भव-तरण के लिये सीधे उपाय नहीं कहे गये हैं। अतः मैं इस हताश जनसमुदाय के दुःख की निवृत्ति के लिये संसार से उद्धार पाने का एक नूतन उपाय शीघ्र ही प्रकट करूँगा।

यों विचारकर कमल पर विराजमान भगवान् ब्रह्मा ने अपने मानसिक संकल्प द्वारा तुम्हारे सामने बैठे हुए मुझको उत्पन्न किया। निष्पाप श्रीराम! जैसे एक तरंग से शीघ्र ही दूसरी तरंग प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार मैं भी अनिर्वचनीय माया से उत्पन्न हुआ और फिर तुरंत ही अपने उन पितृदेव के समीप जा पहुँचा, जिनके हाथ में कमण्डल और रुद्राक्ष की माला शोभा पा रही थी। मैंने नम्रतापूर्वक उनको प्रणाम किया। उस समय मैं भी कमण्डलु और रुद्राक्ष की माला से संयुक्त था। तब 'बेटा! यहाँ आओ' मुझसे यों कहकर उन्होंने अपने आसनभूत कमल के ऊपरी पत्ते पर श्वेत बादल पर बैठे हुए चन्द्रमा की भाँति मुझे अपने हाथ से पकड़कर बैठा लिया। फिर मृगचर्म ही जिसका परिधान था, ऐसे मुझसे मृगचर्मधारी मेरे पितृदेव ब्रह्माजी ने कहा-'बेटा! जैसे चन्द्रमा में कलंक प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार वानर के समान चंचल अज्ञान दो घड़ी के लिये तुम्हारे चित्त में प्रवेश करे।'

यों पिता द्वारा अभिशप्त हुआ मैं उनके संकल्प के अनन्तर अपने सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूप को भूल गया। फिर तो मेरी बुद्धि तत्वज्ञान से रहित हो गयी और मैं दुःखशोक से संतप्त हो दीनता को प्राप्त हो गया। उस समय मैं 'हाय! बड़े कष्ट की बात हुई। यह संसार नाम दोष मुझे कहाँ से प्राप्त हो गया ?' यों हृदय में विचार करके चुपचाप बैठा रहता था। मेरी यह दशा देखकर मेरे पिताजी ने मुझसे कहा-'बेटा! तुम क्यों दुखी हो रहे हो ? अपने इस दुःख के नाश का उपाय मुझसे पूछो। उसे जानकर तुम नित्य परमात्मा को प्राप्त हो जाओगे।' तब मैंने उनसे पूछा-'नाथ! यह महान् दुःखमय संसार मुझ प्राणी को कहाँ से प्राप्त हो गया ? और इसका विनाश किस प्रकार होता है ?' मेरे यों प्रश्न करने पर उन्होंने मुझे ऐसे प्रचुर ज्ञान का उपदेश दिया, जिस परम पावन ज्ञान को प्राप्त कर मैं पिताजी के अभिप्राय के अनुरूप अधिक ज्ञानसम्पन्न हो गया। इस प्रकार जब मुझे ज्ञातव्य तत्व की जानकारी हो गयी और मैं अपनी प्रकृति में स्थित हो गया, तब जगत्-स्रष्टा तथा सबकी उत्पत्ति के कारणस्वरूप

और उपदेष्टाब्रह्मा जी ने मुझसे कहा–'पुत्र! मैंने प्रथमतः तुम्हें शाप द्वारा ज्ञान-हीन करके पुनः समस्त अधिकारीजनों की ज्ञान-सिद्धि के लिये इस सारभूत ज्ञान का पिपासु बनाया है। अब तुम्हारा शाप शान्त हो गया है और तुम्हें परमोत्कृष्ट ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है, जिससे तुम मेरे ही सदृश अद्वितीय आत्मस्वरूप हो गये हो। साधो! अब तुम प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये भूलोक में जम्बूद्वीप के मध्यभाग में स्थित भारतवर्ष में जाओ। परोपकारनिष्ट पुत्र! तुम तो बड़े बुद्धिमान हो; अतः वहाँ जो लोग कर्मकाण्डपरायण हों, उन्हें कर्मकाण्ड के क्रम से शिक्षा देना और जो लोग विवेकशील, विरक्तचित्त तथा महाबुद्धिमान हों, उन्हें परमानन्दायक ज्ञान का उपदेश करना।'

रघुकुल भूषण राम! इस प्रकार मैं अपने पिता ब्रह्माजी द्वारा नियुक्त होकर इस लोक में निवास कर रहा हूँ और जब तक यह सृष्टिपरम्परा रहेगी, तब तक यहाँ रहूँगा। जिस प्रकार भगवान् ब्रह्मा ने मुझे यहाँ आने का आदेश दिया, उसी प्रकार उन्होंने सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा नारद आदि अन्यान्य बहुत-से महर्षियों को भी यह कहकर प्रेरित किया कि तुम लोग भारतवर्ष में जाकर पवित्र कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के उपदेश द्वारा वहाँ के निवासियों का, जो अन्तःकरण के अज्ञानरूपी रोग के वशीभूत होकर महान् कष्ट भोग रहे हैं, उद्धार करो।

प्राचीन काल में सत्ययुग के समाप्त होने पर जब भूतल पर कालक्रम से पवित्र कर्मकाण्ड का ह्रास हो गया, तब उन महर्षियों ने कर्मकाण्ड की स्थापना तथा मर्यादा की रक्षा के लिये पृथक-पृथक देशों का विभाजन किया और उन देशों पर भूपालों की स्थापना की। तदनन्तर उन्होंने भूतल पर धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिये उन-उन कर्मों के उपयुक्त बहुत से स्मृति-ग्रन्थों तथा यज्ञविधायक शास्त्रों का निर्माण किया। तत्पश्चात् इस कालचक्र के चलते रहने पर जब उस क्रम का विनाश हो गया तथा लोग प्रतिदिन भोजनमात्रपरायण और खाद्य पदार्थों के उपार्जन में तत्पर हो गये, तब हमलोगों ने उनकी दीनता का विनाश करने तथा लोक में आत्मतत्वज्ञान के प्रचार के लिये बड़े-बड़े ज्ञानोत्पादक शास्त्रों का उपदेश किया। यह अध्यात्मविद्या प्रथमतः राजसमाज में उपदिष्ट हुई। तदनन्तर इसका प्रसार लोक में हुआ। इसी कारण इसे 'राजविद्या' कहा गया है। रघुनन्दन! राजविद्या एवं राजगुह्य के नाम से जिसकी प्रसिद्धि है,

उस उत्तम अध्यात्मज्ञान को पाकर राजा लोग दुःखरहित हो परमानन्द को प्राप्त हो गये। श्रीराम! कालक्रमानुसार निर्मल कीर्तिवाले बहुसंख्यक राजाओं के स्वर्गवासी हो जाने पर इस समय तुम इस भूतल पर इन महाराज दशरथ के यहाँ प्रकट हुए हो। शत्रुओं का मर्दन करने वाले राम! तुम्हारा मन अत्यन्त निर्मल है, इसीलिये किसी निमित्त के बिना स्वाभाविक ही तुम्हारे मन में यह परम पावन तथा उत्तम वैराग्य जाग उठा है; क्योंकि समस्त विवेकशील पुरुषों में जिसकी ख्याति है, उस श्रेष्ठ पुरुष का भी वैराग्य किसी निमित्त को लेकर होता है, इसलिये वह राजा कहलाता है, परंतु तुम्हारे मन में उत्पन्न हुआ यह वैराग्य अपूर्व है। यह किसी निमित्त की अपेक्षा न रखकर स्वतः अपने विवेक से उत्पन्न हुआ है और सत्पुरुषों को आश्चर्य में डालने वाला है, अतः सात्त्विक है। जिन्हें निमित्त के बिना ही वैराग्य हो जाता है, वे ही महापुरुष तथा ज्ञानवान् हैं और उन्हीं का अन्तःकरण शुद्ध है। जो लोग ज्ञान द्वारा इस सृष्टिपरम्परा का विचार करके वैराग्य को प्राप्त होते हैं, वे ही उत्तम पुरुष हैं।

श्रीराम! जो लोग इस संसार की असारता एवं दुःखरूपता को देखकर अपनी सांसारिक बुद्धि का परित्याग कर देते हैं, वे साँकल से छूटे हुए गजराजों की भाँति संसार–बन्धन से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। यह जगत्–परम्परा विषम और अनन्त है। इसमें पड़ा हुआ महान् जीव देहाध्यास से युक्त रहता है, अतएव ज्ञान के बिना उसे परमपद की प्राप्ति का मार्ग नहीं सूझता। परंतु रघुनन्दन! जिनकी बुद्धि अगाध है– ऐसे विवेकशील पुरुष इस दुस्तर भवसागर को ज्ञानरूपी नौका द्वारा क्षणमात्र में ही पार कर जाते हैं। संसार–सागर से उबारने वाले उस ज्ञानरूप उपाय को तुम अपनी बुद्धि से, जो नित्य विवेक–वैराग्य आदि से समन्वित है, एकाग्रचित्त होकर श्रवण करो; क्योंकि इस निर्दोष ज्ञानयुक्ति के बिना अनन्त विक्षेपों से परिपूर्ण ये सांसारिक दुःख और भय चिरकाल तक हृदय को संतप्त करते रहते हैं। राघव! श्रेष्ठ पुरुषों में शीत, उष्ण, वात आदि द्वन्द्वजनित दुःखों को सहन करने की क्षमता ज्ञान के बल पर ही आती है, अन्यथा ज्ञानयुक्ति के अतिरिक्त वे किसी प्रकार सह्य नहीं हो सकते। दुःख की चिन्ताएँ अज्ञान मनुष्य को पद–पद पर आ घेरती हैं और समयानुसार उसे उसी प्रकार संतप्त करती रहती हैं, जैसे अग्नि की लपटें तृण को जलाकर भस्म कर डालती हैं; परंतु जिस प्रकार वर्षा के जल से

अभिषिक्त हुए वन पर उन अग्निज्वालाओं का प्रभाव नहीं पड़ता, उसी तरह जिसे जानने योग्य अध्यात्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जिसने भलीभाँति ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ज्ञानी पुरुष को मानसिक व्यथाएँ संताप नहीं पहुँचा सकतीं। इस संसाररूपी मरुस्थल में बहने वाली वायु शारीरिक तथा मानसिक कष्टरूपी आवर्तों से परिपूर्ण है। यह क्षुब्ध होकर भी तत्वज्ञानी को वैसे ही पीड़ित नहीं कर सकती, जैसे प्रचण्ड आँधी कल्पवृक्ष का कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

इसलिये बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिये, जो श्रुति आदि का प्रमाण देने में कुशल और आत्मतत्व का यथार्थ ज्ञाता हो, ऐसे ज्ञानी पुरुष के पास जाकर प्रयत्नपूर्वक विनयभाव से प्रश्न करे। फिर जैसे केसर से रँगा हुआ वस्त्र उसके रंग को पकड़ लेता है उसी प्रकार जिससे प्रश्न किया गया है, उस प्रमाणकुशल तथा विशुद्ध चित्तवाले उपदेष्टा के वचन को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिये। किंतु वाग्वेत्ताओं में श्रेष्ठ राम! जो तत्व का ज्ञाता नहीं है, अतएव जिसके वचन अग्राह्य हैं, ऐसे पुरुष से जो तत्वविषयक प्रश्न करता है, उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा कोई नहीं है। इसी प्रकार जिससे पूछा गया है, उस प्रमाणकुशल तथा तत्वज्ञानी वक्ता के उपदेश का जो पुरुष यत्नपूर्वक अनुसरण नहीं करता, उससे बढ़कर दूसरा कोई नराधम नहीं है। अतः वक्ता के व्यवहार आदि कार्यों से उसकी अज्ञता तथा तत्वज्ञता का पहले निर्णय करके जो पुरुष उससे प्रश्न करता है, वह प्रश्नकर्ता उत्कृष्ट बुद्धिवाला माना जाता है; परंतु जो मूर्ख जिज्ञासु उत्तम वक्ता का निर्णय किये बिना ही उससे प्रश्न करता है, वह अधम कहलाता है और उसे तत्वज्ञानरूप महान् अर्थ की प्राप्ति भी नहीं होती। ज्ञानी को भी चाहिये कि पूर्वापर का विवेचन करके उसका निश्चय करने में जिसकी बुद्धि समर्थ हो और जो निन्दनीय न हो, ऐसे पुरुष को उसके पूछे हुए तत्व का उपदेश दे; परंतु जो आहार-निद्रा-भय-मैथुन आदि पशुधर्म से संयुक्त है, ऐसे अधम को तत्व का उपदेश न दे। क्योंकि प्रश्नकर्ता की श्रुति आदि प्रमाणों द्वारा निर्णीत पदार्थ के ग्रहण की योग्यता का विचार किये बिना ही जो वक्ता उसे उपदेश देता है, उस पुरुष को ज्ञानीजन इस लोक में महान् मूर्ख बतलाते हैं। रघुनन्दन! तुम प्रशंसनीय गुणों से युक्त अत्यन्त श्रेष्ठ प्रश्नकर्ता हो और मैं उपदेश देना जानता हूँ, अतः हम

दोनों का यह समागम उचित ही है। शब्दार्थ के ज्ञाता राम! जनसमाज में तुम महापुरुष माने जाते हो। तुममें राग का लेशमात्र भी नहीं है। तुम तत्व के ज्ञाता हो। इसलिये तुम्हारे प्रति किया हुआ उपदेश तुम्हारे अन्तर्हृदय में चिपक जाता है, ठीक उसी तरह जैसे घोला हुआ रंग वस्त्र में लग जाता है। तुम्हारी तीक्ष्ण बुद्धि उक्त पदार्थ के ग्रहण करने में निपुण और परमार्थ का विवेचन करने वाली है। वह परमार्थ-विषय में उसी प्रकार प्रवेश करती है, जैसे सूर्य की किरणें जल के भीतर घुस जाती हैं। इसलिये मैं जिस पदार्थ का उपदेश करूँ, उसे तुम 'यह तत्व वस्तु है' यों निश्चय करके यत्नपूर्वक अपने हृदय में पूर्णतया धारण कर लो।

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

राम की प्रशंसा

मनुष्य को चाहिये कि वह विवेकहीन, अज्ञानी और दुर्जनों से प्रेम करने वाले मनुष्य का दूर से ही परित्याग करके साधु-महात्माओं की सेवा करे; क्योंकि सदा सज्जनों के सम्पर्क में रहने से विवेक की उत्पत्ति होती है। यह विवेक एक वृक्ष के समान है और भोग तथा मोक्ष उसके फल कहे गये हैं। उस मोक्ष के द्वारा निवास करने वाले चार द्वारपाल बताये गये हैं, जिनके नाम हैं- शम, विचार, संतोष और साधुसंगम। मनुष्य को इन चारों का ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये; क्योंकि इनका भलीभाँति सेवन होने पर ये मोक्षरूपी राजमहल के द्वार को खोल देते हैं। यदि चारों का सेवन न हो सके तो तीन का या दो का सेवन अवश्य करना चाहिये। दो का भी सेवन न हो सके तो सभी उपायों द्वारा प्राणों की बाजी लगाकर भी एक का आश्रय तो अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि जब एक वश में आ जाता है, तब शेष तीनों भी अधीन हो जाते हैं। विवेकी पुरुष तप, ज्ञान और शास्त्र के श्रवण-मनन आदि का उत्तम पात्र होता है। जैसे तेजस्वियों में सूर्य सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार वह लोगों में आभूषण के सामन आदरणीय होता है। जैसे शीत की अधिकता के कारण जल जमकर पत्थर के सदृश हो जाता है, उसी प्रकार अविवेकियों की बुद्धि मन्दता-घनता को प्राप्त होकर अत्यन्त जड़ हो जाती है। रघुकुलभूषण

राम! तुम्हारा अन्तःकरण तो सूर्योदय होने पर खिले हुए कमल की भाँति सौजन्य आदि गुण एवं शास्त्रार्थ की दृष्टियों से विकसित हो गया है। मनुष्य को उचित है कि वह पहले आवागमन के चक्र से छूटने के लिये शास्त्राभ्यास और सत्संगतिपूर्वक तपस्या एवं इन्द्रियनिग्रह द्वारा अपनी बुद्धि का ही संवर्द्धन करे। यह संसार विषवृक्ष के समान है। यह विपत्तियोंका एकमात्र स्थान है, जो अज्ञानी मनुष्य को सदा मोहित करता रहता है; इसलिये यत्नद्वारा अज्ञान का विनाश कर डालना ही उचित है। जैसे मेघरहित आकाश में निर्मल एवं पूर्णमण्डल वाले चन्द्रमा को देखकर दृष्टि प्रसन्न होती है, उसीप्रकार यह पूर्वोक्त परमार्थ-वस्तुदृष्टि ज्ञानी में यथार्थ के साथ एकरसता को प्राप्त होकर प्रसन्न हो जाती है। जिसकी बुद्धि पूर्वापर के विचार से सूक्ष्मतम अर्थ को ग्रहण करने में निपुण और चतुरता से शोभित होकर पूर्ण विकसित हो गयी है, वही 'पुमान' अर्थात् पुरुष कहा जाता है। श्रीराम! तुम्हारा हृदय अज्ञान से रहित अतएव विशुद्ध शान्ति आदि गुणों से विकसित एवं उत्तम विचार की शीतल चाँदनी से प्रकाशित है। उस हृदय से युक्त होकर तुम उसी प्रकार सुशोभित हो रहे हो, जैसे निर्मल चन्द्रमा से आकाश की शोभा होती है।

ग्यारहवां सर्ग समाप्त

बारहवां सर्ग

संसार प्राप्ति की अनर्थरूपता

श्री वसिष्ठजी कहते हैं-राघव! तुम्हारा मन उत्तम गुणों से परिपूर्ण है। तुम हमारे योग्य शिष्य हो और प्रश्न करने का ढंग भी तुम्हें भलीभाँति ज्ञात है। तुम कही हुई बात को विशेषरूप से समझ लेते हो, इसीलिये मैं आदरपूर्वक तुम्हें उपदेश देने को उद्यत हुआ हूँ। अब तुम अपनी बुद्धि को, जो रजोगुण और तमोगुण से रहित और शुद्ध सत्वगुण का अनुसरण करने वाली है, आत्मा में स्थापित करके ज्ञानोपदेश श्रवण करने के लिये तैयार हो जाओ। प्रश्नकर्त्ता में जितने गुण होने चाहिये, वे सभी गुण तुममें विद्यमान हैं और जैसे समुद्र में रत्न आदि सम्पत्तियाँ भरी रहती हैं, उसी तरह वक्ता के सभी गुण मुझमें विद्यमान हैं। वत्स! जैसे चन्द्रमा की किरणों के सम्पर्क से चन्द्रकान्तमणि में आर्द्रता आ जाती है, उसी तरह तुम भी ज्ञान के संसर्गसे उत्पन्न हुए वैराग्य को प्राप्त हुए

हो। तुम तो सर्वथा शुद्ध हो। तुम्हारा बाल्यावस्था से ही शुद्ध, विस्तृत तथा अविच्छिन्न सद्‌गुणों के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है-ठीक उसी तरह जैसे कमल का अपने विस्तार वाले, निर्मल एवं दीर्घ तन्तुओं से लगाव रहता है। इसलिये तुम्हीं इस कथा को सुनने के योग्य अधिकारी हो। अब मैं इस मोक्ष कथा का वर्णन करूँगा, तुम सावधान होकर इसे सुनो। यह कथा उस परमपद से सम्बन्ध रखने वाली है, जिसका साक्षात्कार हो जाने पर जितने लौकिक कार्य तथा जितनी लौकिक दृष्टियाँ हैं, वे सब-के-सब पूर्णतया शान्त हो जाते हैं। श्रीराम! संसाररूपी विष के आवेश से उत्पन्न हुई विषूचिका बड़ी दुस्सह होती है। विषनिवारक गारुडमन्त्र से ही उसका समूल नाश होता है। जीव और ब्रह्म का एकात्मबोध ही वह गारुडमन्त्र है। वही परमार्थ ज्ञान का भी मूलमन्त्र है। सत्पुरुषों के साथ शास्त्रनुशीलन करने से निस्संदेह उस योग की प्राप्ति होती है।

शास्त्रचिन्तन करने पर इसी जन्म में अवश्य ही सम्पूर्ण दुःखों का समूल विनाश होता है-ऐसा मानना चाहिये; इसलिये उन विवेकशील सत्पुरुषों को अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। जिस विवेकी पुरुष को सम्यग्दृष्टि की उपलब्धि हो चुकी है, वह पुरानी केंचुल का त्याग करके संतापरहित हुए सर्प की भाँति मानसिक व्यथाओं से परिपूर्ण इस संसार के अनुराग का परित्याग करके संतापरहित हो जाता है। उसका अन्तःकरण शीतल हो जाता है। वह सम्पूर्ण जगत् को विनोदपूर्वक इन्द्रजाल की तरह सुखरूप देखता है; परंतु जो उस सम्यग्दृष्टि से रहित है, उसके लिये यह संसार परम दुःखदायी ही है। यह संसारानुराग बड़ा ही कष्टदायक है। यह अनर्थ की आशंका किये बिना ही मोहवश विषयों में फँसे हुए पुरुषों को सर्प की तरह डँस लेता है, खड़्ग की भाँति काट डालता है, भाले के समान बेध देता है रस्सी की तरह आवेषित कर लेता है, आग के सदृश जला देता है, रात्रि की तरह अंधा बना देता है, सिर पर गिरे हुए पत्थर के समान मूर्च्छित कर देता है, विचारशक्ति को हर लेता है, मर्यादा का विनाश कर देता है और मोहरूपी अन्धकूप में गिरा देता है। तृष्णा उन्हें जर्जर कर देती है। अधिक क्या, संसार में ऐसा कोई दुःख नहीं है, जो संसारी मनुष्य को तृष्णा से न प्राप्त होता हो। यह विषयभोगरूपिणी विषूचिका दुष्परिणाम वाली है। यह नरक-नगररूप शरीर-समुदाय के साथ अनुराग उत्पन्न करने वाली है। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय तो यह

अवश्य ही उन-उन हजारों नारकीय दुर्गतियों को प्राप्त कराती है, जहाँ नरकों में पाषाणभक्षण, खड़ग द्वारा अंगों का छेदन, पर्वत शिखर से निपातन, पत्थर द्वारा उत्पीड़न और अग्निदाह को हिमाभिषेक की भाँति, अंगों के कुतरने को चन्दन के लेप की तरह, असिपत्रवाले वृक्षों के वन में दौड़ने, कीड़ों के द्वारा शरीर में छिद्र किये जाने और लोहे की गरम जंजीरों द्वारा देह के लपेटने को शरीर-संस्कार के समान, युद्ध में काम आनेवाले अग्नि-बुझे बाणों की धारावाहिक वृष्टि को ग्रीष्मऋतु में विनोद के लिये किये गये जलयन्त्रों के फव्वारों की बूँद-वर्षा के सदृश, सिर के काटे जाने को सुखनिद्रा के तुल्य, मुख बंद करके बलपूर्वक किये गये मूकीभाव को स्वाभाविक मुखमुद्रा के समान और अकिंचित्करता को महती सम्पद्वृद्धि की तरह सहन करना पड़ता है। राघव! इस प्रकार सहस्त्रों कष्टप्रद चेष्टाओं से परिपूर्ण इस दारुण संसारचक्र में उपर्युक्त उपदेश की अवहेलना नहीं करनी चाहिये; बल्कि ऐसा विचार और निश्चय अवश्य करना चाहिये कि शास्त्रानुशीलन से निश्चय ही कल्याण होता है। सत्पुरुषों के साथ शास्त्रचिन्तन करने से जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है, उसे तत्व का ज्ञान हो जाने से सर्वव्यापक आत्मा का स्वरूप विदित हो जाता है। वह शुद्धबुद्धि द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है और अज्ञानरूपी घने बादल के विलीन हो जाने पर उसके मोह का विनाश हो जाता है। फिर तो उसके लिये जगत् में विचरण करना रमणीय हो जाता है।

श्रीराम! जिन्हें आत्मस्वरूपता का ज्ञान हो गया है, ऐसे उत्तम बुद्धि सम्पन्न महापुरुष इस पूर्वोक्त दृष्टि का अवलम्बन करके इस संसार में विचरते हैं। उन्हें न शोक होता है, न कामना होती है और न वे शुभाशुभ की याचना ही करते हैं। वे इस संसार में सबकुछ करते हुए भी अकर्ता के समान रहते हैं। वे हेय और उपादेय के पक्षपात से रहित होकर अपने आत्मा में स्थित रहते हैं, पवित्रता से रहते हैं और सत-शास्त्रों में प्रतिपादित स्वच्छ कर्म करते हुए सन्मार्ग पर चलते हैं। अन्य लोगों की दृष्टि से वे आते हैं, जाते हैं, कर्म करते हैं और बोलते हैं; परंतु वास्तव में वे न आते हैं न जाते हैं, न कर्म करते हैं और न बोलते ही हैं। क्योंकि परमानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हुआ पुरुष न तो इन्द्रजालरूप मायिक कार्य करता है और न सांसारिक वासनाओं के पीछे ही दौड़ता है। वह बालकों की-सी भ्रममूलक चपलता का परित्याग करके

पूर्वकथित परमात्मा के स्वरूप में ही सदा विराजमान रहता है। इस प्रकार की स्थितियाँ आत्मतत्व के साक्षात्कार के अतिरिक्त अन्य उपाय से नहीं उपलब्ध होतीं। इसलिये पुरुष को चाहिये कि वह जीवनपर्यन्त आत्मा की ही खोज करे, उसी की उपासना करे और उसी का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। इसके अतिरिक्त उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

जिस पुरुष को अनुभव, शास्त्रवचन और गुरु के उपदेश की एकवाक्यता का निश्चय हो गया है, वह निरन्तर किये गये उपर्युक्त अभ्यास के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। चाहे भारी-से भारी आपत्ति क्यों न आ पड़े, परंतु जो शास्त्र और उसके अर्थ की अवहेलना करने वाले तथा तत्वज्ञानी महापुरुषों की अवज्ञा करने वाले हैं- ऐसे मूर्खों का अनुकरण कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि भूतल पर मनुष्यों को जितना कष्ट अपने शरीर में स्थित अकेली मूर्खता से प्राप्त होता है, उतना दुःख शारीरिक क्लेश, विष, आपत्ति और मानसिक व्यथाएँ नहीं दे सकतीं। जिनकी बुद्धि कुछ भी उत्तम संस्कारों से संस्कृत हो चुकी है, उनकी मूर्खता का विनाश करने में जैसा यह शास्त्र समर्थ है, वैसा अन्य कोई शास्त्र नहीं है। जैसे खैरसे काँटे उत्पन्न होते हैं, उसी तरह जितनी दुस्तर आपत्तियाँ और अधम कुत्सित योनियाँ हैं, वे सभी मूर्खता से पैदा होती हैं। जिस संसारी पुरुष को मोक्ष के उपायभूत इस शास्त्ररूप प्रकाश की प्राप्ति हो गयी है, वह मोहान्धकार भी पुनः अन्धता को नहीं प्राप्त होता। तृष्णा मानवरूपी कमल को तभी तक संकुचित करती है, जब तक विवेकरूपी सूर्य की निर्मल प्रभा का उदय नहीं होता। रघुनन्दन! जैसे इस संसार में भगवान् विष्णु एवं शंकर आदि तथा अन्यान्य महर्षिगण जीवन्मुक्त हो विचरते रहते हैं, उसी प्रकार तुम भी सांसारिक दुःख से छुटकारा पाने के लिये मेरे-जैसे आत्मीयजनों के साथ बैठकर गुरुपदेश एवं शास्त्रप्रमाण द्वारा अपने स्वरूप को जानकर जगत् में विहार करो। इस जगत् में सुख तो तुच्छ-से-तुच्छ तिनके के सदृश है, परंतु दुःखों का तो अन्त ही नहीं है; इसलिये जो दुःखरूप परिणाम से परिपूर्ण हैं, उन लौकिक सुखों में आस्था नहीं करनी चाहिये।

बारहवां सर्ग समाप्त

↔

तेरहवां सर्ग

वैराग्य आदि का निरूपण

वसिष्ठ जी बोले हे श्रीराम! ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये, जो अनन्त और आयासरहित है, उस परमपद को प्रयत्न पूर्वक प्राप्त करे; क्योंकि जिनका मन संतापरहित होकर सर्वोत्कृष्ट परमपद रूप परमात्मा में लीन हो गया है, वे ही पुरुषों में श्रेष्ठ हैं और उन्हीं को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। जो दुरात्मा पुरुष राज्य आदि जागतिक सुखों के उपलब्ध होने पर उनके उत्तम भोगों के आस्वादनमात्र से ही तृप्त बने रहते हैं, उन्हें तो तुम अंधे मेंढक समझो। जिनकी बुद्धि अज्ञान के कारण मन्द पड़ गयी है, वे मूर्ख वंचकों, प्रबल दुराचारियों, लौकिक भोगों में रचे-पचे रहने वालों और मित्र का-सा व्यवहार करने वाले शत्रुओं में आसक्ति करने लगते हैं, जिससे उन्हें एक संकट से दूसरे संकट की, एक दुःख से दूसरे दुःख की, एक भय से दूसरे भय की और एक नरक से दूसरे नरक की प्राप्ति होती रहती है। इसलिये उत्तम विवेक का आश्रय लेकर अभ्यास और वैराग्य के सहयोग से दुःखरूपिणी इस भंयकर संसार-नदी को पार करना चाहिये। जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनर्जन्म नहीं होता और जहाँ पहुँच जाने पर शोक का अस्तित्व मिट जाता है, वह परमपद ज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है- इसमें कुछ भी सदेह नहीं है। इस संसार में जब पुरुष की शीघ्र मोक्षप्राप्ति के उपाय के चिन्तन में प्रवृत्ति होती है, तब वह मोक्षप्राप्ति का पात्र कहा जाता है। उसप्रवृत्ति के प्राप्त हो जाने पर उत्तम कैवल्य-पद की प्राप्ति में कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उस केवल रूप परमात्मा की प्राप्ति में धन-सम्पत्ति, मित्र, भाई-बन्धु, हाथ-पैर का संचालन, देशान्तरगमन, शारीरिक कष्ट-सहन और तीर्थसेवन आदि उपकारी नहीं हो सकते। वह तो एकमात्र पुरुषार्थ से साध्य केवल परमात्मा की प्राप्ति की वासना रूप कर्म से एवं मनोजय से प्राप्त किया जा सकता है। सुखपूर्वक सेवन करने योग्य आसन पर बैठकर उस परब्रह्म का चिन्तन करने वाले पुरुष को उपर्युक्त परम पद की प्राप्ति हो जाती है। फिर तो उसे न शोक करना पड़ता है और न संसार में उसका पुनर्जन्म ही होता है। जैसे मृगतृष्णा में जलभास दीखता है, वास्तव में वहाँ जल नहीं रहता, उसी तरह स्वर्गलोक और मनुष्य लोक के सम्पूर्ण भावों के विनाशी होने के कारण इन दोनों लोकों में

वास्तविक सुख नहीं है।

इसलिये जो शम और संतोष का साधन है, उस मनोजय की प्राप्ति के लिये उपाय सोचना चाहिये। उससे वह आनन्द उपलब्ध होता है, जो परमात्मा के साथ ऐकात्म्य-सम्बन्ध से मिलता है। अतः देवता, दानव, राक्षस और मनुष्य को बैठते, चलते, गिरते-पड़ते अथवा घूमते हुए सदा ही मनोजय-जनित उस परम सुख को अवश्य प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि वह शान्तिरूप विकसित पुष्पों से लदे हुए विवेकरूप महान् वृक्ष का फल है। पूर्णरूप से शान्त मन अत्यन्त निर्मल और भ्रमरहित हो जाता है। उस विश्रान्त मन में किसी प्रकार की स्पृहा नहीं रह जाती। उसके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। उस समय वह न तो किसी वस्तु की अभिलाषा करता है और न किसी का त्याग ही करता है।

राघव! अब मोक्षद्वार पर स्थित रहने वाले इन द्वारपालों को क्रमशः सुनो, जिनमें एक के प्रति भी प्रीति हो जाने से मोक्षद्वार में प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। शम मंगलमय, शान्तिदायक तथा भ्रम का निराकरण करने वाला है। शम से परम कल्याण की प्राप्ति होती है और शम ही परमपद है। शम की प्राप्ति से पूर्णतया तृप्त हुए जिस पुरुष का चित्त शमविभूषित होने के कारण शीतल एवं निर्मल हो गया है, उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है। जैसे चन्द्रोदय होने से क्षीरसागर की शुभ्रता बढ़ जाती है, उसीप्रकार जिनका चित्त शमरूपी चन्द्रमा से भलीभाँति शोभित हो गया है, उनकी परम शुद्धता की अभिवृद्धि होती है, वे अपने गुणरूप सौन्दर्य से दूसरे की इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं तथा वे ही कुलीनशिरोमणि एवं वन्दनीय हैं। त्रिलोकी की राज्यलक्ष्मी भी वैसा आनन्द नहीं प्रदान कर सकती, जैसी आनन्ददायिनी साम्राज्य-सम्पत्ति के सदृश शम-विभूतियाँ होती हैं। लोक में जितने दुःख, जितनी दुस्सह तृष्णाएँ और जितनी दुःखदायिनी मानसिक व्यथाएँ हैं, वे सब शान्तचित्त वाले पुरुषों के निकट जाकर वैसे ही विलीन हो जाती हैं, जैसे सूर्य की किरणों के सम्पर्क से अन्धकार का विनाश हो जाता है। शमपरायण पुरुष के दर्शन से समस्त प्राणियों का मन जैसा आह्लादपूर्ण एवं प्रसन्न होता है, वैसा चन्द्रमा के दर्शन से नहीं होता। इस जगत् में जैसे अपनी माता पर सभी का विश्वास रहता है, उसी प्रकार शमयुक्त पुरुष पर दुरात्मा अथवा धर्मात्मा- सभी प्राणी विश्वास करते हैं। इसलिये रघुकुलभूषण राम! तुम भी अपने मन को, जो

समस्त शारीरिक क्लेशों तथा मानसिक व्यथाओं से कम्पित और तृष्णारूपी रस्सी से आबद्ध है, शमरूपी अमृत के अभिषेक से प्रकृतिस्थ करो; क्योंकि जो शमनिष्ठ है, उस पुरुष से पिशाच, राक्षस, दैत्य, शत्रु, व्याघ्र अथवा सर्प– कोई भी द्वेष नहीं करते।

जिसके समस्त अंग उत्कृष्ट शमरूपी अमृत-कवच से भली-भाँति सुरक्षित हैं, उसे दुःख उसी प्रकार पीड़ा नहीं पहुँचा सकते, जैसे बाण हीरे को बेधने में असमर्थ होते हैं। निर्मल तथा शमविभूषित समबुद्धि से पुरुष की जैसी शोभा होती है, वह शोभा अन्तःपुर में विराजमान राजा को भी नसीब नहीं होती। शमयुक्त अन्तःकरण वाले पुरुष का दर्शन करने से मनुष्य को जो शान्ति प्राप्त होती है, वह प्राणों से भी अधिक प्रिय स्वजन के मिलने से भी नहीं उपलब्ध होती। इस लोक में जो शम से सुशोभित तथा लोगों द्वारा प्रशंसित समवृत्ति से सबके साथ उत्तम बर्ताव करता है, उसी का जीवन सार्थक है; इसके विपरीत का जीवन तो निरर्थक ही है। जिसका मन उद्दण्डतारहित हो गया है, ऐसा शमपरायण श्रेष्ठ पुरुष जो कर्म करता है, उसके उस कर्म की ये समस्त प्राणी प्रशंसा करते हैं।

जो पुरुष प्रिय और अप्रिय को सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो हर्षित होता है और न खिन्न होता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। जो प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों को अपने वश में करके समस्त प्राणियों के साथ समतापूर्ण व्यवहार करता है तथा न तो भविष्य की आकांक्षा करता है और प्राप्त का परित्याग करता है, वह 'शान्त' कहलाता है। जिसका मन मरण, उत्सव और युद्ध के अवसर पर भी व्याकुल न होकर चन्द्रमण्डल के समान निर्मल आभा से युक्त रहता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। हर्ष और कोप का अवसर उपस्थित होने पर भी जो पुरुष वहाँ अनुपस्थित के समान न तो हर्ष को प्राप्त होता है और न क्रोध ही करता है, बल्कि उसका मन गाढ़निद्रा में सोये हुए पुरुष के मन के समान निर्विकार रहता है, वह 'शान्त' पद से व्यवहृत होता है। जिसकी अमृत-प्रवाह के सदृश सुखदायिनी तथा प्रेमपूर्ण दृष्टि सभी प्राणियों पर समानरूप से पड़ती है, उसकी 'शान्त' संज्ञा होती है। जिसका अन्तःकरण शीतल हो गया है एवं जिसकी बुद्धि मोहाच्छन्न नहीं है तथा जो लौकिक विषयों के साथ व्यवहार करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता, उसे

लोग 'शान्त' कहते हैं। सम्यक् प्रकार से व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष की बुद्धि आकाश के सदृश निर्विकार रहती है, राग-द्वेष रूप कलंक से लिप्त नहीं होती, उसे 'शान्त' कहा जाता है।

तपस्वियों, विद्वानों, याजकों, नरेशों, बलवानों और गुणियों के समुदाय में शमयुक्त पुरुष की ही विशेष शोभा होती है। जिन गुणशाली महापुरुषों का मन शम में आसक्त हो गया है, उनके चित्त से निर्वृति का उदय होता है, ठीक उसी तरह जैसे चन्द्रमा से चाँदनी प्रकट होती है। जो गुणसमूहों की परमावधि है तथा जो पुरुषार्थ का मुख्य भूषण है, वह श्रीसम्पन्न शम संकटों तथा सम्पूर्ण स्थानों में भी अपने प्रभाव से सुशोभित होता रहता है। रघुनन्दन! जिसका अन्य पुरुष अपहरण नहीं कर सकते, जो पूज्यजनों द्वारा सावधानी के साथ सुरक्षित एवं अमृतस्वरूप है, उस शमरूप उत्कृष्ट साधन का आश्रय लेकर बहुत-से महानुभाव जिस क्रम से परमपद को प्राप्त हो चुके हैं, तुम भी परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये उसी क्रम का अनुसरण करो।

तेरहवां सर्ग समाप्त

चौदहवां सर्ग

सत्समागम से सद्गति का कथन

श्री वसिष्ठजी कहते हैं- राघव! (विषय, संदेह, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और प्रयोजनरूप) कारणों के ज्ञाता पुरुष को शास्त्रज्ञान से निर्मल हुई अतएव परम पवित्र बुद्धि द्वारा निरन्तर आत्मचिन्तन करना चाहिये; क्योंकि आत्मविषयक विचार करने से बुद्धि तीव्र होकर परमपद का साक्षात्कार कर लेती है। संसाररूपी महारोग के लिये विचार ही महौषध है। जो अनन्त कामनारूपी पल्लवों से सुशोभित है, ऐसा आपत्तिरूपी वन विचाररूपी आरे से काट दिये जाने पर पुनः अंकुरित नहीं होता। लौकिक दुःख से पार होने के लिये विद्वानों के पास विचार के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। सत्पुरुषों की बुद्धि विचार से अशुभ का परित्याग करके शुभ को प्राप्त होती है। बुद्धिमानों के बल, बुद्धि, सामर्थ्य, कर्तव्य का ज्ञान, क्रिया और उसका फल- ये सभी विचार से ही सफल होते हैं। अतः जो उचित-अनुचित के रहस्योद्घाटन के लिये महान् दीपक के समान है तथा अभीष्ट की सिद्धि करने वाला है, उस उत्कृष्ट विचार

का आश्रय लेकर संसार-सागर को पार करना चाहिये क्योंकि विशुद्ध विचार रूपी सिंह हृदयस्थित विवेकरूपी कमलों को उखाड़ फेंकने वाले महामोहरूपी गजराजों को विदीर्ण कर डालता है। जो लोग विचार का अभ्युदय करने वाली बुद्धि द्वारा सबके साथ व्यवहार करते हैं, वे निश्चय ही अत्यन्त श्रेष्ठ फलों के भागी होते हैं। सद्विचारपरायण मनुष्य अत्यन्त विस्तृत महान् आपत्तियों से युक्त मोह की परिस्थितियों में उसीप्रकार निमग्न नहीं होता, जैसे सूर्य अन्धकार में नहीं डूबते। जितने क्रूर कर्म, निषिद्धाचरण और कुत्सित मानसिक कष्ट हैं, वे सभी विचारहीनता से ही आविर्भूत होते हैं। जिस अधिकारी पुरुष का मन आशा की परवशता से रहित और विचारयुक्त है, वह पूर्ण चन्द्रमा की भाँति अपने आत्मा में परमानन्द का अनुभव करता है। जब मन में विवेकशीलता का उदय होता है, तब वह सारे विश्व को शीतल एवं सुशोभित करने वाली चन्द्रमा की चाँदनी की भाँति सबको अत्यन्त शीतल और अलंकृत कर देती है। जगत् के सारे पदार्थ तभी तक सत्य की तरह रमणीय प्रतीत होते हैं, जब तक विचार नहीं किया जाता। वस्तुतः उनका कोई अस्तित्व नहीं है, अतः विचार करने पर वे नष्ट हो जाते हैं। जो समस्वरूप, आनन्दमय, अक्षय, अनन्त और अनन्याधीन है, उस कैवल्य पद को तुम विचाररूप महान् वृक्ष का फल समझो। जो चित्त में स्थित होकर उत्तम, अचल स्थिति प्रदान करने वाली है, उस आत्मविचाररूपी महौषधि से युक्त श्रेष्ठपुरुष न तो अप्राप्त की आकांक्षा करता है और न प्राप्त का परित्याग ही। विचारशील पुरुष गयी हुई वस्तु की उपेक्षा कर देता है और प्राप्त वस्तु का शास्त्रानुसार उपयोग करता है। वह मन की प्रतिकूलता में न तो क्षुब्ध होता है और न अनुकूलता में प्रसन्न ही। उस समय जल से परिपूर्ण सागर की तरह उसकी शोभा होती है। इसप्रकार जिन उदाराशय महात्मा योगियों का मन पूर्णकाम हो गया है, वे जीवन्मुक्त होकर इस जगत् में विचरण करते हैं। बुद्धिमान पुरुष को आपत्तिकाल में भी 'मैं कौन हूँ ? यह संसार किसका है?' यों उसके प्रतीकार के लिये प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिये। जैसे रात्रि में भूतल पर पदार्थों का ज्ञान दीपक से होता है, उसी प्रकार परमात्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करने के लिये वेद-वेदान्त के सिद्धान्तों की स्थितियों का निर्णय विचार द्वारा होता है। विचाररूपी सुन्दर नेत्र अन्धकार में नष्ट नहीं होता, उग्र तेजस्वी सूर्य आदि की ओर देखने पर भी उसकी ज्योति प्रतिहत नहीं होती

और वह व्यवधानयुक्त पदार्थों को भी देख लेता है। यह विचार-चमत्कृति परमात्ममयी, आदरणीया और परमानन्द की एकमात्र साधिका है; अतः एक क्षण के लिये भी इसका परित्याग नहीं करना चाहिये। जैसे पक जाने के कारण मधुर रस से परिपूर्ण आम का फल सबके लिये रुचिकर होता है, उसी तरह उत्तम विचार से युक्त पुरुष, सामान्य जनों की तो बात ही क्या, महापुरुषों के लिये भी आदरणीय हो जाता है। विचारद्वारा जिनकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी है और विचार से ही जिन्हें ज्ञानमार्ग में जाने की युक्ति ज्ञात है, वे मनुष्य नाना प्रकार के दुःखरूप गड्डों में बार-बार नहीं गिरते अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाते हैं। सैकड़ों अनर्थों के संयोग से जिसका शरीर जर्जर हो गया है तथा जो रोगग्रस्त है, वह वैसा रुदन नहीं करता, जैसा वह मूर्ख विलाप करता है, जिसने विचारहीनता से अपने आत्मा का हनन कर दिया है। विचारहीनता सारे अनर्थों का निजी निवासस्थान है। सभी सत्पुरुष उसका तिरस्कार करते हैं और वह सारी दुर्गतियों की चरम सीमा है, अतः उसका परित्याग कर देना चाहिये। विचारपूर्वक स्वयं ही अपनी बुद्धि द्वारा अपने मन को वश में करके मोहमय संसारसागर से अपने मनरूपी मृग का उद्धार करना चाहिये। मैं कौन हूँ और यह संसार नामक दोष मेरे निकट कैसे आ गया-इस विषय में न्यायपूर्वक किया गया अनुसंधान 'विचार' कहलाता है। रघुनन्दन! इस जगत् में सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग की बुद्धि से सम्पन्न पुरुषों को विचार के बिना उत्तम तत्व का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। विचार से ही तत्व का ज्ञान होता है, तत्वज्ञान से मन की निश्चलता प्राप्त होती है और मन के शान्त हो जाने से सम्पूर्ण दुःखों का सर्वथा विनाश हो जाता है। भूतल पर सभी लोग स्पष्ट विचारदृष्टि से ही समस्त कर्मों की सफलता लाभ करते हैं तथा उत्तम परमात्म साक्षात्कारता भी विचार से ही उपलब्ध होती है, इसलिये श्रीराम! शमादि साधनसम्पन्न तुम्हें उपर्युक्त विचारशीलता रुचिकर होनी चाहिये।

परतप राम! संतोष ही परम श्रेय है और संतोष परमसुख भी कहा जाता है। संतोषयुक्त पुरुष परमविश्राम को प्राप्त होता है। जो संतोषरूपी ऐश्वर्य के सुख से सम्पन्न हैं तथा जिनका चित्त निरन्तर विश्रामपूर्ण रहता है ऐसे शान्त पुरुषों को विशाल साम्राज्य भी पुराने घास के टुकड़े के समान प्रतीत होता है। श्रीराम! संतोषयुक्त बुद्धि संसार की विषम परिस्थितियों में भी न तो उद्विग्न होती है

और न कभी उसका विनाश ही होता है। जो शान्त पुरुष संतोषामृत के पान से पूर्णतः तृप्त हो चुके हैं, उनके लिये यह अपरिमित भोग सम्पत्ति विष सी जान पड़ती है। रागादि दोषों का विनाशक तथा अत्यन्त मधुर आस्वाद से युक्त संतोष जैसा सुखद होता है, वैसा सुख ये अमृत रस की लहरियाँ नहीं दे सकतीं। जो अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा का परित्याग करके प्राप्त हुई वस्तु में समभाव रखने वाला है तथा जिसमें हर्ष–शोक के विकार परिलक्षित नहीं होते, वह मनुष्य इस लोक में संतुष्ट कहा जाता है। जब तक मन आत्मा के द्वारा आत्मा में संतुष्ट नहीं हो जाता, तब तक उस मनरूपी गड्डे से उसी प्रकार आपत्तियाँ उद्धृत होती रहती हैं, जैसे गड्डे से लताएँ। संतोष से शीतल हुआ मन विशुद्ध विज्ञान की दृष्टियों से अत्यन्त विकास को प्राप्त होता है– ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य की किरणों के सम्पर्क से कमल विकसित हो जाता है। जैसे मलिन दर्पण में मुख की छाया नहीं दीखती, उसी प्रकार आशा की परवशता से व्याकुल एवं संतोषरहित चित्त में ज्ञान का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। जिसका मन शारीरिक तथा मानसिक क्लेशों से मुक्त एवं संतुष्ट है, वह प्राणी दरिद्र होते हुए भी सच्चे साम्राज्य सुख का उपभोग करता है। अपने आत्मा में आत्मा से ही स्वयं सम्यक् प्रकार से निरतिशय पूर्णानन्द का आश्रय लेकर पुरुषार्थ द्वारा प्रयत्नपूर्वक सभी विषयों में तृष्णा का परित्याग कर देना चाहिये। चन्द्रमा की भाँति संतोषामृत से परिपूर्ण मनुष्य का मन शान्त एवं शीतल बुद्धि द्वारा स्वयं ही शाश्वती स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। जब संतोष से सम्पन्न पुरुष अपने आत्मा में आत्मा द्वारा स्वस्थरूप से स्थित हो जाता है, उस समय उसकी सारी मानसिक व्यथाएँ उसी प्रकार अपने–आप शीघ्र ही समूल विनष्ट हो जाती हैं, जैसे वर्षा–ऋतु में धूल शान्त हो जाती है। श्रीराम! जिसकी वृत्ति सदा शीतल और कलंक से सर्वथा रहित है, वह पुरुष अपनी उस शुद्ध वृत्ति द्वारा चन्द्रमा की भाँति पूर्णतया शोभित होता है। रघुनन्दन! इस जगत् में जो पुरुष श्रेष्ठ गुणी पुरुषों द्वारा अभिमत समता से सुशोभित है, उस विशुद्ध पुरुष को आकाशचारी देवता और महामुनि भी प्रणाम करते हैं।

महाबुद्धिमान् राम! इस संसार में श्रेष्ठ संत–समागम मनुष्यों का संसार–सागर से उबारने में सर्वत्र विशेष रूप से उपकार करता है। जो महात्मा पुरुष सत्संगतिरूपी वृक्ष से उत्पन्न हुए विवेक नामक निर्मल पुष्प की रक्षा करते

हैं, वे मोक्ष-फलरूपी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। जो आपत्तिरूपी कमलिनी के लिये हिम और मोहरूपी कुहरे के लिये वायु के समान है, वह उत्तम संत-समागम ही इस जगत् में सर्वोत्कृष्ट है। श्रीराम! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि संत-समागम विशेषरूप से बुद्धिवर्धक, अज्ञानरूपी वृक्ष का उच्छेदक और मानसिक व्यथाओं को दूर भगाने वाला है। सत्संग से प्राप्त हुई दिव्य विभूतियाँ ऐसा परम उत्तम निर्वाण-सुख प्रदान करती हैं, जो सतत वर्धनशील, अविनाशी और बाधारहित होता है। अतएव अत्यन्त कष्टदायिनी दशा में पड़कर विवशता को प्राप्त हुए मनुष्यों को भी थोड़े समय के लिये भी सत्संगति का परित्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि लोक में सत्संगति सन्मार्ग को प्रकाशित करने वाली और हृदयान्धकार को दूर करने के लिये ज्ञानरूपी सूर्य की प्रभा है। जिसने सत्संगतिरूपी गंगा में, जो शीतल एवं निर्मल है, स्नान कर लिया, उसे दान, तीर्थ, तप और यज्ञों से क्या लेना है अर्थात् सत्संगति इन सबसे बढ़कर है। जो रागशून्य और संशय रहित हैं तथा जिनकी चिज्जंगग्रन्थियाँ विनष्ट हो चुकी हैं, ऐसे संत पुरुष यदि लोक में विद्यमान हैं तो तप एवं तीर्थों के संग्रह से क्या लाभ ? अर्थात् वह फल तो उन संतों की संगति से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये जिनकी चिज्जंगग्रन्थियों का विनाश हो गया है एवं जो ब्रह्मज्ञानी हैं, उन सर्वसम्मत संतों की सभी उपायों द्वारा भलीभाँति सेवा करनी चाहिये; क्योंकि वे भवसागर से पार होने के लिये मेघस्वरूप संतों को अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं, वे स्वयं उस नरकाग्नि की सूखी लकड़ी बन जाते हैं।

संतोष, सत्संगति, विचार और शम-ये ही चारों मनुष्यों के लिये भवसागर से तरने के साधन हैं। इनमें संतोष परम लाभ है। सत्संगति परम गति है। विचार उत्तम ज्ञान है और शम परमोत्कृष्ट सुख है। ये चारों संसार का समूल विनाश करने के लिये विशुद्ध उपाय हैं। जिन्होंने इनका भलीभाँति सेवन किया, वे मोह जल से परिपूर्ण भवसागर से पार हो गये। बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राम! इन चारों साधनों में से विशुद्ध प्रकाश वाले एक ही साधन का अभ्यास हो जाने पर शेष तीनों भी अवश्य अभ्यस्त हो जाते हैं; कयोंकि इनमें से एक-एक भी क्रमशः इन चारों की जन्मभूमि है। अतः सबकी सिद्धि के लिये यत्नपूर्वक एक का तो पूर्णरूप से आश्रय लेना ही चाहिये। जैसे प्रशान्त सागर में जलयान स्वच्छन्द गति से चलते हैं, उसी प्रकार शम द्वारा निर्मल हुए हृदय में

सत्समागम, संतोष और विचार उत्तम धारणापूर्वक प्रवृत्त होते हैं। जो प्राणी विचार, संतोष, शम और सत्समागम से सम्पन्न है, उसे दिव्य ज्ञान सम्पत्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं– ठीक उसी तरह, जैसे कल्पवृक्ष का आश्रय लेने वाले पुरुष को लौकिक सम्पत्तियाँ सुलभ होती हैं। पूर्ण चन्द्रमा में परिलक्षित हुए सौन्दर्य आदि गुणों की तरह विचार, शम, सत्समागम और संतोषयुक्त मानव में प्रसाद आदि गुण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। जैसे श्रेष्ठ मन्त्रिगणों से युक्त राजा के पास विजयलक्ष्मी उपस्थित होती है, उसी तरह जिस पुरुष की बुद्धि सत्संग, संतोष, शम और विचार से युक्त होने के कारण उत्तम हो गयी है, उसे दिव्य ज्ञान–सम्पत्ति सुलभ हो जाती है। इसलिये रघुनन्दन! मनुष्य को चाहिये कि वह पुरुषार्थ से मन को वश में करके इनमें से एक गुण का नित्य यत्नपूर्वक उपार्जन करे; क्योंकि जब तक मनुष्य परम पुरुषार्थ के आश्रय से अपने चित्तरूपी गजराज को जीतकर हृदय में एक गुण भी धारण नहीं कर लेता, तब तक उत्तम गति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसके चित्त में उत्तम फलदायक एक ही गुण सुदृण हो गया है, उसके सारे दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि एक ही गुण की विशेष वृद्धि होने पर दोषों पर विजय प्रदान करने वाले अनेक गुणों की वृद्धि होती है और एक दोष के अधिक बढ़ जाने पर बहुत से गुण विनाशक दोष बढ़ जाते हैं।

चौदहवां सर्ग समाप्त

पन्द्रहवां सर्ग

सदाचार का वर्णन

श्री वसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! जिसका हृदय पूर्वोक्त प्रकार के विवेक से युक्त है, वही इस जगत में महान् है और वही ज्ञानोपदेश सुनने का योग्य अधिकारी है–ठीक उसी तरह जैसे राजा नीति–शास्त्र के श्रवण का उत्तम पात्र होता है। जैसे मेघजाल से रहित शरत्काल का आकाश चन्द्रमा के लिये योग्य होता है, उसी तरह जो मूर्खों के संग से रहित एवं महान् आशयवाला है, वह निर्मल पुरुष विशुद्ध विचार का योग्य भाजन है। श्रीराम! तुम इस समग्र गुणलक्ष्मी से सम्पन्न हो; अतः मैं आगे जिसका वर्णन करूँगा, उस मन के मोह को हरने वाले वाक्य को सुनो। जिसका पुण्यरूपी कल्पवृक्ष फलों के भार से

अत्यन्त झुका हुआ खड़ा है, वही पुरुष मुक्ति प्राप्ति के निमित्त इसे श्रवण करने के लिये उद्योग करता है। अतः उपर्युक्त गुणसम्पन्न पुरुष ही कल्याण-प्राप्ति के लिये पवित्र, उदार तथा पराये को ज्ञान प्रदान करने वाले वचनों को सुनने का अधिकारी होता है।

यह संहिता मोक्ष-साधन की प्रतिपादिका, सारभूत अर्थों से परिपूर्ण और मोक्षदायिनी है। इसमें बत्तीस हजार श्लोक बतलाये जाते हैं। जैसे गाढ़ निद्रा के वशीभूत हुए पुरुष के सामने दीपक जला दिये जाने पर यद्यपि उसे प्रकाश की कामना नहीं रहती तो भी प्रकाश होता है, उसी प्रकार इस संहिता के परिशीलन से इच्छा न रहने पर भी निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। यह संहिता स्वयं सम्यक् प्रकारसे परिशीलन करके जानी गयी हो अथवा अन्य द्वारा वर्णन किये जाते समय सुनी गयी हो, तो भी पाप-ताप की शान्ति द्वारा सुख की हेतु भूता देवनदी गंगा के समान यह अज्ञान के अपशम द्वारा तुरंत सुख प्रदान करती है। जैसे रस्सी का पूर्ण ज्ञान हो जाने से उसमें उत्पन्न हुई सर्पभ्रान्ति विनष्ट हो जाती है, उसी तरह इस संहिता के सम्यक् परिशीलन से संसार दुःख शान्त हो जाता है। इस संहिता में पृथक्-पृथक् रचे गये छः प्रकरण हैं, जो युक्तियुक्त अर्थवाले वाक्यों से युक्त और सार-सार दृष्टान्तों से भरी हुई सूक्तियों से समन्वित हैं। उनमें पहला प्रकरण 'वैराग्य' नाम से कहा गया है, जिसके अध्ययन से उसी प्रकार विराग की वृद्धि होती है जैसे मरुस्थल में भी जल के सिंचन से वृक्ष बढ़ता है। जैसे मणि के भलीभाँति मार्जित किये जाने के कारण उत्पन्न हुए प्रकाश से उसमें निर्मलता प्रकट हो जाती है, उसीतरह डेढ़ हजार श्लोकों से युक्त इस वैराग्यप्रकरण का विचार करनेसे विषयों के दोषों का परिज्ञान होने के कारण उत्पन्न हुए विवेक के प्रकाश से हृदय में शुद्धता का उदय हो जाता है। तदनन्तर 'मुमुक्षुव्यवहार' नामक प्रकरण की रचना की गयी है। इस प्रकरण में केवल एक हजार श्लोक हैं। युक्तियों से भरा होने के कारण यह अत्यन्त सुन्दर है और इसमें मुमुक्षु पुरुषों के स्वभाव का वर्णन किया गया है। इसके बाद तीसरा 'उत्पत्ति प्रकरण' आता है, जो दृष्टान्त और आख्यायिकाओं से पूरिपूर्ण तथा विज्ञान का प्रतिपादक है। उसमें सात हजार श्लोक हैं। इस प्रकरण में 'अहं' और 'त्वं' जिसका स्वरूप है एवं जो वास्तव में उत्पन्न न होकर भी प्रकट हुई सी प्रतीत होती है, द्रष्टा और दृश्य के भेद से

समन्वित उस सांसारिक सम्पत्ति का वर्णन किया गया है। इस प्रकरण के सुनने पर श्रोता इस सम्पूर्ण जगत् को अपने हृदय में ऐसा समझता है कि यह 'त्वं' और 'अहं' के विस्तार से युक्त, लोक, पर्वत और आकाश से समन्वित, संकल्पमय नगर के तुल्य क्षणध्वंसी, स्वप्न में प्राप्त हुए पदार्थों के समान सत्तारहित, मनोराज्य की तरह विस्तार वाला, अर्थ शून्य होने के कारण गन्धर्व नगर के सदृश, दो चन्द्रमाओं की भ्रान्ति के समान मृगतृष्णा में जलभ्रान्ति की तरह, नौका के चलने से पर्वतादि के संचलनभ्रम की भाँति चंचल और यथार्थ लाभ से रहित है तथा जैसे सुवर्ण में कंकण, जल में तरंग और आकाश में नीलिमा असत् है, वस्तुतः ये क्रमशः अपने-अपने अधिष्ठान के ही अंग हैं, उसी तरह यह जगत्-असत् होकर भी सत्-रूप से उत्पन्न हुआ है। परमार्थ-दृष्टि से तो यह उस विज्ञानरूपी शरत्काल के आकाश के समान है, जिसका अज्ञानरूपी कुहरा पूर्णरूप से शान्त हो गया है।

तत्पश्चात् चौथे 'स्थितिप्रकरण' की अवतारणा की गयी है। इस प्रकरण में तीन हजार श्लोक हैं और यह व्याख्यान और आख्यायिकाओं से भरा हुआ है। ब्रह्म ही द्रष्टा और दृश्य भाव को स्वीकार करके इस प्रकार जगत्-रूप एवं अहरूप से स्थिति को प्राप्त हुआ है-ऐसा इस प्रकरण में कहा गया है। इसी तरह यह जगद्भ्रम जो दसों दिशाओं के मण्डल की विशालता से देदीप्यमानहै और चिरकाल से वृद्धि को प्राप्त होता आया है, यह विषय भी उस प्रकरण में समझाया गया है।

तदुपरान्त पाँचवाँ 'उपशान्ति' प्रकरण कहा गया है। इसमें पाँच हजार श्लोक हैं। यह परम पावन तथा विविध युक्तियों सेयुक्त होने के कारण अत्यन्त सुन्दर है। इस प्रकरण में 'यह जगत् है, यह मैं हूँ, यह तुम हो और यह वह है-यों उत्पन्न हुई भ्रान्ति किसप्रकार पूर्णरूप से शान्त होती है' यह विषय बहुत से श्लोकों द्वारा बतलाया गया है। उपशम प्रकरण का श्रवण करने से यह संसार प्रायः शान्त हो जाता है; क्योंकि जिसका भ्रान्तस्वरूप सम्यक् प्रकरण से शान्त हो गया है-ऐसी संसृति का शतांशमात्र अवशिष्ट रह जाता है।

तदनन्तर 'निर्वाण' नामक छठे प्रकरण का वर्णन किया गया है। उसमें शेष साढ़े चौदह हजार श्लोक हैं। यह प्रकरण ज्ञानरूपी महान् पुरुषार्थ का देने वाला है। उसे जान लेने पर सारी कल्पनाएँ शान्त हो जाती हैं और परमात्मा

की प्राप्तिरूप परम कल्याण हस्तगत हो जाता है। अधिक क्या, उक्त प्रकरण के ज्ञाता पुरुष के सम्पूर्ण सांसारिक भ्रम मिट जाते हैं। वह निर्विषय चैतन्य प्रकाशरूप, विज्ञानस्वरूप, आधि-व्याधियों से रहित और आकाशमण्डल के समान निर्विकार हो जाता है। उसकी सभी जगद्-यात्राएँ शान्त हो जाती हैं। और वह कृतकृत्य होने के कारण स्वस्थ हो जाता है। वह प्रकृति एवं प्रकृति के कार्यभूत सम्पूर्ण विषयों में कर्ता के अभिमान और ग्रहण-त्याग की दृष्टि से रहित हो जाता है, इसलिये वह देहधारी होते हुए विदेह सा एवं संसारी होने पर भी असंसारी-सा प्रतीत होता है। उसका अहंकाररूप पिशाच नष्ट हो जाता है और वह देहयुक्त होते हुए भी शरीर रहित सा रहता है। चैतन्यघन परमात्मा अपने अंदर कल्पित आकाश में प्रत्येक परमाणु में सहस्त्रों लोकों की रचना करके उन्हें धारण करता है और स्वयं उन्हें देखता है।

श्रीराम! जैसे उपजाऊ खेत में उचित समय पर बोये गये उत्तम बीज से अवश्य ही श्रेष्ठफल प्राप्त होता है, उसी तरह इस संहिता को हृदयंगम कर लेने से परमार्थविषयक ज्ञान सुलभ हो जाता है। जैसे प्रातःकाल होने पर प्रकाश का होना अवश्यम्भावी है, वैसे ही इस संहिता को चित्त में धारण कर लेने मात्र से निश्चय ही उत्तम विवेक की उपलब्धि होगी। विद्वानों के मुख से इसका श्रवण करके अथवा स्वयं ही समझकर धीरे-धीरे विचार करने से जब बुद्धि सुदृढ़ रूप से संस्कृत हो जाती है, तब पहले हृदय में सभास्थान को विभूषित करने वाली ऊँची लता के समान संस्कारयुक्त विशुद्ध वाणी का उदय होता है। फिर महान् गुणों से सुशोभित वह श्रेष्ठ चतुरता प्रकट होती है, जिससे राजा तथा देवगण भी प्रसन्न होते हैं। जैसे सुन्दर नेत्रों से युक्त पुरुष रात्रि के समय दीपक हाथ में लेकर सभी पदार्थों को देख लेता है, उसी तरह बुद्धिमान् मनुष्य सर्वत्र पूर्वापर का ज्ञाता हो जाता है। इस ग्रन्थ के अभ्यास से जिसका अज्ञानान्धकाररूप आवरण फट गया है अतएव जो पदार्थों के प्रविभाजन में समर्थ हो गयी है, ऐसी प्रज्ञा कालिमारहित रत्नदीपक की लौ के समान उत्कृष्ट प्रकाशवाली हो जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ का ज्ञाता पुरुष चाहे भय हेतुओं के सम्मुख ही क्यों न खड़ा हो, फिर भी जैसे बाण बड़ी-बड़ी चट्टानों को विदीर्ण नहीं कर सकते, उसी तरह भयंकर सांसारिक भय उसके हृदय को पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। इस ग्रन्थ के अध्ययन से जन्म में प्रारब्ध की और कर्म में

पुरुषार्थ की कारणत कैसे होगी ? इस प्रकार के संशय-समुदाय दिन में अन्धकार की भाँति विलीन हो जाते हैं। इस ग्रन्थ का विचार करने वाले पुरुष के हृदय में समुद्र की-सी गम्भीरता का, सुमेरुगिरि की सी धीरता का और चन्द्रमा की-सी शीतलता का उदय हो जाता है। जब हृदयाकाश में शमा के आलोक से विभूषित विवेकरूपी निर्मल सूर्य का उदय हो जाता है, तब निश्चय ही अनर्थसूचक कामादि धूमकेतु अपना उदय नहीं ले पाते। धैर्य की पराकाष्ठा को प्राप्त हुई जो बुद्धि धर्मरूपी दीवाल में गाढ़रूप से संलग्न हो गयी है, उसे मानसिक चिन्ताएँ विचलित नहीं कर सकतीं, जैसे वायु चित्रलिखित लता को नहीं कँपा सकती। तत्त्वज्ञ पुरुष विषयासक्तिरूप गड्डे में नहीं गिरता; क्योंकि जिसे उत्तममार्ग का ज्ञान है, वह भला गड्डे की ओर क्यों दौड़ेगा। सत्-शास्त्रों के परिशीलन से जिनका चरित्र उत्तम हो गया है, उनकी बुद्धि यथायोग्य प्राप्त शास्त्रानुकूल कर्म में ही रमण करती है-ठीक उसी तरह, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने अन्तःपुर के आँगन में ही प्रसन्न रहती है। जिस पुरुष का अन्तःकरण मोक्षसाधन के अनुभव से शुद्ध हो गया है, उसे भोग समुदाय न तो कभी पीड़ित ही करते हैं और न आनन्द ही देते हैं। वह अनिष्ट कार्यों के प्राप्त होने पर न तो द्वेष करता है और न इष्टकार्यों के नष्ट हो जाने पर उनकी आकांक्षा ही करता है, बल्कि वह कार्य फलादि के स्वरूप का ज्ञाता होकर भी जड़वृक्ष की भाँति अनभिज्ञ का-सा आचरण करता है। वह साधारण जन की तरह समयानुकूल प्राप्त हुए पदार्थों से ही निर्वाह करता हुआ देखा जाता है-यहाँतक कि अथवा अनिष्ट फल के प्राप्त होने पर भी उसके हृदय में स्वल्पमात्र भी विकार नहीं होता। राघव! इस सम्पूर्ण शास्त्र को बँचवाकर और समझकर फिर इस पर विचार करो। यह कथनमात्र नहीं है, बल्कि देवों के वरदान शाप की भाँति इसका फल अवश्य प्राप्त होता है। यह सुन्दर शास्त्र उत्तम ज्ञान से युक्त, अलंकार से विभूषित, काव्यस्वरूप और सरस है। इसमें दृष्टान्तों द्वारा विषय का प्रतिपादन किया गया है। जिसे थोड़ा भी पद-पदार्थ का ज्ञान है, वह स्वयं ही उसे समझ लेता है; किंतु जो स्वयं इसे जानने में असमर्थ है, उसे पण्डित के मुख से सुनना चाहिये। जैसे संकल्प द्वारा निर्मित नगरमें पुरुष को हर्ष-विषाद बाधा नहीं पहुँचाते, उसीतरह संसार-भ्रम का परिज्ञान हो जानेपर यह भी कष्टदायक नहीं होता। जैसे यह चित्रलिखित सर्प है, वास्तविक सर्प नहीं

है-ऐसा जान लेने पर वह सर्पजनित भय का दाता नहीं होता, उसी तरह इस दृश्य संसाररूपी सर्प का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर यह भी सुख अथवा दुःख नहीं देता। जैसे चित्रलिखित सर्प का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर उसका सर्पत्व ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संसार का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाने पर यह स्थित रहते हुए भी शान्त हो जाता है अर्थात् इसका प्रभाव नहीं पड़ता।

रघुनन्दन! यह शास्त्र ज्ञान का विस्तार करने वाला और बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जाने वाले सारभूत पदार्थों की परमावधि है। अब मैं इसका वर्णन करता हूँ, सुनो। पहले जिस विधि से यह शास्त्र श्रवण किया जाता है तथा जिस परिभाषा से इसका यथार्थ रूप से विचार करनेका विधान है, वह अवतरणि का श्रवण करो। जिस देखे हुए पदार्थ के सादृश्य से अनुभव में न आये हुए पदार्थ का ज्ञान कराया जाता है, बोधोपकार रूप फल प्रदान करने वाले उस सादृश्य को विद्वान् लोग दृष्टान्त कहते हैं। श्रीराम! जैसे रात्रि में दीपक के बिना घर में रखे हुए बर्तन आदि सामग्रियों का ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह दृष्टान्त के बिना अपूर्वअर्थ का बोध होना असम्भव है। उपमान और उपमेय के जिस कार्य-कारणभाव का प्रतिपादन किया गया है, वह परब्रह्म को छोड़कर शेष सभी पदार्थों के साथ लागू होता है। मैं यहाँ ब्रह्मोपदेश के प्रसंग में तुम से जो दृष्टान्त कह रहा हूँ, उसमें एक देश के साधर्म्य से प्रकृतार्थ का परिग्रहण किया जाता है। यहाँ ब्रह्मतत्त्व का बोध कराने के लिये जो-जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह स्वप्न में प्रतीत होने वाले पदार्थों की तरह मिथ्याभूत जगत् के अन्तर्गत ही है-ऐसा समझना चाहिये। उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के उत्तरकाल में जैसे यह जगत् अभावग्रस्त था, उसी तरह वर्तमान काल में भी विचार करने पर अवस्तु भूत ही है; अतः मिथ्यात्व के कारण जाग्रत् और स्वप्न-इन दोनों की समानता है। यह प्रसिद्ध बात बालकों तक की समझ में आ सकती है। मोक्षसाधनों के निर्माता ग्रन्थकर्ता महर्षि वाल्मीकि ने दूसरे भी जिन ग्रन्थों की रचना की है, उनमें भी ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान कराने के लिये केवल यही व्यवस्था रक्खी है कि दृष्टान्तों के जिस अंश में समता सम्भव हो, उसी अंश के साथ समता रक्खी जाय। चूँकि यह जगत् स्वप्न, संकल्प और ध्यान से कल्पित नगर के समान मिथ्या है, इसी कारण यहाँ वे ही दृष्टान्त दिये गये हैं, दूसरे नहीं। ज्ञान प्राप्ति के लिये कारण रहित ब्रह्म में जो कारणता की उपमा दी जाती है, वहाँ

उपमाप्रयुक्त पदार्थों के साथ सर्वांश में साधर्म्य सम्भव नहीं हो सकता। अतः विवाद रहित बुद्धिमान् पुरुष को ज्ञान प्राप्ति के लिये उपमान से उपमेय का एक अंश में ही साधर्म्य स्वीकार करना चाहिये। पदार्थों के अवलोकन में दीपक के प्रकाशमात्र के अतिरिक्त उसके पात्र, तेल और बत्ती आदि किसी का भी उपयोग नहीं होता। केवल एक देश के सादृश्य से उपमान उपमेय का ज्ञान करा देता है। जैसे 'मणिर्दीप इव' इस दृष्टान्त में उपमान दीपक केवल प्रकाश से उपमेय मणि का बोधक होता है। दृष्टान्त के अंशमात्र से ज्ञेय तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ का निश्चय उपादेयरूप से ग्रहण करना चाहिये। कुतार्किकता का आश्रय लेकर अनुभव विरुद्ध अपवित्र विकल्पों द्वारा प्रबुद्धता का नाश नहीं करना चाहिये।

श्रीराम! दृष्टान्त द्वारा अद्वितीय आत्मज्ञान स्वरूप शास्त्रार्थ के ज्ञान से महावाक्यार्थ भूत ब्रह्मस्वरूप से सम्यक् प्रकार से सिद्ध हुई शान्ति को ही निर्वाण कहा जाता है। इसलिये दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के विविध विकल्पों के पचड़े से कोई प्रयोजन नहीं है। किंतु जिस किसी भी युक्ति से महावाक्यार्थ का भलीभाँति आश्रय लेना चाहिये। राघव! तुम शान्ति को ही परम श्रेय जानो, अतः उसकी प्राप्ति के लिये यत्नशील हो जाओ; क्योंकि शान्ति और शास्त्रज्ञान से विभूषित विचारपरायण पुरुष को दृष्टान्त एवं शास्त्रोपदेश, सौजन्य, उत्तम बुद्धि और शास्त्रज्ञ पुरुषों के समागम द्वारा यत्न का आश्रय लेकर उत्तम परमपद को प्राप्त करना चाहिये। विद्वान् पुरुष को तब तक विचार करते रहना चाहिये, जब तक पुनः नष्ट न होने वाली तुर्यपद नामक शान्तिमयी आत्मविश्रान्ति प्राप्त न हो जाय। जो पुरुष तुर्यपद नामक शान्ति से युक्त होकर भवसागर से पार हो गया है, वह गृहस्थ हो या संन्यासी, उसका जीने या न जीने से अथवा कर्म करने या न करने से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। जैसे सम्पूर्ण जलों का अधिष्ठान समुद्र है, उसी तरह सारे प्रमाणों की सत्ता का प्रमाण एकमात्र प्रत्यक्ष ही है; अतः अब तुम उसके विषय में श्रवण करो। श्रेष्ठ पुरुष सारी इन्द्रियों के सारभूत ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस इन्द्रिय के प्रति जो ज्ञान सिद्ध होता है, वही प्रत्यक्ष कहा जाता है। अनुभूति, वेदन और प्रतिपत्ति के नामानुसार इस शास्त्र में उसी का प्रत्यक्ष नाम रक्खा गया है। वही हमलोगों का जीव है, वही संवित् है, वही 'अहंता' की प्रतीति का विषय भूत साक्षी पुरुष है। वह जब संवित् के

सहयोग से उदित होता है, तब उसे पदार्थ कहा जाता है। जैसे जल तरंग आदि के रूप में दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार वह परमात्मा संकल्प-विकल्प आदि नाना प्रकार के भ्रमों के कारण जगद्रूप से प्रकाशित होता है। सृष्टि के पूर्व जो कारणरहित था, वही सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि लीला वश स्वयं ही अपने में स्फुरित होकर प्रत्यक्ष कारण हुआ। जीव का अज्ञानजनित कारण यद्यपि असत् है, तथापि वह सत् सा प्रतीत होता है। वही इस प्रकृति में जगद्रूप से व्यक्त हुआ है। विचार तो स्वयं ही स्वकर्मानुसार प्राप्त हुए अपने शरीर का नाश करके शीघ्र ही महान् परमपद को प्रकट कर देता है। विचारवान् पुरुष जब परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, तब उसका विचार भी उसी में विलीन हो जाता है,उस समय वर्णनातीत केवल परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

इस प्रकार प्रपंच का अभाव हो जाने के कारण अपने बुद्धि, इन्द्रिय और कर्मों द्वारा मन के इच्छारहित अतएव शान्त हो जाने पर उसका न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न न करने से ही। फिर तो जैसे संचालक के द्वारा बिना चलाया हुआ यंत्र काम नहीं देता, उसी तरह इच्छारहित मन के शान्त हो जाने पर कर्मेन्द्रियाँ कर्म आदि में प्रवृत्त ही नहीं होतीं। बाह्य इन्द्रियों द्वारा विषय-ग्रहण एवं मन द्वारा विषयानुसंधानरूप पदार्थों से समाकुल यह जगत् विचार के अन्तर्गत विद्यमान है-ठीक उसी तरह, जैसे स्पन्दन वायु के भीतर ही होता है। शुद्ध सर्वात्मविषयक विचार जिस प्रकार कर्मानुसार भोग के लिये प्रकट होता है, तदनुरूप ही वह दिशा, काल तथा बाह्य एवं आन्तर पदार्थों के रूप में विस्तृतरूप से शोभित होता है। वह विचार शरीर आदि में दृश्यताभास को देखकर 'यही मेरा स्वरूप है' यों मोहवश धारणा करके स्थित है। उसको अपना रूप जहाँ, जैसे और जिस प्रकार का प्रतीत होता है, वह वैसा ही हो जाता है। वह सर्वात्मा जहाँ जिस प्रकार अविर्भूत होता है, वहाँ वैसे ही तत्काल स्थिर हो जाता है और उसे अपना ही स्वरूप मानकर सुशोभित होता है। सर्वात्मकता के कारण द्रष्टा में दृश्यत्व का आरोप होता है। वह दृश्यत्व द्रष्टा की उपस्थिति में ही सम्भव है, अन्यथा दृश्यता भी वास्तविक नहीं है। अतः प्रत्यक्ष ही कारण रहित अद्वितीय ब्रह्मरूप से सिद्ध हुआ स्थित है। वही सभी प्रमाणों का निर्माता हैं; क्योंकि अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होने के कारण उसी के अंश हैं। साधु स्वभाव राम! अपने कर्म मात्र को दैव-प्रारब्ध मानकर उसकी उपासना

करने वाला इन्द्रियजयी पुरुष उस दैव शब्दार्थ अर्थात् प्रारब्ध को दूर हटाकर अपने पुरुषार्थ द्वारा उस परम पद को अपने भीतर ही प्राप्त करता है।

रघुनन्दन! पहले संत-समागमरूपी युक्ति के द्वारा बलपूर्वक अपनी बुद्धि को बढ़ाना उचित है। तत्पश्चात् महापुरुषों के लक्षणों के अनुकरण से अपने में महापुरुषता लानी चाहिये। इस जगत् में जो-जो पुरुष जिस-जिस गुण से विशेष रूप से सम्पन्न है, वह उसी गुण के द्वारा विशिष्ट समझा जाता है; अतः शीघ्र ही उस पुरुष से वह गुण प्राप्त करके अपनी बुद्धि की वृद्धि करनी चाहिये। जैसे कमल से सरोवर और सरोवर से कमल परस्पर उन्नति लाभ करते हैं, उसीतरह ज्ञान से शमआदि गुण और शमआदि गुणों से ज्ञान-ये परस्पर वृद्धिगत होते रहते हैं। सत्पुरुषों के सदाचरण से ज्ञान की और ज्ञान से सत्पुरुषों के आघरण की वृद्धि होती है। यों ज्ञान और सत्पुरुषों के आचरण परस्पर एक-दूसरे के सहयोग से बढ़ते रहते हैं। तात! जब तक इस संसार में ज्ञान और सदाचार का समरूप से अभ्यास नहीं किया जाता, तब तक पुरुष को इन दोनों में से एक की भी सिद्धि नहीं होती। रघुनन्दन! जिसप्रकार मैंने सदाचार के क्रम का वर्णन किया है, उसीतरह आगे ज्ञानक्रम का भलीभाँति उपदेश करूँगा। यह सत्-शास्त्र कीर्ति कारक, आयुवर्धक और परम पुरुषार्थरूप फल प्रदान करने वाला है; अतः बुद्धिमान् पुरुष को इस शास्त्र के ज्ञान से सम्पन्न आप्त पुरुष से इसका श्रवण करना चाहिये।

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

मुमुक्षु व्यवहार-प्रकरण सम्पूर्ण

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्।
प्रयत्नाच्चित्तमित्येष सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः।।

(मुमुक्षु प्रकरण से)

'अशुभ कर्मों में लगे हुए मन को वहाँ से हटाकर प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्मों में लगाना चाहिये। यह सब शास्त्रों के सार का संग्रह है।'

• • •

सचित्र
योगवासिष्ठ महारामायण

प्रथम खण्ड

उत्पत्ति प्रकरण

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम जीवन्मुक्तः स उच्यते।।

(उत्पत्ति प्रकरण से)

'यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष की दृष्टि में यह जगत ज्यों-का-त्यों बना हुआ ही विलीन हो जाता है और आकाश के समान शून्य प्रतीत होने लगता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।'

•••

यह समस्त जगत वस्तुतः भ्रान्ति से ही जगद्रूप दीखता है। यथार्थ तत्त्व का ज्ञान होने पर यह जगद्‌भ्रम वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे रस्सी का ज्ञान होने पर सर्प की भ्रान्ति नष्ट हो जाती है अथवा आकार तथा नाम की व्यावहारिक विभिन्नता प्रतीत होते हुए भी जैसे स्वर्ण का ज्ञान होने पर स्वर्ण-भूषणों के नाम-रूप के कारण होने वाली विभिन्नता तथा भिन्नरूपता नष्ट हो जाती है-एकमात्र स्वर्ण ही दीखने लगता है, वैसे ही ब्रह्म का ज्ञान होने पर विभिन्न नामरूपात्मक यह विशाल विश्व ब्रह्मरूप ही दीखने लगता है, कहीं भी कोई भिन्न सत्ता रहती ही नहीं। वास्तव में तो सच्चिदानन्दघन परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

उत्पत्ति-प्रकरण

पहला सर्ग

दृश्य जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम! जिसमें मुमुक्षुओं के व्यवहारों का ही प्रधानरूप से वर्णन है, उस मुमुक्षु व्यवहार-प्रकरण के बाद अब मैं इस उत्पत्ति-प्रकरण का वर्णन करता हूँ। जबतक दृश्य जगत् की सत्ता है, तभी तक यह जन्म-मत्युरूप संसार का बन्धन है। दृश्य का अभाव हो जाने से बन्धन कदापि नहीं रह सकता। यह दृश्य जगत् जिसप्रकार उत्पन्न होता है, वह बता रहा हूँ। तुम क्रमशः ध्यान देकर सुनो। संसार में जो उत्पन्न होता है, वही वृद्धि एवं क्षय को प्राप्त होता है। वही बँधता और मोक्ष को प्राप्त होता है तथा वही स्वर्ग या नरक में पड़ता है। अपने स्वरूप का बोध न होने से ही बन्धन है। इसलिये स्वरूप के बोध के लिये ही मैं आगे की बात बता रहा हूँ (इससे तुम्हें यह ज्ञात होगा कि यह दृश्यप्रपंच कभी हुआ ही नहीं)। उत्पत्ति आदि का सम्बन्ध इस दृश्यजगत से ही है (आत्मा से नहीं)। आत्मा तो दृश्य की उत्पत्ति से पहले जैसा रहा है, वैसा ही उसकी उत्पत्ति के बाद भी है (वह सदा ही एकरस रहता है)। जैसे सुषुप्ति में स्वप्न के संसार का अभाव हो जाता है, उसी तरह यह जो समस्त चराचर जगत् दिखायी देता है, इसका कल्प के अन्त में विनाश (अभाव) हो जाता है। तत्पश्चात् निष्क्रिय, गम्भीर (अपरिच्छिन्न), नाम-रूप से रहित और अव्यक्त कोई अनिर्वचनीय सद् वस्तु ही शेष रह जाती है। वह तेजस्तत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके रूप नहीं होता तथा वह तमोमय भी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है। विद्वानों ने व्यवहार-निर्वाह के लिये उस सत्-स्वरूप परमात्मा के ऋृत, आत्मा, परब्रह्म तथा सत्य इत्यादि नाम रख छोड़े हैं।

सोने का बना हुआ कड़ा सोना ही है। उस सोने से 'कटक' शब्द का अर्थ (कड़ा) जैसे पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार 'जगत्' शब्द का जो अर्थ है, वह परब्रह्म पर ही आधारित है, अतः उससे पृथक् नहीं है। जैसे कड़े का स्वरूप सुवर्ण के स्वभाव के ही अन्तर्गत है, कड़े के स्वभाव के अन्तर्गत नहीं, उसीप्रकार यह दृश्यमान जगत् भी अपने परिच्छिन्न स्वभाव को त्याग देने पर ब्रह्मभाव में ही प्रतिष्ठित है, 'जगत्' शब्द के अर्थ में नहीं। (तात्पर्य यह कि

सोने में ही कड़े की कल्पना हुई है, कड़े में नहीं। इसी तरह ब्रह्म में ही जगत् की कल्पना हुई है, जगत् में नहीं; अतः वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है।) जैसे मरु-मरीचिका में प्रतीत होनेवाली नदी अपने भीतर न होने पर भी चंचल तरंगों का विस्तार करती है और वे तरंगें सच्ची सी जान पड़ती हैं, उसी प्रकार मन ही इस जगत्-रूपी इन्द्रजाल की सम्पत्ति का विस्तार करता है और वह सम्पत्ति असत् होने पर भी सत्य सी प्रतीत होती है। जिसके कारण असत् वस्तु भी सत् सी प्रतीत होती है, वह माया है। सर्वज्ञ विद्वानों ने उसके अविद्या, संसृति, बन्ध, माया, मोह, महत् और तम आदि अनेक नामों की कल्पना की है।

प्रिय श्रीराम! दृश्य प्रपंच का अस्तित्व ही द्रष्टा का बन्धन कहा गया है। दृश्य के बल से ही दृष्टा बन्धन में पड़ा है। दृश्य का निवारण हो जाने पर वह उस बन्धन से मुक्त हो जाता है। 'त्वम्' (तू), 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' (यह) इत्यादि रूपों में कल्पित जो मिथ्या जगत् है, उसी को दृश्य कहते हैं। जब तक वह दृश्य बना रहता है, तब तक मोक्ष नहीं होता। यदि यह दृश्य जगत् वास्तव में है, तब तो किसी के लिये उसका निवारण नहीं हो सकता; क्योंकि जो असत् वस्तु है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो सत् वस्तु है, उसका कभी अभाव नहीं होता। चित्-स्वरूप आत्मा का जिसे बोध नहीं है, वह द्रष्टा जहाँ कहीं भी रहता है, वहीं उसकी दृष्टि के समक्ष इस दृश्य जगत् का वैभव प्रकट हो जाता है। इस दृश्य-प्रपंच के रहते हुए निर्विकल्प समाधि कैसे हो सकती है? निर्विकल्प समाधि होने पर ही चेतनता और तुरीय पद की उपपत्ति होती है। जैसे सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रा) के पश्चात् यह सारा सांसारिकदुःख अनुभव में आने लगता है, उसी प्रकार समाधि से उठने पर यह सम्पूर्ण दुःखमय जगत् जैसे का तैसा प्रतीत होने लगता है। इस मनरूप दृश्य के रहते हुए कोई समाधि के लिये कितना ही प्रयत्नशील क्यों न हो, क्या उसे दृश्य प्राप्त नहीं होता ? (अवश्य होता है); क्योंकि जहाँ-जहाँ इसकी चित्तवृत्ति जाती है, वहाँ-वहाँ उससे सम्बन्ध रखने वाले जगत्रूपी भ्रम का निवारण नहीं किया जा सकता। जैसे कमलगट्टे के भीतर कमलिनी का वह बीज विद्यमान है, जिसमें उसका मृणालमय रूप छिपा हुआ है, उसी प्रकार अज्ञानी द्रष्टा में वह बुद्धि रहती है, जिसमें दृश्य जगत् अन्तर्हित होता है। जैसे पदार्थों में रस, तिल आदि में तेल और फूलों में सुगंध रहती है, उसी प्रकार उपद्रष्टा में दृश्य बुद्धि रहती

ही है। कपूर या कस्तूरी आदि जहाँ कहीं भी हों, उनकी सुगंध प्रकट हो ही जाती है, उसी प्रकार द्रष्टा कहीं भी हो उसके उदर में दृश्य जगत का प्रादुर्भाव होता ही है। जैसे तुम्हारे हृदय में स्थित स्वप्न एवं संकल्प तुम्हारे द्वारा अनुभव से ही देखे जाते हैं, उसी प्रकार यह दृश्य जगत तुम्हारे हृदय में ही स्थित है और अपने अनुभव से ही दृष्टिगोचर होता है।

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

जगत की असत्ता

श्रीवसिष्ठजी बोले–हे श्रीराम! मन्वन्तर आरम्भ होने पर जब सम्पूर्ण प्राणियों को अपना ग्रास बनाने वाली मृत्यु प्रजा का संहार करती हुई सबल हो उठी, तब उसने स्वयं ही ब्रह्माजी पर आक्रमण करने का उद्योग आरम्भ किया। उस समय धर्मराज यम ने उसे शीघ्र ही इस प्रकार शिक्षा दी–'मृत्यो! ब्रह्मा परम (चिन्मय) व्योमस्वरूप है। उनकी आकृति पृथ्वी आदि पाँचों भूतों से रहित है। वे मनोमय और संकल्परूप हैं। भला, उन पर कैसे आक्रमण किया जा सकता है? जो चेतन आकाश के समान चमत्कारपूर्ण और चिन्मय आकाश के समान अनुभवरूप हैं, वे ब्रह्मा चिन्मय आकाश ही हैं। उनमें कार्य–कारण–भाव नहीं है। जैसे आकाश में इन्द्रनीलमणि से बने हुए तथा औंधे रक्खे हुए महान् कड़ाह का–सा आकार पृथ्वी आदिसे रहित प्रतीत होता है और जैसे संकल्पनिर्मित पुरुष भी पृथ्वी आदि से रहित ही ज्ञात होता है, उसी प्रकार स्वयम्भू ब्रह्मा भी पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों से रहित ही भासित होते हैं। केवल (अद्वितीय) परमात्मा में न दृश्य है और न द्रष्टा ही है। यह स्वयं चिन्मात्र स्वरूप ही है। तथापि 'स्वयम्भू' नाम से प्रकाशित होता है। आदि, मध्य और अन्त से रहित चिदाकाशरूप अद्वितीय ब्रह्म ही अपने संकल्प के कारण स्वयम्भू ब्रह्मा के नाम से पुरुष अथवा देहधारी–सा भासित होता है।'

श्रीराम! जिसका पूर्वजन्मों में उपार्जित कर्मों से युक्त पूर्व–शरीर रहा है, उसी को इस जन्म में संसार स्थिति की कारण भूत स्मृति का होना सम्भव है। जब ब्रह्मा का कोई प्राक्तन कर्म है ही नहीं, तब उन्हें पूर्व–जन्म की स्मृति का उदय कहाँ से और कैसे होगा ? इसलिये ब्रह्मा का शरीर पृथ्वी आदि कारणों से

रहित है। ब्रह्मा अपने कारणभूत परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न एवं स्वयं आत्मस्वरूप हैं। श्रीराम! स्वयम्भू ब्रह्मा का वह शरीर आतिवाहिक ही है। जो अजन्मा है, उसे आधिभौतिक शरीर की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा–गुरुदेव! सभी प्राणियों के एक 'आतिवाहिक'शरीर होता है और दूसरा 'आधिभौतिक', किन्तु ब्रह्मा के केवल आतिवाहिक ही शरीर क्यों है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम! सभी भूत कारणात्मा हैं–पंचीकृत भूतों से उत्पन्न देह आदि से युक्त हैं; इसलिये उनके दो–दो शरीर होते हैं; परंतु अजन्मा ब्रह्मा के लिये ऐसा कोई कारण नहीं है, इसलिये उनके एक ही आतिवाहिक शरीर है। एकमात्र अजन्मा ब्रह्मा ही सभी जाति के प्राणियों के परम कारण हैं। उनका दूसरा कोई कारण नहीं है, इसलिये भी उनके एक ही शरीर है। संकल्परूप ही उनका शरीर है। पृथ्वी आदि भूतों के क्रमशः सम्मिश्रण से उनके शरीर का निर्माण नहीं हुआ है। वे चिदाकाशस्वरूप आदिप्रजापति ब्रह्मा ही विविध जीवों की सृष्टि करके उनका विस्तार करते हैं। वे जीव ब्रह्मा के संकल्प के सिवा अन्य कारणों से उत्पन्न नहीं हुए हैं। अतः वे भी चिदाकाश स्वरूप ही हैं। जिस उपादान से जिसकी उत्पत्ति होती है, वह तद्रूप ही होता है (जैसे मृत्तिका से निर्मित हुआ घट मृत्तिकारूप ही है)। स्वर्ण के कटक–कुण्डल आदि दृष्टान्तों के द्वारा इस बात का सभी को अनुभव होता है। संसार में व्यवहार करने वाले समस्त प्राणियों में ब्रह्मा ही सबसे प्रथम चेष्टाशील चेतन भूत हैं। अन्तःकरण ही उनका स्वरूप है। उन्हीं से अहंकार का उदय होता है। जैसे वायु से हिलना–डुलना आदि चेष्टाएँ प्रकट होती हैं, उसी प्रकार उन प्रथम प्रतिस्पन्द (पहले प्रकट हुए चेष्टाशील चेतन भूत) ब्रह्मा से अभिन्न रूपवाली यह सृष्टि प्रकट हुई और फैली है। प्रतिभास ही जिनकी आकृति है, उन ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण यह दृश्यमान सृष्टि भी प्रतिभासरूप ही है। फिरभी लोगों की दृष्टि में यह सत्य सी प्रतीत होती है। इस विषय में दृष्टान्त है–स्वप्न में दीखने वाले स्वप्नान्तर में प्राप्त होने वाला स्त्री का समागम। जैसे स्वप्न में स्त्री समागम का स्वप्न देखा जाय तो उससे भी वीर्यपात होता है, उसी प्रकार व्यवहार और प्रयोजन की सिद्धि की दृष्टि से असत वस्तु भी सत्य वस्तु के समान व्यवहार का प्रकाश करती है। तात्पर्य यह कि स्वप्न में स्त्री का समागम

जाग्रत काल में सर्वथा असत्य सिद्ध होता है, तो भी उससे सत्य के समान कार्य होता देखा जाता है। इसी प्रकार प्रतिभासमात्र शरीरवाले ब्रह्मा से उत्पन्न यह सृष्टि भी यद्यपि प्रतिभास रूपा ही है, तथापि सत्य के समान प्रयोजन को सिद्ध करती है।

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

मोक्ष का प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी बोले–हे श्रीराम! जिनका शरीर पृथ्वी आदि तत्त्वों से नहीं बना है, जो चिदाकाश स्वरूप और निराकार हैं, वे सम्पूर्ण भूतों के अधिपति स्वयम्भू ब्रह्मा सशरीर पुरुष की भाँति प्रतीत होते हैं। पृथ्वी आदि तत्त्वों से शून्य आकार वाले संकल्पपुरुष ब्रह्मा का शरीर चित्तमात्र है। वे ही तीनों लोकों की स्थिति के कारण हैं। स्वयम्भू ब्रह्मा का यह संकल्प प्राणियों के कर्मों के अनुसार जिस प्रकार से विकास को प्राप्त होता है, चिदाकाश स्वरूप आत्मा उसी प्रकार से प्रतीत होता है। ब्रह्मा मनोमय ही हैं, पृथ्वी–आदि निर्मित नहीं हैं। इसलिये उनसे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी मनोमय ही है; क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह तद्‌रूप ही होता है। (जैसे सोने का बना हुआ कटक–कुण्डल आदि सुवर्णरूप ही होता है।) अजन्मा ब्रह्मा के कोई सहकारी कारण नहीं हैं। सुतरां उनसे उत्पन्न हुए जगत के भी कोई सहकारी कारण नहीं है। अतः यहाँ कारण से कार्य में कोई विचित्रता या विलक्षणता नहीं है। इसलिये जैसे कारण शुद्ध है, वैसे कार्य भी शुद्ध ब्रह्म ही है–यह सिद्धान्त स्थिर हुआ। इस जगत के विषय में कार्य–कारण–भाव की किचिन्मात्र भी संगति नहीं है। जैसा परब्रह्म है, वैसे ही तीनों लोक हैं। । जल द्रवत्व से अभिन्न ही है। उस अभिन्नरूप जल से जिस तरह द्रवत्व का विस्तार होता है, उसी प्रकार मनोरूपता को प्राप्त हुए ब्रह्मा अपने शुद्धआत्मा (स्वरूप) से ही जगत का विस्तार करते हैं। वह जगत उनके विशुद्ध आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जगत में आधिभौतिक देह में कैसे रह सकते हैं।

मन ही ब्रह्मा के स्वरूप को प्राप्त हुआ है। वह मन संकल्परूप है। मन अपने ही स्वरूप को विकसित करके इस जगत का निर्माण एवं विस्तार करता

है। मन का रूप ब्रह्मा है और ब्रह्मा का रूप मन। इसमें पृथ्वी आदि का प्रवेश नहीं है। मन ने ही परमात्मा में पृथ्वी आदि की कल्पना की है। जैसे कमल गट्टे के अंदर कमलिनी (भावी कमल–नाल) विद्यमान है, उसी प्रकार मन के भीतर सम्पूर्ण दृश्यवर्ग स्थित है। मन, दृश्यवर्ग और इन दोनों का द्रष्टा–इनका कभी किसी ने विवेक नहीं किया। जब तक द्रष्टा और दृश्य का विवेक न किया जाय, तब तक अज्ञान का उच्छेद न होने से मन में दृश्यरूप दुःख सत हो तो उसकी कभी शान्ति नहीं हो सकती और दृश्य की शान्ति होने पर ज्ञाता में कैवल्य (मोक्ष) की सिद्धि नहीं हो सकती। दृश्य का अभाव हो जाने पर ज्ञाता में ज्ञातृभाव स्थित हो, तो भी वह शान्त या निवृत्त हो जाता है। वही (ज्ञाता का कैवल्य ही) उसका मोक्ष कहा गया है।

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

मन के स्वरूप का विवेचन

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा–भगवन्! मन का स्वरूप कैसा है, यह मुझे स्पष्ट रूप से बताइये; क्योंकि मन ही इस सम्पूर्ण लोकमंजरी का विस्तार करता है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम! जैसे शून्य तथा जड़ आकारवाले आकाश का नाम मात्र के अतिरिक्त दूसरा कोई रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार शून्य एवं जड़रूप इस संकल्पात्मक मन का नाम के सिवा कोई भी वास्तविक रूप नहीं दिखायी देता। यह जगत क्षणिक संकल्परूपी मन से उत्पन्न हुआ है। मृगतृष्णा में प्रतीत होने वाले जल तथा चन्द्रमा में भ्रम से दीखने वाले द्वितीय चन्द्रमा के समान ही इस मनःकल्पित जगत का स्वरूप है। रघुनन्दन! संकल्प को ही मन समझो। जैसे द्रवत्व (द्रवरूपता) से जल का भेद नहीं है और जैसे वायु से स्पन्दन (चेष्टा या गतिशीलता) भिन्न नहीं है। प्रियवर श्रीराम! जिस विषय के लिये संकल्प होता है, उसमें मन संकल्परूप से स्थित रहता है। तात्पर्य यह कि जो संकल्प है वही मन है। संकल्प और मन को कभी कोई पृथक् नहीं कर पाया है (इन दोनों के पार्थक्य का अनुभव किसी को नहीं हुआ है)। मन को संकल्प मात्र समझो।

वह समष्टिगत मन ही पितामह ब्रह्मा है। आतिवाहिक देह (संकल्पमय

शरीर) रूपी ब्रह्मा को लोक में समष्टिगत मन कहा गया है। अविद्या, संसार, चित्त, मन, बन्धन, मल और तम-इन्हें श्रेष्ठ विद्वानों ने दृश्य के पर्यायवाची नाम माना है। संकल्परूप दृश्य से अतिरिक्त मन का कुछ भी स्वरूप नहीं है। यह दृश्य-प्रपंच वास्तव में उत्पन्न ही नहीं हुआ है, यह बात मैं आगे चलकर फिर बताऊँगा। जैसे प्रकाश का आलोक स्वभाव है, जैसे चपलता वायु का स्वभाव है और जिस प्रकार द्रवीभूत होना जल का स्वभाव है, उसी प्रकार द्रष्टा में दृश्यत्व स्वभाव से ही विद्यमान है (अर्थात द्रष्टा से दृश्य भिन्न नहीं है), जैसे सुवर्ण में बाज़ूबंद और कटक-कुण्डल आदि की स्थिति है, जैसे मृगतृष्णा की नदी में जल की स्थिति है और जैसे सपने की नगरी में उठायी गयी दीवार की स्थिति है, उसी प्रकार द्रष्टा में दृश्य की स्थिति मानी गयी है। अर्थात जैसे उपर्युक्त वस्तुएँ अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार द्रष्टा से दृश्य की पृथक् सत्ता नहीं है।

द्रष्टा दृश्य की पृथक् सत्ता न होने के कारण दृश्य का अभाव हो जाने पर जो द्रष्टा में बलात द्रष्टापन का अभाव प्राप्त होता है, उसी को तुम असत (मिथ्या दृश्य) के बाधित होने से सन्मात्र चिन्मयरूप में अवशिष्ट हुए आत्मा का केवली भाव (या कैवल्य) समझो। जब चित्त आत्मा के कैवल्य (अद्वितीय चिन्मात्र स्वरूपता) के बोध से तदाकार (कैवल्यभाव को प्राप्त) हो जाता है, तब उसकी राग-द्वेष आदि वासनाएँ उसी तरह शान्त हो जाती हैं, जैसे हवा के न चलने पर वृक्षों में कम्पन और जलाशय आदि में लहरों का उठना बंद हो जाता है। दिशा, भूमि और आकाशरूपी सभी प्रकाशनीय पदार्थों के न रहने पर जिस तरह प्रकाश का शुद्धरूप ही अवशिष्ट रहता है, उसी प्रकार तीनों लोक, तू और मैं इत्यादि दृश्य-प्रपंच की सत्ता न होने पर शुद्ध रूप से अवशिष्ट चिन्मय द्रष्टा का केवलीभाव (कैवल्य) ही रह जाता है।

श्रीरामजी ने पूछा-ब्रह्मन्! यदि दृश्य सत् है, तब तो यह शान्त या निवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि सत का कभी अभाव नहीं होता और यदि यह दोष प्रदान करने वाला दृश्य असत है, तब यह बात हमारी समझ में आती नहीं। इसलिये यह दृश्यरूपिणी विषूचिका (हैजा), जो मन से जन्म आदि के भ्रम को उत्पन्न करने वाली और दुःख की परम्परा को देने वाली है, कैसे शान्त होगी ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन! जिस वस्तु की सत्ता है, उसका कभी

नाश नहीं होता। यह जो कुछ आकाश आदिभूत और अहंकार के रूपमें लक्षित होता है, वह सब व्यवहारदशा में जगत है, किंतु परमार्थ दशा में ब्रह्म है। ब्रह्म के सिवा 'जगत' शब्द का दूसरा कोई वास्तविक अर्थ है ही नहीं। हमारे सामने यह जोकुछ दृश्य-प्रपंच दृष्टिगोचर होता है, वह सब अजर, अमर एवं अव्यय परब्रह्म ही है। सर्वत्र पूर्ण का प्रसार हो रहा है। शान्त परब्रह्म में शान्त जगत स्थित है। आकाश में ही आकाश का उदय हुआ है तथा ब्रह्म में ही ब्रह्म प्रतिष्ठित है। परब्रह्म परमात्मा के साथ जीवात्मा की एकता का जो बोध है, वही पूर्ण में पूर्ण का प्रसार या प्रवेश है। परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र व्यापक होने के कारण पूर्ण है। जीवात्मा भी उससे अभिन्न होने के कारण पूर्ण ही है। इनमें जो भेद का भ्रम था, उसका मिट जाना ही उनकी एकता है। इस एकता की अनुभूति ही पूर्ण में पूर्ण का प्रवेश है। वास्तव में जीवात्मा न तो कभी ब्रह्म से पृथक् होता है और न वह कहीं अन्यत्र से आकर ब्रह्म में प्रविष्ट ही होता है। ये प्रवेश और निर्गम औपचारिक हैं। वह (जीवात्मा) ब्रह्मरूप होकर ही ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है, जैसा कि श्रुति का कथन है-'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।' मूल ग्रन्थ में जो 'शान्ते शान्तं व्यवस्थितम्' कहा गया है, इसमें प्रथम 'शान्त' शब्द ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है और दूसरा 'शान्त' शब्द जगत् के लिये। जहाँ तीनों अवस्थाओं तथा सब प्रकार की भेद-भ्रान्तियों का सदा के लिये शमन हो गया है, वह ब्रह्म शान्तस्वरूप कहा गया है। ब्रह्मदृष्टि प्राप्त होने पर जगत दृष्टि शान्त हो जाती है, इसलिये जगत को भी शान्त कहा गया है। मृत्तिका में घट की भाँति ब्रह्म में ही जगत की कल्पना हुई है; इसलिये वह उसी में स्थित है। घट आदि उपाधियों के नष्ट होने पर घटाकाश, मठाकाश आदि की जो महाकाश में प्रतिष्ठा होती है, यही आकाश में आकाश का उदय है। इसी तरह जगद्-दृष्टि का निवारण होकर जो ब्रह्मभाव का साक्षात्कार होता है, वही ब्रह्म में ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। वास्तव में न तो दृश्य सत-रूप है, न द्रष्टा, न दर्शन, न शून्य न जड़ और न चित् ही सद्रूप है। केवल शान्त स्वरूप ब्रह्म ही सद्रूप है, जो सर्वत्र व्याप्त है।

यह जगत सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं हुआ था, इसलिये इसका अस्तित्व सर्वथा नहीं है। जैसे स्वप्न आदि में मन से ही नगर की प्रतीति होती है, उसी प्रकार यह जगत भी मन से ही उत्पन्न होकर प्रतीति का विषय हो

रहा है। स्वयं मन ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न न होने के कारण भी यह जगत असत ही है। फिर जिस प्रकार इसका अनुभव होता है, वह बता रहा हूँ, सुनो। मन निरन्तर क्षीण होनेवाले इस दृश्यरूपी दोष का विस्तार करता है। वह स्वयं असत रूप ही है, तो भी सत-सा प्रतीत होने वाले जगत की सृष्टि करता है-ठीक उसी तरह, जैसे स्वप्न असत होता हुआ भी सत सा प्रतीत होने वाले स्वप्नान्तर की सृष्टि करता है। मन ही अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं शीघ्र ही शरीर की कल्पना कर लेता है। वही चिरकाल की भावना से विस्तार को प्राप्त होकर इस ऐन्द्रजालिक वैभवरूप दृश्य जगत का विस्तार करता है। चंचल शक्ति होने के कारण केवल यह मन ही स्वयं स्फुरितहोता, उछलता, कूदता, जाता, आता, याचना करता, घूमता, गोते लगाता, संहार करता और अपकर्ष को प्राप्त होता है।

श्रीराम! महाप्रलय होने पर जब जगत् अति सूक्ष्मरूप से स्थित होने के कारण अपने कार्य में असमर्थ हो जाता है, उस समय वह सम्पूर्ण भावी दृश्यवर्ग की सृष्टि से पहले विक्षेपरहित शान्तावस्था में ही शेष रहता है। उस प्रलयकाल में केवल कभी अस्त न होने वाले सूर्यदेव-स्वयं ज्योति, अजन्मा, रोग-शोक से रहित, सदा सर्वशक्तिमान् सर्वस्वरूप, परमात्मा महेश्वर ही विराजमान होते हैं। जहाँ से वाणी उन्हें न पाकर लौट आती है अर्थात जहाँ वाणी की पहुँच नहीं हो पाती, जो जीवन्मुक्त महात्माओं के द्वारा जाने जाते हैं, सांख्यदर्शन के अनुयायी जिन्हें पुरुष कहते हैं, वेदान्तवादी 'ब्रह्म' नामसे जिनका चिन्तन करते हैं, विज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि में जो परम निर्मल विज्ञानमात्र हैं, जिन्हें शून्यवादी शून्य कहते हैं, जो सूर्य के प्रकाश के भी प्रकाशक हैं; जैसे नदी-नाले आदि के जल अन्ततोगत्वा महासागर में ही गिरते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्यसमूह महाप्रलयकाल में जिनमें ही विलीन होते हैं; जो आकाश में, विभिन्न शरीरों में, प्रस्तरों में, जल में, लताओं में, धूलिकणों में, पर्वतों में, वायु में और पाताल आदि सभी देश, काल एवं वस्तुओं में समान भाव से स्थित हैं; जिन्होंने आकाश को शून्य, पर्वतों को घनीभूत और जल को द्रवीभूत बनाया है, जगत को दीपक की भाँति प्रकाशित करने वाले सूर्य जिनके अधीन हैं; जैसे मरुभूमि में सूर्य की तपती हुई किरणों के भीतर जलराशि लहराती दिखायी देती है, उसी प्रकार जिन अत्यन्त व्यापक परमात्मारूपी महासागर में अविर्भाव और तिरोभाव (उत्पत्ति

और प्रलय) से युक्त त्रिलोकरूपिणी तरंगें उठती रहती हैं, जो सम्पूर्ण व्यावहारिक सत्ताओं से ऊँचे उठे हुए-सर्वविलक्षण पारमार्थिक सत्ता से सम्पन्न हैं; जिनसे ही नियति, देश, काल, चलन, चेष्टा और क्रिया आदि समस्त भावों को कार्य-निर्वाह की क्षमता प्राप्त हुई है-वे एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही उक्त महाप्रलय के समय शेष रहते हैं। वे परमात्मा उत्पत्ति-स्थिति आदि से रहित, कभी अस्त न होने वाले, नित्य प्रकाशमान ज्ञान से परिपूर्ण एवं विकार शून्य अपने स्वरूप में ही स्थित हैं। वे एकमात्र अद्वितीय ही हैं। अतएव वे माया से अनेक विशाल संसारों-अगणित ब्रह्माण्डों की रचना करते हुए भी वास्तव में न कोई कार्य करते हैं और न उनसे कोई चेष्टाएँ ही बनती हैं।

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

ज्ञान से ही परासिद्धि या परमात्मा की प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! परब्रह्म परमात्मा देवताओं के भी देवता हैं। उनके ज्ञान से ही परम सिद्धि (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, क्लेशयुक्त सकाम कर्मों के अनुष्ठान से नहीं। संसार बन्धन की निवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान ही साधन है, ज्ञान के अतिरिक्त सकाम कर्म आदि का इसमें कोई भी उपयोग नहीं है; क्योंकि मृग तृष्णा में होने वाले जल के भ्रम का निवारण करने के लिये ज्ञान का ही उपयोग देखा गया है-ज्ञान से ही उस भ्रम की निवृत्ति होती है, किसी कर्म से नहीं। सत्संग तथा सत-शास्त्रों के स्वाध्याय में तत्पर होना ही ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति हेतु है। वह परमात्मा सत्स्वरूप ही है। ऐसे ज्ञानमात्र से ही जीव के दुःख का निवारण होता है तथा वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त होता है।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-गुरुदेव! सब के आत्मस्वरूप इन परमात्मा के ज्ञान मात्र से कष्टप्रद जन्म-मरण आदि फिर कभी बाधा नहीं देते। अतः बताइये, ये महान् देवाधिदेव परब्रह्म परमात्मा किस उपाय से शीघ्र प्राप्त होते हैं ? किस तीव्र तपस्या से अथवा कितने महान् क्लेश उठाने से इनके ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम! अपने पौरुषजनित प्रयत्न से विकास को प्राप्त हुए विवेक के द्वारा उन परमात्मदेव का यथार्थज्ञान होता है। इसलिये पुरुषोचित

प्रयत्न के द्वारा भवरोग के निवारण के लिये मुख्य औषधों का संग्रह करना चाहिये। सत-शास्त्रों का अभ्यास और सत्पुरुषों का संग ये दो प्रधान औषधें संसाररूपी रोग का नाश करने वाली हैं। इस जगत में सम्पूर्ण दुःखों के विनाश की सिद्धि के लिये एकमात्र पुरुष प्रयत्न ही प्रधान साधन है। उसे छोड़कर दूसरी कोई गति या उपाय काम दे सके, यह सम्भव नहीं। रघुनन्दन! आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये अपेक्षित उस पुरुषप्रयत्न का स्वरूप कैसा है, जिसका पूर्णतया पालन करने से राग द्वेषमयी महामारी शान्त हो जाती है-यह बताता हूँ, सुनो। मुमुक्षु पुरुष को चाहिये कि वह यथासम्भव ऐसी वृत्ति के द्वारा जो लोक और शास्त्र के विरुद्ध न हो, निष्कामभाव से जीवन-निर्वाह करता हुआ संतुष्ट-चित्त हो भोगवासना का परित्याग करे। अपनी अनुद्विग्नता (उद्वेगशून्यता अथवा शान्तवृत्ति) के द्वारा यथासम्भव उद्योग करके सत्संग और सत-शास्त्रों का अभ्यास-इन दो साधनों की सबसे पहले शरण लेनी चाहिये। जो पुरुष प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ भी मिल जाय, उसी से संतुष्ट रहता है, सत्पुरुषों अथवा शास्त्रों द्वारा निन्दित वस्तु की ओर आँख उठाकर नहीं देखता और सत्संग एवं सत-शास्त्रों के अभ्यास में तत्पर रहता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। देश में प्रायः सज्जन (शास्त्रोक्त सदाचार में प्रतिष्ठित) पुरुष जिसे श्रेष्ठमहात्मा कहते हैं, वह यदि ज्ञान-वैराग्य आदि उत्तम गुणों से युक्त हो तो अवश्य ही श्रेष्ठ महात्मा है। ऐसे महात्मा की प्रयत्नपूर्वक शरण लेनी चाहिये। सम्पूर्ण विद्याओं में अध्यात्म विद्या प्रधान है। उस अध्यात्मतत्त्व की चर्चा से युक्त जो उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता आदि सद्ग्रन्थ हैं, उन्हीं को सतशास्त्र कहते हैं। उनका विवेक पूर्वक विचार करने से मनुष्य मुक्त हो जाता है। जैसे निर्मली के चूर्ण के संसर्ग से जल की मैल साफ हो जाती है तथा जिस प्रकार योग के अभ्यास से लोगों की बुद्धि शुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार सत-शास्त्र और सत्संग से प्राप्त हुए विवेक के द्वारा अज्ञान का बल पूर्वक निवारण हो जाता है।

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

↔

छठवाँ सर्ग

परमात्मा के ज्ञान की महिमा

श्री वसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! जिन परमात्म-देवकी चर्चा की गयी है, ये कहीं दूर नहीं रहते, सदा शरीर में ही स्थित हैं और चिन्मय (चेतन) रूप से

विख्यात हैं। ये ही चिन्मय चन्द्रशेखर शिव हैं। ये ही चिन्मय गरुड़वाहन विष्णु हैं। ये ही चिन्मय सूर्य हैं तथा ये ही चिन्मय ब्रह्मा हैं। कार्य–कारण स्वरूप इन परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होजाने पर इस साधनपरायण के हृदय की गाँठ (चिज्जड ग्रन्थि) खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय छिन्न–भिन्न हो जाते हैं और सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

श्रीराम! जब परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब विष के वेग के शान्त होने पर जैसे विषूचिका मिट जाती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दुःखों की परम्परा नष्ट हो जाती है।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन्! जिनका ज्ञान या साक्षातकार होने पर मन सम्पूर्ण मोह–महासागर के पार हो जायेगा, उन परब्रह्म परमात्मा का यथार्थ स्वरूप कैसा है ? इसका मेरे समक्ष वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन! जिस ज्ञानरूपी महा सागर में नाश आदि विकार के बिना ही ज्यों–के–त्यों स्थित हुए इस संसार का अत्यन्त अभाव ही सिद्ध होता है, वही परमात्मा का स्वरूप है। जो परम चिन्मय होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी अज्ञानी जनों की दृष्टि में विशाल पाषाण की भाँति स्थूल रूप से स्थित प्रतीत होता है तथा अजड़ (चिन्मय) होता हुआ भी मूढ़ मनुष्यों के अन्तःकरण में जड़ के तुल्य ही जान पड़ता है, वह परमात्माका स्वरूप है।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा–मुने! परमात्मा सत है, यह कैसे जाना जाता है ? तथा इतने बड़े जगत नामक दृश्य को असत कैसे समझा जाता है ? आप कहते हैं इसकी उत्पत्ति हुई ही नहीं, यह बिना हुए ही प्रतीत हो रहा है; यह बात कैसे समझ में आये ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन! जैसे रूपहीन आकाश में भ्रमवश नील, पीत आदि वर्णों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय ब्रह्म में यह जगत सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हुआ है। इस भ्रम के अत्यन्ताभाव का निश्चय हो जाने पर जो शेष रह जाता है, उसी परमार्थ वस्तु का बोध होता है। जिसका बोध होता है, वह परमात्मा उस जानने वाले पुरुष का आत्मा ही हो जाता है। जब तक इस जगत नामक दृश्य की अपनी सत्ता का अत्यन्ताभाव अथवा मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक परम तत्त्वरूप परमात्मा को कभी कोई जान नहीं

सकता। असत पदार्थ की सत्ता नहीं होती और सत वस्तु का कभी अभाव नहीं होता। जो वस्तु स्वभाव से है ही नहीं, उसके निवारण में–उसे मिथ्या समझकर त्याग देने में कौन सी कठिनाई है ? यह जो विस्तृत जगत दिखायी देता है, पहले उत्पन्न नहीं हुआ था। यह चिन्मात्र होने के कारण निर्मल आत्मा में ही कल्पित है, अतः ब्रह्मरूप ही है। उससे अतिरिक्त इसकी कोई सत्ता नहीं है। जगत नाम से न यह कभी उत्पन्न हुआ, न है और न दिखायी ही देता है। जैसे सुवर्ण में कल्पित कटक–कुण्डल आदि का सुवर्ण–दृष्टि से अभाव ही है, उसी प्रकार ब्रह्म में कल्पित जगत का ब्रह्म दृष्टि से अभाव ही सिद्ध होता है। अतः इसके परिमार्जन में–इसे असत समझ लेने में क्या परिश्रम है ?

अब मैं बहुत–सी युक्तियों द्वारा इस विषय का कुछ विस्तार के साथ इस तरह प्रतिपादन करूँगा, जिससे अबाधित (परमार्थ) तत्त्व का स्वयं ही अनुभव हो जाता है। जो पहले (सृष्टि के आरम्भ में) ही उत्पन्न नहीं हुआ, उसका यहाँ अस्तित्व कैसे हो सकता है। मरुभूमि में जलपूर्ण नदी की सत्ता कैसे सम्भव है। भ्रम से प्रतीत होने वाले द्वितीय चन्द्रमा में ग्रहभाव कैसे हो सकता है। जैसे वन्ध्या का पुत्र नहीं होता, जैसे मरुभूमि में जल की सरिता नहीं बहती और जैसे आकाश में वृक्ष नहीं होता, उसी तरह जगत–रूप भ्रम की भी कहीं सत्ता नहीं है। श्रीराम! यह जो कुछ दिखायी देता है, वह सब रोग–शोकसे रहित ब्रह्म ही है। इस विषय का मैं आगे चलकर केवल वाणी द्वारा ही नहीं, युक्तियों से भी प्रतिपादन करूँगा। उदारबुद्धि रघुनन्दन! तत्त्वज्ञ पुरुष जिस विषय का युक्तियों द्वारा वर्णन करते हैं, उसकी अवहेलना करना कदापि उचित नहीं है। जो मूढ़बुद्धि मानव युक्तियुक्त वस्तु का अनादर करके कष्टसाध्य (युक्ति शून्य) वस्तु में आग्रह रखता है, उसे विद्वान् लोग अज्ञानी ही समझते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा–भगवन्! यह किस युक्ति से जाना जाता है कि यह दृश्यमान जगत ब्रह्म ही है ? यह बात कैसे सिद्ध होती है ? यदि युक्तियों द्वारा इस विषय का अनुभव हो जाय, तब तो फिर जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन! यह मिथ्या ज्ञानरूपिणी विषूचिका चिरकाल से दृढ़मूल हो गयी है। इसी का नाम जगत है और इसी को अविचार कहते हैं। यह ज्ञान के बिना निवृत्त नहीं होती। जो जिस पदार्थ को पाना चाहता है और

उसके लिये पूरा प्रयत्न करता है, वह उस पदार्थ को अवश्य प्राप्त कर लेता है। परंतु यह बात तभी सम्भव होती है, जब वह बीच में ही थक कर या ऊबकर प्रयत्न से मुँह न मोड़ ले।

श्रीरामजी ने पूछा–शास्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ गुरुदेव आत्मज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये कौन–सा शास्त्र मुख्य है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को फिर कभी शोक नहीं होता ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–महामते! जिन शास्त्रों में मुख्यतः आत्मज्ञान का ही प्रतिपादन हुआ है, उनमें यह महारामायण नामक शास्त्र ही सबसे श्रेष्ठ और शुभ है। इस उत्तम इतिहास का श्रवण करने से बोध प्राप्त हो जाता है। इसे समस्त इतिहासों का सार कहा गया है। इस वाङ्मय (शास्त्र) का श्रवण कर लेने पर कभी क्षीण न होने वाली जीवन्मुक्ति स्वयं ही प्रकट हो जाती है। इसलिये यही सबकी अपेक्षा अत्यन्त पावन है। जैसे स्वप्न आदि के रहते हुए ही यह स्वप्न है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर उस स्वप्न के सच्चे होने की भावना नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार इस शास्त्र का विचार करने से जब यह समझ में आ जाता है कि सारा जगत स्वप्न के समान मिथ्या है, तब यह दृश्य जगत ज्यों–का–त्यों स्थित रहकर भी ज्ञानी की दृष्टि में असत को प्राप्त हो जाता है। आत्मज्ञान के लिये अपेक्षित जो–जो युक्तियाँ इस शास्त्र में हैं, वे ही दूसरे ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती हैं। इसीलिये विद्वान् पुरुष इस महारामायण को सम्पूर्ण विज्ञान–शास्त्ररूपी धन का कोष (खजाना) मानते हैं। जो पुरुष प्रतिदिन इस महारामायण का श्रवण करता है, उसमें उत्कृष्ट चमत्कार आ जाता है। उसकी बुद्धि अन्य ग्रन्थों के स्वाध्याय से उत्पन्न हुए बोध की अपेक्षा उत्तम बोध को प्राप्त कर लेती है, इसमें संशय नहीं। किसी दुष्कर्म के फल का उदय होने के कारण जिसकी इस ग्रन्थ के प्रति रुचि अथवा श्रद्धा नहीं है, जिसे यह शास्त्र नहीं रुचता, वह दूसरे किसी ज्ञान प्रधान सत–शास्त्र का विचार करे (उससे हमारा कोई द्वेष नहीं है)। जैसे उत्तम औषध का पान करने पर स्वयं ही नीरोगता प्राप्त हो जाती है, उसी तरह इस योगवसिष्ठ महारामायण का श्रवण कर लेने पर जीवन्मुक्ति का स्वयं अनुभव होने लगता है।

छठवाँ सर्ग समाप्त

⟷

सातवां सर्ग

परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! जिनके चित्त परमात्मा चिन्तन में लगे हुए हैं, जिनके प्राण उन्हीं में रम रहे हैं, जो परस्पर परमात्म तत्त्व का बोध कराते हुए सदा परमात्मा की ही चर्चा करते हैं, उसी से ही संतुष्ट होते हैं और उसी में निरन्तर रत रहते हैं, एकमात्र ज्ञान में ही जिनकी निष्ठा है तथा जो सदा परमात्म ज्ञान का ही विचार करते हैं, उन पुरुषों को ही वह जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, जो देह–त्याग के अनन्तर विशुद्ध मुक्ति ही है।

शास्त्रानुकूल व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष की दृष्टि में ज्यों का त्यों स्थित हुआ यह जगत विलीन हो जाता है और आकाश के समान शून्य प्रतीत होने लगता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो व्यवहार में लगा हुआ ही एक मात्र बोधनिष्ठा को प्राप्त हो, जाग्रत्–अवस्था में भी सुषुप्त–पुरुष की भाँति राग द्वेष एवं हर्ष–शोकादि से शून्य हो जाता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जिसके मुख की कान्ति सुख में उदित (अथवा वृद्धि को प्राप्त) नहीं होती तथा दुःख में अस्त नहीं हो जाती और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसी से जो संतोषपूर्वक जीवन निर्वाह करता रहता है, वही जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो निर्विकार आत्मा में सुषुप्त की भाँति स्थित रहता हुआ भी अविद्यारूपिणी निद्रा का निवारण हो जाने से सदा जागता रहता है, जिसकी जाग्रत् अवस्था नहीं है (अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि का बोध हो जाने से जो इन्द्रियों द्वारा पदार्थों का उपभोग नहीं करता) और जिसका ज्ञान सर्वथा वासनारहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसमें अहंकार का भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्म करते समय कर्तृत्व के और न करते समय अकर्तृत्व के अभिमान से लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो ज्ञान स्वरूप परमात्मा के किंचित उन्मेष और निमेष से ही तीनों लोकों की प्रलय और उत्त्पत्ति देखता है तथा जिसका सबके प्रति अपने समान ही भाव है अर्थात जो सबके प्रति आत्मभाव रखता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिससे लोगों को उद्वेग नहीं होता और जिसको लोगों से उद्वेग नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष और भय से रहित है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसकी संसार के प्रति सत्यता बुद्धि नष्ट हो गयी है, जो दूसरों की दृष्टि में अवयवों से युक्त होने पर भी वास्तव में अवयव रहित है तथा जो

चित्तयुक्त होकर भी वस्तुतः चित्त से शून्य है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

श्रीराम! विदेहमुक्ति ही मुक्ति कहलाती है। इसी को ब्रह्म कहा गया है और इसी को निर्वाण कहते हैं। इसकी प्राप्ति कैसे होती है, यह बता रहा हूँ; सुनो। मैं, तुम, यह, वह इत्यादि रूप से जो यह दृश्य-प्रपंच दिखायी देता है, यह यद्यपि सतरूप से प्रतीत होता है, तथापि वन्ध्या पुत्र के समान इसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं-ऐसा निश्चय हो जाने पर यह मुक्ति प्राप्त होती है। जो अद्वितीय, शान्त, चिन्मय और आकाश के समान निर्मल है, वह ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत है; क्योंकि सब में सत्तामात्र का ही तो बोध होता है। रघुनन्दन! मैंने सोने के कड़े में बहुत विचार करने पर भी विशुद्ध सुवर्ण के सिवा कहीं कोई कड़ा नाम की वस्तु नहीं देखी। जल की तरंग में मैं जल के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं देखता; क्योंकि जहाँ वैसी तरंग नहीं दिखायी देती, वहाँ भी जल के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वायु के अतिरिक्त कभी कहीं भी स्पन्दन सदा वायुरूप ही है। अतः इन दृष्टान्तों के अनुसार यह जगत भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे आकाश में शून्यता है, मरुभूमि में ताप ही जल है और प्रकाश में सदा तेज स्थित है, उसी प्रकार ये तीनों लोक परब्रह्म परमात्मा ही हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा-मुने! जिस युक्ति से इस दृश्य-जगत् के अत्यन्ताभाव का बोध होकर मुक्ति का उदय हो, उस उत्तम युक्ति का आप मुझे उपदेश कीजिये। द्वैत का अभाव होने पर ही निर्वाण सुलभ होता है, इसलिये जिस प्रकार इस दृश्य जगत की अत्यन्त असत्ता सिद्ध हो और इसके रूप में स्वभावनिष्ठ ब्रह्म ही विराजमान है-यह बोध हो जाय, वैसा ही उपदेश मुझे दीजिये। महर्षे! किस युक्ति से इस बात का ज्ञान होता है और कैसे यह बात सिद्ध होती है ? इस ज्ञान के सिद्ध हो जाने पर तो फिर कुछ साध्य (कर्तव्य) शेष नहीं रह जायगा।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन! यह मिथ्या ज्ञानरूपिणी विषूचिका चिरकाल से दृढ़मूल हो गयी है। निश्चय ही विचाररूपी मन्त्र से इसका समूल नाश हो जाता है। सब प्रकार की वस्तुओं से युक्त तथा देवता, असुर और किंनर आदि सहित यह जो कुछ भी स्थावर जंगमरूप सारा जगत दिखायी देता है, वह महाप्रलय काल में असत एवं अदृश्य रूप होकर न जाने कहाँ चला जाता और नष्ट हो जाता है। तदनन्तर नाम और रूप से रहित, शान्त, गम्भीर एवं

अनिर्वचनीय 'सत' अवशिष्ट रहता है। वह न तो तेज है न फैला हुआ अन्धकार है; न शून्य है, न आकारवान् है; न दृश्य है, न दर्शन है और न भूतों तथा भौतिक पदार्थों का समूह ही है। वह विलक्षण सद्वस्तु अनन्तरूप से स्थित है। नाम, रूप से रहित होने के कारण ही उसके स्वरूप का विशेषरूप से वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका स्वरूप पूर्ण से भी पूर्णतर है। वह दृश्य-शून्य, चिन्मात्र, असीम, अजर, शिव, आदि मध्य से रहित है। उसके न कान हैं न जीभ, न नासिका है, न त्वचा है और न नेत्र ही हैं; तथापि वह सदा सभी जगह सुनता है, रस का आस्वादन करता है, सूँघता है, स्पर्श करता है और देखता है। जिस प्रकाश से पूर्वोक्त सदसत-स्वरूप प्रपंच दिखायी देता है, वह चैतन्यमय प्रकाश भी वही है। विविध सृष्टियों से विचित्र रूप धारण करने वाला भी वही है। आदि-अन्त से शून्य स्वरूप को पाकर सर्वत्र प्रकाशित होने वाला नित्य चेतन ब्रह्म भी वही है।

जो सामान्यतः तो सर्वत्र प्रकाशित होते हैं, परंतु अन्तःकरण में विशेषरूप से निरन्तर प्रकाशित होते हुए विद्यमान रहते हैं, जो चिन्मय दीप हैं तथा जिनके ही प्रकाश से तीनों लोक प्रकाशित होते हैं, जिनके बिना ये सूर्य आदि सारे प्रकाश अन्धकार के तुल्य हैं, जिनके रहने पर ही त्रिभुवनरूपी मृग-तृष्णा की प्रवृत्ति होती है (अर्थात जैसे सूर्य की किरणों के प्रकाशित होने पर ही उनमें मृग-तृष्णा के जल की प्रतीति होती है, उसी प्रकार जिन चिन्मय परमात्मा में ही त्रिलोकीरूपी भ्रम का उदय होता है), जगत की सृष्टि और संहार जिनके विलास हैं, जो सबसे महान् व्यापक हैं, स्पन्द और अस्पन्द (चल और अचल) जिनके स्वरूप हैं, जिनका स्वभाव निर्मल और अविनाशी है, वायु के समान जिनकी गतिशील और गतिहीन सर्वव्यापिनी सत्ता व्यवहारवश केवल नाम से ही भिन्न है, वास्तव में भिन्न नहीं है, वही चिन्मय परमात्मा हैं।

जो सदा ही जगा हुआ है, सर्वदा ही सोया हुआ है तथा जो सर्वत्र और सदा ही न तो सोया है और न जागा ही हुआ है, जिसका स्पन्द रहित (निश्चल) रूप कल्याणस्वरूप और शान्त है, जिसका स्पन्दनशील स्वरूप ही तीनों लोकों की स्थिति है, स्पन्द और अस्पन्द का विलास ही जिसका स्वरूप है; जो अद्वितीय एवं परिपूर्ण स्वरूप है, फूलों में सुगन्ध की भाँति सब पदार्थों में साररूप से स्थित है, विनाशशील वस्तुओं में भी अविनाशी रूप से विद्यमान है,

सम्पूर्ण वस्तुओं का प्रत्यक्ष करने वाली वृत्तियों में प्रकाशरूप से स्थित होकर भी जो श्वेत वस्त्र में स्थित श्वेतता की भाँति अग्राह्य है, जो वाग् आदि इन्द्रियों से रहित होने के कारण गूँगे के समान होता हुआ भी सब की वाणी की प्रवृत्ति में कारण होने से गूँगा नहीं है; जो मननरूप विकार से रहित होने के कारण पाषाण के समान होता हुआ भी मननशील है, नित्य तृप्त होता हुआ भी भोक्ता है और अकिंचन (क्रिया आदि से रहित) होता हुआ भी कर्ता है; जो अंगरहित है तथापि सम्पूर्ण लोकों के अंग जिसके अपने ही अंग हैं; जो सहस्त्रों भुजाओं और नेत्रों से युक्त है, अकिंचन रूप से स्थित होने पर भी जिसने सम्पूर्ण जगत को व्याप्त कर रक्खा है; जो इन्द्रिय-बल से हीन है तो भी जिससे सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार होते रहते हैं; जो मनन शून्य है तथापि जिससे ये मनोनिर्माण की रीतियाँ प्रकट होती हैं जिसका साक्षात्कार न होने से भ्रान्तिजनित संसार रूपी सर्प का भय बना रहता है तथा जिसका दर्शन (ज्ञान) हो जाने पर सारी आशाएँ और सम्पूर्ण भय सब ओर भाग जाते हैं; जैसे समुद्र से छोटी-छोटी लहरों के समूह से युक्त चंचल, उत्ताल तरंगें प्रकट होती रहती हैं, उसी तरह जिससे घट-पट आदि के रूप में सैकड़ों पदार्थों की श्रेणियाँ प्रादुर्भूत होती हैं; जैसे कड़े बाजूबंद, बहूँटा और नूपुर आदि के रूप में सुवर्ण ही अन्य-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार शत-शत घटादि पदार्थों के भ्रम से जो अन्य-सा भासित होता है; जैसे जल में प्रतिक्षण नष्ट होने वाली तरंग माला प्रकट होती रहती है, उसीप्रकार जिससे अन्य-सी, अतिरिक्त सी, पहले जैसी और नूतन-सी क्षणभंगुर दृश्य परम्परा स्फुरित होती है, उसे चिन्मयपरमात्मा ही समझो।

रघुनन्दन! तुम जिस रूप में स्थित होकर क्रिया, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और चेतन को जानते हो, वह प्रमाता चेतन भी वही है और जिससे जानते हो, वह भी परमात्म देव ही है। साधो! द्रष्टा, दर्शन और दृश्य के मध्य में साक्षीरूप से जिसका दर्शन होता है, उसे तुम एकाग्रचित्त होकर अपना आत्मा ही समझो। श्रीराम! वह परब्रह्मपरमात्मा अजन्मा, अजर, अनादि, सनातन, नित्य, कल्याणमय, निर्मल, अमोघ, सबका परम वन्दनीय, अनित्य, समस्त कलनाओं से शून्य, कारणों का भी कारण, अनुभवरूप अवेद्य, ज्ञानस्वरूप, विश्वरूप तथा अन्तर्यामी है।

सातवां सर्ग समाप्त

आठवां सर्ग

परमार्थ-तत्त्व का लक्षण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! यह जगत न तो कभी परब्रह्म से उत्पन्न होता है और न उसमें लीन ही होता है। इसप्रकार केवल यह सद्‌ब्रह्म ही सदा अपने आप में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म में जो शून्य शब्दार्थ की कल्पना की गयी है अर्थात उसे जो शून्य कहा गया है, वह अशून्य की अपेक्षा से है। वास्तव में वह अशून्यरूप (सत) है। उसमें शून्यता और अशून्यता की कल्पनाएँ कैसे सम्भव हैं। चेतन आकाशरूप इस ब्रह्म का प्रकाश केवल अपने अनुभव का ही विषय है। जो बुद्धि आदि के भीतर अन्तर्यामीरूप से स्थित है, उसका वही अनुभव करता है, दूसरा नहीं (क्योंकि वह स्वानुभवैकवेद्य है)। निश्चल होने के कारण सौम्य (शान्त) आकार वाले महासागर के जल में जिसप्रकार बड़ी-बड़ी लहरें विद्यमान रहती हैं, निराकार ब्रह्म में उसीके समान यह विश्व स्थित है। पूर्ण से पूर्ण का ही प्रसार होता है; जो पूर्ण में स्थित है, वह पूर्ण ही है। अतः विश्व कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ और जो उत्पन्न हुआ है, वह तत्स्वरूप (ब्रह्मरूप) ही है। वह परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म, अत्यन्त अणु से भी अधिक अणु, परम शुद्ध, सूक्ष्म, शान्त और आकाश के मध्य भाग से भी बढ़कर निर्मल है। दिशा, काल और परिमाण से उसका स्वरूप सीमित नहीं है; अतएव वह अत्यन्त विस्तृत (सर्व व्यापक) है। उसका आदि अन्त नहीं है। वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है, दूसरे किसी प्रकाश से प्रकाशित होने योग्य नहीं है।

श्रीरामजी ने पूछा-भगवन्! अनन्त चेतनस्वरूप उस परमात्म तत्त्व का कैसा रूप है-इस विषय को आप फिर मुझ से कहिये, जिससे उसका भली-भाँति बोध हो जाय।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन! महाप्रलय होने पर सम्पूर्ण कारणों का भी कारण परब्रह्म परमात्मा ही शेष रहता है। उसका वर्णन किया जाता है, सुनो। समाधि में निरोध के द्वारा जब मन की वृत्तियों का क्षय हो जाता है, तब मन के अपने स्वरूप का नाश करके जो अनिर्वचनीय स्वप्रकाश सद्‌रूप अवशिष्ट रहता है, वही उस अनन्त चिन्मय परमार्थ वस्तु का रूप है। जब दृश्य जगत नहीं रहता और दृश्य के अभाव से द्रष्टा भी विलीन हुआ-सा प्रतीत होता है, उस समय जो द्रष्टा, दृश्य और दर्शन-इस त्रिपुटी के लय का प्रकाशक साक्षी

रूप से अवशिष्ट रहता है, वह चिन्मय ब्रह्म ही उस परमार्थ वस्तु का स्वरूप है। जीवस्वरूपा चित-सत्ता का जो अचिन्तनीय चिन्मय निर्मल एवं शान्तस्वरूप है, वही उस परमार्थ वस्तु या परमात्मा का रूप है। आकाश का जो रहस्य (व्यापकत्व) है, शिला का जो तात्त्विकरूप घनत्व है तथा वायु का जो गूढ़ रूप अन्तर-बाहर में परिपूर्ण होना है, वही उस चेत्य-भिन्न (दृश्यरहित) चेतन आकाशस्वरूप परमात्मा का स्वरूप है। वेदन (बुद्धि-वृत्ति) का, प्रकाश (पदार्थों की स्फुरणा) का, दृश्य (विषय) का और तम (अज्ञान) का साक्षभूत जो अनादि-अनन्त वेदन (ज्ञान) है, वही उस परमात्मा का रूप है। ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञात-सामने प्रतीत होने वाली यह त्रिपुटी जहाँ उदित होती है, जिसमें स्थित रहती है और जिसमें ही लीन हो जाती है, वही उस परमात्मा का परम दुर्लभ रूप है।

श्रीरामजी ने पूछा-ब्रह्मन्! जो 'इदम्' रूप से प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है और जिसका आप ब्रह्म में अभाव कहते हैं, वह यह दृश्य-जगत महाप्रलय होने पर कहाँ स्थित होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन! जैसे वन्ध्या के पुत्र और आकाश में वन कभी नहीं होते, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण दृश्य जगत तीनों कालों में कभी अस्तित्व में नहीं आता। जगत न कभी उत्पन्न हुआ है और न उसका कभी नाश ही होता है। जिसकी पहले सत्ता ही नहीं है, उसकी उत्पत्ति कैसी, और उसके विनाश की चर्चा कैसी ?

श्रीरामजी ने पूछा-वन्ध्यापुत्र और आकाश-वृक्ष की कल्पना तो की ही जाती है। वह कल्पना जैसे उत्पत्ति और विनाश से युक्त है, उसी प्रकार यह जगत भी जन्म और नाश से युक्त क्यों नहीं होगा ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-जैसे सोने के कड़े में सुस्पष्ट दिखायी देने वाला यह कटकत्व वास्तव में है नहीं, सुवर्ण ही उसके रूप में भासित होता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में जगत नाम की कोई वस्तु नहीं है (जिसे हम जगत कहते हैं, वह ब्रह्म ही है)। जैसे आकाश में जो शून्यता है, वह आकाश से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म में प्रत्यक्ष उपलब्ध होने पर भी यह जगत उससे भिन्न नहीं है। जैसे कालिमा काजल से भिन्न नहीं है और जैसे शीतलता बर्फ से पृथक् नहीं है, उसी तरह परमपद-परमात्मा में पृथक् प्रतीत होने वाला जगत

नहीं है। जैसे शीतलता चन्द्रमा से और हिम से अलग नहीं होती, उसी प्रकार यह सृष्टि भी ब्रह्म से पृथक् नहीं है। जैसे मरु भूमि में प्रतीत होने वाली मृग-तृष्णा के नदी में जल नहीं है तथा जैसे नेत्रदोष से प्रतीत होने वाले द्वितीय चन्द्रमा में चन्द्रत्व नहीं है, उसी प्रकार निर्मल परमात्मा में प्रत्यक्ष दीखने पर भी जगत नाम की कोई वस्तु नहीं है। स्वप्न में-स्वप्न देखने वाले पुरुष के अन्तःकरण में जो स्वप्न जगत की भ्रान्ति होती है, वह जैसे संवित (ज्ञान) का विकास मात्र है, उसी तरह सृष्टि के प्रारम्भिक काल में ब्रह्म में ही इस जगत का विकास हुआ है। अतः यह उससे भिन्न नहीं है। जैसे द्रवत्व (तरलता) जल रूप ही है, स्पन्दन (कम्पन) वायु रूप ही है और जैसे आभास प्रकाशरूप ही है, उसी प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान-तीनों कालों में प्रतीत होने वाला जगत ब्रह्म रूप ही है। जिस प्रकार स्वप्न देखने वाले पुरुष के भीतर का चैतन्य ही ग्राम-नगर आदि-जैसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार परमात्मा में उसका अपना चिन्मय स्वरूप ही जगत-सा भासित होता है।

श्रीरामजी ने पूछा-ब्रह्मन्! यदि यह दृश्य रूपी विष उत्पन्न होकर भी स्वप्नगत जगत के समान मिथ्या ही है, तो इसकी इतनी सुदृढ़ प्रतीति कैसे हो रही है-यह बताइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम! यह जगत् सर्वात्मक (ब्रह्ममय) ही है, ब्रह्म से भिन्न कदापि नहीं। जगत रूप में जो इसकी प्रतीति होती है, वह सर्वथा असत है। रघुनन्दन! यह प्रसिद्ध परमात्मा एक ही है। उसके विषय में द्वितीय होने की कोई कल्पना नहीं है। उस अद्वितीय परमात्मा में यह जगत जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, वह तुम्हें आगे चलकर बताऊँगा। प्रिय श्रीराम! उसी से ये सारे दृश्य पदार्थ विस्तार को प्राप्त हुए हैं। यह परमात्मा ही यह व्यष्टि और समष्टि रूप जगत है। दृश्य वस्तुओं के दर्शन और मननीय वस्तु के मनन के जो-जो प्रकार हैं, उनके रूप में वह स्वयं ही उदित हो विलीन होता रहता है-उसी के आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं।

आठवाँ सर्ग समाप्त

उत्पन्न हुई कोई वस्तु दिखायी नहीं देती; केवल अनन्त, निर्मल ब्रह्माकाश ही सर्वत्र विद्यमान है। संकल्प द्वारा निर्मित नगर के समान यह दृश्य-प्रपंच सत-सा प्रतीत होने पर भी सत नहीं है। स्वयं उदित हुआ यह प्रपंच उस चित्र के समान है, जिसका किसी चित्रकार ने न तो निर्माण किया है और न उसमें रंग ही भरा है। यह बिना बनाये ही बनकर अनुभव में आ रहा है और सत्य न होकर भी सत:-सा स्थित है। महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा आदि के मुक्त हो जाने के कारण निश्चय ही वर्तमान कल्प के ब्रह्मा को कोई पूर्व जन्म की स्मृति नहीं रह जाती, अतः वह स्मृति इस जगत की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकती। इसलिये वर्तमान कल्प में जैसे ब्रह्मा संकल्पमय हैं, वैसे ही उनसे उत्पन्न हुआ यह जगत भी संकल्पजन्य ही माना गया है। इस पृथ्वी आदि की सृष्टि के विषय में जो इस तरह साक्षी का अनादि काल का अनुभव है, उसी को यदि कारण माना जाय तो साक्षिवेद्य स्वप्नदृष्ट पृथ्वी आदि पदार्थ जैसे जागरण अवस्था में मिथ्या सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार अनादि साक्षी के संस्कार से उत्पन्न जगत भी मिथ्या ही सिद्ध होगा।

जैसे जिस किसी भी देश या काल में द्रवत्व जल से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार किसी भी देश या काल में यह सृष्टि परमात्मा से भिन्न नहीं है। इस प्रकार यह सृष्टि भ्रम से ही प्रौढ़ (सुदृढ़ या घनीभूत) प्रतीत होती है। वास्तव में यह विषमता रहित परमात्मा ही इसके रूप में स्थित है। जो ब्रह्माण्ड प्रतीत होता है, वह अत्यन्त निर्मल चिन्मय ब्रह्म ही है (उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है) इसी तरह यह दृश्य-जगत, जो आत्मा में सर्वथा कल्पित भ्रम रूप है, शान्त, आधार रहित, आधेय-शून्य, अद्वैत तथा एकत्व के व्यवहार से भी शून्य ब्रह्मरूप ही है। यद्यपि इस जगत-रूपी भ्रम की प्रतीति होती है, तथापि उसके रूप में कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हुई है। चारों ओर से शून्य जो निर्मल चेतनाकाश (ब्रह्म) प्रतिष्ठित है, वही सदा सर्वत्र अपने स्वरूप से स्थित है। उसमें न सम्पूर्ण संसार है, न उसका कोई आधार है, न आधेय है; न दृश्य है न उसमें द्रष्टापन है; न ब्रह्माण्ड है न ब्रह्मा है और न कहीं कोई वितण्डावाद ही है। न जगत है न पृथ्वी है। यह सम्पूर्ण दृश्य शान्तस्वरूप निर्मल ब्रह्म ही है। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा ही अपने में अपने से विकास को प्राप्त होता है।

जैसे तरल होने के कारण जल ही अपने में आवर्तरूप से प्रतीत होता

है, उसी प्रकार चित-रूप होने के कारण आत्मा ही अपने में जगत-सा प्रतीत होता है। जगत इससे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। असत होता हुआ ही यह प्रतीति का विषय होता और यहाँ सत-सा अनुभव में आता है। अन्त में (महाप्रलय के समय) यह असत होता हुआ ही नष्ट होता है। जैसे स्वप्न में जो अपना मरण दिखायी देता है वह जाग्रत काल में असत ही सिद्ध होता है, उसी प्रकार अज्ञान अवस्था में प्रतीत होने वाला यह दृश्य-प्रपंच ज्ञान होने पर असत ही सिद्ध होता है। (अथवा प्रलय काल में जो इसका संहार होता है, वह स्वप्नावस्था में प्रतीत होने वाले अपने ही मरण के समान मिथ्या है।) अथवा ब्रह्म का अपना ही स्वरूप होने के कारण यह दृश्य-प्रपंच सन्मात्र, अनामय, अखण्डित (परिपूर्ण), अनादि, अनन्त तथा चेतन आकाशरूप ब्रह्म ही है। (उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता ही नहीं है।)

नवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

जगत की पृथम सत्ता का खण्डन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-हे श्रीरामजी! इस प्रकार अहंता आदि दृश्य समूह भूत जगत वास्तव में कोई वस्तु नहीं है। कभी उत्पन्न न होने के कारण इसका अस्तित्व है ही नहीं और जिसका अस्तित्व है, वह तो परब्रह्म परमात्मा ही है। यदि स्वप्न में दिखायी देने वाला पर्वत अविनाशी हो तो यह जगत उसी के समान अविनाशी है। यदि स्वप्न में प्रतीत होने वाला नगर स्थिर हो तो उसी तरह यह जगत भी स्थिर है। (तात्पर्य यह कि जैसे वे अविनाशी और स्थिर नहीं हैं, वही दशा इस जगत की भी है।) यदि चित्रकार का चित्त स्थिर हो और उसमें वासनामय स्थिर चित्र बने तो उस चित्र में कल्पना द्वारा अंकित सेना के समान ही इस जगत की आकृति है अर्थात जैसे उस चित्र में अंकित सेना अस्थिर एवं असत्य है, उसी तरह यह जगत भी है। आदि-प्रजापति का भी, जो स्वयम्भू नाम से पहले-पहल विख्यात हुआ, कोई कारण नहीं है; क्योंकि उसके पूर्वजन्म के कर्म शेष नहीं हैं। महाप्रलय होने पर पूर्व काल के सभी प्रजापति मुक्त हो जाते हैं, अतः उनमें पूर्वजन्म का कर्म कैसे रह सकता है। ब्रह्म ही सबसे प्रथम होने वाला हिरण्य गर्भ है। वही विराट् है और विराट् ही सृष्टि स्वरूप है। इस तरह वह चिन्मय परमात्मा ही जीवाकाश रूप से स्थित है,

जिससे पृथ्वी आदि असत प्रपंच की उत्पत्ति होती है। (तात्पर्य यह कि समस्त जगत ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं।)

केवल एकमात्र शुद्ध चिद्घन निर्मल एवं सर्वव्यापक ब्रह्म ही सदा सर्वत्र विराजमान है। वह सर्वशक्तिमान् होने से जिन-जिन कौशलपूर्ण कल्पनाओं की भावना करता है, उन्हें स्वयं ही प्राप्त करता है-स्वयं तद्रूप हो जाता है। जैसे हाथ में दीपक लेकर ढूँढ़ा जाय या देखा जाय तो अन्धकार अदृश्य हो जाता है, उसका कहीं पता नहीं लगता, उसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश छा जाने पर अज्ञानरूपी अन्धकार का तत्त्व ज्ञात नहीं होता-उसका पता ही नहीं चलता। इसी प्रकार अखण्ड, व्यवधानशून्य, अनादि, अनन्त तथा सर्वशक्तिमान् जीवात्मा, जो कभी बाधित न होने वाले महाचैतन्यरूपी सारभूत अंश से रूपवान् प्रतीत होता है, ब्रह्म ही है-उससे भिन्न नहीं है। वह ब्रह्म सब प्रकार से महान् है-देश, काल और परिणाम से परिच्छिन्न नहीं है इसलिये कहीं उसमें भेद की कल्पना नहीं है और जो भेद की कल्पना होती है, वह भी ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं; क्योंकि सर्वत्र ऐसा ही अनुभव होता है। चेतना की जो यह आकाश से भी सूक्ष्म शक्ति सब ओर फैली है, वह स्वभाव से ही पहले इस अहंता (अहंकार) का दर्शन (अनुसंधान) करती है। जैसे जल अपने आप में स्वयं ही बुद्बुद और तरंग आदि के रूप में स्फुरित होता है, उसी प्रकार जब आत्मा अपने आप में स्वयं ही स्फुरणशील होता है, तब उस चेतन आत्मा की यह चिच्छक्ति उस सूक्ष्म अहंता का दर्शन (अनुसंधान) करती है, जो उत्तरोत्तर स्थूलता को प्राप्त होती हुई अन्त में ब्रह्माण्ड का आकार धारण कर लेती है। चेतन की चमत्कारकारिणी जो चितिशक्ति है, वह स्वयं अपने आप में जिस सुन्दर चमत्कार की सृष्टि करती है, उसी का नाम जगत रख दिया गया है। रघुनन्दन! चेत्य (दृश्य) भूत जो अहंकार है, उसकी कल्पना चैतन्य के अधीन है अर्थात चैतन्य की ही वह कल्पना है तथा तन्मात्रा आदि जो जगत है, उसकी कल्पना अहंकार के अधीन है, इस प्रकार अहंकार और जगत चैतन्य रूप ही हैं। फिर उस चैतन्य में द्वैत और अद्वैत कहाँ रहे।

ईहा अर्थात मन की चेष्टा (संकल्प) रूप जो सारा सूक्ष्म जगत है, वह शून्य ही है तथा इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता देवताओं का निवासभूत जो साकार एवं स्थूल विश्व है, वह भी शून्य ही है; क्योंकि दोनों ही चैतन्य के

चमत्कार रूप (चैतन्य ही) हैं। इसलिये वे चैतन्य से भिन्न नहीं हैं। जो वस्तु जिस वस्तु का विलास होती है, वह उससे कभी भी भिन्न नहीं होती। अवयव युक्त जल आदि के विलास भूत तरंग आदि में भी ऐसा देखा गया है। फिर अवयवरहित चेतन के विलास में अभिन्नता हो, इसके लिये तो कहना ही क्या है। सदा अचेत्य (अदृश्य अथवा रूप से रहित), नामरहित और सर्वव्यापक चैतन्य शक्ति का जो रूप है, उससे स्फूर्ति प्राप्त करने वाले जगत का भी वही रूप है। (चैतन्य की ही जो भिन्न-भिन्न आकार में स्फुरणाएँ होती हैं, वे ही जगत कही गयी हैं; अतः यह जगत उस चैतन्य शक्ति या चेतन आत्मा से भिन्न नहीं है।) श्री राम! चेतनआत्मा का जो चैतन्य है, उसी को जगत समझो। वह चैतन्य जगत से पृथक् नहीं है। यदि चैतन्य को जगद्भाव से रहित या भिन्न माना जाय तो चित चित नहीं रह जायगा-चेतन को चेतन नहीं कहा जा सकेगा। (क्योंकि अपने धर्म या स्वरूप भूत जगत को चेतित-प्रकाशित करने के कारण ही उसको 'चित' या 'चेतन' कहते हैं) अतः चेतन से जगत का प्रतीति मात्र से ही भेद है, वास्तव में भेद नहीं है। ऐसी परिस्थिति में जगत की पृथक् सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है।

चैतन्य प्रधान अहंकार कर्ता है और स्पन्दप्रधान (हिलना-चलना आदि चेष्टामय) प्राण कर्म (क्रिया) है। इन दोनों में कोई भेद नहीं है; क्योंकि कर्ता का अपनी क्रिया से भेद नहीं देखा जाता। चित का स्पन्दनमात्र ही क्रिया (प्राण) है, उससे संयुक्त पुरुष ही 'जीव' कहा गया है। (इस प्रकार जीव और जगत में भी भेद नहीं है।) कार्य-कारण आदि भावरूप जगत चेतन आत्मा से भिन्न नहीं है। वह चैतन्य प्रकाश की एक झलक मात्र है। अतः जहाँ सब भेदों का लय हो गया है, वह परमात्मा ही जगत है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार तत्त्व ज्ञान हो जाने पर यह निश्चय हो जाता है कि मैं अच्छेद्य हूँ (कोई शस्त्र मुझे काट नहीं सकता), मैं अदाह्य हूँ (मुझे आग जला नहीं सकती), मैं अशोष्य हूँ (हवा मुझे सुखा नहीं सकती) तथा मैं नित्य सर्वव्यापी, सुस्थिर और अचल हूँ। जैसे अपने भ्रम से औरों को भ्रम में डालते हुए विवादशील मनुष्य परस्पर विवाद करते हैं, उसी प्रकार जो अज्ञानी हैं, वे ही इस परमात्मतत्त्व के विषय में वाद-विवाद करते हैं। हम लोग तो भ्रमरहित हो गये हैं। अतः हमारे लिये विवाद का अवसर ही नहीं है। अज्ञानी लोगों ने जिसकी सत्ता को दृढ़तापूर्वक

मान रक्खा है, वह दृश्य जगत उनकी दृष्टि में मूर्त एवं सत्य है; अतः उन्हीं की भावना के अनुसार उसमें पृथक् विकार आदि हो सकते हैं। परंतु आत्मज्ञानी की दृष्टि से जो निराकार, असत्य एवं चिन्मय आकाश रूप है, उसमें आत्मा से पृथक् विकार आदि की प्रतीति कैसे सम्भव है। चेतन आत्मा स्वयं अपने स्वरूप में किसी प्रकार का विकार न आने देकर विचित्र आकाश के रूप में आविर्भूत होता है। तत्पश्चात वह चेतन स्वयं ही आकाशजनित वायु होकर विलक्षण स्पन्दन (कम्पन) के साथ प्रकट होता है। इसके बाद (जिसकी उत्पत्ति की चर्चा अभी की जायगी, उस तेजस्तत्त्व के रूप में प्रादुर्भूत हुआ) चेतन स्वयं जल तत्त्व बनकर विचित्र विकास को प्राप्त होता है। वह जल धरती खोद कर निकाले गये कूप, तड़ाग आदि के जलसे भिन्न होता है (क्योंकि पृथ्वी की सृष्टि से पहले उसका उस कूप आदि से सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है)। जलतत्त्व की सृष्टि के बाद वह चेतन स्वयंही सुवर्ण, रजत आदि विचित्रधातुओं से पूर्ण पृथ्वी तत्त्व को-देवता, असुर एवं मनुष्य आदि के शरीर भाव को भी प्राप्त हुआ।

सदा उदित रहने वाला चेतनरूपी चन्द्रमा स्वयं ही अपने विचित्र रसोल्लास से युक्त चाँदनी और महान् चिन्मय प्रकाश बनकर प्रकट हुआ। अपने चैतन्यस्वरूप के ज्ञान के आलोक से दृश्य-प्रपंच रूपी अज्ञानान्धकार के नष्ट हो जाने पर वह चेतनआत्मा रूपी चन्द्रमा स्वयं ही पूर्णता को प्राप्त होकर उदित एवं प्रकाशित होता है और स्वयं ही जड़तावश स्थावर आदि पदार्थों में अहंभाव करने से सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है। चिन्मय महाकाशरूप ब्रह्म स्वयं ही अविचार-दशा में स्पन्दनशील प्राण आदि में आत्म-भाव की कल्पना करने पर स्पन्दी अर्थात् संसारी हो जाता है। फिर विचार करने से 'मैं चेतन ही हूँ' इस प्रकार जब चैतन्य ज्ञान का उदय होता है, तब वह पुनः पूर्ववत् अपने स्वरूप भूत चैतन्य में ही प्रतिष्ठित होता है। यह जगत चेतनरूपी तेज का प्रकाश है। अतः ब्रह्मदृष्टि से तो यह ब्रह्मस्वरूप है, किंतु जगत-दृष्टि से यह सर्वथा अस्तित्व शून्य है। जगत चेतनरूपी एकमात्र आकाश की शून्यता है। ब्रह्मरूप से यह सत है और जगत-रूप से असत। जगत चेतनरूपी आलोक का महान् रूप है। ब्रह्म दृष्टि से वह सत है और उससे भिन्न रूप में उसकी सत्ता का सर्वथा अभाव है। जगत चेतनरूपी वायु का स्पन्दन मात्र है। यह जगन्मयी रेखा चेतनरूपी अग्नि की उष्णता है (जैसे अग्नि का उष्णता से भेद नहीं है,

उसीप्रकार चेतन का जगत से)। यह जगत चेतनरूपी जल का द्रवत्व (तरलता) है, चिन्मय इक्षुदण्ड का माधुर्य है, चैतन्यरूप हिम की शीतलता है, चेतनरूपी ज्वाला की लपटं है, चैतन्यमयी सरिता की तरंग है और चेतनरूपी सुवर्ण का बना हुआ कंकण है, चेतन की सत्ता ही इस जगत की सत्ता है। जैसे आकाश में मल नहीं है-वह सर्वथा निर्मल है, उसीप्रकार चेतन परमात्मा में भेद और विकार आदि नहीं हैं-वह सर्वथा अखण्ड एवं निर्विकार है। इसप्रकार ये तीनों लोक सतआत्मा का स्वरूपभूत होने से सत है, अन्यथा इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

चिन्मय परमात्मा में अवयव और अवयवी-इन दोनों शब्दों के अर्थ खरगोश के सींग की भाँति असत हैं। सम्पूर्ण पदार्थ-समूहों के अधिष्ठानभूत चेतन आकाशमय परमात्मा में इस भूताकाशजनित वायु आदि जगतरूपी मल की प्रतीति होती है; परंतु जब असंग भूताकाश से ही उसके कार्यभूत वायु आदि का सम्बन्ध नहीं है, तब चेतन महाकाशस्वरूप परमात्मा में इस प्रपंच की सत्ता असत्ता तथा तू, मैं आदि भावों के सम्बन्ध कैसे हो सकते हैं ? संसार में जितने कार्य हैं, उन सबके समस्त कारण-समूहों का आदि कारण ब्रह्म है। चित्त से उत्पन्न मनोरथजनित सारे संकल्प-विकल्प असत होते हैं, अतः चित्त स्वभाव से ही किसी का कारण नहीं है। वह अकारणरूप ही है और वही ब्रह्म है। यदि हम कहें कि 'चेत्य जगत के असत होने पर चेतन भी असत हो जायगा; क्योंकि वह अपने स्वरूप भूत चेत्य से पृथक् नहीं है', तो यह ठीक नहीं। चेतन की असत्ता तो वाणीमात्र से भी सिद्ध नहीं की जा सकती; क्योंकि चेतन आत्मा अनुभव से सिद्ध है। जो है, उसका अवश्य उदय होता है, जैसे बीज से अंकुर का। यह बात प्रत्यक्ष देखी गयी है। (अतः यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि परमात्मा की सत्ता से ही जगत की सत्ता है, स्वतन्त्र नहीं।)

महर्षि वसिष्ठ जब इतनी बात कह चुके, तब दिन बीत गया। सूय अस्ताचल को चले गये। मुनियों की वह सभा सायंकालिक नित्यकर्म करने के लिये स्नान करने के उद्देश्य से महर्षि को नमस्कार करके उठ गयी। फिर जब रात बीती, तब प्रातःकाल के सूर्य की किरणों के साथ-साथ वह मुनिमण्डली पुनः सभा भवन में आकर बैठ गई।

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

राजा पद्म तथा रानी लीला

जैसे समुद्र के भीतर जल के स्पन्द (हलन-चलन आदि) जल के स्वभाव से च्युत हुए बिना ही लहरों के वेग के रूप में प्रकट होते हैं, उसीप्रकार चेतन परमात्मा में दृश्य जगत् की प्रतीतियाँ होती रहती हैं। जैसे स्वप्न और संकल्प (मनोरथ) में प्रतीत होने वाले घट-पट आदि पदार्थ अनुभव में आने पर भी वास्तव में हैं नहीं, उसी प्रकार चेतनाकाशरूपी परब्रह्म परमात्मा में दृष्टिगोचर होने वाले ये पृथ्वी आदि जगत इन्द्रियों के अनुभव में आने पर भी वास्तव में हैं नहीं। जैसे मरुभूमि में सूर्य की किरणों के अन्तर्गत दीखने वाली जल की नदी (मृगतृष्णा) में कहीं भी जल का होना सम्भव नहीं है, उसीप्रकार इस विज्ञानाकाश स्वरूप जगत में मूर्तरूप का होना कदापि सम्भव नहीं है। जिसमें मूर्तरूप का ग्रहण नहीं होता तथा जो संकल्प कल्पित नगर के समान मिथ्या है, उस जगत में जो दृश्यता की प्रतीति होती है, वह मरुमरीचिका में दृष्टिगोचर होने वाली नदी के समान भ्रान्तिरूप ही है। इस जगत का जो दर्शनीय-सा दृश्य वैभव है, उसे साक्षिभूत चैतन्यमयी तराज़ू के एक पलड़े में रक्खा जाय और दूसरी ओर स्वप्न को रखकर सार और असार का विवेचन करने वाली बुद्धिरूप काँटे से यदि तौला जाय तो वह दृश्य वैभव स्वप्न की भाँति कलनारहित (असत्य) होकर आकाश की भाँति शून्यरूप अथवा चेतनाकाशमय ब्रह्मरूप में ही स्थित होता है।

अज्ञानियों की जो समझ है, उसी में 'जगत' शब्द का ब्रह्म से भिन्न अर्थ भासित होता है। वास्तव में जगत, ब्रह्म और ख (आत्मा)-इन शब्दों के अर्थ में कोई भेद है ही नहीं। इसलिये यहाँ जगत आदि कोई भी दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ है। नाम और रूप से रहित चेतन ब्रह्म ही ज्यों-का-त्यों (निर्विकार भाव से) विराजमान है। इस रीति से मायामय महाकाश में स्थित यह जगत आवरण शून्य चेतन आकाशरूप परमात्मा ही है। इस विषय में मण्डपाख्यान सुनाया जाता है, जो कानों के लिये आभूषण रूप है। तुम ध्यान देकर इसे सुनो।

पूर्व काल में इस भूतल पर पद्म नाम से प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, वे राजलक्ष्मी से सम्पन्न और अनेक पुत्रों से युक्त होते हुए भी विवेकशील थे। ये मर्यादा का पालन करने में समुद्र और दोषरूपी तिनकों को जला डालने के

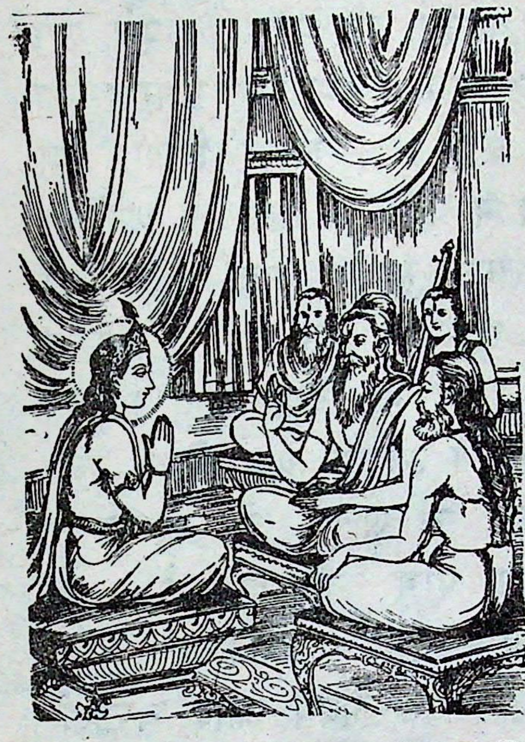

लिये अग्नि के समान थे। जैसे मेरुपर्वत देवताओं का आश्रय है, वैसे ही वे विद्वानों के समुदाय को आश्रय देने वाले थे। जैसे पूर्ण चन्द्रमा के उदय से महासागर उल्लसित हो उठता है, उसीप्रकार उनके सुयश के विस्तार से संसार का आनन्द-वर्धन होता था। वे सद्‌गुणरूपी हंसों के लिये मान-सरोवर थे। संग्राम-भूमि में शत्रुरूपी झाड़ियों को कम्पित कर देने के लिये प्रचण्ड पवन थे। मनरूपी मतवाले हाथी को वश में करने के लिये सिंह थे। समस्त विद्यारूपी वनिताओं के प्राणवल्लभ और सम्पूर्ण आश्चर्यमय गुणों की खान थे। देवद्रोही दैत्यों के सैन्य-समुद्र को मथ डालने के लिये शोभाशाली मन्दराचल थे। भगवान् विष्णु के समान साहस और उत्साह से सम्पन्न थे। सौजन्यरूपी कुमुदिनी के विकास के लिये शीत रश्मि चन्द्रमा थे तथा दुराचाररूपी विष की बेलों को भस्म करने के लिये धधकती हुई आग थे। राजा पद्म की पत्नी का नाम था लीला। वह बड़ी सुन्दरी तथा सब प्रकार के सौभाग्य से सम्पन्न थी। लीला इस भूतल पर प्रकट हुई लक्ष्मी के समान शोभा पाती थी। पति-सेवा के जितने प्रकार हो सकते हैं, उन सबमें निपुण होने के कारण उसकी मनोरमता बढ़ गयी थी। सबके अनुकूल बर्ताव करने के कारण वह सभी को प्रिय एवं मनोहर जान पड़ती थी। वह सदा मीठे वचन बोल करती थी और आनन्द-मग्न होकर मन्द-मन्द गति से चलती थी। जब व मुस्कुराती, उस समय ऐसा लगता, मानो दूसरे चन्द्रमा का उदय हो गया है उसके अंग गौरवर्ण के थे। पति की प्राण-वल्लभा लीला राजा के खिन्न हो पर खिन्न हो उठती थी, उनके प्रसन्न होने पर आनन्दमग्न हो जाती थी औ जब वे किसी चिन्ता से व्याकुल होते, तब वह भी चिन्ता के कारण घब उठती थी। इस प्रकार सारी बातों में तो वह पति के प्रतिबिम्ब की भाँ उनका अनुकरण एवं अनुसरण करती थी; परंतु उनके कुपित होने पर व केवल भयभीत होती थी (क्रोध नहीं करती थी)।

ग्यारहवाँ सर्ग

राजा पद्म तथा रानी लीला

जैसे समुद्र के भीतर जल के स्पन्द (हलन-चलन आदि) जल के स्वभाव से च्युत हुए बिना ही लहरों के वेग के रूप में प्रकट होते हैं, उसीप्रकार चेतन परमात्मा में दृश्य जगत् की प्रतीतियाँ होती रहती हैं। जैसे स्वप्न और संकल्प (मनोरथ) में प्रतीत होने वाले घट-पट आदि पदार्थ अनुभव में आने पर भी वास्तव में हैं नहीं, उसी प्रकार चेतनाकाशरूपी परब्रह्म परमात्मा में दृष्टिगोचर होने वाले ये पृथ्वी आदि जगत इन्द्रियों के अनुभव में आने पर भी वास्तव में हैं नहीं। जैसे मरुभूमि में सूर्य की किरणों के अन्तर्गत दीखने वाली जल की नदी (मृगतृष्णा) में कहीं भी जल का होना सम्भव नहीं है, उसीप्रकार इस विज्ञानाकाश स्वरूप जगत में मूर्तरूप का होना कदापि सम्भव नहीं है। जिसमें मूर्तरूप का ग्रहण नहीं होता तथा जो संकल्प कल्पित नगर के समान मिथ्या है, उस जगत में जो दृश्यता की प्रतीति होती है, वह मरुमरीचिका में दृष्टिगोचर होने वाली नदी के समान भ्रान्तिरूप ही है। इस जगत का जो दर्शनीय-सा दृश्य वैभव है, उसे साक्षिभूत चैतन्यमयी तराज़ू के एक पलड़े में रक्खा जाय और दूसरी ओर स्वप्न को रखकर सार और असार का विवेचन करने वाली बुद्धिरूप काँटे से यदि तौला जाय तो वह दृश्य वैभव स्वप्न की भाँति कलनारहित (असत्य) होकर आकाश की भाँति शून्यरूप अथवा चेतनाकाशमय ब्रह्मरूप में ही स्थित होता है।

अज्ञानियों की जो समझ है, उसी में 'जगत' शब्द का ब्रह्म से भिन्न अर्थ भासित होता है। वास्तव में जगत, ब्रह्म और ख (आत्मा)-इन शब्दों के अर्थ में कोई भेद है ही नहीं। इसलिये यहाँ जगत आदि कोई भी दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ है। नाम और रूप से रहित चेतन ब्रह्म ही ज्यों-का-त्यों (निर्विकार भाव से) विराजमान है। इस रीति से मायामय महाकाश में स्थित यह जगत आवरण शून्य चेतन आकाशरूप परमात्मा ही है। इस विषय में मण्डपाख्यान सुनाया जाता है, जो कानों के लिये आभूषण रूप है। तुम ध्यान देकर इसे सुनो।

पूर्व काल में इस भूतल पर पद्म नाम से प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, वे राजलक्ष्मी से सम्पन्न और अनेक पुत्रों से युक्त होते हुए भी विवेकशील थे। ये मर्यादा का पालन करने में समुद्र और दोषरूपी तिनकों को जला डालने के

लिये अग्नि के समान थे। जैसे मेरुपर्वत देवताओं का आश्रय है, वैसे ही वे विद्वानों के समुदाय को आश्रय देने वाले थे। जैसे पूर्ण चन्द्रमा के उदय से महासागर उल्लसित हो उठता है, उसीप्रकार उनके सुयश के विस्तार से संसार का आनन्द-वर्धन होता था। वे सद्गुणरूपी हंसों के लिये मान-सरोवर थे। संग्राम-भूमि में शत्रुरूपी झाड़ियों को कम्पित कर देने के लिये प्रचण्ड पवन थे। मनरूपी मतवाले हाथी को वश में करने के लिये सिंह थे। समस्त विद्यारूपी वनिताओं के प्राणवल्लभ और सम्पूर्ण आश्चर्यमय गुणों की खान थे। देवद्रोही दैत्यों के सैन्य-समुद्र को मथ डालने के लिये शोभाशाली मन्दराचल थे। भगवान् विष्णु के समान साहस और उत्साह से सम्पन्न थे। सौजन्यरूपी कुमुदिनी के विकास के लिये शीत रश्मि चन्द्रमा थे तथा दुराचाररूपी विष की बेलों को भस्म करने के लिये धधकती हुई आग थे।

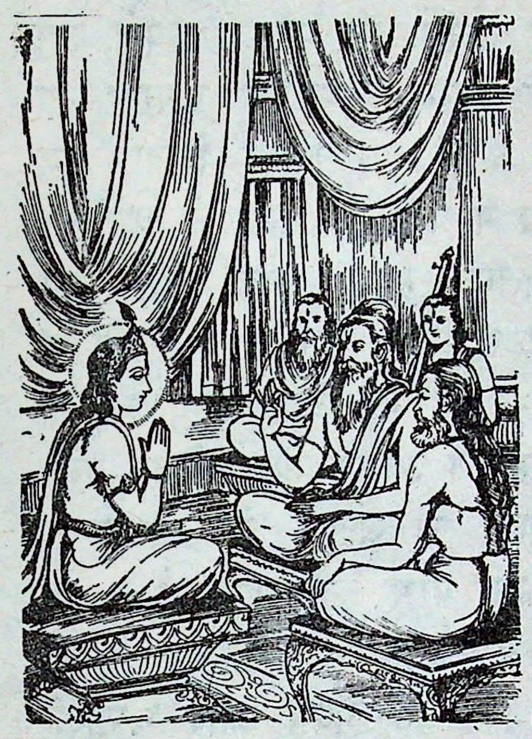

राजा पद्म की पत्नी का नाम था लीला। वह बड़ी सुन्दरी तथा सब प्रकार के सौभाग्य से सम्पन्न थी। लीला इस भूतल पर प्रकट हुई लक्ष्मी के समान शोभा पाती थी। पति-सेवा के जितने प्रकार हो सकते हैं, उन सबमें निपुण होने के कारण उसकी मनोरमता बढ़ गयी थी। सबके अनुकूल बर्ताव करने के कारण वह सभी को प्रिय एवं मनोहर जान पड़ती थी। वह सदा मीठे वचन बोला करती थी और आनन्द-मग्न होकर मन्द-मन्द गति से चलती थी। जब वह मुस्कुराती, उस समय ऐसा लगता, मानो दूसरे चन्द्रमा का उदय हो गया है। उसके अंग गौरवर्ण के थे। पति की प्राण-वल्लभा लीला राजा के खिन्न होने पर खिन्न हो उठती थी, उनके प्रसन्न होने पर आनन्दमग्न हो जाती थी और जब वे किसी चिन्ता से व्याकुल होते, तब वह भी चिन्ता के कारण घबरा उठती थी। इस प्रकार सारी बातों में तो वह पति के प्रतिबिम्ब की भाँति उनका अनुकरण एवं अनुसरण करती थी; परंतु उनके कुपित होने पर वह केवल भयभीत होती थी (क्रोध नहीं करती थी)।

रघुनन्दन! लीला अपने पति की अनन्यप्रिय–एकमात्र वल्लभा थी अथवा उसका अपने पति में अनन्य अनुराग था। ऐसी भार्या के पति महाराज पद्म ने भूतल की अप्सरा–सी मनोहर अपनी उस प्रेयसी के साथ स्वाभाविक प्रेमरस का आस्वादन करते हुए विहार किया। इस प्रकार सुख में पली हुई राजा की प्रणयिनी और प्रियतमा, सुन्दर भौंहों और शुभ संकल्प से सुशोभित होने वाली लीला ने एक दिन मन–ही–मन विचार किया कि 'ये मेरे प्राणों से भी अधिक प्रिय पतिदेव पृथ्वी नाथ महाराज, जो जवानी के उल्लास से परिपूर्ण और परम कान्तिमान् हैं, किस उपाय से अजर–अमर हो सकते हैं ? मैं तप, जप और यम–नियम आदि चेष्टाओं से ऐसा प्रयत्न करूँ, जिससे ये चन्द्रमा के समान मनोहर मुख वाले राजा अजर–अमर हो जायँ। पहले मैं ज्ञान, तपस्या और विद्या में बढ़े–चढ़े ब्राह्मणों से पूछती हूँ कि कौन–सा ऐसा उपाय है, जिससे मनुष्यों की मृत्यु न हो।' ऐसा विचार करके उसने पूर्वोक्त गुण वाले ब्राह्मणों को बुलवाया और उनकी पूजा करके नतमस्तक हो बारंबार पूछा–'विप्रगण! मुझे और मेरे पति को अमरत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ?'

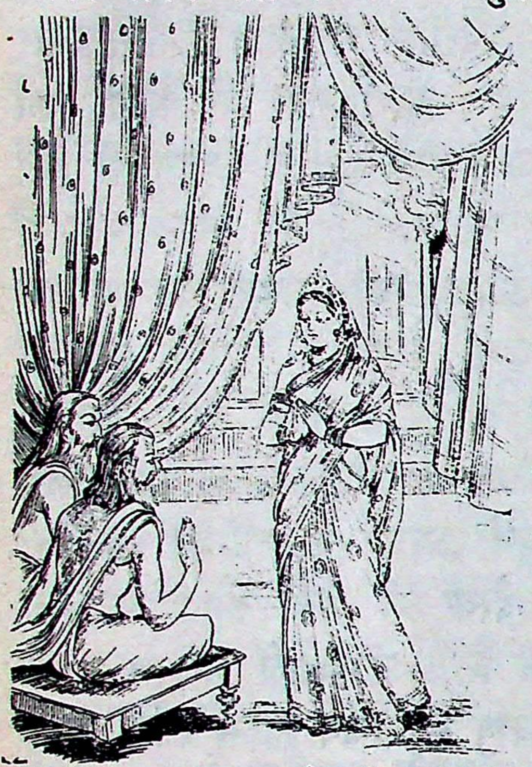

ब्राह्मण बोले–देवि! तप, जप और यम–नियमों का पालन करने से सिद्धों की समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं; परंतु उनसे अमरत्व कदापि नहीं मिल सकता।

ब्राह्मणों के मुख से यह बात सुनकर अपने प्रियतम के भावी वियोग से भयभीत हो लीला ने अपनी बुद्धि से ही फिर तत्काल इस प्रकार सोचना आरम्भ किया–'यदि दैववश पति के सामने मेरी मृत्यु हो गयी, तब तो मैं सम्पूर्ण दुःखों से छूटकर परमात्मा में सुखपूर्वक स्थित हो जाऊँगी; किंतु यदि एक सहस्त्र वर्ष के बाद पहले मेरे पति ही चल बसे तो मैं ऐसा यत्न करूँगी, जिससे उनका जीव घर से बाहर न जा सकेगा। फिर तो मैं अपने अन्तःपुर के

मण्डप में, जहाँ मेरे पतिदेव का जीव विचर रहा होगा, पति के दृष्टिपथ में रहकर सदा सुखपूर्वक निवास करूँगी। अपने संकल्प की सिद्धि के लिये मैं आज से ही जप, उपवास और नियमों द्वारा ज्ञानमयी सरस्वती देवी की तब तक आराधना करती रहूँगी, जब तक कि वे पूर्णरूप से संतुष्ट न हो जायँ।'

ऐसा निश्चय करके उस श्रेष्ठ नारी ने अपने स्वामी को बताये बिना ही नियमपरायण हो शास्त्रीय विधि के अनुसार उग्र तपस्या आरम्भ कर दी। तीन-तीन रात बीत जाने पर वह भोजन करती और देवता, ब्राह्मण, गुरु, ज्ञानी एव विद्वानों की पूजा में तत्पर रहती थी। वह अपने शरीर को सदा स्नान, दान, तप और ध्यान में लगाये रखती थी। सम्पूर्ण शास्त्रीय कर्मों का फल अवश्य मिलता है, ऐसी आस्तिकतापूर्ण बुद्धि से युक्त हो वह सदाचार का पालन करती और पति के क्लेशों का निवारण करने में दत्तचित्त रहती थी। उन दिनों भी वह पहले की ही भाँति ठीक समय पर पूरी चेष्टा और लगन के साथ शास्त्रोक्त रीति से क्रमशः पति की सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें संतुष्ट रखती थी। अतः अपनी वर्तमान स्थिति का उसने पति को पता नहीं लगने दिया। इस तरह नियम-पालन से सुशोभित होने वाली उस भोली-भाली लीला ने लगातार तीन सौ रातों तक कष्टप्रद चेष्टाओं के द्वारा तपस्या का निर्वाह किया। सौ त्रिरात्र व्रतों की पूर्ति हो जाने पर उसके द्वारा पूजित और सम्मानित हो गौरवर्णा भगवती वागीश्वरी सरस्वती संतुष्ट हो उसके सामने प्रकट हुई और बोलीं।

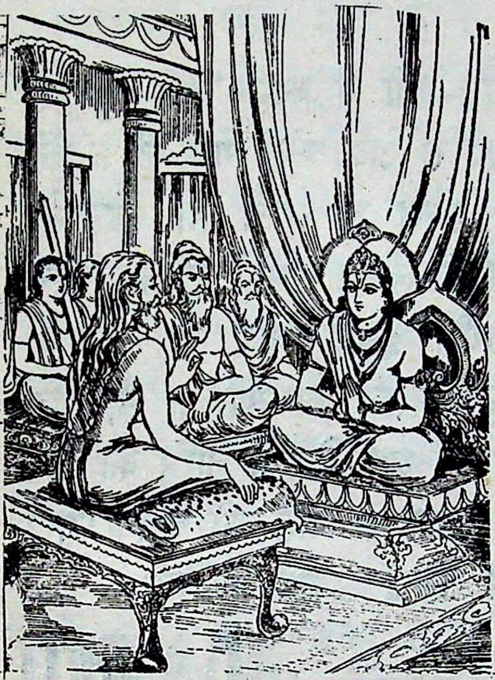

श्रीसरस्वतीजी ने कहा-बेटी! तुमने जो निरन्तर तपस्या की है, वह तुम्हारी पति-भक्ति के कारण अधिक उत्कर्ष-शालिनी हो गयी है। उससे मैं तुम पर बहुत संतुष्ट हुई हूँ। अतः तुम मुझसे कोई मनोवाछित वर ग्रहण करो।

रानी बोली-देवि! आप जन्म और जरारूपी अग्नि की ज्वालाओं से उत्पन्न दाहरूपी दोष का शमन करने के लिये चन्द्रमा की प्रभा के समान हैं, आपकी जय हो। आप हृदय की अज्ञानान्धकार-राशि का निवारण करने के

लिये सूर्यदेव की प्रभा के तुल्य हैं, आपकी जय हो। अम्ब! मातः! जगदम्बिके! इस दीन सेविका का आप संकट से उद्धार करें। शुभे! मैं आपसे जो दो वर माँगती हूँ, उन्हें मुझे देने की कृपा कीजिये। उनमें पहला वर तो यह है कि जब मेरे पतिदेव का शरीर छूट जाय, तब उनका जीव मेरे इस अन्तःपुर के मण्डप से बाहर न जाय। और महादेवि! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि जब-जब मैं आपसे वर पाने के उद्देश्य से दर्शन देने की प्रार्थना करूँ , तब-तब आप मुझे अवश्य दर्शन दें।

लीला की यह बात सुनकर जगन्माता सरस्वती ने कहा-'बेटी! तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण हो।' यह कहकर वे स्वयं वहाँ से अदृश्य हो गयीं-ठीक वैसे ही जैसे महासागर में लहर उठकर स्वयं ही शान्त हो जाती है। तदनन्तर जिसकी इष्टदेवी संतुष्ट हो गयी थीं, वह राजरानी लीला संगीत सुनकर मस्त हुई मृगी के समान आनन्द में मग्न हो गयी। इसके बाद पक्ष जिसके नेमिगोलक, मास जिसके मध्यगोलक तथा ऋतु जिसके नाभिगोलक हैं, दिन जिसके अरे हैं, वर्ष जिसका अक्षदण्ड (धुरा) है और क्षण जिसके नाभि का छेद है, ऐसे गतिशील कालचक्र के चलते रहने से लीला के पति की चेतना सूखे पत्ते के रस की भाँति देखते-ही-देखते शरीर में सहसा अदृश्य हो गयी।

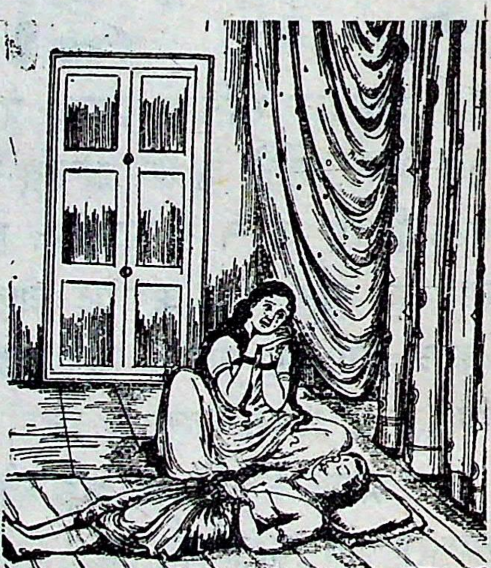

बात यह हुई कि किसी शत्रु ने आक्रमण किया और युद्ध में घायल होकर उनका शरीर धराशायी हो गया। वे अन्तःपुर में लाये गये और वहीं मर गये। इस प्रकार राजा की मृत्यु हो जाने पर लीला अन्तःपुर के मण्डप में जल शून्य कमलिनी की भाँति मुरझा गयी-उसका मुख मलिन हो गया। विषतुल्य उस निःश्वास से उसका सारा अधर-पल्लव सूख गया। वह बेचारी बाण से बिंधी हुई हरिणी के समान छटपटाती हुई मृत्यु-तुल्य अवस्था को पहुँच गयी। तत्पश्चात जलाशय के सूख जाने से व्याकुल हुई मछली के ऊपर जैसे आषाढ़ की पहली वर्षा अनुकम्पा करती है, उसीप्रकार पति के

वियोग से अत्यन्त विह्वल हुई लीला के ऊपर दयामयी सरस्वती ने आकाशवाणी के रूप में कृपा की।

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

लीला का राजवैभव को देखना

श्रीसरस्वतीजी ने कहा—बेटी! अपने पति के शव को तुम फूलों के ढेर में छिपाकर रक्खो। ऐसा करने से तुम फिर अपने इस पति को प्राप्त कर लोगी। न तो ये फूल मुरझायेंगे और न तुम्हारे पति का यह शव ही सड़ गल कर नष्ट होने पायेगा। फिर थोड़े ही दिनों में यह शव पुनः जीवित होकर तुम्हारे पति का उत्तरदायित्व सँभालेगा। इसका जीव जो आकाश के समान निर्मल है, तुम्हारे इस अन्तःपुर के मण्डप से शीघ्र बाहर नहीं निकल सकेगा।

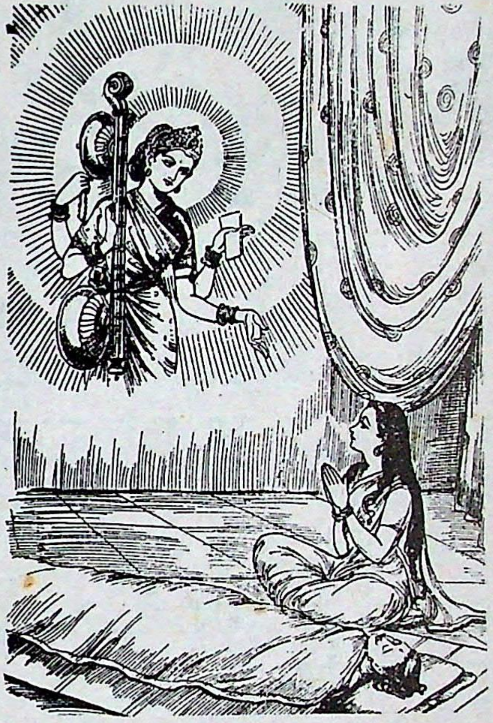

तब अपने पति को वहीं अन्तःपुर में फूलों के ढेर में छिपाकर रखने के पश्चात् रानी को कुछ आश्वासन मिला; परंतु घर में निधि (खजाने) को रखकर भी उसके उपयोग से वंचित होने के कारण दरिद्रतापूर्ण जीवन बिताने वाली स्त्री के समान लीला भी पति की सेवा के सुख से वंचित होने के कारण उस विषय में दरिद्र ही बनी रही। फिर उसीदिन आधी रात के समय जब सभी परिजन (सेवकगण) निद्रा से अचेत हो गये, लीला ने अन्तःपुर के उस मण्डप में विशुद्ध ध्यान से युक्त अन्तःकरण के द्वारा ज्ञानमयी भगवती सरस्वतीदेवी का बड़े दुःख से आवाहन किया। देवी उसके पास आ गयीं और बोलीं—'बेटी! तुमने क्यों मेरा स्मरण किया है ? तुम क्यों अपने मन में शोक को स्थान देती हो ? जैसे मृगतृष्णा में झूठे ही जल की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ये संसाररूपी भ्रम मिथ्या ही प्रतीत होते हैं।'

लीला ने कहा—देवि! मेरे पति कहाँ हैं ? क्या करते हैं और कैसे हैं ?

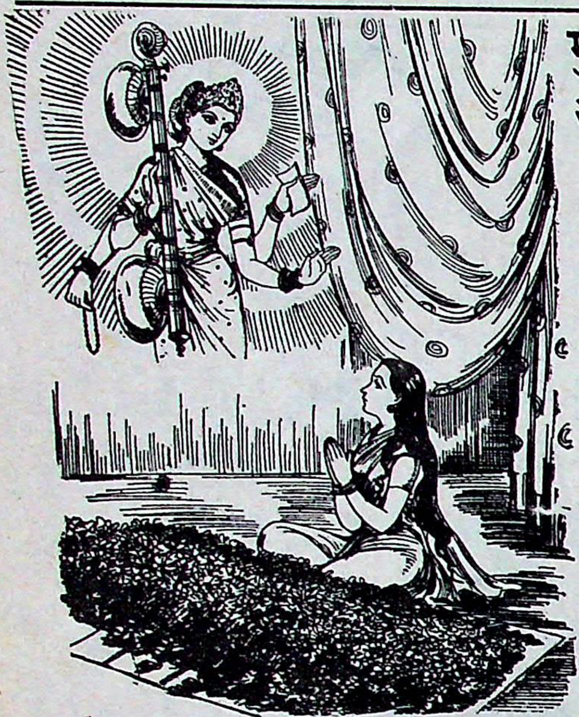

मुझे उनके पास ले चलिये। मैं उनके बिना अकेली नहीं जी सकती।

श्रीसरस्वतीजी बोलीं–सुमुखि! एक शुद्ध चेतन परमात्मरूप आकाश है, दूसरा मनरूप आकाश है और तीसरा यह सुप्रसिद्ध भूताकाश है। चित्ताकाश और भूताकाश–इन दोनों से जो सर्वथा शून्य है, उसी को तुम चिन्मय आकाश समझो। तुमने जो अपने पति के रहने आदि का स्थान पूछा है, वह चेतन आकाशमय कोश ही है (उससे अतिरिक्त नहीं है); अतः चेतन आकाश का एकाग्रमन से जब चिन्तन किया जाता है, तब पृथक विद्यमान न होने पर भी वह शीघ्र दिखायी देता और अनुभव में आता है। भद्रे! यदि तुम सम्पूर्ण संकल्पों को त्यागकर उस चेतनाकाशरूप परब्रह्म में स्थित हो जाओ–उसी में मन को एकाग्र कर दो तो तुम उस सर्वात्मपद को, जो परम तत्वरूप है, अवश्य प्राप्त कर लोगी–इसमें संशय नहीं है। सुन्दरि! उक्त तत्व यद्यपि इस जगत के अत्यन्ताभाव का बोध होने पर ही सुलभ होता है, दूसरे किसी उपाय से नहीं, तथापि तुम मेरे वरदान के प्रभाव से उसे शीघ्र ही प्राप्त कर लोगी।

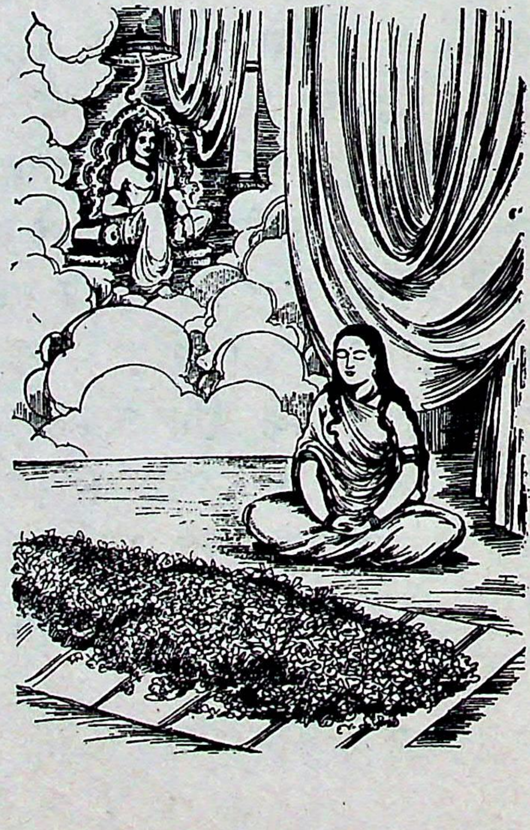

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! यह कहकर देवी सरस्वती अपने दिव्य धाम को चली गयीं और लीला लीलापूर्वक (अनायास) ही निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गयी।

रानी ने निर्विकल्प समाधि के द्वारा चेतनाकाश में स्थित होकर अपने उसी राजप्रासाद के आकाश में राजा पद्म को सिंहासन पर विराजमान देखा। (वे अपनी वासना और कर्मों के अनुसार देह-गेह

एवं वैभव से सम्पन्न थे।) अनेक राजाओं से घिरे हुए सभामण्डप में सिंहासन पर बैठे हुए राजा की वन्दीजन 'महाराज की जय हो, हमारे राजाधिराज चिरजीवी हों' इत्यादि कहकर स्तुति करते थे। वे अपने अधीनस्थ जनपद तथा सेना के कार्य की देख-भाल करने में सादर जुटे हुए थे। पताकारूपिणी मंजरियों से व्याप्त राजधानी के जिस सुन्दर सभाभवन में राजा बैठे थे, उसके पूर्व दरवाजे पर असंख्य मुनियों और ब्रह्मर्षियों की मण्डली विराज रही थी। दक्षिण द्वार पर असंख्य राजे-महाराजे विद्यमान थे। पश्चिमद्वार पर अगणित सुन्दरी ललनाओं का समूह शोभा पाता था और उत्तर द्वार पर असंख्य रथ, हाथी एवं घोड़ों की भीड़ लगी थी। राजा ने गुप्तचर की बातें सुनकर दक्षिण देश के युद्ध की गतिविधि का निर्णय किया। पंक्तिबद्ध खड़े हुए अगणित भूपालों की प्रभा से उस राजभवन का सारा आँगन जगमगा रहा था। यज्ञमण्डप में वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हुए ब्राह्मणों की वेदध्वनि से श्रेष्ठवाद्यों का मधुर घोष दब गया था। अनेक सामन्त नरेश आरम्भ में मन्द गति से चलने वाले उत्तम कार्यों में संलग्न थे। अनेक शिल्पियों के सरदार वहाँ नाना नगरों के निर्माण की तैयारी में लगे हुए थे। उस समय आकाशस्वरूपा लीला उस आकाशरूपिणी राजसभा में प्रविष्ट हुई। जैसे दूसरे के संकल्प से निर्मित हुई नगरी को दूसरा नहीं देखता, उसी प्रकार अपने आगे-आगे विचरती हुई लीला को उस सभा में रहने वाले लोगों में से किसी ने नहीं देखा। वहाँ उसने अपने उन्हीं सब लोगों को सभा में बैठे देखा, जो पहले देखे गये थे, मानो वे सब-के-सब राजा के साथ ही एक नगर से दूसरे नगर में चले आये हों। जो पहले जहाँ पर बैठते थे, वे वहीं बैठे थे। वैसा ही उनका आचरण था। लीला जिन्हें पहले देख चुकी थी, उन्हीं बालकों, उन्हीं मन्त्रियों, उन्हीं सामन्त-नरेशों, उन्हीं विद्वानों, उन्हीं विदूषकों तथा उन्हीं पहले वाले सेवकों से मिलते-जुलते भृत्यों को भी देखा।

तदनन्तर उसने कुछ दूसरे पण्डितों और सुहृदों को भी देखा, जो सर्वथा नये थे-पहले कभी देखने में नहीं आये थे; कुछ व्यवहार भी पहले से भिन्न दिखायी दिये। बहुत-से पुरवासी तथा अन्य लोग भी अपरिचित दृष्टिगोचर हुए। पहले की सारी जनता और समस्त पुरवासियों को भी वहाँ देखकर सुन्दरी लीला चिन्ता के वशीभूत हो गयी। वह सोचने लगी-'क्या उस नगर में रहने

वाले सब-के-सब मर गये।' फिर सरस्वतीदेवी की कृपा से बोध प्राप्त हुआ। उसकी समाधि टूट गयी और वह क्षणभर में पहले के अन्तःपुर में अवस्थित हो गयी। उसने वहाँ आधी रात के समय सब लोगों को पूर्ववत् सोते देखा। फिर उसने नींद में पड़ी हुई सखियों को उठाया और कहा-'मुझे बड़ा दुःख हो रहा है, अतः तुम लोग सभाभवन में मुझे स्थान दो। यदि मैं पतिदेव के सिंहासन के पास बैठूँ और समस्त सभासदों को वहाँ पूर्ववत् उपस्थित देखूँ, तभी जीवित रह सकती हूँ, अन्यथा नहीं।'

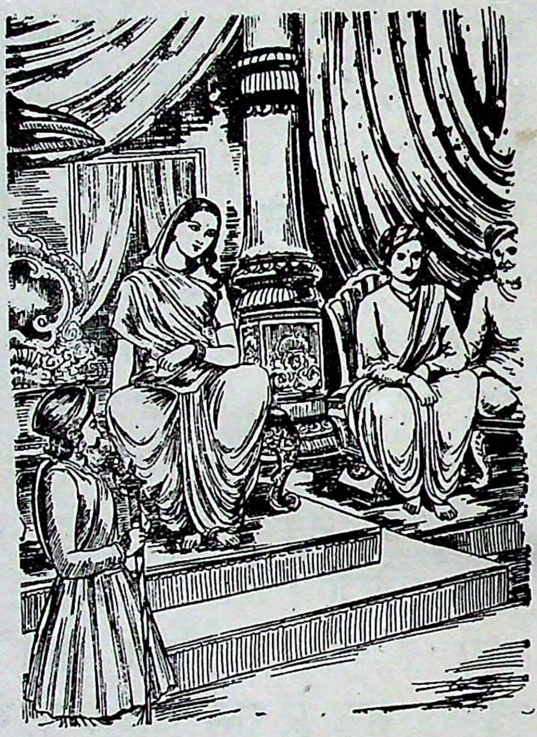

रानी के यों कहने पर सारा-का-सारा राजपरिवार जाग उठा और क्रमशः सब लोग अपने-अपने सर्वस्वभूत कार्य-कलाप में जुट गये। जैसे सूर्य की किरणें लोगों को अपने-अपने व्यवहार में लगाने के लिये पृथ्वी पर आती हैं, वैसे ही समूह-के-समूह छड़ीदार राजसेवक पुरवासी सभासदों को बुलाने के लिये चारों ओर चल दिये। दूसरे-दूसरे सेवक आदरपूर्वक सभाभवन की उसी तरह सफाई करने लगे, जैसे शरद्-ऋतु के दिन मेघों से मलिन हुए आकाश को स्वच्छ कर देते हैं। जैसे महाप्रलय के बाद जब त्रिलोकी की पुनः सृष्टि होती है, तब सारे लोकपाल अपनी-अपनी दिशाओं में अधिष्ठित हो जाते हैं, उसी तरह निर्दोष मन्त्री और सामन्तगण उस सभाभवन में अपने-अपने स्थान पर आ बैठे। राजा के सिंहासन के पास ही रानी लीला एक नूतन सुवर्णमय विचित्र आसन पर विराजमान हुई। उसने पहले की ही भाँति यथास्थान बैठे हुए पूर्व परिचित समस्त नरेशों, गुरुजनों, श्रेष्ठ पुरुषों, मित्रों, सदस्यों, सुहृदों, सम्बन्धियों और बन्धु-बान्धवों को देखा। राजा के राष्ट्र में निवास करने वाले सभी लोगों को वहाँ पूर्ववत् ही देखकर रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई।

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

ब्राह्मण-दम्पति के जीवन का वृत्तान्त

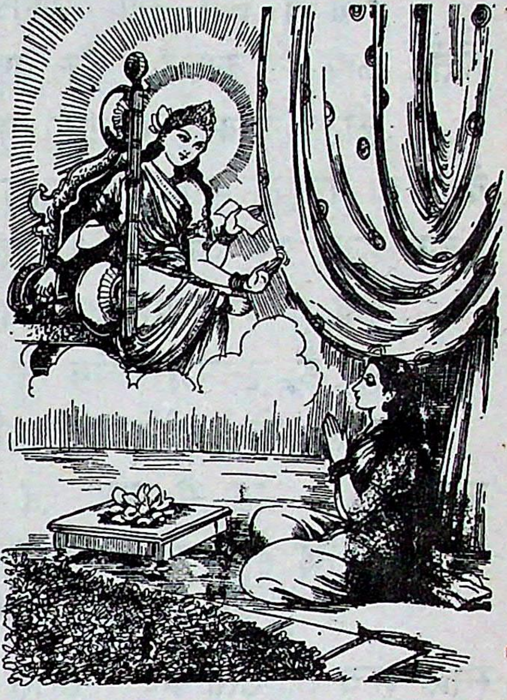

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर रानी लीला सभाभवन से उठ गयी और अन्तःपुर में प्रवेश करके रनवास के पूर्वोक्त मण्डप में फूलों से ढके हुए पति के पास जा पहुँची तथा मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी— 'अहो! यह तो बड़ी विचित्र माया है। ये हमारे पुरवासी मनुष्य इस बाह्य प्रदेश में और उस अन्तरदेश में भी विद्यमान हैं। ताल, तमाल और हिंताल आदि वृक्षों से घिरे हुए ये पर्वत जैसे वहाँ हैं, उसी तरह यहाँ भी हैं। यह बड़ी ही आश्चर्यजनक माया फैली हुई है। जैसे दर्पण में पर्वत उसके भीतर और बाहर भी स्थित प्रतीत होता है, उसी प्रकार चेतन-आकाशरूपी दर्पण में भीतर और बाहर भी यह सृष्टि प्रतीत हो रही है। उनमें से कौन सृष्टि भ्रान्तिमयी है और कौन वास्तविक, इस संदेह को मैं वागीश्वरी देवी की पूजा करके उन्हीं से पूछती हूँ, जिससे उनके उपदेश से संशय का निवारण हो जाय।' ऐसा निश्चय करके रानी ने उस समय देवी का पूजन किया और देखा—देवी सरस्वती कुमारीरूप धारण करके सामने आ गयी हैं। तब लीला परमार्थ महाशक्तिस्वरूपा देवी को सिंहासन पर विराजमान करके स्वयं उनके सामने पृथ्वी पर खड़ी हो गयी और इस प्रकार पूछने लगी।

लीला ने कहा—परमेश्वरि! मैं आपके सामने विनम्र होकर जो कुछ पूछ रही हूँ, उसे बताइये। यह त्रिलोकी का प्रतिबिम्ब-वैभव बाहर भी स्थित है और भीतर भी। इनमें से कौन कृत्रिम (झूठा) है और कौन अकृत्रिम (सच्चा) ? देवि अम्बिके! जैसे मैं यहाँ खड़ी हूँ और आप यहाँ बैठी हैं, देवेश्वरि! इसी को मैं सच्ची सृष्टि समझती हूँ। परंतु जहाँ इस समय मेरे पतिदेव विराजमान हैं, उस सृष्टि को मैं कृत्रिम समझती हूँ; क्योंकि वह सूना है। उससे देश, काल और व्यवहार की पूर्ति (सिद्धि) नहीं होती।

देवी ने कहा-बेटी! अकृत्रिम सृष्टि से कदापि कृत्रिम सृष्टि नहीं उत्पन्न होती। कहीं भी कारण से विलक्षण (सर्वथा भिन्न) कार्य का उदय नहीं होता।

लीला ने कहा-माताजी! मुझे तो कारण से कार्य सर्वथा विलक्षण दिखायी देता है। मिट्टी का लोंदा जल धारण करने में असमर्थ है; किंतु उसी से उत्पन्न हुआ घड़ा जल का आधार बन जाता है।

देवी ने कहा-सुमुखि! बताओ तो सही-इस सृष्टि के अन्तर्गत जो पृथ्वी आदि तत्व हैं, उनमें से कौन सा तत्व तुम्हारे पति की सृष्टि का कारण है ?

लीला बोली-देवि! मेरे पति की वह स्मृति ही उस रूप में वृद्धि को प्राप्त हुई है, अतः मैं स्मृति को ही उस सृष्टि का कारण समझती हूँ। उसी से यह सृष्टि हुई है, ऐसा मेरा निश्चय है।

देवी ने कहा-अबले! स्मृति तो आकाश की भाँति शून्यरूप है। जैसे स्मृति शून्य है, उसी प्रकार उससे उत्पन्न तुम्हारे पति की सृष्टि भी शून्य ही है। वह उस रूप में अनुभव में आने पर भी शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

लीला ने कहा-देवि! जैसे आपने मेरे पति की सृष्टि को स्मृतिमात्र शून्य रूप बताया है, उसीतरह मैं इस सृष्टि को भी स्मृतिमात्र एवं शून्यरूप ही समझती हूँ। समाधि में देखी गयी वह सृष्टि ही मेरी ऐसी मान्यता में उदाहरण है।

देवी ने कहा-बेटी! ठीक ऐसी ही बात है। वह सृष्टि असत् होने पर भी (उसका आश्रयभूत चेतन आत्मा ही) तुम्हारे पति के उन-उन भावों से उस रूप में प्रकाशित होता है। इसी तरह यहाँ यह सृष्टि भी मिथ्या ही है (तथापि उसका आश्रयभूत चेतन आत्मा) जीव के विभिन्न भावों के अनुसार इस रूप में भासित होता है।

लीला बोली-देवि! जैसे इस सृष्टि से मेरे पति की भ्रमरूप अमूर्त सृष्टि हुई, वह प्रकार मुझे बताइये; जिससे मेरा यह जगतरूपी भ्रम दूर हो जाय।

देवी ने कहा-जिस प्रकार पूर्वसृष्टि की स्मृति से उत्पन्न हुई यह भ्रम रूपिणी सृष्टि स्वप्न-भ्रम के तुल्य प्रतीत होती है, उस प्रकार मैं तुमसे इस विषय का प्रतिपादन करती हूँ, सुनो। चिन्मय आकाश में कहीं (अज्ञान से आवृत भाग में और उसके भी) किसी एक देश में (विधाता के अन्तःकरण के एक अंश) संसाररूपी मण्डप है, उस मण्डप के किसी एक आकाशरूपी कमरे

के भीतर एक कोने में पर्वतरूपी मिट्टी के ढेले के नीचे एक छोटा-सा गड्डा है, जो पर्वत सम्बन्धी छोटा-सा गाँव है। नदी, पर्वत और वनों से घिरे हुए उस ग्राम के भीतर एक धर्मपरायण नीरोग अग्निहोत्री ब्राह्मण अपने स्त्री-पुत्रों के साथ रहते थे। उन्हें वहाँ गाय का दूध सुलभ था। वे ही राजा के भय से सर्वथा मुक्त थे तथा वहाँ आने वाले सभी प्राणियों का वे आतिथ्य-सत्कार करते थे।

बेटी! वे ब्राह्मण धन-सम्पत्ति, वेश-भूषा, अवस्था, कर्म, विद्या, विभव और चेष्टाओं की दृष्टि से साक्षात वसिष्ठ मुनि के समान थे। उनका नाम भी वसिष्ठ ही था। उन्हें चाँद जैसी भार्या प्राप्त थी, जिसका नाम अरुन्धती था। एक दिन उन ब्रह्मर्षि ने, जो उस पर्वत के शिखर पर हरी-हरी घासों से ढकी हुई समतल भूमि पर बैठे हुए थे, नीचे एक राजा को देखा, जो अपने सारे परिवार के साथ शिकार खेलने की इच्छा से जा रहे थे। वे अपनी उस विशाल सेना के महान् घोष से मानो मेरू पर्वत को भी विदीर्ण कर देना चाहते थे। उस सेना के महान् कोलाहल से दिग्भ्रम-सा हो जाने के कारण सभी दिशाओं के प्राणियों के समुदाय भाग रहे थे-जल के भँवर के समान एक-एक स्थान पर चक्कर काट रहे थे। उन भूपाल को देखकर ब्राह्मण ने मन-ही मन यह विचार किया-'अहो! राजा का पद बड़ा ही रमणीय है। उस पर पर प्रतिष्ठित मनुष्य सम्पूर्ण सौभाग्यों से उद्भासित हो उठता है। कब ऐसा समय आयेगा जब कि मैं भी पैदल, रथ, हाथी और घोड़ों से संकुल चतुरंगिणी सेना, पताका, छत्र और चँवर से सम्पन्न हो दस दिशारूपी कुंजों को परिपूर्ण करने वाला राजा होऊँगा।' उसी दिन से ब्राह्मण के मन में इस तरह का संकल्प होने लगा। वे जब तक जीवित रहे, प्रतिदिन आलस्य छोड़कर स्वधर्म-पालन में लगे रहे। तत्पश्चात् उनके शरीर को जर्जर बना देने के लिये जर्जरित अंगवाली जरावस्था बड़े आदर के साथ उन ब्राह्मण देवता के पास आयी। जब वे मृत्यु के निकट

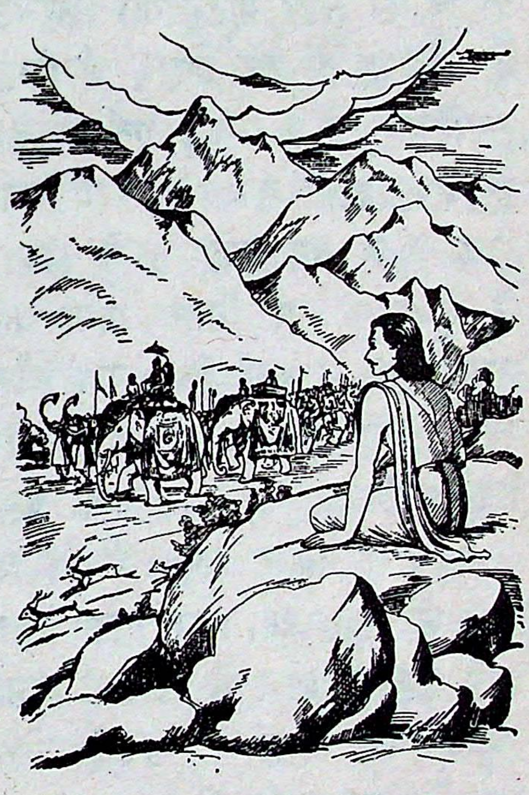

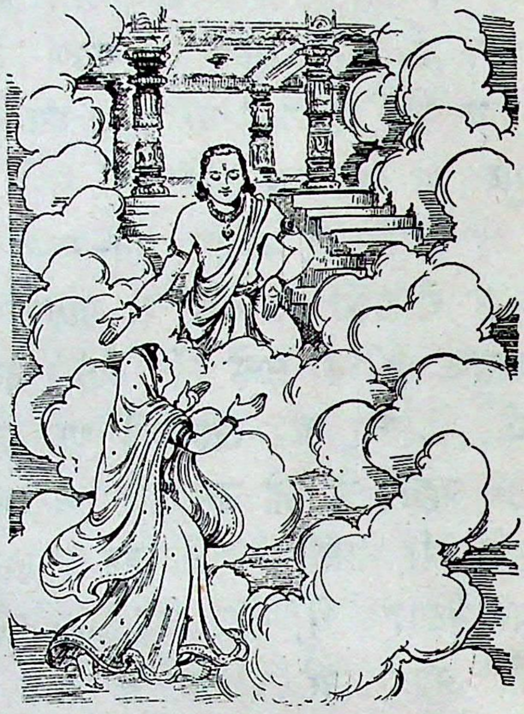

पहुँच गये, तब उनकी पत्नी को बड़ी चिन्ता हुई। उस कल्याणमयी ब्राह्मण पत्नी ने तुम्हारी ही भाँति मेरी आराधना की। अमरत्व को अत्यन्त दुर्लभ मानकर उसने मुझसे यह वर माँगा-'देवि! मरने पर मेरे पति का जीव अपने मण्डप से बाहर न जाय।' अतः मैंने उसके उसी वर को स्वीकार कर लिया। तदनन्तर कालवश ब्राह्मण का शरीर छूट गया। फिर उसी घर के आकाश में वह ब्राह्मण जीवात्मा स्थित रहा। पूर्वजन्म के सुदृढ़ एवं महान् संकल्प से वह ब्राह्मणी का पति स्वयं सर्वशक्तिशाली राजा बन गया। उसने अपने प्रभाव से भूमण्डल पर विजय प्राप्त कर ली। उसका प्रताप स्वर्गलोक तक फैल गया और उसने कृपा करके पाताललोक का भी पालन किया। इस प्रकार वह त्रिलोक विजयी नरेश हो गया। वह याचकों को मुँहमाँगा दान करने के लिये कल्पवृक्ष के समान था, धर्मरूपी चन्द्रमा के पूर्ण विकास के लिये पूर्णिमा की रात्रि के सदृश था। उधर उस ब्राह्मण के मृत्यु मुख में पहुँच जाने पर उसकी पत्नी ब्राह्मणी शोक से अत्यन्त कृश हो गयी। उड़द की सूखी छीमी के समान उसके हृदय के दो टुकड़े हो गये। पति के साथ ही मरकर अपने शरीर को दूर छोड़ वह आतिवाहिक देह (मानस शरीर) के द्वारा पति के पास जा पहुँची। जैसे नदी गर्त में गिरती है, उसी प्रकार पति का अनुसरण करके उनके पास जा वह वासंती लता के समान शोकरहित हो गयी। उस पर्वत-ग्राम में मरे हुए इस ब्राह्मण के घर हैं, भूमि-वृक्ष आदि स्थावर सम्पत्तियाँ हैं तथा मृत्यु के बाद से उसका जीव उस पर्वतीय ग्राम के गृह-मण्डप में विद्यमान है।

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

जगत् की असत्ता एवं अजातवाद की स्थापना

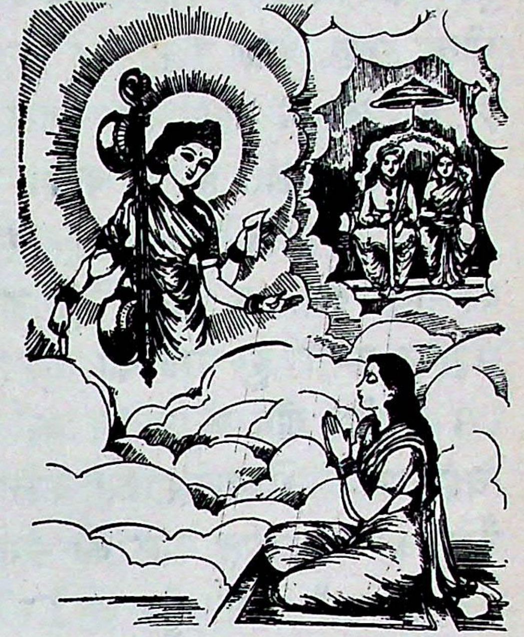

देवी सरस्वती ने कहा–कल्याणि! वही ब्राह्मण अब राजा होकर तुम्हारा पति हुआ है और जो अरुन्धती नामवाली ब्राह्मणी थी, वह तुम हो। तुम्हीं दोनों सुन्दर दम्पति यहाँ पर राज्य करते हो। तुम्हारे पूर्व जन्म का यही सारा सृष्टिक्रम है, जिसे मैंने कह सुनाया। ब्रह्मरूप आकाश में जीवभाव की भ्रान्ति होने से ही यह सब कुछ प्रतीत होता है। इसलिये कौन सृष्टि भ्रमरूप है और कौन भ्रम से रहित है ? सुतरां सारी सृष्टि ही अनर्गल अनर्थ-बोध के सिवा दूसरा कुछ नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! देवी सरस्वती का यह वचन सुनकर लीला के सुन्दर नेत्र आश्चर्य से खिल उठे। वह इस प्रकार बोली।

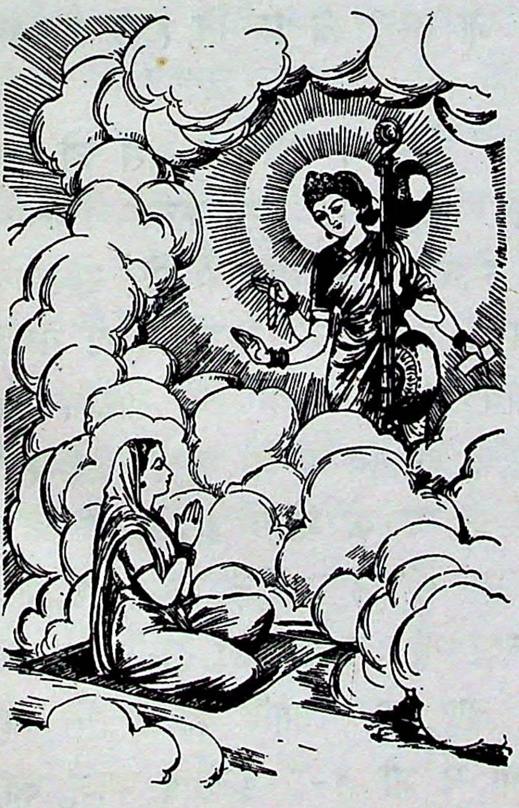

लीला ने कहा–देवि! आपकी बात तो सत्य ही होगी। मैं उसे मिथ्या कहने का साहस नहीं कर सकती; परंतु ऐसी विरुद्ध बात कैसे सम्भव हो सकती है ? कहाँ ब्राह्मण जीव अपने घर में है और कहाँ इतने बड़े विशाल प्रदेश में हमलोग स्थित हैं। फिर वे ब्राह्मण दम्पति और हम लोग एक कैसे हो सकते हैं ? मेरे स्वामी जहाँ स्थित हैं वैसा वह दूसरा लोक, वह विस्तृत भूमि, वे विशाल पर्वत और वे दसों दिशाएँ एक घर के भीतर कैसे प्रतीत हो सकती हैं ?

सर्वेश्वरेश्वरि! यदि कोई कहे कि एक सरसों के दाने के भीतर मतवाला ऐरावत हाथी बँधा हुआ है, परमाणु के भीतर बैठे

हुए एक मच्छर ने सिंह–समूहों के साथ युद्ध किया, सुमेरू पर्वत कमलगट्टे के भीतर रक्खा हुआ है तो जैसे ये सारी बातें असम्भव होने के कारण असमंजस प्रतीत होती हैं–ठीक नहीं लगतीं, उसी प्रकार उस घर के अंदर ये विशाल भूलोक और पर्वत हैं, यह कथन भी असम्भव एवं असंगत ही जान पड़ता है।

देवी सरस्वती बोलीं–सुन्दरि! तुम ध्यान देकर यथावत रूप से इस विषय को सुनो। दूसरों के द्वारा तोड़ी जाने वाली धर्म की जिस मर्यादा को मैं स्वयं ही स्थापित करती हूँ, उसी का यदि मैं भेदन करूँ तो दूसरा कौन पालन करेगा ? उस पर्वतीय गाँव के ब्राह्मण का वह जीवात्मा अपने उसी घर के आकाश में चिदाकाशरूप होकर ही इस कल्पित महान् राष्ट्रों को देख रहा है। कल्याणि! जैसे स्वप्न में जाग्रत काल की स्मृति लुप्त हो जाती है और दूसरी स्मृति उदित होती है, उसी प्रकार तुम दोनों की पूर्वजन्म की स्मृति उदित हुई है। यही उस शरीर का मरण है। जैसे स्वप्न में तीनों लोकों का दीखना, संकल्प में त्रिलोकी का उदय होना तथा मरुमरीचिका में जल का होना असत्य है, फिर भी ब्राह्मण के घर के भीतर पर्वत, वन और नगरों सहित भूमिका होना यद्यपि असत है तो भी वहाँ इन सबकी प्रतीति होती है। जो असत्य से उत्पन्न हुआ है, वह असत है, जो स्मृति से उत्पन्न हुआ है, वह भी असत है–जैसे मृग–तृष्णा की नदी में जल का होना मिथ्या है; फिर उस जल में जो तरंग की प्रतीति होती है, वह सत कैसे हो सकती है ?

बेटी! उस पर्वतीय गृह के आकाशरूपी कोश में स्थित तुम्हारा जो यह घर है तथा जो मैं हूँ और तुम हो–यह सब कुछ तुम केवल चिन्मय आकाशरूप ब्रह्म ही समझो। इस विषय को स्पष्टरूप से समझने और समझाने के लिये स्वप्न, भ्रम, संकल्प और अपने–अपने अनुभव की परम्पराएँ ही मुख्य प्रमाण (उदाहरण) हैं। ब्राह्मण के उस पर्वतीय घर के भीतर उस ब्राह्मण का जीव है। उस जीवाकाश में (अर्थात उस जीवात्मा के संकल्प में) समुद्र और वनों से परिपूर्ण यह पृथ्वी है। कृशांगि! उस ब्राह्मण के घर के भीतर इस नूतन सृष्टि में जो यह नगर निर्मित हुआ है, यह यद्यपि मन में बैठ गया है, तथापि ब्राह्मण का वह पहला घर आज भी मौजूद ही है–नष्ट नहीं हुआ। जैसे इस जगत–सृष्टि की प्रतीति आभास मात्र है, उसी प्रकार क्षण, कल्प आदि की प्रतीति भी आभास मात्र ही है, वास्तविक नहीं। परमात्मा में जो तू–मैं इत्यादि भावों का

अध्यास है, उसके अधीन जो अपने जन्म का भ्रम होता है, ऐसा भ्रम जिन लोगों को है, उन्हींपुरुषों को क्षण, कल्प आदि सम्पूर्णजगत की प्रतीति होती है।

उत्तम व्रत का पालन करने वाली लीले! मरणकाल की मिथ्याभूत मूर्च्छा का अनुभव करके जब जीव पूर्वजन्म के सभी भावों को भुला देता और दूसरे नूतन भाव को देखने या अनुभव करने लगता है, तभी वह पलक मारते-मारते मन में यह स्मरण करने लगता है, कि मैं आधेय हूँ और इस आधार में स्थित हूँ। यद्यपि वह उससमय (चेतन) आकाश (परमात्मा) में आकाश (चिदाकाश जीवात्मा) रूप से ही स्थित होता है (इसलिये उसमें आधाराधेय भाव की कल्पना मिथ्या ही है), तथापि उसके चित्त में वैसा संस्कार प्रकट होता है। उसे यह भान होता है कि हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त यह शरीर मेरा ही है। उसके मन में जो शरीर स्थित होता है अर्थात उसमें जैसे शरीर का संस्कार रहता है, उसी या वैसे ही इस शरीर को वह आत्मीय भाव से देखता है। उसे जान पड़ता है कि 'मैं इस पिता का पुत्र हूँ। इतने वर्षों की मेरी अवस्था हो गयी। ये मेरे मनोरम भाई-बन्धु हैं। यह मेरा रमणीय घर है। जब मेरा जन्म हुआ, तब मैं बालक था और अब बढ़कर ऐसा हो गया हूँ।'

स्वप्न में द्रष्टा और दृश्य रूप से जो चेतन स्थित होता है, वही उन स्वप्नगत पदार्थों का बोध होने पर एक-रस चेतन रूप से पुनः दृष्टिगोचर (अनुभव का विषय) होता है। अतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ था-बिना उत्पन्न हुए ही स्वप्नावस्था में उन वस्तुओं के दर्शन हुए थे। इस तरह जैसे स्वप्न में वह चेतन ही द्रष्टा, दृश्य आदि के रूप में उदित होता है, उसीप्रकार परलोक में भी उदित होता है और जैसे परलोक में उदित होता है, उसीतरह इस लोक में भी वह चेतन ही द्रष्टा, दृश्य आदि के रूप में आविर्भूत होता है। इसलिये स्वप्न,परलोक और इहलोक-इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। ये सब-के-सब असत होते हुए भी भ्रमवश सत-से प्रतीत होते हैं-ठीक उसी तरह जैसे जल में उठने वाली तरंगों का एक दूसरे से भेद नहीं होता और वे सब असत होती हुई भी सत-सी प्रतीत होती हैं। चूँकि जल में लहरों समान चेतना में ही यह जगत भ्रमवश प्रतीत हो रहा है, अतः यह कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ-यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म ही है

श्रीसरस्वतीजी ने कहा–जैसे आँख खोलने पर प्राणी को सारे रूप अच्छी तरह दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार मृत्युरूपी मूर्च्छा के दूर होने पर जीव को शीघ्र ही सम्पूर्ण लोकों का पूर्णतः भान होने लगता है। जैसे स्वप्न में अपने को अपने ही मरण की प्रतीति होती है, उसीप्रकार जीव को, संसार में जिसका अनुभव या दर्शन नहीं हुआ है, ऐसा कार्य भी इस तरह तत्काल याद आने लगता है कि इसे मैंने किया है। चिन्मय आकाशरूप परमात्मा के भीतर माया रूपी आकाश में इस तरह की अनन्त भ्रान्तियाँ भासित होती हैं। यह जगत नाम की नगरी जो बिना दीवाल के ही प्रतीत होती है, वास्तव में कल्पनामात्र है (सत्य नहीं)। यह ज़गत, यह सृष्टि इत्यादि रूप से स्मृति (वासना) ही विस्तार को प्राप्त हो रही है। कृशांगी लीले! यह त्रिभुवन आदि दृश्य–प्रपंच कुछ लोगों के अनुभव में आकर उनकी स्मृति में स्थित है और कुछ लोगों के अनुभव में आये बिना ही उनकी स्मृति में विद्यमान है। विश्व का अत्यन्त विस्मृत हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। उस अवस्था में किसी के लिये भी कोई प्रिय और अप्रिय नहीं रह जाते। अहंता और जगत् की आधारभूत अविद्या का अत्यन्त अभाव हुए बिना मोक्ष स्वाभाविक रूप से विद्यमान होता हुआ भी उदित नहीं होता। जैसे रज्जु में जो सर्प का भ्रम होता है, वह वास्तविक नहीं है; तो भी जब तक उसमें 'सर्प' शब्द और उसके अर्थ की सम्भावना का पूर्णरूप से बोध नहीं हो जाता, तबतक वह शान्त होने पर भी शान्त नहीं होता। यह जो विशाल संसार है, परब्रह्म ही है–यह निश्चित सिद्धान्त है। अविद्या का अभाव हो जाने पर भी यदि अनुवृत्तिवश इसकी प्रतीति होती है तो उसे प्रतीतिमात्र ही समझना चाहिये। वह वास्तव में नहीं है (जैसे स्वप्न से जागने पर स्वप्न के संसार की आकृति प्रतीत हो तो भी वह मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं)। इसी प्रकार जगत के उदित होने पर भी कहीं कभी कुछ भी उदित नहीं हुआ, केवल चिन्मय आकाशरूप परमात्मा ही स्थित है।

इस तरह विचार करने से यह सिद्ध हुआ कि कभी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जो कुछ जगत आदि दृश्य रूप से प्रतीत होता है, वह भी चिन्मय परमात्मा ही है। केवल चेतन आकशरूप ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है।

लीला बोली—देवि! जैसे प्रातःकाल की प्रभा से जगत की रूप-सम्पत्ति सुस्पष्ट दिखायी देने लगती है, उसीप्रकार आपने मुझे यह बहुत ही उत्तम और अद्‌भुत दृष्टि प्रदान की है। इससमय जबतक मैं तीव्र अभ्यास न होने के कारण इस दृष्टि में सुदृढ़ स्थिति नहीं प्राप्त कर लेती, तबतक आप अपने उपदेश द्वारा इस दृश्यकौतुक का—इस संसार का बोध कराती रहें। देवि! वह ब्राह्मण अपनी ब्राह्मणी के साथ पूर्वसृष्टि के जिस गाँव और घर में रहता था, उस सृष्टि के उसी पर्वतीय ग्राम में आप मुझे ले चलिये। मैं उसे देखना चाहती हूँ।

श्रीसरस्वतीजी ने कहा—लीले! चेत्यरहित चिन्मय परमात्मरूप जो परम पावन दृष्टि है, उसका अवलम्बन करके तुम इस आकार का—इस देह के अभिमान का त्यागकर निर्मल हो जाओ। (तात्पर्य यह कि पूर्व सृष्टि की उस वस्तु को देखने के लिये इस शरीर को भूल जाना आवश्यक है।) इसप्रकार जब तुम देहाभिमान-रूप मल से रहित हो जाओगी, तब हम दोनों साथ-साथ रहकर बिना किसी रुकावट के उस सृष्टि को देखेंगे। यह शरीर उस सृष्टि के दर्शनरूपी गृहद्वार के लिये एक सुदृढ़ अर्गला (रुकावट) के रूप में स्थित है।

बेटी! ये तीनों लोक मायामय होने के कारण अमूर्त हैं। मिथ्या आग्रह या अज्ञान के कारण ये तुम्हें मूर्तिमान् प्रतीत होते हैं, जैसे सुवर्ण को लोग अँगूठी के रूप में देखते हैं। जैसे अँगूठी का रूप धारण करने वाले सुवर्ण में अँगूठीपना नहीं है, उसी प्रकार जगत का रूप धारण किये हुए ब्रह्म में जगत नहीं है। यह जगत आकाश की भाँति शून्य ही है; इसके रूप में यहाँ जो कुछ दिखायी देता है, वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म में भ्रमवश माया दृष्टिगोचर होती है। यह सारा प्रपंच झूठा ही है। केवल अद्वितीय ब्रह्म ही, जिसका अहं (आत्मा) रूप से अनुभव होता है, परमार्थ सत्य है। इस विषय में उपनिषदों के वाक्य, गुरुजनों के उपदेश और अपना अनुभव प्रमाण है। जो ब्रह्म है, वही ब्रह्म को देखता है। जो ब्रह्म नहीं है, वह कदापि ब्रह्म को नहीं देख सकता। ब्रह्म का ही जो ऐसा स्वभाव है (जो उसकी आवृत्त सत्ता है), वही सृष्टि आदि के नाम से प्रसिद्ध है। जब तक अभ्यास योग के द्वारा तुम्हारी भेदबुद्धि शान्त नहीं हो जाती, तब तक अब्रह्म रूप होने के कारण निश्चय ही तुम ब्रह्म को नहीं देख सकती। ब्रह्मज्ञान का बारंबार अभ्यास करने के कारण ब्रह्म में अद्वैत भाव से जिनकी दृढ़ स्थिति हो

गयी है, ऐसे हम लोग ही उस परमपद का साक्षात्कार करते हैं। जब अपने संकल्प (मनोरथ) से निर्मित हुआ नगर भी अपने इस शरीर से प्राप्त नहीं हो सकता, तब दूसरे के संकल्प से निर्मित नगर को दूसरा शरीर कैसे प्राप्त करेगा। अतः कार्य को समझने वाली स्त्रियों में श्रेष्ठ लीले! तुम इस देहाध्यास से रहित होकर चेतन ब्रह्ममय आकाशरूपिणी हो जाओ। तब तत्काल ही उस ग्राम का दर्शन करोगी। अतः शीघ्र वही कार्य करो।

लीला ने कहा-देवि! आपने कहा है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणी के जगत् में हम दोनों साथ-साथ चलेंगी; परंतु माताजी! मैं यह पूछती हूँ कि हम दोनों का साथ-साथ चलना कैसे हो सकता है। मैं तो इस शरीर को यहीं स्थापित करके शुद्ध सत्त्व का अनुसरण करने वाले चित्त के द्वारा उस उत्तम आकाशमय लोक में चली जाऊँगी। परंतु आप अपने इसी शरीर से वहाँ कैसे जायँगी ?

देवी सरस्वती ने कहा-बेटी! जैसे तुम्हारा संकल्पमय आकाश, वृक्ष आदि सांकल्पिक सत्ता से सत होता हुआ भी वास्तव में शून्यरूप ही है, उसीतरह शुद्ध सत्त्वगुण का कार्यभूत जो मेरा शरीर है, यह चेतन परमात्मा का ही प्रकाश है- इसके रूप में चेतन परमात्मा की ही प्रतीति होती है। अतः इसका उससे भेद नहीं है। ऐसा जो मेरा यह दिव्य शरीर है, इसका त्याग करके मैं नहीं जाऊँगी। जैसे वायु गन्ध को प्राप्त होती है, उसी तरह मैं इसी शरीर से ब्राह्मण-ब्राह्मणी के उस देश में पहुँच सकती हूँ। भद्रे! ये देह आदि परब्रह्म से परिपूर्ण होकर ही स्थित हैं, अतः अपनी उत्कृष्ट महिमा में स्थित परब्रह्म ही हैं। इस सत्य को हम लोग बिना किसी विघ्न-बाधा के देखते हैं, किंतु तुम ऐसा नहीं देखती क्योंकि तुम्हें अभी दृढ़ तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है।

जैसे सुवर्ण में कटकत्व, जल में तरंगत्व और स्वप्न के नगर एवं संकल्प कल्पित पुर आदि में सत्यत्व नहीं है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म में कल्पनातीत अनामय आत्मस्वभाव से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ भी यह दृश्य-प्रपंच भासित हो रहा है, वह सब ब्रह्म का ही निर्मल विकास है। जैसे परम उत्तम चन्द्रकान्तमणि की भ्रमवश काँच के समान प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्म के विशुद्ध विकास की भ्रान्तिवश दृश्यरूप से प्रतीति हो रही है।

लीला ने पूछा-देवि! कृपया यह बताइये कि इतने दीर्घकाल से किसने हम लोगों को द्वैत और अद्वैत के द्विविध विकल्पों द्वारा भ्रम में डाल रक्खा है।

श्रीसरस्वतीजी ने कहा-चंचले! तुम चिरकाल से अविचार द्वारा व्याकुल होकर भटक रही हो। अविचार स्वभाव से उत्पन्न होता है और विचार से उसका नाश हो जाता है। विचार द्वारा अविचार का पलक मारते-मारते नाश हो जाता है। यह अविचाररूप अविद्या विचार या विवेक से बाधित होकर ब्रह्मसत्ता हो जाती है-ब्रह्म के सत-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। इसलिये अविद्या का अस्तित्व नहीं है। अतः न तो कहीं अविचार है न अविद्या है, न बन्धन है और न मोक्ष ही है। यह जगत शुद्ध बोधस्वरूप (चिन्मय ब्रह्म) ही है। चूँकि इतने समय तक तुमने इसका विचार नहीं किया, इसीलिये तुम्हें बोध नहीं हुआ। तुम भ्रान्त एवं व्याकुल ही बनी रह गयीं। आज से तुम्हारे चित्त में वासना का क्षय रूप बीज पड़ गया है। इसलिये अब तुम विवेकशालिनी, प्रबुद्ध एवं विमुक्त हो। एकमात्र ब्रह्म के चिन्तनरूप उत्तम निर्विकल्प समाधि के मन में आरूढ़ होने पर जब द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि का अत्यन्ताभाव हो जायेगा तथा हृदय में यह वासना-क्षयरूप बीज कुछ अंकुरित हो जायेगा, तब राग-द्वेष आदि दृष्टियाँ क्रमशः उदित नहीं होंगी, संसार की उत्पत्ति भी निर्मूल हो जायगी और निर्विकल्प समाधि पूर्णतः स्थिरता को प्राप्त होगी। इस तरह निर्विकल्प समाधि के स्थिर होने पर कुछ काल के अनन्तर मायाकाश और उसके कार्यों के अधिष्ठान-स्वरूप निर्मल आत्मा के साक्षात्कार से तुम भ्रान्ति-ज्ञानरूप कालिमा के कलंक से शून्य होकर सम्पूर्ण प्राणियों की भ्रान्तियों का, उनकी कार्यभूत वासनाओं का और उनकी कारणभूत अविद्या का जहाँ अन्त हो जाता है, उस मोक्षरूप परम पुरुषार्थ में प्रतिष्ठित हो जाओगी।

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

वासनाओं के क्षय का उपाय और ब्रह्मचिन्तन के अभ्यास का निरूपण

श्रीसरस्वतीजी ने कहा-लीले! यद्यपि स्वप्नावस्था में स्वप्न के शरीर का अनुभव होता है, तथापि यह स्वप्न है-ऐसा ज्ञान होने से जैसे स्वप्न शरीर वास्तविक नहीं रहता, मिथ्या ठहरता है, उसी तरह यद्यपि इस स्थूल शरीर का पहले अनुभव होता है, तथापि इसे स्वप्नवत मान लेने पर वासनाओं का क्षय होने से यह भी 'असत' (बाधित) ही हो जाता है। जैसे स्वप्न के ज्ञान से

स्वप्नावस्था का शरीर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जाग्रत-अवस्था के शरीर को भी स्वप्नवत समझ लेने पर वासनाओं के क्षीण होने से यह शान्त हो जाता है। जैसे स्वप्न-शरीर का और मनोरथ कल्पित कल्पनामय शरीर का अन्त होने पर इस जाग्रत शरीर का भान होता है, उसी प्रकार जगद्-भावना (स्थूल शरीर में अहं-भावना) का अन्त होने पर आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर का उदय (अनुभव) होता ही है। जैसे स्वप्नावस्था के वासनाबीज से रहित होने पर सुषुप्ति अवस्था उदित (प्राप्त) होती है, उसी तरह जाग्रद् अवस्था भी जब वासना बीज से रहित हो जाती है, तब जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिसमें वासनाएँ सुप्त अथवा विलीन हो जाती हैं, उस प्रगाढ़ निद्रा का नाम सुषुप्ति है। जिस अवस्था में वासनाओं का सर्वथा क्षय हो जाता है, उसे 'तुरीया' कहते हैं। जाग्रत-अवस्था में भी परम पद का अनुभव होने पर (वासनाओं का समूल नाश हो जाने के कारण) तुर्यावस्था होती ही है। जीवित पुरुषों के जीवन की वह अवस्था, जिसमें वासनाओं का सर्वथा क्षय हो जाता है, जीवन्मुक्ति कहलाती है। अज्ञानी बद्ध जीव इसका अनुभव नहीं कर पाते।

लीले! जब पूर्ण अभ्यास करने से तुम्हारा यह अहंभाव शान्त हो जायेगा, तब तुम्हारी स्वाभाविक चैतन्यरूपता, जो इस दृश्य-प्रपंच की चरम अवधिभूत है, उदित एवं विकसित हो जायगी। जब आतिवाहिकता (शरीर की सूक्ष्मता) का ज्ञान सदा के लिये स्थायी हो जायगा, तब तुम संकल्प दोष से रहित पावन लोकों का साक्षात्कार कर सकोगी। अतः सती-साध्वी लीले! तुम वासना को क्षीण करने का प्रयत्न करो। जब तुम्हारी वासना-शून्य स्थिति अत्यन्त दृढ़ हो जायगी, तब तुम जीवन्मुक्त हो जाओगी। जबतक तुम्हारा यह शीतल (शान्तिप्रद) ज्ञानरूपी चन्द्रमा पूर्णता को नहीं प्राप्त हो जाता, तबतक तुम इस शरीर को यहीं स्थापित करके लोकान्तरों के दर्शन करो। मैंने तुमसे जो बात कही है, यह बालकों से लेकर सिद्ध पुरुषों तक में प्रसिद्ध, सबके अनुभव से सिद्ध एवं यथार्थ है। यह शरीर न तो मरता है और न जीता ही है। स्वप्न और संकल्प सम्बन्धी भ्रम में मरण और जीवन की चर्चा ही क्या है ? बेटी! जैसे मनोरथ कल्पित पुरुष में जीवन और मरण असत्य ही प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इस स्थूल शरीर में भी जीवन-मरण मिथ्या ही हैं।

लीला बोली-देवि! आपने मुझे यहाँ उस निर्मलज्ञान का उपदेश दिया है,

जिसके श्रवण मात्र से ही दृश्यरूपी हैजे की बीमारी शान्त हो जाती है। अब इस विषय में मेरा एक उपकार और कीजिये। कृपया मुझे यह बताइये कि वह अभ्यास क्या है, कैसा है, अथवा कैसे वह पुष्ट होता है और उसके पुष्ट हो जाने पर क्या होता है।

श्रीसरस्वतीजी ने कहा–बेटी! जिस पुरुष के द्वारा जिस–जिस साधन से जब–जब जो भी कार्य किया जाता है, वह अभ्यास के बिना कभी सिद्ध नहीं होता। सच्चिदानन्दघन परमात्मा का चिन्तन करना, जिज्ञासुओं के प्रति उसका वर्णन करना, आपस में एक–दूसरे को ब्रह्म के तत्त्व का बोध कराते रहना तथा उस एकमात्र ब्रह्म के ही परायण हो जाना–इसे ही विद्वान् लोग ब्रह्मविषयक अभ्यास समझते हैं। जो विरक्त महात्मा पुरुष मुक्ति के लिये अपने अन्तःकरण में भोग–वासनाओं के क्षीण होने की भावना करते हैं, वे ही भव्य (कल्याण के भागी) पुरुष भूमण्डल में विजयी होते–उत्कृष्ट पद पाते हैं। जिनकी बुद्धि उदारता (परिग्रह–त्याग) रूपी सौन्दर्य और वैराग्य के रस से रंजित हो आनन्द का स्पन्दन करने वाली है, वे ही उत्तम अभ्यासी कहे गये हैं। जो लोग युक्ति तथा शास्त्रों के ज्ञाता के द्वारा जानने में आने वाली लौकिक ज्ञेय वस्तुओं के अत्यन्ताभाव की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी कहे गये हैं। यह दृश्य जगत् सृष्टि के आरम्भ में ही उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये कभी भी इसका अस्तित्व है ही नहीं। जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह मैं ही हूँ–मुझ सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा से यह भिन्न नहीं है, ऐसे अभ्यास को बोध (ब्रह्मज्ञान) का अभ्यास कहा गया है। दृश्य की उत्पत्ति कभी हुई ही नहीं, इस बोध से राग–द्वेष आदि का क्षय हो जाने पर ब्रह्मचिन्तन के बल से उत्पन्न हुई जो परमात्मरति है, वह ब्रह्माभ्यास है। जैसे शरद् ऋतु में हिम के समान शीतल ओस–जल के अभिषेक से सब ओर फैला हुआ भारी कुहरा मिट जाता है, उसी प्रकार चित्त में पूर्वोक्त रीति से अभ्यास में लाये हुए विवेक–बोधरूपी जल के निरन्तर सिंचन से, जो सम्पूर्ण तापों का शान्त करने वाला होने के कारण हिम के समान शीतल है, संसाररूपी कृष्णपक्ष की अँधेरी रात में उत्पन्न हुई मोहमयी गाढ़निद्रा सर्वथा गल जाती (मिट जाती) है।

महर्षि वाल्मीकि कहते हैं–जब मुनिवर वसिष्ठ इस प्रकार यह प्रसंग सुना चुके, तब दिन बीत गया, सूर्य अस्त हो गये, मुनियों की वह सभा वसिष्ठजी

को नमस्कार करके सायंकालिक कृत्य करने के लिये चली गयी और रात बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ ही फिर सभा-स्थान में आ गयी।

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

सरस्वती और लीला का ज्ञान देह के द्वारा आकाश में गमन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! वे दोनों श्रेष्ठ देवियाँ सरस्वती और लीला उस आधी रात के समय जब कि समस्त परिजन सो गये थे, पूर्वोक्त रूप से बातचीत करके अन्तःपुर के मण्डप में जो मुरझाये नहीं थे, ऐसे फूलों की मालारूपी वस्त्र के ढके हुए राजा के शव के पास ही एक आसन पर बैठ गयीं। वे समाधि में स्थित हो ऐसी निश्चल हो गयीं मानो रत्न के बने हुए खंभे में खुदी हुई दो मूर्तियाँ हों अथवा दीवाल में अंकित किये गये दो सुन्दर चित्र हों। निर्विकल्प समाधि लग जाने से वे बाह्य ज्ञान से शून्य हो गयीं। पहले उन दोनों को 'मैं जगत' इस भ्रमरूप दृश्य की अनुत्पत्ति का बोध हुआ, अर्थात उन्होंने भी अनुभव किया कि जगत की कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं। जब ऐसा अनुभव हुआ, तब उन्हें इस दृश्य-प्रपंच के अत्यन्ताभाव का निश्चयात्मक ज्ञान हो गया। फिर तो उन दोनों की दृष्टि से यह दृश्य-रूपी पिशाच पूर्णतया ओझल हो गया-किसी आड़ में छिप गया हो, ऐसी बात नहीं। उसकी सत्ता है ही नहीं, इसलिये वह सर्वथा अदृश्य हो गया। निष्पाप रघुनन्दन! जैसे हम लोगों की दृष्टि में खरगोश के सींग नहीं हैं और न होने के कारण ही वे दीखते नहीं, उसी तरह यह दृश्य-पिशाच न होने के कारण ही उनके लिये सर्वथा तिरोहित हो गया। जो वस्तु पहले से ही नहीं है, वह वर्तमान में भी अस्तित्व शून्य ही है। इस जगत की यही स्थिति है। यह प्रतीत हो तो मृगतृष्णा में जल की प्रतीति के समान असत् है और यदि प्रतीत न हो तो खरगोश के सींग की भाँति असत् है। तात्पर्य यह कि किसी भी दशा में इसकी सत्ता नहीं है।

ज्ञान की देवी सरस्वती अपने उसी ज्ञानमय शरीर से विचरण करने लगीं। परंतु मानवी रानी लीला ने मानव-देह के अभिमान का त्याग करके ध्यान और ज्ञान के अनुरूप दिव्य शरीर का आश्रय ले उसी के द्वारा तीव्रगति से आकाश में विचरना आरम्भ किया। उन दोनों ने उद्‌बुद्ध हुए पूर्व संकल्प जनित संस्कार-ज्ञान से गृहाकाशमें ही एक बित्ता ऊँचे उठकर आकाश-गमन

में समर्थ चिन्मय आकृतियाँ धारण कर लीं। दोनों ही चेतन आकाश (ब्रह्म) रूपिणी हो गयीं। यद्यपि वे उसी घर में बैठी रहीं, तथापि चिन्मय चित्त के संकल्प से कोटि योजन विस्तृत दूर-से-दूर आकाश स्थल में उड़ने लगीं-उड़ने का अनुभव करने लगीं। यद्यपि ये दोनों सखियाँ वास्तव में चेतन आभासमय शरीरवाली थीं, तो भी पूर्व संकल्पित दृश्य के अनुसंधान में लगे रहने वाले चित्त के साथ अभिन्नता को प्राप्त हुए अपने स्वभाव के कारण वे एक दूसरे के शरीर को देखती और परस्पर स्नेहमग्न होती थीं।

तदनन्तर वे दोनों देवियाँ यथाशक्ति यत्र-तत्र विश्राम करती हुई धीमी चाल से आगे बढ़ने लगीं। उन्होंने शून्य में ही देखा, आकाश मण्डल बड़े-बड़े भुवनों और वहाँ के निवासियों के निर्माण कार्य से अत्यन्त भर गया है-अवकाश शून्य हो रहा है। ऊपर-ऊपर का आकाश भिन्न-भिन्न भुवनों से अलग-अलग घिरा हुआ था। वे सुन्दर विमानों से सुशोभित भुवन विचित्र आभूषणों के समान प्रतीत होते थे। उसमें कहीं पर वज्र, चक्र, शूल, खंड और शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रों के अधिष्ठाता देवता मूर्तिमान् होकर विचर रहे थे। उनसे युक्त वह लोक बिना भीत के भवनों से विभूषित था और वहाँ नारद, तुम्बुरु आदि गन्धर्व गीत गाते थे। कहीं मेघों के मार्ग में (पुष्कर और आवर्तक आदि) महामेघों के वृष्टि-सम्बन्धी महान् आयोजन से वहाँ सब ओर हलचल मची थी और कहीं पर प्रलय काल के मेघ चित्रलिखित की भाँति निश्चेष्ट एवं नीरव दिखायी देते थे। कहीं उठते हुए कज्जलगिरि के समान सुन्दर मेघों की घटा घिरी आ रही थी। कहीं सुवर्ण-द्रव के समान मनोहर सूर्य के ताप को दूर करने वाले बादल छा रहे थे और कहीं दिशाओं के दाह से उत्पन्न हुई गरमी फैल रही थी। कहीं शून्यतारूपी जल से परिपूर्ण आकाश प्रशान्त महासागर के समान शोभा पाता था। कहीं विमानों पर बैठे हुए देवताओं की बहुरंगी प्रभा से आकाश की रूप-रेखा चितकबरी-सी जान पड़ती थी। कहीं वह शान्त, समाधिस्थ तथा परमपद में विश्रान्त मुनियों की मण्डली से घिरा हुआ था और कहीं जिन्होंने क्रोध को दूर से ही त्याग दिया है, उन साधु-महात्माओं के चित्त के समान वह सुन्दर एवं सम था। कहीं रुद्रपुर, कहीं ब्रह्मपुर और कहीं मायानिर्मित पुर वहाँ दृष्टिगोचर होते थे। कहीं सिद्धों के समुदाय विचर रहे थे। कहीं वह आकाशज्ञानी पुरुष के हृदय की भाँति दृश्य

भ्रम से अत्यन्त शून्य, उज्ज्वल, आवरणरहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त, स्वच्छ एवं विस्तृत था।

जहाँ गूलर के फल के भीतर रहने वाले छोटे-छोटे मच्छरों के समान त्रिभुवनवासी प्राणियों का समुदाय घूम रहा था, उस आकाश को बहुत ऊँचे तक लाँघकर वे दोनों ललनाएँ फिर भूतल पर जाने को उद्यत हुईं।

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

लीला का भूतल में प्रवेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–हे रामजी! आकाश से किसी पर्वतीय ग्राम को जाती हुई उन दोनों स्त्रियों ने उसी भूतल को देखा, जो ज्ञान की देवी सरस्वती के मनमें था–जिसे वे लीला को दिखाना चाहती थीं। सागर, बड़े-बड़े पर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और भूतल से परिवेष्टित जगत् के मध्यभाग का अवलोकन करके मानव-कन्या रानी लीला ने तुरंत ही अपने मन्दिर के आधारभूत पर्वतीय ग्राम का वह स्थान देखा।

इस प्रकार वे दोनों सुन्दरियाँ, जहाँ राजा पद्म रहते थे, उस ब्रह्माण्ड मण्डल से निकलकर दूसरे ब्रह्माण्ड में जा पहुँचीं, जहाँ वसिष्ठ नामक ब्राह्मण का घर था। वे दोनों ही स्त्रियाँ सिद्ध थीं। उन्होंने दूसरे लोगों से अदृश्य रहकर ही ब्राह्मण के निवास भूत मण्डप को, जो उनका अपना ही घर था, देखा। वह घर गृहस्वामी के वियोग से हतप्रभ हो गया था। उसके मुख अर्थात् द्वार की कान्ति करुणा से व्याप्त थी और उसका विनाश निकट था।

रघुनन्दन! सुन्दरी लीला चिरकाल तक सुन्दर ज्ञान का अभ्यास करने के कारण देवता की भाँति सत्यसंकल्प और सत्यकाम हो गयी थी। (वह जो चाहती, वही हो जाता था।) उसने सोचा, ये मेरे बन्धुजन मुझको और इन देवी सरस्वती को साधारण स्त्री के रूप में देखें। उसके ऐसा संकल्प करते ही उस घर के लोगों ने वहाँ दो दिव्यागंनाओं को देखा, जो उस घर को अपनी प्रभा से उद्भासित कर रही थीं। वे दोनों लक्ष्मी और पार्वती की जोड़ी-सी जान पड़ती थीं। तदनन्तर ज्येष्ठ शर्मा ने घर के अन्य लोगों के साथ यह कहकर कि 'आप दोनों वन-देवियों को नमस्कार है' उन दोनों के लिये पुष्पांजलि

छोड़ी।

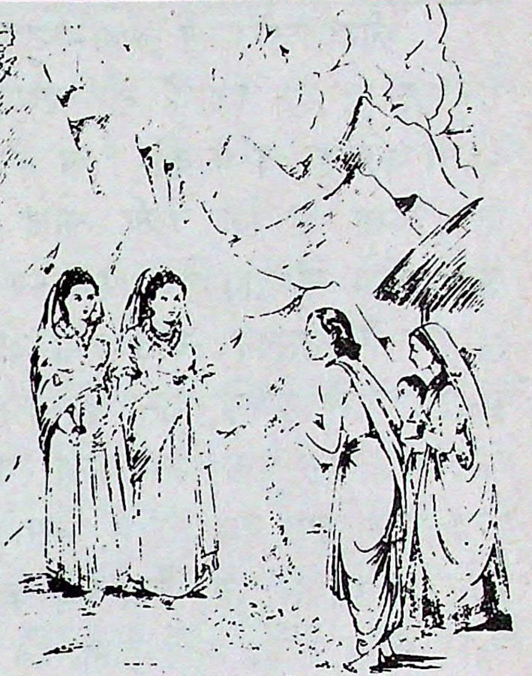

उस समय ज्येष्ठ शर्मा आदि बोले—वनदेवियो! आप दोनों की जय हो। निश्चय ही आप हमारे दुःखों का नाश करने के लिये आयी हैं; क्योंकि प्रायः दूसरों का संकट से उद्धार करना ही सत्पुरुषों का अपना कार्य होता है।

ज्येष्ठ शर्मा आदि के ऐसा कहने के पश्चात् वे दोनों देवियाँ बड़े आदर से बोलीं—'तुम सब लोग अपना वह दुःख बताओ, जिससे यह सारा जनसमुदाय दुखी दिखायी देता है।' तब उन ज्येष्ठ शर्मा आदि ने उन दोनों देवियों से क्रमशः ब्राह्मण दम्पती के मरणरूप अपना सारा दुःख निवेदन किया।

ज्येष्ठ शर्मा आदि बोले—देवियो! यहाँ दो ब्राह्मण पति-पत्नी रहते थे, जिनका आपस में बड़ा स्नेह था। वे यहाँ पधारे हुए सभी लोगों का आतिथ्य-सत्कार करते थे। हमारी इस कुल-परम्परा के प्रवर्तक भी वे ही थे। द्विजातियों की मर्यादा के तो वे स्तम्भ ही थे। वे ही दोनों हमारे माता-पिता थे। इस समय पुत्रों, बन्धु-बान्धवों और पशुओं सहित इस घर को त्यागकर वे दोनों स्वर्ग लोक को चले गये हैं; इससे हमें तीनों लोक सूने दिखायी देते हैं। इसलिये देवियो! आप दोनों पहले हमारे इस शोक का निवारण करें; क्योंकि महात्माओं के दर्शन कभी निष्फल नहीं होते।

पुत्र ज्येष्ठ शर्मा जब ऐसा कह चुका, तब माता लीला ने अपने हाथ से उसके मस्तक का स्पर्श किया। उसके उस स्पर्श से ज्येष्ठ शर्मा के दुःख-दुर्भाग्यरूपी संकट का तत्काल निवारण हो गया। घर के सभी लोग उन दोनों देवियों के दर्शन से अमृत पीने वाले देवताओं के समान दुःख से मुक्त हो दिव्य शोभा से सम्पन्न हो गये।

श्रीरामजी ने पूछा—भगवन्! माता लीला ने अपने पुत्र ज्येष्ठ शर्मा को उसकी माता के रूप में ही उसे क्यों नहीं दर्शन दिया ? आप पहले मेरे इस मोह (संदेह) का ही निराकरण कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन! मनुष्य जैसी भावना करता है, उसके अनुसार ही इन पदार्थों का अभ्यासजनित स्वरूप दिखायी देता है, किसी भी पदार्थ का वास्तव में कोई एक रूप नहीं है। लीला ने तो यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया था कि पृथ्वी आदि भूतों का अस्तित्व कदापि नहीं है। चेतन आकाशरूप जो ब्रह्म है, वही कल्पना द्वारा मिथ्या प्रपंचरूप से प्रकट हो भासित हो रहा है (उसका ज्येष्ठ शर्मा के प्रति पुत्र सम्बन्धी स्नेह नहीं रह गया था, इसलिये उसे अपनी माता के रूप में लीला का दर्शन नहीं हुआ) सर्वत्र सभी रूपों में केवल एक चेतनाकाश स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही विराजमान है–जिसे ऐसा बोध प्राप्त हो गया है, उस मुनि के लिये कौन, किस प्रकार, कब और किस निमित्त से पुत्र, मित्र एवं कलत्र हो सकते हैं। दृश्य-प्रपंच तो सृष्टि के आदि में ही उत्पन्न नहीं हुआ। जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह अजन्मा ब्रह्म ही है। ऐसे यथार्थ ज्ञान वाले लोगों को राग-द्वेष से युक्त दृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है।

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

परमात्मा की अनादि–अनन्त सत्ता का प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! उस पर्वत के तट प्रान्त में बसे हुए ग्राम के भीतर उस ब्राह्मण के गृहरूपी आकाश में ही खड़ी हुई वे दोनों स्त्रियाँ सहसा अदृश्य हो गयीं। उस घर के लोगों ने समझा कि दोनों वन देवियों ने हम पर बड़ी भारी कृपा की है; अतः उनका सारा दुःख मिट गया और वे अपने-अपने काम-धंधों में लग गये। तत्पश्चात् उस मण्डपाकाश में दूसरों की दृष्टि से तिरोहित हुई लीला से, जो वहाँ मुस्कराती हुई चुपचाप खड़ी थी, सरस्वती ने कहा–बेटी! तुमने ज्ञातव्य वस्तु को पूर्ण रूप से जान लिया है, द्रष्टव्य पदार्थों को देख लिया है।

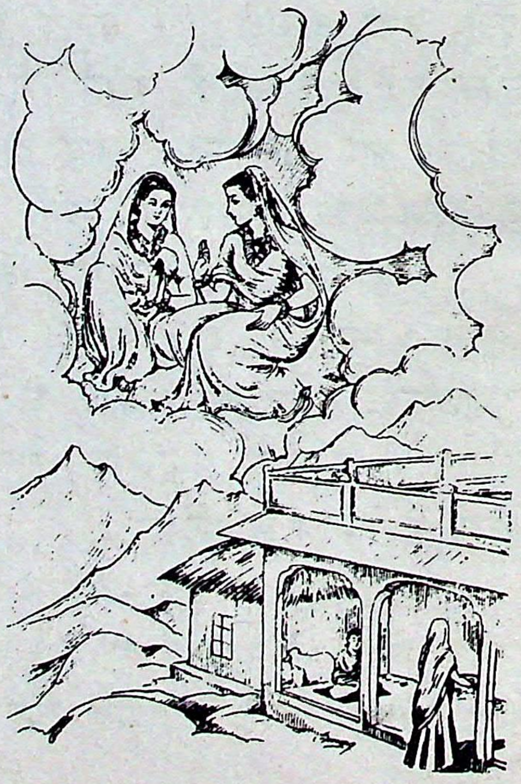

इस प्रकार की यह ब्रह्मसत्ता है। बताओ, अब और क्या पूछती हो ?

लीला ने पूछा—देवि! मेरे मृत-पति का जीव जहाँ पर राज्य करता है, वहाँ पर मुझे उन लोगों ने क्यों नहीं देखा ? और यहाँ मेरे पुत्र ने कैसे देख लिया ?

श्रीसरस्वतीजी ने कहा—सुन्दरी! मैं लीला हूँ—ऐसा जो तुम्हारा दृढ़ संस्कार था, वह पहले नष्ट नहीं हुआ था; क्योंकि उस संस्कार को मिटाने के लिये तुमने वैसा अभ्यास नहीं किया। जब तक वह संस्कार बना था, तब तक तुम्हारी सत्य-संकल्पता प्रकट नहीं हुई थी। अब वह संस्कार मिट जाने से तुम सत्य-संकल्प हो गयी हो। इसलिये जब तुमने यह अभिलाषा की कि मेरा पुत्र मुझे देखे, तब तुम्हारा वह मनोरथ तत्काल सफल हुआ। इस समय यदि तुम अपने पति के समीप जाओ तो उसके साथ भी तुम्हारा सारा व्यवहार पहले की ही भाँति होने लगेगा।

लीला बोली—देवि! इसी मण्डप के आकाश में मेरे पतिदेव ब्राह्मण उत्पन्न हुए और इसी में मृत्यु को प्राप्त होकर राजा हो गये। अन्य भूमण्डलरूप उनका वह संसार भी यहीं है। इसमें जो उनकी राजधानी का नगर है, उसमें मैं उनकी राजमहिषी के रूप में स्थित हूँ। यहीं उस अन्तःपुर में मेरे पति राजा पद्म की मृत्यु हुई और इसी अन्तःपुर के आकाश में वह नगर है, जिसमें वे पुनः राजा हुए हैं। ब्रह्माजी से उत्पन्न होने के पश्चात् आज तक विभिन्न योनियों में जो मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, उनमें से आठ सौ जन्मों को तो मैं इस समय पुनः देख-सी रही हूँ, उनकी सारी बातों का स्पष्टरूप से स्मरण कर रही हूँ। देवि! पहले किसी दूसरे संसार मण्डल में मैं लोकान्तर रूपी कमल की भ्रमरी-विद्याधरराज की धर्मपत्नी हुई थी। उन दिनों मेरा हृदय दुर्वासनाओं से दूषित था। इसलिये उसके बाद मैं मनुष्य योनि में उत्पन्न हुई, तदनन्तर दूसरे संसार मण्डल में मैं नागराज की भार्या हुई। इसके बाद कदम्ब, कुन्द, जम्बीर और करंजों के वन में निवास करने वाली तथा वृक्षों के पत्तों को ही वस्त्र के रूप में धारण करने वाली काली-कलूटी भीलनी हुई।

तदनन्तर पुरुषत्वरूपी फल देने वाले कर्मों के परिणाम से मैं सौ वर्षों तक सौराष्ट्र देश में श्रीसम्पन्न राजा होकर रही। फिर राजा-शरीर से बने हुए दुष्कर्म-दोष के कारण ताड वृक्ष के नीचे किसी नदी के कछार में नौ वर्षों तक

नेवली की योनि में रही। उस समय मेरे सारे अंग कुष्ठ रोग से नष्टप्रायः हो गये थे। देवि! उसके बाद मैं सौराष्ट्र देश में आठ वर्षों तक गौ का शरीर धारण करके रही। उस योनि में दुर्जन, दुष्ट, अज्ञ और बालक ग्वालों की मारने-पीटने आदि क्रीड़ाओं का साधन बनी रही। फिर क्रमशः पक्षिणी, भ्रमरी, मनोहर नेत्रवाली हरिणी, मछली, पुलिन्द जाति की स्त्री, सारसी और राजहंसी हुई। इस प्रकार नानाप्रकार के शत-शत दुःखों से संकुल अनेकानेक योनियों में मैंने भ्रमण किया है। तराजू के पलड़े की भाँति कभी ऊँचे उठने और कभी नीचे गिरने से मेरे सारे अंग व्याकुल होते रहे हैं। मैं संसाररूपी विशाल सरिता की चंचल तरंग बनकर उठती और विलीन होती रही हूँ। जैसे वातप्रमी जाति की हरिणी की गति को रोकना कठिन है, उसी प्रकार मैं दुर्निवार्य आवागमन की परम्परा में पड़कर क्रमशः विभिन्न योनियों में भटकती आयी हूँ।

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करती हुई वे दोनों सुन्दरी ललनाएँ मनोहारिणी गति से उस घर के बाहर निकलीं। उस समय गाँव के लोग उन्हें नहीं देख पाते थे, परंतु वे दोनों अपने सामने के पर्वत को अच्छी तरह देख रही थीं।

लीला बोली–देवि! इस देश को देखकर मैं आपकी कृपा से अपने पूर्व जन्म की उन सभी विविध चेष्टाओं का स्मरण करती हूँ, जो यहाँ घटित हुई हैं; मैं यहीं बूढ़ी ब्राह्मणी के रूप में रहती थी। मेरे सारे अंग उभरी हुई नस-नाड़ियों से व्याप्त दिखायी देते थे। मैं बहुत दुबली-पतली थी। मेरा शरीर गौर और बाल सफेद थे। मेरी हथेली सूखे कुशों के अग्रभाग से छिन्न-भिन्न होती रहने के कारण रूखी हो गयी थी। मैं अपने पतिदेव के कुल की वृद्धि करने वाली भार्या थी। दूध और मथानी मेरी शोभा बढ़ाते थे। मैं सारे पुत्रों की अकेली माता और अतिथियों का सत्कार करने वाली गृहिणी थी। देवताओं, ब्राह्मणों और संत-महात्माओं के

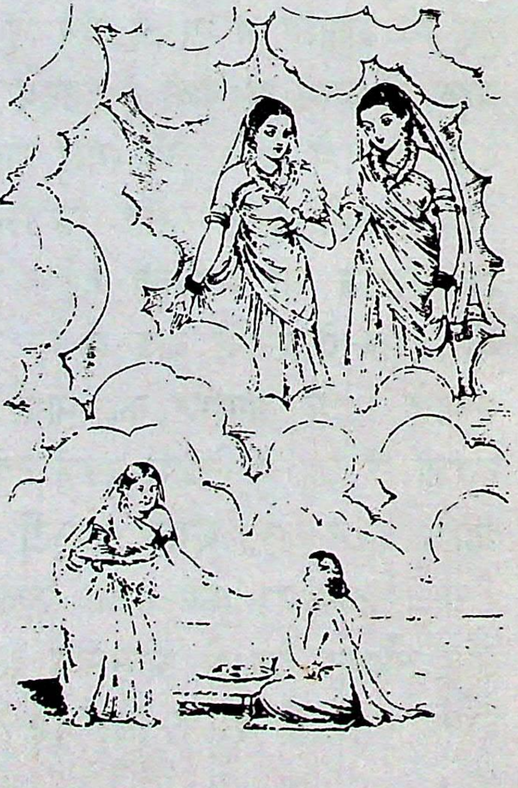

प्रति मेरे मन में बड़ी भक्ति थी। मैं भर्जनपात्र, चरुस्थाली तथा कलश आदि पात्रों एवं यज्ञ के अन्य उपकरणों को धो-पोंछकर साफ-सुथरा रखती थी। जमाई, बेटी, भाई, पिता और माता की सदा सेवा-शुश्रूषा करती थी। जब तक मेरा शरीर रहा, तब तक घर की ही सेवा-टहल में मेरे दिन-रात बीतते थे। 'ओह! इस काम में बहुत देर हो गयी, बड़ा विलम्ब हुआ' इत्यादि बातें कहती और निरन्तर कार्य में व्यस्त रहती थी। 'मैं कौन हूँ, यह संसार कैसा है ?' इस बात की चर्चा या इन प्रश्नों पर विचार कभी स्वप्न में भी मैंने नहीं किया। मेरे पति श्रोत्रिय होने के साथ ही तत्त्व-विचार में मूढ़ थे। मेरे ही समान उनकी भी घर में आसक्ति बनी हुई थी। उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं थी। समिधा, साग, गोबर और ईंधन के संग्रह में ही मेरी एकमात्र निष्ठा थी। घर के पास खेतों में जो साग-सब्जी की क्यारियाँ थीं, उन्हें सींचने के लिये मैं जल्दी-जल्दी जल पात्र लेकर आने के निमित्त नौकरों को पुकारा करती थी। जल की लहरों के किनारे जो हरी-हरी घासें उगी होती थीं, उन्हें स्वयं लाकर मैं अपनी छोटी-सी बछिया को तृप्त किया करती थी। प्रतिक्षण घर के दरवाजे को लीपकर वहाँ चौक बनाती और उसमें भाँति-भाँति के रंग भरकर सजा देती थी। घर के नौकरों को शिक्षा देने के लिये मैं कुछ दीनता के साथ नम्रतापूर्वक समझाती कि 'लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे, इसलिये तुम्हें विनय और सदाचार से रहना चाहिये।' जैसे समुद्र अपनी तटभूमि का लंघन न करके निरन्तर मर्यादा में स्थित रहता है, उसी प्रकार मैं भी धर्म-मर्यादा के नियम से कभी च्युत नहीं होती थी।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! यों कहकर उस पर्वतीय ग्राम के भीतर भ्रमण करती हुई लीला ने अपने साथ विचरती हुई सरस्वती देवी को मन्द मुस्कान के साथ वहाँ की एक-एक वस्तु को दिखाया। फिर वह इस प्रकार बोली-'देवि! इस घर के आकाश में ही वह मेरे पति का जीव राजा के रूप में रह रहा है। यहीं अंगुष्ठमात्र गृहाकाशके भीतर ही स्थित परमार्थ वस्तु (परब्रह्म) को मैंने भ्रम से करोड़ों योजन विस्तृत पति का राज्य समझा था। जगदीश्वरि! हम दोनों चेतन-आकाश रूप परमात्मा ही हैं। मेरे पति देव का राज्य, जो सहस्त्रों पर्वतों से भरा हुआ है, आकाश में ही स्थित है। यह बहुत बड़ी माया फैली हुई है। इसलिये देवि! अपने पति के नगर में जाने की पुनः मेरी इच्छा

हो रही है। अतः चलिये, हम दोनों वहाँ चलें। जिन्होंने कहीं जाने का निश्चय कर लिया हो, उनके लिये वह स्थान क्या दूर है ?’

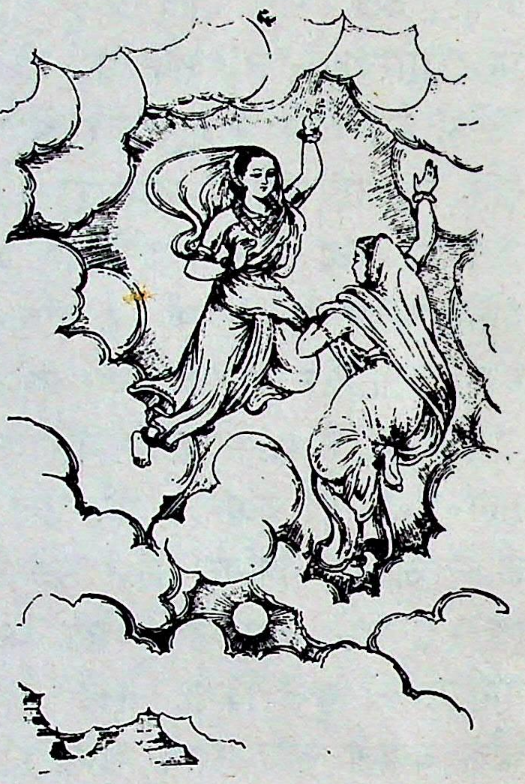

यों कहकर लीला ने देवी को प्रणाम किया और शीघ्र ही गृह-मण्डप में प्रवेश कर सरस्वती देवी के साथ वह आकाश में उड़ चली। भगवान् विष्णु की अंगकान्ति के समान नीले मेघपथ को लाँघ कर वे प्रवह आदि सात वायुओं के लोक में जा पहुँचीं। फिर वहाँ से सौरमार्ग तथा चन्द्रमार्ग को लाँघती हुई वे ध्रुव मार्ग से भी ऊपर पहुँच गयीं। इसकेबाद साध्यों के मार्ग से ऊपर उठकर सिद्धों की भूमि को भी लाँघ गयीं और स्वर्ग मण्डल को भी लाँघ कर अत्यन्त दूर जाने पर लीला को कुछ बोध हुआ। फिर उसने पीछे फिरकर पार किये हुए आकाश-स्थल का अवलोकन किया। वहाँ से नीचे देखने पर चन्द्रमा, सूर्य और तारा आदि कुछ भी नहीं दिखायी देते थे। केवल अन्धकार-ही-अन्धकार था।

तब लीला ने पूछा-देवि! बताओ, सूर्य आदि का तेज नीचे कहाँ चला गया ? पत्थर के मध्य भाग की भाँति सुदृढ़ एवं घनीभूत होने के कारण मुट्ठी में लेने योग्य यह अन्धकार कहाँ से आ गया ?

श्रीसरस्वती देवी ने कहा-बेटी! तुम इतनी दूर आकाश-मार्ग में आ गयी हो कि यहाँ से सूर्य आदि तेज भी नहीं दिखायी देते।

लीला बोली-देवि! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। क्या हम दोनों आकाश-मार्ग में इतनी दूर आ गयीं, जहाँ से नीचे सूर्य देव भी परमाणु के कण की भाँति तनिक भी दिखायी नहीं देते ? माताजी! इससे आगे दूसरा मार्ग कौन और कैसा होगा और उसमें कैसे जाना होगा ? देवि! यह सब मुझे बताइये।

श्रीसरस्वती देवी ने कहा-बेटी! इसके बाद आगे तुम्हें ब्रह्माण्ड-सम्पुट के

ऊपरी कपाल में जाना है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! जैसे दो भ्रमरियाँ पर्वत की चट्टानों से बनी हुई घनीभूत मण्डप वाली दीवाल पर पहुँच जायँ, उसी प्रकार आपस में उपर्युक्त बातें करती हुई वे दोनों देवियाँ ब्रह्माण्ड-सम्पुट के ऊपर वाले कपाल तक पहुँच गयीं। साथ ही जैसे कोई आकाश से निकले, उसी तरह वे वहाँ से अनायास ही बाहर निकल गयीं। जो वस्तु सत्यता के दृढ़ निश्चय से युक्त होती है, वही वज्र के समान ठोस और भारी होती है और जो इससे भिन्न कल्पित दीवार आदि वस्तु है, वह मिथ्यात्व-बुद्धि से बाधित हो जाती है। लीला का विज्ञान आवरण शून्य था। इसलिये वह ब्रह्माण्ड-सम्पुट के ऊपर वाले कपाल को मिथ्यात्व-बुद्धि से बाधित करके उससे बाहर निकल गयी। ब्रह्माण्ड के पार जाने पर उसे अत्यन्त प्रकाशमान जल आदि का आवरण दिखायी दिया, जो सब ओर व्याप्त था। उस आवरण-समुदाय में जो जल का आवरण है, उसमें ब्रह्माण्ड की अपेक्षा दस गुना जल विद्यमान है। उसके बाद उससे भी दस गुना अग्निमय आवरण है। फिर उससे भी दस गुनी वायु और उससे भी दस गुने आकाश के आवरण हैं। तदनन्तर विशुद्ध चिन्मय आकाश है। उस परम व्योम (चेतनाकाश) रूप परब्रह्म परमात्मा में आदि, मध्य और अन्त की कोई कल्पनाएँ नहीं उदित होतीं वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण एवं अपरिच्छिन्न है। वह अद्वितीय, सर्वव्यापी, शान्त, आदि अथवा कारण से रहित, भ्रमशून्य, अनादि, अनन्त, मध्यरहित तथा अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। उस निर्मल चेतनाकाश स्वरूप परमात्मा में यदि एक कल्प तक बड़े भारी वेग से ऊपर से नीचे को पत्थर की शिला गिरती रहे और नीचे से पक्षिराज गरुड़ भी अपना सारा बल लगाकर ऊपर को उड़े तथा उनके बीच में सबको मापने में समर्थ वायु समान वेग से दोनों ओर बहे तो वह भी उन दोनों का संयोग नहीं पा सकती।

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

लीला द्वारा ब्रह्माण्डों का निरीक्षण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! तदनन्तर लीला ने उस अपरिमित चेतन आकाशस्वरूप परमात्मा में इस जगत् की ही भाँति फैले हुए अनन्त ब्रह्माण्डों को देखा। जैसे धूप निकलने पर जँगले के छेद से जो किरणें घर में आती हैं, उनके अन्तर्गत आकाश में असंख्य त्रसरेणु दृष्टिगोचर होते हैं, उसीप्रकार लीला ने उन सभी ब्रह्माण्डों में वैसे ही आवरणों से युक्त चराचर प्राणियों की करोड़ों सृष्टियों को देखा, जो स्वयम्प्रकाश अधिष्ठानभूत चैतन्य से भासित थीं। अविद्या रूपी जल से भरे हुए महाकाशरूपी महासागर में महाचैतन्य के स्फुरण रूप द्रवीभाव से प्रकट हुए असंख्य ब्रह्माण्डरूपी बुदबुदों को लीला ने लक्ष्य किया।

जिसकी दृष्टि अज्ञान से दूषित है, उसी पुरुष को असीम एवं महान् चेतन आकाशरूप परमात्मा में सम्पूर्ण आवरणों से युक्त ये ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं। सारे ही पदार्थ परतन्त्र होने के कारण वेग पूर्वक इधर-उधर भाग रहे हैं (उनमें परस्पर आकर्षण होने के कारण वे गिरते नहीं।) ब्रह्माण्ड में जो महापृथ्वी रूप भाग है, वह उसका अधोभाग है और उससे भिन्न जो आकाश है, वह उसका ऊपरी भाग है। जैसे गोल मिट्टी के ढेले में दसों दिशाओं की ओर से सटी हुई चीटियों को जो पैर होते हैं, वे ही उनके लिये अधोभाग हैं और जिस ओर उनकी पीठ रहती है, वही ऊपर का भाग है, उसी प्रकार दसों दिशाओं में संलग्न जो पैर हैं, वे ही नीचे के भाग कहलाते हैं और आकाश की ओर जो पीठ या सिर होते हैं, उन्हें ऊर्ध्व भाग में स्थित बताया गया है-यह बड़े-बड़े विद्वानों का कथन है। किन्हीं-किन्हीं ब्रह्माण्डों के भीतर की भूमि वृक्षों और वाल्मीकों के समूह से व्याप्त है (उसमें मनुष्य नहीं है) और उन ब्रह्माण्डों का निर्मल आकाश देवता, किन्नर तथा दैत्यों से युक्त विभिन्न लोकों से वेष्टित है। जैसे पका हुआ अखरोट का फल छिलके से ढका रहता है, उसी प्रकार कुछ ब्रह्माण्ड तत्काल कल्पित जरायुज, उद्भिज्ज, अण्डज और स्वेदज-चार प्रकार के प्राणियों तथा ग्राम, नगर और पर्वतों से युक्त होकर उत्पन्न हुए हैं। स्थिति काल में सम्पूर्ण पदार्थ चेतन परब्रह्म परमात्मा में रहते हैं। सृष्टिकाल में उससे उत्पन्न होते हैं और प्रलयकाल में सब उसी में लीन हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण दिशाओं, कालों और वस्तुओं में वही है। उससे अतिरिक्त कोई नहीं है।

वही नित्य, सर्वमय आत्मा है। उस परम प्रकाश के सागर शुद्ध बोधमय चेतन आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा में ब्रह्माण्ड नामक तरंगें निरन्तर उठती और विलीन होती रहती हैं। किन्हीं ब्रह्माण्डों में महाप्रलय की प्राप्ति होने पर जैसे सूर्य का ताप लगने से हिमकण गल जाते हैं, उसी प्रकार सूर्य, अग्नि, विद्युत और पर्वत भी गलने लगते हैं। कुछ ब्रह्माण्डों के आदि पुरुष (सृष्टिकर्ता) ब्रह्मा हैं। कुछ के आदिस्रष्टा और पालक भगवान् विष्णु हैं। कुछ ब्रह्माण्डों के प्रजापति दूसरे (रुद्र एवं दुर्गा आदि है) तथा कुछ ब्रह्माण्डों में जो जीव-जन्तु हैं, उनका कोई भी नाथ (रक्षक या नियन्त्रण करने वाला) नहीं होता। इसी तरह कुछ ब्रह्माण्डों की सृष्टि और प्रजापति विचित्र ही हैं। महामते! जगत् के वर्णन के विषय में हमारी बुद्धि का जो सम्पूर्ण वैभव था, उसे हम दिखला चुके। उसके बाद जो जगत् है, वह हमारी बुद्धि का विषय नहीं है। अतः उसका वर्णन करने में हम असमर्थ हैं।

अपने पूर्वजन्म के संसार से निकल कर पूर्वोक्त रीति से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की विचित्रता को देखती हुई उन दोनों स्त्रियों ने किसी ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके वहाँ के अन्तःपुर को देखा और फिर वहाँ से वे शीघ्र ही बाहर निकल आयीं। उस अन्तःपुर में पुष्पराशि से आच्छादित महाराज पद्म का महान् शव रक्खा था। उस शव के पास ही बैठी हुई लीला का स्थूल शरीर था, जिसका चित्त समाधि-अवस्था में आरूढ़ था। शोक के कारण रात्रि बड़ी प्रतीत होने से वहाँ के लोग कुछ-कुछ प्रगाढ़ निद्रा से युक्त थे। वह अन्तःपुर धूप, चन्दन, कपूर और केसर की सुगन्ध से भरा था। उसे देखकर लीला को पति के दूसरे संसार में जाने की इच्छा हुई (अर्थात राजा पद्म मृत्यु के पश्चात जहाँ उत्पन्न हुए थे, वहाँ जाने के लिये वह उत्कण्ठित हुई)। तब वे दोनों देवियाँ विभिन्न लोकों, पर्वतों और आकाश को लाँघकर भूतल पर पहुँची, जो पर्वत

मालाओं तथा समुद्रों से घिरा हुआ था। तत्पश्चात् मेरु पर्वत से अलंकृत जम्बू द्वीप में गयीं, जिसका भीतरी भाग नौ खण्डों में विभक्त है। जम्बू द्वीप के भीतर भारतवर्ष में लीला के पति का राज्य था। वहीं वे दोनों जा पहुँची। इसी समय जो भूमण्डल का मण्डन था, उस राज्य में किसी राजा ने आक्रमण किया। अपने सहायभूत सामन्तों के कारण उस आक्रमणकारी भूपाल की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उस राजा के साथ संग्राम छिड़ने पर उसे देखने के लिये आये हुए तीनों लोकों के प्राणियों से वहाँ का आकाश ठसाठस भर गया। उक्त दोनों देवियाँ निश्शंक होकर वहाँ आ गयीं। उन्होंने उस आकाश को आकाशचारी प्राणियों के समुदाय से इस तरह आक्रान्त देखा, मानो वहाँ मेघों की घटा घिर आयी हो। स्वर्ग लोक में स्थान पाने योग्य शूरवीरों को लाने के लिये व्यग्र हुए इन्द्र के भट वहाँ के आकाश को उद्भासित कर रहे थे।

श्रीरामजी ने पूछा-भगवन्! 'शूर' शब्द से किस तरह के योद्धा का प्रतिपादन किया जाता है ? कौन स्वर्ग का अलंकार है अथवा कौन डिम्भाहव (बच्चों का युद्ध) कहलाता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन! जो शास्त्रोक्त सदाचार से युक्त स्वामी के लिये रणभूमि में युद्ध करता है, वह चाहे मरे या विजयी हो, दोनों अवस्थाओं में शूर कहा गया है। वही स्वर्गलोक का भागी होता है। पूर्वोक्त विधि से विपरीत, अत्याचारी स्वामी के लिये युद्ध करके जो रणभूमि में किसी प्राणी के द्वारा अंगों के कट जाने से मृत्यु को प्राप्त होता है, वह डिम्भाहव में मारा गया कहलाता है। ऐसा मनुष्य नरकगामी होता है। जिसका आचरण शास्त्र के अनुकूल नहीं है, उसके लिये जो मनुष्य युद्ध करता है, वह यदि संग्राम में मारा जाय तो उसे सदा बने रहने वाले नरक की प्राप्ति होती है। यथासम्भव शास्त्र की आज्ञा और लोकाचार का पालन करने वाला जो व्यक्ति रणभूमि में (धर्म) युद्ध करता है तथा वैसे ही सदाचारी स्वामी का भक्त होता है, वह शूर कहलाता है। शुद्ध-बुद्धि वाले रघुनन्दन! जो गौ, ब्राह्मण तथा मित्र की रक्षा के लिये प्राण देता है अथवा शरणागत की रक्षा के लिये यत्न करते हुए मारा जाता है, वह शूरवीर स्वर्ग लोक का अलंकार है। राजा के लिये अपना देश सदा ही रक्षणीय होता है। जो राजा एकमात्र उसी की रक्षा में लगा रहता है, उसके लिये जो युद्ध में मारे जाते हैं, वे ही वीर हैं और उन्हीं को वीरलोक की प्राप्ति

होती है। जो प्रजा के प्रति उपद्रव करने में ही लगा रहता है, वह राजा हो या न हो, वैसे स्वामी के लिये जो युद्ध में प्राण देते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं। जो शास्त्र के प्रतिकूल आचरण करने वाले हैं, वे राजा हों या न हों, उनके लिये जो युद्ध में अपने अंगों को कटाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे निस्संदेह नरक में गिरते हैं। जो सदाचारी पुरुषों के लिये तलवार की धार को सहते हैं, वे शूरवीर कहे जाते हैं। शेष सभी लोग डिम्भाहव में मारे गये कहलाते हैं।

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

लीला और सरस्वती का युद्ध का दृश्य देखना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! तदनन्तर आकाश में स्थित हुई सरस्वती देवी सहित लीला ने भूतल पर पति देव के द्वारा सुरक्षित, सैन्य बल से सम्पन्न राष्ट्रमण्डल में आमने-सामने दो सेनाएँ देखीं, जो एक दूसरे के प्रति क्षोभ से भरी हुई थीं। दोनों ही मतवाली दिखायी देती थीं। दोनों महान् आयोजन में संलग्न एवं घनी थीं। उनमें उभय पक्षों के दो राजा विद्यमान थे। दोनों सेनाएँ युद्ध के लिये सुसज्जित थीं, कवच और शिरस्त्राण आदि से संनद्ध थीं तथा प्रज्वलित अग्नि के समान अद्‌भुत दिखायी देती थीं। पहले कौन प्रहार अथवा अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करता है, यह देखने के लिये क्षुब्ध हुए असंख्य नेत्र उन्हें एकटक दृष्टि से देख रहे थे। ऊपर उठी हुई चमचमाती तलवारों की धारें ही मानो धारावाहिक वृष्टि थीं, जिसे दोनों सेनाओं के सैनिक अपने अंगों पर वहन करते थे। फरसे, भाले, भिन्दिपाल, ऋृष्टि और मुगदर आदि अस्त्र-शस्त्र वहाँ चमक रहे थे।

जिन्हें रोकना असम्भव था, ऐसी उन दोनों विशाल सेनाओं के तुमुल नाद से लोगों को आपस की बातचीत तक नहीं सुनायी देती थी। राजा की आज्ञा के बिना कोई पहले प्रहार न कर बैठे, इस आशंका से बहुत देर तक दोनों सेनाओं में रणदुन्दुभि न बज सकी। अपने-अपने स्थान में श्रेणीबद्ध होकर खड़े हुए सैनिक ही जिनके अंग थे, उन सम्पूर्ण टुकड़ियों से भरी-पूरी होने के कारण वे दोनों सेनाएँ मन्थरगति से आगे बढ़ रही थीं। उनमें असंख्य सैनिक अपने प्राणरूपी सर्वस्व को लुटा देने के लिये उद्यत थे। सभी धनुर्धर वीर कान

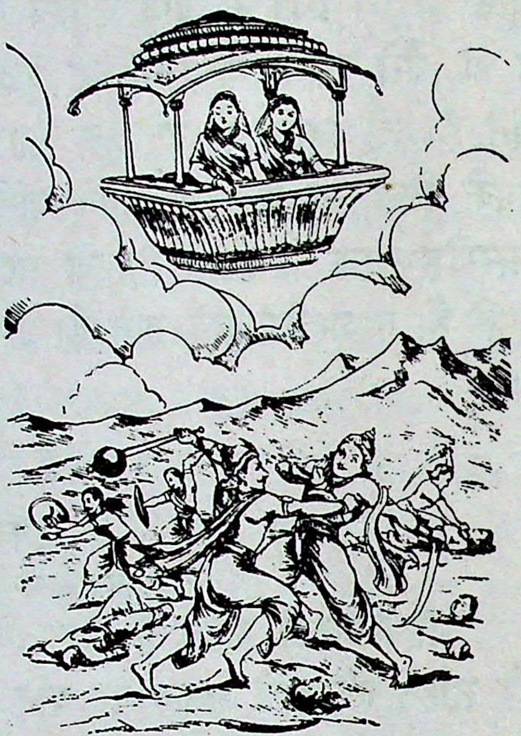

तक खींचे गये बाण समूहों की धारावाहिक वृष्टि करने के लिये उत्सुक थे। प्रहार करने के आदेश की प्रतीक्षा में अगणित योद्धा निश्चल खड़े थे। तदनन्तर लीला और सरस्वती दोनों देवियाँ उस युद्ध को देखने के लिये वहीं रुके हुए एक सुन्दर, सुस्थिर एवं मनःकल्पित विमान पर आरूढ़ हुईं। इतने में ही दोनों सेनाओं में आमने-सामने संघर्ष आरम्भ होने पर शत्रुपक्ष की सेना से प्रलय कालिक समुद्र से उठी हुई एक तरंग की भाँति कोई निर्भय योद्धा निकला और आगे बढ़ा। वह प्रहार करना ही चाहता था कि लीला के पति ने, जो पूर्वजन्म में पद्म था और वर्तमान जन्म में विदूरथ के नाम से विख्यात था, उसके आक्रमण को सहने में असमर्थ होकर पर्वत के शिखर पर गिरायी हुई शिला की भाँति उस विपक्षी योद्धा की छाती पर मुग्दर प्रहार किया। फिर तो दोनों सेनाओं में प्रलयकालीन समुद्र के समान वेग से बलपूर्वक अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार आरम्भ हुआ। अग्नि-तुल्य तेजस्वी आयुधों की प्रभा चपला की चमक के समान सब ओर चकाचौंध पैदा करने लगी। चंचल अस्त्र-शस्त्रों की धार के अग्रभाग से आकाश रेखांकित सा प्रतीत होने लगा। घरघराते हुए रथों के वेग से जो लीकें बन गयी थीं, वे ही योद्धाओं के शरीर से निकलकर बहने वाली खून की नदी के लिये मार्ग थीं। सैनिकों की दौड़-धूप से इतनी धूल उड़ी कि वहाँ सब ओर कुहरा-सा छा गया। धारावाहिक रूप से बरसते हुए अस्त्र-शस्त्र चमचमाहट पैदा करते थे। उस सेनारूपी समुद्र का कोलाहल एकत्र हुए सम्पूर्ण मेघों की क्षोभपूर्ण गर्जना के समान प्रतीत होता था। क्षेपणास्त्रों द्वारा फेंके गये पत्थरों और चक्रसमूहों से भयभीत हो आकाशचारी पक्षी दूर भाग गये थे। कुठारों के आघात से योद्धाओं के मस्तक विदीर्ण हो गये थे। पूरी शक्ति लगाकर चलायी गयी शक्तियों के समूह से छिन्न-भिन्न होकर गिरे हुए हाथियों की लाशों से धरती पट गयी थी।

बड़े-बड़े ताड़ वृक्षों के समान ऊँचे पुरुषों ने हाथ में कुदाल ले वन भूमि खोदकर उसे समतल कर दिया था। जहाँ तक बाण फेंका जा सकता है, उससे दूने प्रदेश में सब ओर से लोगों को हटा दिया गया था और पत्थरों की चट्टानें भी काट-छाँटकर वहाँ से दूर फेंक दी गयी थीं। नाराच रूपी श्रेष्ठ जल की वर्षा करने वाले वीर समूह रूपी मतवाले मेघों के घिर आने से जहाँ कबन्ध रूपी मोर नाचने लगे थे तथा वेग से चक्कर काटते हुए मदमत्त गजराज रूपी पर्वतों से जो आवेष्टित था, वह वेग पूर्वक चलता हुआ युद्ध वहाँ प्रलय काल का सा दृश्य उपस्थित कर रहा था।

तदनन्तर युद्ध की इच्छा रखने वाले राजाओं, योद्धाओं, मन्त्रियों तथा आकाश से संग्राम का दृश्य देखने वाले देव, गन्धर्व आदि के मुख से वहाँ इस तरह की बातें निकलने लगीं-'देखो, तुरंत के कटे हुए मस्तकों के मुखरूपी गड्ढे में गोते लगाती हुई सफेद चीलों से व्याप्त हुए ये कबन्ध (धड़) समरांगण में बजते हुए वाद्यों के ताल पर उछल-उछल कर नाच रहे हैं।' देवताओं की गोष्ठियों में परस्पर यह चर्चा चल रही थी कि 'कौन धीर पुरुष कब, कैसे और क्यों स्वर्ग आदि लोकों में जायँगे ?' कुछ लोग ऐसी बातें कह रहे थे-'मूढ़ो! आगे बढ़कर युद्ध करो। अधमरे मनुष्यों को उठा ले जाओ। नराधमो! इन अपने ही लोगों को पैरों के प्रहार से कुचल न डालो।'

जैसे सोया हुआ मनुष्य थोड़ी देर में स्वप्न-देह को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार युद्ध में मारा गया योद्धा मरण-कालिक मूर्छा के पश्चात एक ही निमेष में अपने कर्मरूपी शिल्पी (स्रष्टा) द्वारा रचित देवशरीर को प्राप्त कर लेता था। उस युद्धस्थल में परस्पर छेदन-भेदन के लिये उठे हुए हस्त-समूहों से भुशुण्डि, शक्ति, शूल, खंग, मुसल और प्रास नामक अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा हो रही थी। परस्पर चलाये गये युद्ध हेतुक अस्त्र-शस्त्र आपस में टकराकर चूर-चूर हो जाते थे। उन भयंकर आयुधों के चूर्ण से भरा हुआ वह संग्राम रूपी समुद्र बालुका-राशि से परिपूर्ण-सा जान पड़ता था। कटकर गिरे हुए छत्र उस रणसिन्धु में उठती हुई तरंग के समान प्रतीत होते थे।

युद्ध में थका हुआ कोई सैनिक अपने दूसरे साथी से कह रहा था-'मित्र! संग्राम में थक जाने के कारण मेरी ही तरह तुम्हारी भी लड़ने की इच्छा शान्त हो गयी होगी; अतः मैं एक अच्छी बात बता रहा हूँ, सुनो। जलती हुई

आग के समान उज्ज्वल बाण जब तक हम लोगों के अंगों के टुकड़े-टुकड़े नहीं कर डालते, तभी तक हमारे लिये निकल भागने का अवसर है। इसलिये आओ, हम लोग शीघ्र ही यहाँ से भाग चलें; क्योंकि यह जो चौथा पहर बीत रहा है, यमराज का ही दिन है (अतः इस समय यहाँ रहने से प्राणों की रक्षा असम्भव हो जायगी)।'

रघुनन्दन! तदनन्तर वह समर-सागर उद्धत ताण्डव नृत्य करने वाले उन्मत्त के समान प्रतीत होने लगा। उड़ जाने के लिये उद्यत हुए अश्व ही उसमें उत्ताल तरंग के समान जान पड़ते थे। बाणरूपी जल की धारा से घनीभूत हुए सैन्यरूपी मेघों ने वहाँ के भूतल और आकाश को आच्छादित करके एक-सा कर दिया था। दोनों विशाल सेनारूपी महासागरों की क्षोभजनित टक्कर से वहाँ लोगों में भाग-दौड़ मच गयी। जैसे समुद्र के गर्भ में स्थित पर्वत जलीय सर्पों से व्याप्त होता है, उसी प्रकार एक दूसरे दल का दलन करने में लगे हुए और प्रलय काल में उठे हुए-से अस्त्र-शस्त्रों द्वारा वह समरांगण व्याप्त हो रहा था। शूल, खंग, चक्र, बाण, शक्ति, गदा, भुशुण्डि और प्रास आदि सैकड़ों चमकीले आयुध परस्पर टकराते, काटते और अद्भुत ध्वनि उत्पन्न करते हुए दसों दिशाओं में घूम-घूमकर प्रलयकालीन प्रचण्ड वायु के झोंके से टूटकर आकाश में चक्कर काटते हुए वृक्ष आदि पदार्थों की लीला धारण करते थे।

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

युद्ध का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! दोनों सेनाओं में जो महान् धर्मनिष्ठ, सुशील, ओजस्वी, धैर्यशाली, शुद्ध, कुलकमल और युद्ध में कभी पीठ न दिखाने वाले शूरवीर थे, उनमें परस्पर द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। वे मेघों के समान गर्जना करते हुए एक दूसरे को निगल जाने के लिये उत्सुक हो दो नदियों के वेग युक्त प्रवाहों के समान एक दूसरे से भिड़ते और टकराते थे। चक्रधारी योद्धा चक्रधारियों से उलझ गये। धनुर्धर वीर धनुर्धरों से भिड़ गये। खंग से युद्ध करने वाले सैनिक खंगधारियों से जूझने लगे। भाले वाले भाले वालों से, मुग्दरधारी मुग्दर धारियों से, गदाधारी गदाधारियों से, शक्ति से युद्ध करने वाले शक्तिधारी

योद्धाओं से, छुरे वाले छुरे वालों से, त्रिशूलधारी त्रिशूल धारियों से और लोहे की जंजीरों का जालीदार कोट पहनने वाले योद्धा अपने जैसे ही विपक्षी योद्धाओं से इस तरह वेगपूर्वक युद्ध करने लगे, मानो प्रलयकाल के विक्षुब्ध महासागरों की तरंगें आपस में टकरा रही हों। वह युद्धाकाशरूपी महासागर वहाँ अद्‌भुत शोभा पा रहा था। क्षोभपूर्वक चलाये गये चक्रसमूह उसमें भँवर के समान जान पड़ते थे। वहाँ बहने वाली वायु में बाणरूपी जल के कण व्याप्त हो रहे थे और आयुधरूपी मगर उसमें सब ओर विचर रहे थे। विद्या, बुद्धि, बल, शौर्य, अस्त्र-शस्त्र, अश्व, रथ और धनुष-ये युद्ध के दिव्य आठ साधन जिनके पास मौजूद थे, ऐसे सैन्यसमूह दो पक्ष होने के कारण आधे-आधे भाग से दोनों पक्षों में बँटकर क्रोधपूर्वक युद्ध के लिये खड़े थे। वे दोनों नरेश विदूरथ और सिन्धुराज भी तदनुसार ही स्थित थे।

रघुनन्दन! मध्यदेश को आदि (मुख्य) स्थान मानकर वहीं से दिशा की गणना करने पर लीला के पति महाराज पद्म (जो वर्तमान जन्म में विदूरथ थे) के पक्ष में उनकी सहायता के लिये पूर्व दिशा से जिस-जिस जनपद के लोग आये थे, उन सबके नाम बताता हूँ; सुनो! पूर्व दिशा में स्थित जो कोसल, काशि, मगध, मिथिला, उत्कल, मेखल, कर्कर, मुद्र, संग्राम-शौण्डक, मुख्य, हिम, रुद्रमुख्य, ताम्रलिप्त, प्राग्ज्योतिष, अश्वमुख, अम्बष्ठ, पुरुषादक, वर्णकोष्ठ, सविश्वोत्र, आममीनाशन, व्याघ्रवक्त्र, किरात, सौवीर और एकपादक-ये चौबीस जनपद हैं। इनके निवासी योद्धा राजा की सहायता के लिये आये थे। इनके सिवा पूर्वदिशा में जो माल्यवान्, शिबि, आजंन, वृषल, ध्वज, पद्म तथा उदयगिरि नामक सात पर्वत हैं, वहाँ के निवासी भी राजा पद्म के पक्ष में पधारे थे।

पूर्व-दक्षिण दिशा में जो ये विन्ध्य आदि के निवासी हैं, वे भी आये थे। इनके अतिरिक्त चेदि, वत्स, दशार्ण, अंग, बंग, उपबंग, कलिंग, पुण्ड्र, जठर, विदर्भ, मेखल, शबराननवर्ण, कर्ण, त्रिपुर, पूरक, कण्टकस्थल, पृथग् दीपक, कोमल, कर्णान्ध्र, चौलिक, चार्मण्यवत (चर्मण्वती नदी के तटवर्ती), काकक, हेमकुण्ड, शमश्रुधर, बलिग्रीव, महाग्रीव, किष्किन्ध और नालिकेरी- इन देशों के निवासी वीर भी लीला-पति की सहायता में आये थे।

रघुनन्दन! जो लोग लीला-पति के विपक्ष में आये थे, उनके इन जनपदों का वर्णन सुनो। पश्चिम दिशा में जो ये ऊँचे और बड़े-बड़े पर्वत हैं, पहले

उनके नाम बताये जाते हैं-गिरिराज मणिमान्, मुरार्पणगिरि, वन, अर्कह, मेघभव, चक्रवान् और अस्ताचल-इन सबके निवासी उक्त नरेश के विपक्ष में आये थे। इनके अतिरिक्त जो काश नामक गणों और ब्राह्मण समूहों का अन्त करने वाले हैं, वे पंचजन नामक गणतन्त्र राज्य के सैनिक भी युद्ध के लिये आये थे। इसी प्रकार भारक्षतथ, पारक, शान्तिक, शैब्य, आरमरकाय, अच्छ, अगुहुत्व, अनियम, हैहय, सुह्मगाय, ताजिक, हूणक, दक्षिण कतक और उत्तर कतक देशों के पार्श्व भाग में स्थित कर्क देश, गिरिपर्ण और अवम-इन सब देशों के निवासी म्लेच्छ जाति के अन्तर्गत हैं; क्योंकि इन्होंने धर्म की मर्यादा का सर्वथा त्याग कर दिया है। (ये सभी राजा विदूरथ के विपक्ष में आये थे।) तदनन्तर दो सौ योजन तक की भूमि जनपदों से रहित है। तत्पश्चात् महेन्द्र पर्वत है, जिसकी भूमि में मोती और मणियों की अधिकता है। उसके बाद अश्वगिरि है, जो सैकड़ों पर्वतों से युक्त है। उससे आगे भयंकर महासागर है, जिसके तट पर पारियात्र नामक पर्वत है। (इन सब स्थानों के निवासी सिन्धुराज की ओर से युद्ध करने आये थे।)

पश्चिमोत्तर दिशा में पर्वतीय प्रदेश के भीतर वेणुपति और नरपति नामक देश हैं, जहाँ अनेक प्रकार के उत्सव होते रहते हैं। इनके सिवा जो फल्गुणक, माण्डव्य, अनेक नेत्रक, पुरुकुन्द, पार, भानुमण्डल, भावन, वन्मिल, नलिन, दीर्घ-जहाँ के निवासियों के केश, अंग और भुजाएँ दीर्घ (बड़ी) होती हैं, रंग, स्तनिक, गुरुह और लुह नाम वाले देश हैं (उनके निवासी भी सिन्धुराज की ओर से आये थे)। तदनन्तर अनुपम स्त्री राष्ट्र है, जहाँ के लोग गाय-बैल और अपनी संतान तक को खा जाते हैं। (इन सब स्थानों के निवासी उस युद्ध में सम्मिलित हुए थे।)

उत्तर दिशा में जो हिमवान्, क्रौञ्च, मधुमान्, कैलास, वसुमान् और मेरु पर्वत हैं तथा इन सबके आस-पास जो शाखा पर्वत हैं, उन पर जो लोग निवास करते हैं (वे सब योद्धा सिन्धुराज की ओर से युद्ध करने के लिये आये थे)। इनके सिवा मद्र, वारेव, यौधेय, मालव, शूरसेनिक, राजन्य, अर्जुनातन्य, त्रिगर्त, एकपात्, क्षुद्र, आमबल, स्वस्तवासी, अबल, प्रखल, शाक, क्षेमधूर्ति, दशधान, गावसन्य, दंड, हन्यसन, धनद, सरक, वटधान, अन्तरद्वीप, गन्धार, अवन्ति, सुर, तक्षशिला, वीलव, गोधनी. पुष्करावर्त देश के अन्तर्गत यशोवती,

नाभिमती, तिक्षा, कालवर, काहकनगर, सुरभूतिपुर, रतिकादर्श, अन्तरादर्श, पिंगल, पाण्डव्य, यामुन, यातुधानक, मानव, नांगन, हेमताल, स्वस्वमुख–इन देशों के निवासी भी उस युद्ध में सिन्धुराज की ओर से आये थे। (उपर्युक्त देश पर्वत से नीचे हैं। इनसे ऊपर की ओर) पूर्वोक्त हिमवान्, वसुमान्, क्रौञ्च और कैलास नामक पर्वत हैं। उनसे आगे बढ़ने पर आठ हजार योजन तक की भूमि जनपदों से रहित है।

पूर्वोत्तर दिशा में जो जनपद हैं, क्रमशः उनके नाम सुनो–कालुत, ब्रह्मपुत्र, कुणिद, खदिन, मालव, रन्ध्रराज्य, वन, राष्ट्र, केडवस्त, सिंहपुत्र, वामन, सावाकत्, चापलवह, कामिर, दरद, अभिसासद, जार्वाक, पलोल, कुवि, कौतुक, किरात, यामुपात और दीन नाम जनपद हैं (इन सबके निवासी युद्ध के लिये आये थे)। इससे आगे ईशान कोण में सुवर्णमयी भूमि है। उससे आगे अत्यन्त शोभाशाली देवस्थलीय उपवन की भूमि है। तत्पश्चात् गन्धर्वराज विश्वावसु का उत्तम मन्दिर है। उससे आगे कैलास भूमि है। उससे भी आगे मञ्जुवन नामक पर्वत है, जहाँ की भूमि विद्याधरों और देवताओं के विमान के समान है।

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

युद्ध का उपसंहार

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम! कितना कहा जाय, शेषनाग भी अपनी दो हजार जिह्वाओं से यदि शीघ्रता से बताना चाहें, तो वे भी इस श्रेष्ठ संग्राम का पूर्णतया वर्णन करने में समर्थ नहीं हो सकते।

इस प्रकार वहाँ बड़ा घमासान युद्ध हो रहा था। विजयी वीर भुजाओं पर ताल ठोक रहे थे और पराजित योद्धा भय से हाहाकार कर रहे थे। इन दोनों प्रकार के शब्दों से वह युद्धस्थल गूँज उठा था। धूलरूपी अन्धकार से आच्छादित हुए सूर्यदेव वृद्ध (मन्दगामी या अस्तोन्मुख) से प्रतीत होने लगे। योद्धाओं के रुधिर के प्रवाह को रोकने या ढकने वाले कठोर कवच के भीतर से खून टपक रहा था।

तदनन्तर उभय पक्ष के सेनापतियों ने मन्त्रियों के साथ विचार करके एक–दूसरे के पास दूत भेजे और यह संदेश कहलाया कि अब युद्ध बंद किया जाय। उस युद्ध स्थल में विशेष परिश्रम के कारण सभी के यन्त्र, शस्त्रास्त्र और

पराक्रम मन्द पड़ गये थे। अतः उस समय सब लोगों ने युद्ध बंद करने की बात हृदय से स्वीकार की। तत्पश्चात् विशाल रथ के ऊँचे ध्वज के पास ही स्थापित हुए लंबे बाँस के खंभे पर दोनों सेनाओं का एक-एक योद्धा उसी प्रकार चढ़ा, जैसे ध्रुव उच्चतम स्थान को आरूढ़ हुए हों। ऊँचे चढ़े हुए उन योद्धाओं ने सम्पूर्ण दिशाओं में उसी प्रकार श्वेत वस्त्र हिलाया, जैसे रात्रि शुभ्र किरणों से सुशोभित पूर्ण चन्द्रमा को समस्त दिशाओं में घुमाती है। वस्त्र हिलाकर उन्होंने यह सूचना दी कि 'अब युद्ध बंद करो।'

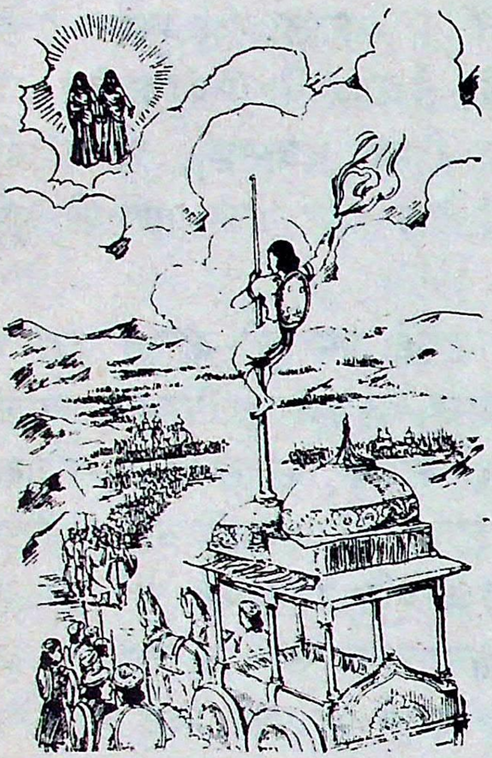

इसके बाद जैसे प्रलय के अन्त में तत्कालीन एकार्णव से जल का प्रवाह चारों दिशाओं में निकलने लगता है, उसी प्रकार उस युद्ध स्थल से दोनों सेनाएँ बाहर जाने लगीं। सारी रणभूमि मुर्दों के ढेर से पट गयी थी। जहाँ-तहाँ खून की नदियाँ बह रही थीं और सब ओर घायल योद्धाओं के चीत्कार सुनायी पड़ते थे। वह रणभूमि मृत्यु के उद्यान की भाँति जान पड़ती थी। वहाँ मरकर गिरे हुए असंख्य घोड़ों, हाथियों, मनुष्यों, राजाओं, सारथि सहित रथों और कटी हुई ऊँटों की गर्दनों से जो रक्त का प्रवाह सब ओर फैल रहा था, उससे एक सुन्दर नदी प्रवाहित हो चली थी। खून से भीगे हुए अस्त्र-शस्त्र ही वहाँ जल से सींची हुई हरी-भरी लताओं के समान जान पड़ते थे। वह रणोद्यान प्रलयकाल में पर्वतों सहित विध्वस्त हुए सम्पूर्ण जगत् की भाँति दृष्टिगोचर हो रहा था।

(सूर्यास्त के पश्चात) आकाश, पर्वत, उसके निकुंज और उसकी गुफा के भीतर फैलकर पिण्ड के समान एकत्र हुए घने अन्धकार का समूह काले मेघों की घटा के समान वहाँ सब ओर छा गया था। चंचल भूतों के वेग से व्याकुल हुआ वह रणक्षेत्र प्रलयकाल की वायु से कम्पित लोकों और उनके उपकरणों से युक्त ब्रह्माण्ड के समान जान पड़ता था।

तदनन्तर जब सर्वत्र नीरवता छा गयी, अन्धकार का संचार हो गया,

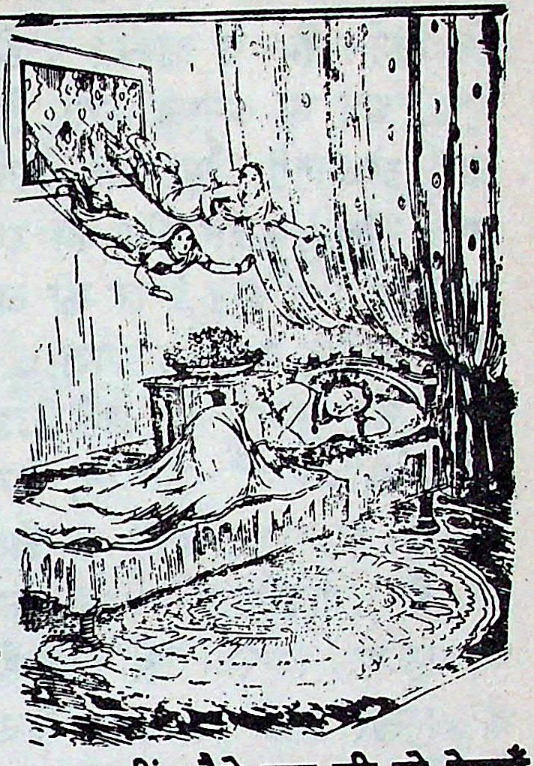

सम्पूर्ण दिशाओं के लोगों की आँखें निद्रा से बंद हो गयीं, उस समय उदार हृदय लीला-पति कुछ खिन्नचित्त से होकर चन्द्रमा के मध्य भाग के सदृश मनोहर तथा शीतल कमरों वाले अपने सुन्दर महल में पूर्ण चन्द्रमा के समान आकार वाली और बर्फ के समान शीतल श्वेत शय्या पर अपने नेत्र-कमलों को बंद करके सो गये और दो ही घड़ी में उन्हें गहरी नींद आ गयी।

तत्पश्चात् वे दोनों ललनाएँ उस युद्ध स्थल के आकाश को छोड़कर उस राजमहल में खिड़कियों के छेदों से उसी प्रकार घुस गयीं, जैसे वायु की दो रेखाएँ इसी छोटे रन्ध्र मार्ग से अधखिले कमल के भीतर प्रविष्ट हुई हों।

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

शरीर की सर्वत्र गमन शक्ति

श्रीरामजी ने पूछा-विद्वान् वक्ताओं में श्रेष्ठ प्रभो! यह इतना बड़ा स्थूल शरीर तन्तु के समान सूक्ष्मछेद की राह से किसप्रकार उस घर में प्रविष्ट हुआ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन! जिस पुरुष ने पहले दीर्घकाल से यह अनुभव किया हो कि 'मैं स्थूल शरीर नहीं हूँ, शुद्ध चिन्मय आत्मा हूँ, अतः सभी स्थानों में जा सकता हूँ', वह पीछे चलकर स्थूल देह की अवरोध आदि क्रियाओं से कैसे युक्त हो सकता है ? क्योंकि वह उसी चेतन का अंश है, जो सर्वत्र जाने में समर्थ है। जिसकी आकृति स्वप्नगत पुरुष या संकल्प कल्पित पुरुष के समान है, आकाशमात्र ही जिसका आकार है अर्थात् जो वास्तव में स्थूलआकार से रहित है, उसे कौन कैसे रोक सकता है। जीव जहाँ मरता है, उसी स्थान को शीघ्र देखता है और वहीं उसे अनेक भुवनों से युक्त यह विस्तृत प्रपंच इसी रूप में स्थित सा दिखायी देता है। आगन्तुक गेह आदि से आत्मवान् हुआ सा यह चेतन आकाशरूपी जीव देह आदि को ही आत्मा समझ

कर निर्मल चिन्मय आकाश में ही 'यह मैं हूँ, यह जगत है' इस आकाशरूप (शून्य) भ्रम का अनुभव करता है। इस जगतरूपी भ्रम में देवताओं, अमरावती आदि श्रेष्ठनगरों, मेरु आदि पर्वतों, सूर्य, चन्द्रमा और तारा समूह के कारण अपूर्व सौन्दर्य प्रतीत होता है। इस भ्रमरूपी वृक्ष के खोखले में जरा, मृत्यु, व्याकुलता तथा नाना प्रकार की आधि-व्याधियाँ ठूँस-ठूँसकर भरी हुई हैं। इसमें अपने अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट वस्तु के निवारण के लिये स्थूल-सूक्ष्म, चर-अचर सभी प्राणी उद्योगशील हैं तथा यह भ्रमरूपी प्रपंच समुद्र, पर्वत, नदी, उनके अधिपति, दिन, रात, कल्प, क्षण और प्रलय-इन सबसे युक्त है। इस प्रकार यद्यपि यह विश्व दीवाल की तरह स्थूल एवं स्थिर दिखायी देता है, तथापि मनन-मन के संकल्प के सिवा और कुछ नहीं है। मनन करने पर यह चल (अस्थिर) ही सिद्ध होता है। तुम इस समय मन में अपने अनुभव के अनुसार इसके स्वरूप पर विचार करो। जो ही चेतन आकाशरूप परमात्मा है, वही मननरूप कहा गया है और जो ही चेतन आकाशरूप परमात्मा है, वही परमपद है। चेतन आकाशस्वरूप परमात्मा का अभूत (असत्य अथवा अनादि) मायाकाश में या सूक्ष्म भूतों के कार्यरूप चित्ताकाश में जो स्फुरण है, वही नाम और रूप से नाना भाव को प्राप्त होने वाला जगत कहा जाता है। लीला और सरस्वती दोनों निष्पाप देवियाँ परमात्मा के तुल्य विशुद्ध एवं चिदाकाशमय शरीर से युक्त थीं; इसलिये वे सर्वत्र जा सकती थीं। उनके लिये कहीं भी प्रवेश करने में कोई बाधा नहीं थी। वे चिदाकाश में जहाँ-जहाँ अपने को प्रकट करने की इच्छा करती थीं, वहाँ-वहाँ सदा ही अपनी रुचि और अभिलाषा के अनुसार प्रकट हो जाती थीं। इसलिये राजा विदूरथ के घर में उन दोनों का जाना सम्भव हुआ। चिन्मय आकाश सर्वत्र विद्यमान है, उसमें जिसे आतिवाहिक कहते हैं, वह चिदाकाशमय सूक्ष्म शरीर सर्वत्र विचरण कर सकता है; क्योंकि वह यथार्थ ज्ञान स्वरूप, धारणात्मक एवं मननरूप है। तुम्हीं बताओ, उस सूक्ष्म देह को कौन, कैसे और किस लिये रोक सकता है ?

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पच्चीसवाँ सर्ग

राजा पद्म के भवन में सरस्वती और लीला का प्रवेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम! उन दोनों देवियों के प्रवेश करने पर राजा

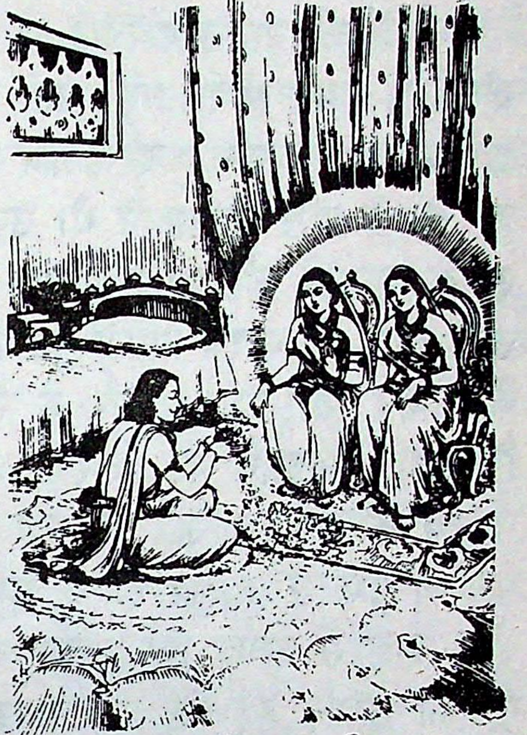

पद्म के भवन का भीतरी भाग उज्ज्वल छटा से सुशोभित हो गया, मानो वहाँ दो चन्द्रमा उदय हो गये हों। उसमें मन्दार पुष्प का स्पर्श करके आयी हुई शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलने लगी। उन देवियों के प्रभाव से राजा के अतिरिक्त अन्य स्त्री-पुरुष निद्रा के वशीभूत हो गये, परंतु चन्द्रद्रव के समान शीतल उन दोनों के शरीर के प्रभा-पुंज से आल्हादित होकर राजा पद्म की निद्रा भंग हो गयी, मानो उस पर अमृत छिड़क दिया गया हो। उठते ही उसने दो दिव्य नारियों को देखा, जो दो आसनों पर विराजमान थीं। उन्हें देखकर ऐसा लगता था कि मानो मेरु पर्वत के दो शिखरों पर दो चन्द्रमण्डल उदित हो गये हों। यह देखकर राजा का मन विस्मयाविष्ट हो गया, फिर क्षण भर मन-ही-मन विचार करके वह अपनी शय्या से उठ पड़ा-ठीक उसी तरह, जैसे चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु शेष शय्या से उठते हैं। तत्पश्चात् उसने सोते समय अस्त-व्यस्त हुए अपने माला, हार और अधोवस्त्र को यथास्थान ठीक किया। फिर सिरहाने रक्खी हुई फूलों की डलिया में से माली की तरह स्वयं ही अत्यन्त खिले हुए पुष्पों से अपनी अंजलि भर ली और भूमि पर ही पद्मासन लगाकर वह नम्रतापूर्वक देवियों से कहने लगा-'देवियो! आप दोनों जन्म, दुःखमय जीवन और त्रिविध तापरूपी दोष का शमन करने के लिये चाँदनी के समान तथा बाह्य और आन्तरिक अज्ञानान्धकार का विनाश करने के लिये सूर्य की प्रभा के तुल्य हैं। आपकी जय हो।' यों कहकर राजा ने उन देवियों के चरणों पर पुष्पांजलि समर्पित की। तदनन्तर देवी सरस्वती ने लीला से राजा का जन्म-वृत्तान्त वर्णन करने के लिये पार्श्व में ही पड़े हुए मन्त्री को अपने संकल्प से जगाया। जागने पर मन्त्री ने उन दोनों दिव्य नारियों को देखकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणों में पुष्पांजलि समर्पित करके विनय पूर्वक वह उनके आगे खड़ा हो गया। तब देवी ने राजा से पूछा-'राजन्! तुम कौन हो ? किसके पुत्र हो ? और यहाँ

कब पैदा हुए हो ?' ऐसा प्रश्न सुनकर मन्त्री ने उत्तर देना आरम्भ किया–

'देवियो! यह आप लोगों का ही कृपा–प्रसाद है, जो मैं आपके समक्ष भी बोलने में समर्थ हो सका हूँ; अतः अब आप मेरे स्वामी का जन्मवृत्तान्त सुनिये। प्राचीन काल में एक कुन्दरथ नाम के राजा हो गये हैं, जो इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए थे। वे परम शोभाशाली थे। उनके नेत्र कमल के समान सुन्दर थे। उन्होंने अपनी भुजाओं की छाया से सारे भूमण्डल को आच्छादित कर लिया था। उन्हीं नरेश के भद्ररथ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके मुख की कान्ति चन्द्रमा के समान थी। उन भद्ररथ के विश्वरथ, विश्वरथ के बृहद्रथ, बृहद्रथ के सिन्धुरथ, सिन्धुरथ के शैलरथ, शैलरथ के कामरथ, कामरथ के महारथ, महारथ के विष्णुरथ और विष्णुरथ के पुत्र नभोरथ हुए। ये हमारे राजा उन्हीं महाराज नभोरथ के पुत्र हैं। ये अपने पिता के महान् पुण्यपुंजों के फलस्वरूप क्षीर–सागर से उत्पन्न हुए चन्द्रमा की भाँति प्रकट हुए हैं। जैसे पार्वती जी से गुह की उत्पत्ति हुई थी, उसी प्रकार ये अपनी माता सुमित्रा के गर्भ से दूसरे स्कन्द की भाँति पैदा हुए हैं। इनकी आकृति पूर्ण चन्द्रमा के समान निर्मल है। इन्होंने अपने अमृत–तुल्य गुणों से जनता को भलीःभाँति तृप्त कर दिया है। ये विदूरथ नाम से विख्यात हैं। जब इनकी अवस्था दस ही वर्ष की थी, तभी इनके पिता इन्हें राज्यभार सौंपकर वनवासी हो गये थे। ये तभी से इस भूमण्डल का धर्मपूर्वक पालन कर रहे हैं। आज पुण्यरूपी वृक्ष के फलित होने पर आप दोनों देवियों का यहाँ शुभागमन हुआ है; क्योंकि दीर्घ तप आदि सैकड़ों क्लेश उठाने पर भी आपका दर्शन मिलना कठिन है। इस प्रकार विदूरथ नाम से प्रसिद्ध ये महीपाल आज आपके दर्शन प्रदानरूप प्रसाद से परम पवित्र हो गये।'

यों कहकर जब मन्त्री चुप हो गया तथा भूपाल भूतल पर पद्मासन लगाकर हाथ जोड़े सिर नीचा किये बैठे रहे, उसी समय सरस्वती देवी ने 'राजन्! तुम विवेक द्वारा स्वयं ही अपने पूर्व जन्म का स्मरण करो' यों कहकर उनके मस्तक पर अपना हाथ फेरा। देवी सरस्वती के कर स्पर्श से राजा पद्म (विदूरथ) का हृदयान्धकार एवं माया–सब–के–सब नष्ट हो गये। उनका हृदय अत्यन्त विकसित हो गया। उन्हें अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त इस प्रकार स्मरण हो आया, जैसे वह उनके अन्तः करण में स्फुरित होता हुआ सा स्थित था।

फिर लीला के कर्तव्य के साथ-साथ शरीर और एकच्छत्र राज्य के त्याग, सरस्वती के वृत्तान्त, लीला की विशेष उन्नति और आत्मकथा को जानकर राजा समुद्र में गोते लगाते हुए की तरह विस्मय में पड़ गया। वह मन-ही-मन कहने लगा-'खेद है, सारे संसार में यह माया ही व्याप्त है। इस समय इन देवियों की कृपा से मुझे इसका पूर्ण ज्ञान हुआ है।'

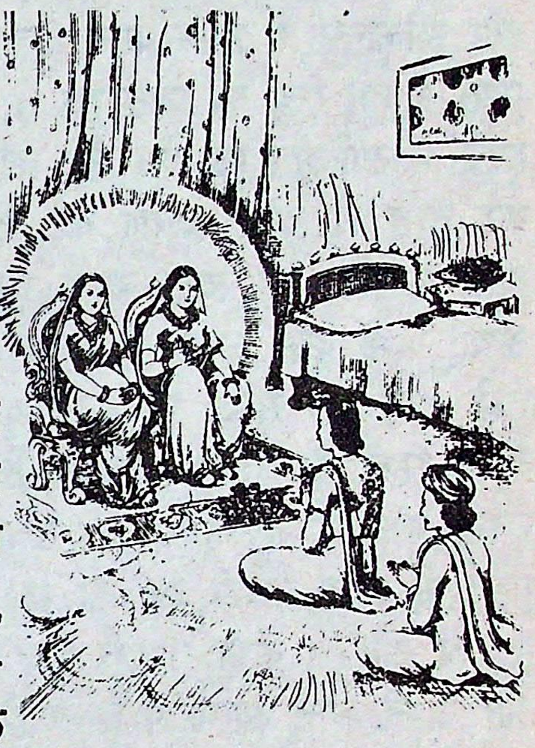

राजा ने पूछा-देवियो! मुझे जो अपने अनेक कार्यों का, परदादा का तथा अपनी बचपन एवं युवावस्था का और मित्र तथा बन्धु-बान्धवों का स्मरण हो रहा है, इसका क्या कारण है ?

श्रीसरस्वती देवी ने कहा-राजन्! मृत्युरूपी महा-मोहमयी मूर्च्छा अनन्तर उसी मुहूर्त में गिरि ग्राम निवासी उस ब्राह्मण के घर के भीतर आकाश में ही स्थित गृह के मध्य भाग में जो मण्डप है, उसी के अंदर तुम्हारा यह जन्मादि दृश्य-प्रपंच आभासित हो रहा है। वहीं निर्मल आकाश की भाँति स्वच्छ तुम्हारे चित्त में यह विस्तृत व्यवहार-भ्रम स्फुरित हुआ है। 'यह मेरा जन्म हुआ। इक्ष्वाकुवंश ही मेरा कुल है। पूर्व काल में मेरे ये पितामह आदि इस नाम वाले हुए थे। मैं पैदा हुआ। जब मैं दस वर्ष का बालक था, तभी मेरे पिता इस राज्य पर मेरा अभिषेक करके स्वयं परिव्राजक होकर वन को चले गये। तदनन्तर मैंने दिग्विजय करके अपने राज्य को निष्कण्टक बनाया। फिर इन मन्त्रियों तथा पुरवासियों के साथ पृथ्वी का पालन करता रहा हूँ। यज्ञ कर्मों का अनुष्ठान तथा धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करते मेरी आयु के सत्तर वर्ष व्यतीत हो चुके। इस समय इस शत्रु सेना ने मुझ पर आक्रमण किया और उसके साथ मेरा भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध करके मैं अपने घर लौट आया हूँ और यहाँ पूर्ववत् स्थित हूँ। ये दोनों देवियाँ मेरे घर पधारी हैं और मैं इनका पूजन कर रहा हूँ; क्योंकि पूजित होने पर देवता मनोऽभिलाषित पदार्थ प्रदान करते हैं। जैसे सूर्य की प्रभा मुकुलित कमल को विकसित कर देती है, उसी

तरह इन दोनों में से इस एक देवी ने मुझे यहाँ ऐसा ज्ञान प्रदान किया है, जो पूर्व जन्म की स्मृति को जगाने वाला है। अब मैं कृतकृत्य हो गया हूँ और मेरे सभी संशय नष्ट हो गये हैं। मैं शान्ति लाभ करूँगा, परम निर्वाण को प्राप्त होऊँगा और केवल सुखरूप होकर स्थित होऊँगा'-इस प्रकार तुम्हारी यह भ्रान्ति, जो बहुसंख्यक संदेहों से युक्त, नानाप्रकार के आचार-विचारों से सम्पन्न और लोकान्तर में गमन करने वाली है, विस्तार को प्राप्त हुई है। पहले जिस मुहूर्त में तुम मृत्यु को प्राप्त हुए थे, उसी समय यह प्रतिभा अपने-आप तुम्हारे हृदय में आविर्भूत हुई थी। जैसे नदी का प्रवाह उठे हुए एक आवर्त को त्याग कर तुरंत ही दूसरा धारण कर लेता है, उसी प्रकार चित्त-प्रवाह भी एक कल्पना-सृष्टि का त्याग करके दूसरी कल्पना-सृष्टि करता रहता है। जैसे आवर्त कभी दूसरे आवर्त से संयुक्त होकर और कभी पृथक् ही प्रवृत्त होता है, उसी तरह यह सृष्टि भी कभी दूसरी से सम्बन्धित और कभी स्वतन्त्र ही बढ़ती रहती है। उस मृत्युक्षण में चिद्भानुस्वरूप तुम्हारी प्रतिभा में प्रतिभासित असत्-रूप यह जगज्जाल उसी तरह उपस्थित हुआ है, जैसे स्वप्न के एक ही मुहूर्त के अंदर सैकड़ों वर्षों का भ्रम होता है। वास्तव में तो न तुम कभी पैदा हुए हो और न कभी तुम्हारी मृत्यु ही हुई है। तुम तो शुद्ध विज्ञानस्वरूप हो और अपने शान्त आत्मा में स्थित हो। यह सारा प्रपंच तुम्हें दृश्य-सा प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः तुम कुछ नहीं देख रहे हो, बल्कि निर्मल महामणि तथा भासमान सूर्य आदि के समान तुम अपने आत्मा में अपने आप नित्य सर्वात्मभाव से प्रदीप्त हो रहे हो। वस्तुतः न यह भूतल सत् है, न प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला यह विदूरथ-देह ही सत् है और न ये पर्वत, ग्राम, तुम्हारे शत्रु-मित्र तथा हम लोग ही सत हैं।

राजन्! जिन्हें ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान हो चुका है तथा जो एकमात्र शुद्ध बोधस्वरूप हैं, ऐसे पुरुषों के मन में यह कोई भी सांसारिक पदार्थ सत् नहीं है। भला, जिसका आत्मा शुद्ध ज्ञान से सम्पन्न है, उसे जगत् की भ्रान्ति कहाँ से हो सकती है। जैसे रस्सी का ज्ञान हो जाने पर जब उसमें सर्प का भ्रम मिट जाता है, तब पुनः उसमें सर्प की भ्रान्ति नहीं होती, उसी तरह जगत्-भ्रम के असद्भाव का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर फिर उसकी सत्ता कहाँ से टिक सकेगी। मृग-मरीचिका का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर पुनः उसमें जल बुद्धि कैसे हो सकती

है। उसी तरह स्वप्नावस्था में घटित हुआ अपना मरण जाग्रद्‌वस्था में अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर कैसे सत्य हो सकता है ? शरत्कालीन निर्मल आकाश की शोभा के समान जिसका हृदय स्वच्छ, निर्मल और अत्यन्त विस्तृत है, उस शुद्ध तत्त्ववेत्ता पुरुष की बुद्धि में 'अहम्' और 'जगत्' की प्रतीति तुच्छ शब्दार्थ की द्योतक है। यह वास्तविक नहीं है, केवल वाचिक व्यवहारमात्र है।

महर्षि के यों कथा कहते-कहते दिन समाप्त हो गया। भगवान् भास्कर अस्ताचल की ओर प्रस्थित हो गये और मुनि-मण्डली महर्षि को नमस्कार करके सायंकालिक विधि सम्पन्न करने के लिये स्नानार्थ चली गयी। रात्रि बीतने पर सूर्योदय होते-होते पुनः मुनिमण्डली एक साथ सभा में उपस्थित हुई।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-राघव! जिसकी बुद्धि में ज्ञान का उदय नहीं हुआ है तथा जिसकी परमात्म तत्त्व में दृढ़ स्थिति नहीं है, अतएव जो मोहग्रस्त है, उसके लिये यह जगत् असत् होते हुए भी सत्-सा प्रतीत होता है। जैसे मरुस्थल में सूर्य का ताप ही मृगों के लिये जल की भ्रान्ति का कारण होता है, उसी तरह मूढ़ बुद्धि पुरुष के लिये यह असत्य जगत् सत्य सा भासित होता है। जैसे प्राणी की स्वप्न मृत्यु जो बिल्कुल असत्य है, फिर भी सत्य-सी प्रतीत होकर शोक-रुदन आदि कार्य करा देती है, उसी तरह जिनकी बुद्धि मोहाच्छन्न है, उन पुरुषों के लिये यह जगत् शोकप्रद होता है। जो कटक-कुण्डल आदि में व्याप्त सुवर्ण के ज्ञान से अनभिज्ञ है, उसको जैसे स्वर्ण-निर्मित कड़े में कड़े का ही ज्ञान होता है, उसमें उसकी थोड़ी भी स्वर्ण बुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार अज्ञानी की यह नगर, गृह, पर्वत, गजराज आदि से प्रकाशित होने वाले दृश्य-दृष्टि ही है, दूसरी-परमार्थ-दृष्टि नहीं है।

पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

स्वप्न की सत्यता वर्णन

श्रीरामजी ने पूछा-मुने! यदि केवल मायास्वरूप स्वप्न में कल्पित स्वप्न पुरुष सत्य न भी हों तो क्या दोष होगा ? यह बतलाइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-राघव! स्वप्न में देखे गये नगर निवासी वस्तुतः सत्य नहीं हैं-इस विषय में मैं तुम्हें प्रत्यक्ष प्रमाण बतलाता हूँ, सुनो; अन्य प्रमाणों के

जानने की आवश्यकता नहीं है। सृष्टि के आदि में स्वयंम्भू ब्रह्मा स्वयं ही स्वप्न–तुल्य अनुभव से सम्पन्न दिखायी देते हैं, अतः उनके संकल्प से उत्पन्न हुआ यह विश्व भी स्वप्न–सदृश ही है। इस प्रकार यह विश्व भी स्वप्न है। उसमें जैसे मेरी दृष्टि में तुम सत्य हो, उसी तरह अन्य लोग भी तुम्हारी और मेरी दृष्टि से सत्य हैं एवं अन्य मनुष्यों की भी अपने–अपने अनुभव के अनुसार स्वप्न के विषय में सत्यता सिद्ध है। यदि ये नगर निवासी स्वप्न में सत्य न हों तो इस स्वप्नाकार जाग्रद्‌वस्था में भी वे मेरे लिये थोड़ा भी सत्य न सिद्ध होंगे। इसलिये तुम्हारी दृष्टि में जैसे मैं सत्यात्मा हूँ, उसी तरह मेरी दृष्टि में सब सत्य है; क्योंकि स्वप्न–तुल्य संसार में पदार्थों की परस्पर सिद्धि के लिये ऐसी नीति है। इस महान् स्वप्नरूपी संसार में जैसे तुम्हारी दृष्टि में मैं सत्य हूँ और मेरी दृष्टि में तुम सत्य हो, उसी तरह सभी सत्य है–यही सारे स्वप्नों में न्याय है। इस प्रकार यह सब स्वप्न और जाग्रद्रूप प्रपंच वास्तव में सत्य नहीं है, परंतु सत्य–सा प्रतीत होता है और स्वप्न स्त्री–प्रसंग की भाँति मिथ्या ही जीव को मोहित करता है। सभी वस्तुएँ देह के बाहर तथा भीतर सर्वत्र विद्यमान हैं। ज्ञानवृत्ति जिसे जैसा जानती है, उसे उसी तरह स्वयं ही देखती है। जैसे कोश में जो धन मौजूद रहता है, उसे उसका द्रष्टा प्राप्त करता है, उसी तरह चेतनाकाशरूप परमात्मा में सब कुछ स्थित है और वही परमात्मा उसका अनुभव करता है। अस्तु,

तदनन्तर देवी सरस्वती ने विदूरथ को ज्ञानामृत के सिंचन से विवेक रूपी सुन्दर अंकुर से संयुक्त करके उनसे इस प्रकार कहा–'राजन्! यह पूर्वोक्त तत्त्व ज्ञान मैंने लीला की प्रसन्नता के लिये तुमसे वर्णन किया है। लीला ने भी जगन्मिथ्यात्व की दृष्टान्तभूत तुम्हारी दृष्टियाँ देख ली हैं; अतः तुम्हारा कल्याण हो, अब हम दोनों जाना चाहती हैं।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! मधुर अक्षरों से युक्त वाणी द्वारा सरस्वती के यों कहने पर बुद्धिमान् राजा विदूरथ ने इस प्रकार कहा।

विदूरथ बोले–देवि! मुझ साधारण मनुष्य का भी यदि किसी याचक को दर्शन हो जाय तो वह निष्फल नहीं जाता; फिर आप तो महान् फल प्रदान करने वाली हैं, आपका दर्शन व्यर्थ कैसे हो सकता है। देवि! जैसे स्वप्न देखता हुआ मनुष्य उस स्वप्न को छोड़कर दूसरा स्वप्न देखने लगता है, उसी तरह मैं

अपनी इस देह का परित्याग करके यहाँ से दूसरे लोक को जाऊँगा। माता! मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप मुझ शरणागत को करुणा पूर्ण दृष्टि से देखिये और शीघ्र ही मेरी प्रार्थित वस्तु प्रदान कीजिये! माँ! मुझ पर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं जिस लोक में जाऊँ, वही लोक मेरे इस मन्त्री और इस कुमारी कन्या को भी प्राप्त हो।

श्रीसरस्वतीजी ने कहा–पूर्वजन्म के चक्रवर्ती सम्राट्! तुम्हें विदित होना चाहिये कि हम लोगों ने कभी भी याचकों की कामना का निराकरण कर दिया हो–ऐसा नहीं देखा गया। अतः आओ और लीला की भक्ति और भाग्य के अनुरूप पदार्थों की समृद्धि से सुन्दर इस राज्य का निर्भय होकर उपभोग करो।

राजन्! इस समय इस भीषण संग्राम में तुम्हारी मृत्यु निश्चित है और तुम्हारा प्रचीन राज्य प्राप्त होगा। यह सब प्रत्यक्ष तुम्हारी आँखों के सामने ही होगा। कुमारी कन्या को, मन्त्री को और तुमको शवस्वरूप शरीर प्राप्त करके उस प्राचीन नगर में आना होगा। अब हम दोनों जैसे आयी थीं, वैसे ही लौट जा रही हैं; परंतु कुमारी कन्या को, मन्त्री को और तुम्हें मृत्यु को प्राप्त होकर वायुरूप से अर्थात् सूक्ष्म देह से उस प्रदेश में आना चाहिये।

देवी सरस्वती और राजा दोनों मधुरभाषी थे। उनमें परस्पर वार्तालाप हो ही रहा था, तब तक राजमहल के ऊर्ध्वभाग में बैठकर नगर की देखभाल करने वाला मनुष्य भयभीत हो राजा के पास आकर कहने लगा–'देव! ज्वार-भाटा से संयुक्त महासागर की भाँति बाण, चक्र, खंग, गदा और परिघ की वर्षा करने वाली एक विशाल शत्रु-सेना आ पहुँची है। वह अत्यन्त उत्साह से सम्पन्न है और प्रलयकाल की वायु से उड़ाये गये कुल-पर्वतों की शिलाओं के समान भयंकर गदा, शक्ति और भुशुण्डियों की वर्षा कर रही है। साथ ही इस पर्वताकार नगर में आग लग गयी है, जिसने चारों दिशाओं को व्याप्त कर लिया है। वह चट-चट शब्द के साथ इस उत्तम नगरी को जलाती हुई नष्ट-भ्रष्ट कर रही है।'

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

⟷

सत्ताईसवाँ सर्ग

शत्रु का आक्रमण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुकुल भूषण राम! वह पुरुष सभीत होकर राजा से यों कह ही रहा था, तब तक बाहर कठोर शब्दों से युक्त महान् कोलाहल होने लगा, जो अपने भीषण शब्द से सारी दिशाओं में व्याप्त हो रहा था। वह कोलाहल बलपूर्वक कान तक खींचकर बाणों की वर्षा करने वाले धनुषों की टंकार से तथा जिनकी स्त्री और बच्चे जल गये थे, उन पुरवासियों के महान् हाहाकार से, जलती हुई लपटों के परिस्पंदन से उत्पन्न चट-पट एवं टूटकर गिरते हुए अंगारों के शब्द से व्याप्त था। तब सरस्वती और लीला-दोनों देवियों ने एवं मन्त्री और राजा विदूरथ ने उस घोर रात्रि के समय राजमहल के झरोखे से झाँककर उस विशाल नगर की ओर दृष्टिपात किया, जो तुमुल नाद से गूँज रहा था। उस समय वह नगर प्रलयाग्नि से विक्षुब्ध हुए महासागर के सदृश वेग वाले तथा भयंकर अस्त्ररूपी तरंगों से व्याप्त शत्रुसैन्य से खचाखच भरा था और प्रलयकालीन अग्नि की ज्वाला से पिघलते हुए मेरुपर्वत के सदृश कान्तिमान् एवं गगनचुम्बी महान् ज्वाला-समूहों से भस्म हो रहा था। उस नगर को लूटते समय लुटेरे दूसरों को डराने-धमकाने के लिये महान् मेघ की गर्जना के समान डाँट बता रहे थे। उनके उस भीषण कोलाहल से वह नगर भयानक लग रहा था। तदनन्तर राजा विदूरथ ने अपने योद्धाओं का तथा उन लोगों का, जिनका देखते-देखते ही स्त्री-पुत्र आदि सर्वस्व स्वाहा हो गया था, इसलिये वे इधर-उधर दौड़ लगा रहे थे, करुण-क्रन्दन सुना। अहो! यह तो सदाचार से हीन महान् अनुचित कार्य हो रहा है, जो शस्त्रधारी शत्रु सैनिक राजरानियों को भी पकड़ रहे हैं।

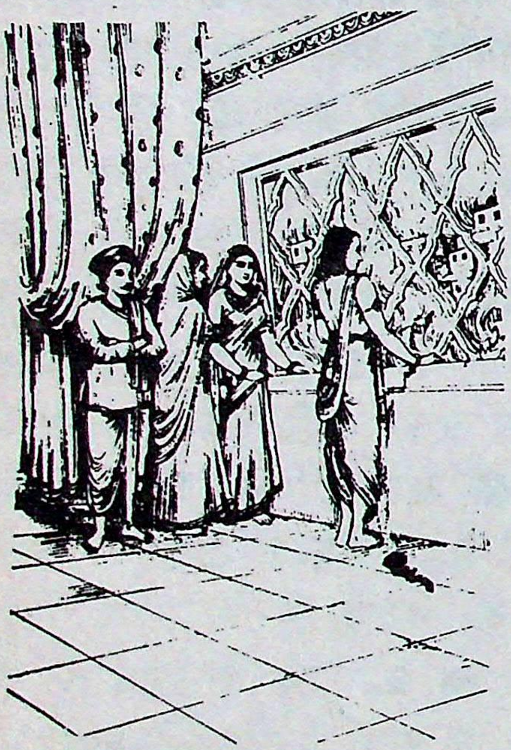

इसी बीच में जैसे लक्ष्मी कमलकोश में प्रविष्ट होती हैं, उसी तरह राजमहिषी ने, जो यौवन के मद से उन्मत्त हो रही थी, राजा आदि द्वारा

अधिष्ठित उस गृह में प्रवेश किया। उस समय वह हार के छिन्न-भिन्न हो जाने से व्याकुल एवं भय से घबरायी हुई थी। उसके पुष्पहार और वस्त्र जोर-जोर से हिल रहे थे तथा सखियाँ और दासियाँ उसके पीछे-पीछे चल रही थीं। वहाँ पहुँचकर जैसे कोई अप्सरा संग्राम में संलग्न हुए देवराज इन्द्र से निवेदन करे, उसी तरह उसकी एक सखी राजा विदूरथ से निवेदन करने लगी-'देव! महारानी हम लोगों के साथ अन्तःपुर से भागकर आपकी शरण में आयी हैं-ठीक उसी तरह, जैसे झंझावात से पीड़ित लता वृक्ष का आश्रय ग्रहण करती है। राजन्! जैसे महासागर की लहरियाँ तटवर्ती वृक्षों पर लिपटी हुई लताओं को अपने साथ समेट ले जाती हैं, उसी तरह अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित उन बलवान् शत्रुओं ने आपकी अन्यान्य रानियों का अपहरण कर लिया है। अचानक आ धमके हुए उन उद्दण्ड शत्रुओं ने आँधी द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये गये बड़े-बड़े वृक्षों की भाँति अन्तःपुर के सभी संरक्षकों को चकनाचूर कर दिया है। इस प्रकार हम लोगों को जो यह विविध प्रकार की विपत्ति ने आ घेरा है, उसका सर्वथा निवारण करने के लिये आपकी ही सामर्थ्य है।' यह सुनकर राजा ने दोनों देवियों की ओर देखकर कहा-'देवियो! मैं युद्ध के लिये जाता हूँ, अतः आप मुझे क्षमा करें। अब मेरी यह भार्या आपके चरणों की सेवा करेगी।' यों कहकर राजा विदूरथ, जिसके नेत्र क्रोधवश लाल हो गये थे, उसी प्रकार राज भवन से बाहर निकला, जैसे मदमत्त गजराज द्वारा वन के छिन्न-भिन्न कर दिये जाने पर सिंह अपनी गुहा से बाहर निकला हो। तदनन्तर प्रबुद्ध लीला ने अपनी ही रूप-रेखा के तुल्य आकृति वाली सुन्दरी लीला को दर्पण में प्रतिबिम्बित हुई-सी देखा और कहा।

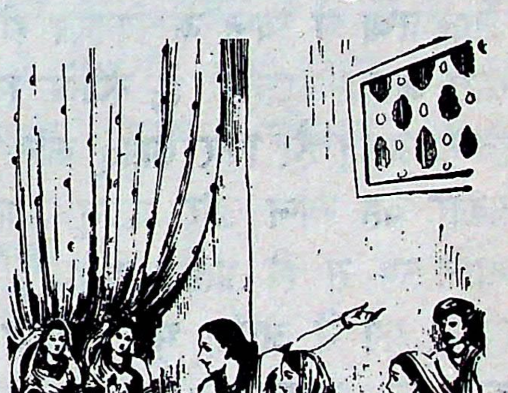

प्रबुद्ध लीला ने पूछा-देवि! किस कारण से मैं यह हो गयी ? पहले मैं जो थी, वही मैं इस रूप में कैसे स्थित हूँ ? इसका क्या रहस्य है ? यह मुझे

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।। तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

बतलाने की कृपा कीजिये। ये सभी मन्त्री आदि पुरवासी तथा सेना और सवारियों सहित शूरवीर पूर्ववत् ही हैं। ये जैसे जहाँ स्थित हैं, वैसे ही वहाँ भी हैं। देवि! जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु बाहर और भीतर दोनों ओर दीखती है, उसी तरह ये सभी यहाँ और वहाँ स्थित हैं–इसका क्या कारण है ? क्या वे सचेतन हैं ?

श्रीदेवीजी ने कहा–लीले! भीतर जैसा ज्ञान उद्भूत होता है, वैसा ही बाहर क्षणमात्र में अनुभव होने लगता है। जैसे मन चित्तार्थता–स्वप्न आदि में चित्त द्वारा अनुभूत जाग्रत् की स्वरूपता को प्राप्त हो जाता है, उसी तरह चेतन दृश्याकारता को प्राप्त हो जाता है। हृदय के अंदर उद्भूत पदार्थ बाह्य से प्रतीत होते हैं। इस विषय में स्वप्न दृष्ट पदार्थ ही प्रमाण है; क्योंकि हृदय के भीतर जो स्वप्न में संकल्प–नगर का स्फुरण होता है वह चेतन का विकास है। इस राजा के जिन मन्त्री आदि का जो अविरोध तथा सर्वार्थ रूप से अनुभव हो रहा है, इसका कारण यह है कि वे स्वप्न में संकल्पित सैन्य की भाँति चेतन सत्तात्मक होने से सद्रूप ही हैं। अथवा यदि यों कहें कि उत्तरकाल अर्थात जाग्रद्वस्था में स्वप्न के विनाशी होने के कारण वह असत है तो ऐसा तो यह सारा जाग्रत–जगत् ही है; क्योंकि स्वप्न में जाग्रत् असत् है और जाग्रत–काल में स्वप्न असत् है। फिर जाग्रत् कौन–सी विशेष सत्यता सिद्ध हुई ? अनघे! इस प्रकार यह स्वप्न और जाग्रत्–जगत् न सत् है और न असत् ही। ये केवल भ्रान्तिरूप से ही प्रतीत होते हैं; क्योंकि महाकल्प के अन्त में, आज और अगले युग में अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान आदि तीनों कालों में भी जो कभी उस स्वरूप से नहीं था, वही ब्रह्म है, अतः वही जगत् है। उस ब्रह्म स्वरूप जगत् में ये सृष्टि नामवाली भ्रान्तियाँ विकसित होती हैं। पर वास्तव में विकसित–सी नहीं दीखतीं; क्योंकि जैसे महासागर में लहरें उठती हैं, उसी प्रकार ये सृष्टियाँ परब्रह्म में उत्पन्न हो–होकर पुनः आँधी में घुले–मिले हुए धूलिकणों की भाँति उसी परब्रह्म में विलीन हो जाती हैं। इसलिये जिसमें 'त्वम्' और 'अहम्' आदि का विभाग मिथ्या ही है तथा जो मृगतृष्णा के जल समूह की भाँति भ्रान्तिमय आभासित हो रहा है, उस जले हुए वस्त्र के भस्म के समान प्रपंच में कौन–सी आस्था है ? इस सारे प्रपंच के शान्त होने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही ब्रह्म है। उस ब्रह्म से पृथक् होने पर यह दृश्य जगत्

कभी भी सत्य नहीं है और ब्रह्मस्वरूप होने के कारण असत्य भी नहीं है। तत्पश्चात् उसी तरह का अनुभव होने के कारण यह स्पष्टरूप से जीव भाव को प्राप्त होता है। यह जगत् सत्य हो या असत्य, पर यह चिदाकाश में विभासित हो रहा है।

श्री सरस्वतीजी ने पुनः कहा–जैसे राजारूप चिदाकाश में सन्मयी प्रतिभा उदित होती है, उसी तरह उससे पूर्व होने वाली सत्यसंकल्परूपा प्रतिभा अव्याकृत आकाशरूप ईश्वर में उत्पन्न होती है। इसी तरह प्रतिभा के प्रतिबिम्ब से उत्पन्न हुई यह लीला तुम्हारे–सरीखे शील, आचार, कुल और शरीर से युक्त दीख रही है। सर्व–व्यापक ज्ञानवृत्तिरूपी दर्पण में जैसी प्रतिभा प्रतिबिम्बित होती है, वह जहाँ जिस रूप में उत्पन्न होती है, वहाँ निरन्तर उसी रूप में प्रकट होती है। अन्तर्यामी ईश्वर की जो प्रतिभा भीतर वर्तमान है, वही स्वयं बाहर भी कार्य करती है; इसलिये चिन्मय दर्पण में प्रतिबिम्बित होने के कारण यह तुम्हारे ही समान स्थित है। लीले! इस विषय में तुम ऐसा समझो कि यह आकाश, उसके भीतर भुवन, उसके अन्तर्गत पृथ्वी, उस पर यह तुम, मैं और राजा–यों जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब–का–सब ब्रह्मरूप से मैं ही हूँ, इस कारण तुम स्वरूप में स्थित होकर पूर्णरूप से शान्त हो जाओ। तुम्हारा पति यह विदूरथ रणागंण में शरीर का त्याग करके उसी अन्तःपुर में पहुँचकर राजा पद्म के रूप में उत्पन्न होगा।

सताइसवाँ सर्ग समाप्त

↔

अट्ठाइसवाँ सर्ग

लीला को दूसरे वररूप में राजा पद्म की प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! देवी की बात सुनकर उस नगर में रहने वाली लीला हाथ जोड़कर देवी के आगे खड़ी हो गयी और भक्ति विनम्र होकर बोली।

द्वितीय लीला ने कहा–देवेशि! मैंने नित्य ही भगवती सरस्वती देवी की अर्चना–पूजा की है और वे देवी रात्रि के समय स्वप्न में मुझे दर्शन दिया करती हैं। अम्बिके! उन देवी का जैसा आकार–प्रकार है, वैसी ही आप भी हैं। सुमुखि! आप दीनों पर करुणा करने वाली हैं, अतः मुझे वर प्रदान कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम! लीला के ऐसा कहने पर भगवती

सरस्वती उस समय उसके भक्ति पूर्वक किये गये ध्यान-पूजन का स्मरण करके प्रसन्न हो गयीं और उस नगर निवासिनी लीला से यों बोलीं।

श्रीदेवीजी ने कहा-वत्से! जीवन पर्यन्त की गयी तुम्हारी अनन्य भक्ति से, जो कभी भी शिथिल नहीं हुई, मैं परम संतुष्ट हूँ; अतः तुम मुझसे अपना मनोऽभिलाषित वरदान ग्रहण करो।

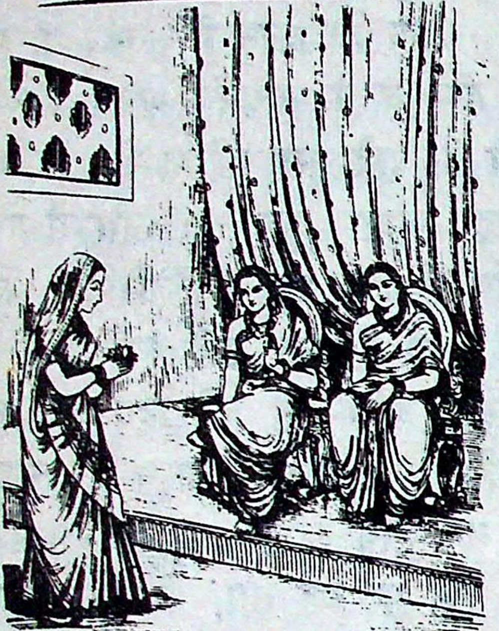

तब वह नगर निवासिनी लीला बोली-देवि! मेरे पतिदेव रणभूमि में शरीर का परित्याग करके जहाँ स्थित होंगे, मैं भी इसी शरीर से वहाँ उनकी पत्नी होऊँ।

श्रीदेवीजी ने कहा-पुत्रि! तुमने चिरकाल तक अनन्य भक्ति भाव से पुष्प, धूप आदि प्रचुर पूजन-सामग्री द्वारा मेरी निर्विघ्न पूजा की है, इसलिये 'एवमस्तु'-तुम्हारी कामना पूर्ण हो।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-राघव! तदनन्तर जब उस वर-प्राप्ति से तद्‌देशवासिनी लीला हर्षोत्फुल्ल हो रही थी, उसी समय पूर्व लीला ने, जिसका हृदय संदेह के दोले में झूल रहा था, देवी से कहा।

पूर्व लीला बोली-ऐश्वर्य शालिनी देवि! जो आपके सदृश सत्य कामना एवं सत्य संकल्प वाले हैं, अतएव जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, उनका सारा मनोरथ जब शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है, तब यह बतलाइये कि आपने मुझे किसलिये इसी शरीर से गिरिग्रामक नाम वाले उस लोकान्तर में नहीं पहुँचाया ?

श्रीदेवीजी ने कहा-सुन्दरि! मैं किसी का कुछ नहीं करती, बल्कि जीव स्वयं ही अपनी समस्त अभिलाषाओं का शीघ्र ही सम्पादन कर लेता है; क्योंकि प्रत्येक जीव में जीवशक्ति स्वरूप चेतन शक्ति वर्तमान है। इसलिये जिस-जिस जीव की जो शक्ति जिस-जिस रूप में प्रकट होती है, वह उसी-उसी रूप में उस-उस जीव को सदा तदनुरूप फल प्रदान करती हुई-सी प्रतीत होती है। जिस समय तुम मेरी सम्यक् प्रकार से आराधना कर रही थी, उस समय चिरकाल तक तुम्हारे मन में जो जीव-शक्ति उत्पन्न हुई थी, उसकी कामना थी कि यदि इसी जन्म में मैं मुक्त हो जाती तो अच्छा होता। अतः उत्तम रूप-रंग

वाली लीले! उसी-उसी प्रकार से मैंने तुम्हें भलीभाँति समझाया है और उसी युक्ति द्वारा तुम इस निर्मल भाव को प्राप्त हुई हो। जब चिरकाल तक मैंने तुम्हें इसी भावना से ज्ञानोपदेश किया है, तभी तुम अपनी चेतन शक्ति के प्रभाव से सदा के लिये उसी अर्थ को प्राप्त हुई हो; क्योंकि जिस-जिसका चिरकाल तक जैसा अपनी चेतनशक्ति का प्रयत्न होता है, वह समयानुसार उस-उसको वैसा ही फल प्रदान करता है। अपनी चेतनशक्ति ही तपस्या अथवा देवता का रूप धारण करके स्वच्छन्दरूप से आकाश से फल गिरने की भाँति फल देती है। अपनी ज्ञानशक्ति प्रयत्न के बिना कभी कुछ भी फल नहीं देती; इस कारण तुम्हारी जैसी अभिलाषा हो, शीघ्र ही तदनुरूप कार्य आरम्भ कर दो। तुम ऐसी धारणा कर लो कि चित्सत्ता ही सबमें अन्तरात्मारूप से व्याप्त है। वही विहित अथवा निषिद्ध जिस कर्म का विचार करती है और उसके लिये प्रयत्न करने लग जाती है, उसी की फलश्री प्राप्त होती है। इसलिये जो पावन पद है, उसे जानकर तुम उसी में स्थित हो जाओ।

अट्ठाइसवाँ सर्ग समाप्त

उन्तीसवाँ सर्ग

राजा विदूरथ का कथन

श्री रामजी ने पूछा-मुने! जब वे तीनों देवियाँ उस राजमहल के भीतर यों परस्पर वार्तालाप कर रही थीं, उस समय विदूरथ ने क्रोधावेश में महल से निकल कर क्या किया ?

श्री वशिष्ठजी ने कहा-वत्स राम! जिस समय राजा विदूरथ अपने भवन से बाहर निकला, उस समय वह नक्षत्र समूह से घिरे हुए चन्द्रमा की भाँति विशाल सैन्य दल से परिवेष्टित था। हार आदि आभूषण उसके शरीर की शोभा बढ़ा रहे थे। वह जय-जयकार की तुमुल ध्वनि के साथ देवराज इन्द्र के समान बाहर निकला। उस समय वह योद्धाओं को आदेश दे रहा था। मन्त्री व्यूह-रचना एवं जनपद-व्यवस्था-सम्बन्धी व्यवस्था उसे सुना रहे थे। वह वीरगणों का निरीक्षण करता हुआ एक ऐसे रथ पर आरूढ़ हुआ, जिसमें आठ घोड़े जुते थे। उत्तम जाति वाले उन अश्वों की गर्दन बड़ी सुहावनी थी। वे शुभ लक्षणों से युक्त, फुर्तीले और एकहरे बदन के थे तथा अपनी हिनहिनाहट से सारी दिशाओं को निनादित कर रहे थे। उस समय जिन्हें सरस्वती देवी ने दिव्यदृष्टि

प्रदान की थी, वे दोनों लीला नामवाली देवियाँ और वह राजकुमारी उस महायुद्ध को देख रही थीं। उसे देखकर उनका हृदय विदीर्ण–सा हो रहा था। राजा विदूरथ की युद्ध–यात्रा के पश्चात् शत्रु सैनिकों के बाणों एवं आयुधों से निकलता हुआ कटकट शब्द पूर्ण रूप से शान्त हो गया–ठीक उसी तरह, जैसे एकार्णव के जल प्रवाहों से बड़वानल शान्त हो जाता है। उस समय राजा विदूरथ अपनी सेना को धीरे–धीरे आगे बढ़ा रहे थे। उन्हें अपने तथा शत्रुपक्ष के बलाबल का ज्ञान नहीं हो पाया था–इसी दशा में उन्होंने शत्रु–सेना में प्रवेश किया।

जिस समय समर भूमि में दोनों सेनाओं की भीषण मुठभेड़ हो रही थी। उसी समय दोनों लीलाओं ने भगवती सरस्वती से पुनः प्रश्न किया।

दोनों लीलाओं ने पूछा–देवि! यह बतलाइये कि आपके संतुष्ट होने पर भी मेरे पतिदेव इस युद्ध में, जिसमें से गजराज भागे जा रहे हैं। अकस्मात् विजय क्यों नहीं प्राप्त कर रहे हैं ?

श्री सरस्वती जी ने कहा–पुत्रि! राजा विदूरथ के शत्रु इस राजा सिन्धु ने विजयप्राप्ति की कामना से चिरकाल तक मेरी आराधना की थी, परंतु भूपाल विदूरथ की आराधना विजयार्थ नहीं थी; इसलिये यह राजा सिन्धु ही विजयी होगा और विदूरथ पराजित हो जायगा। क्योंकि समस्त प्राणियों के हृदयान्तर्गत ज्ञानवृत्तिरूप से मैं ही स्थित हूँ, अतः जो मुझको जिस समय जिस रूप से प्रेरित करता है, मैं शीघ्र ही उसके लिये उस समय वैसे ही फल का सम्पादन करती हूँ। बाले! इस राजा विदूरथ ने 'मैं मुक्त हो जाऊँ' इस भावना से मुझ प्रतिभारूपिणी का ध्यान किया था, इस कारण यह मुक्त हो जायगा। और इसके शत्रु राजा सिन्धु ने 'मैं स्वयं संग्राम में विजयी होऊँ' इस कामना से मेरी पूजा की थी; इसलिये बाले! विदूरथ भार्यारूपिणी तुम्हारे और इस लीला के साथ समयानुसार उस शवस्वरूप देह को प्राप्त होकर मुक्त हो जायगा तथा इसका शत्रु राजा सिन्धु स्वयं उसे मारकर विजयश्री से सुशोभित हो भूतल पर राज्य करेगा।

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

राजा विदूरथ एवं राजा सिन्धु का युद्ध

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं–राघव! देवी सरस्वती यों कह ही रही थीं, तब तक भगवान् सूर्य उदयाचल पर आ पहुँचे, मानो वे जूझती हुई दोनों सेनाओं का आश्चर्यमय युद्ध देखना चाहते थे। उस समय जैसे द्युलोक में आकाश के चिन्हभूत सूर्य और चन्द्रमा दिखायी देते हैं, उसी तरह जनसंहार हो जाने के कारण उस शून्य संग्राम भूमि में राजा पद्म (विदूरथ) और राजा सिन्धु के प्रकाशमान रथ चलते हुए दीख रहे थे। उन दोनों रथों में चक्र, शूल, भुशुण्डी, ऋष्टि और प्रास आदि आयुध खचाखच भरे थे। उन रथों के पीछे बहुसंख्यक शूरवीर योद्धा, जिनके सैनिक भयभीत हो गये थे, रणभूमि में भालों, बाणों, धनुषों, शक्तियों, प्रासों, शंकुओं और चमकते हुए चक्रों की भयंकर वृष्टि करते हुए चल रहे थे। इतने में ही प्रलयकालीन वायु द्वारा गिराये गये शिला खण्डों की तरह दोनों सेनाओं पर बाण गिरने लगे। उस समय राजा विदूरथ और राजा सिन्धु की परस्पर ऐसी भयंकर मुठभेड़ हुई, जिसे देखकर लोगों को ऐसी आशंका होने लगी मानो प्रलय के लिये विशेषरूप से बढ़े हुए दो महासागर परस्पर टकरा रहे हों।

राजा विदूरथ अपने विपक्षी राजा सिन्धु को, जिसके कंधे ऊँचे थे, सामने उपस्थित पाकर मध्यान्हकालिक सूर्य के दुस्सह आतप की भाँति प्रचण्ड कोप से भर गया। फिर तो उसने अपने धनुष को, जिसकी टंकार ध्वनि चिरकाल के लिये सारी दिशाओं को निनादित कर देती थी, कान तक खींचा। उस समय ऐसा भयंकर शब्द हुआ, जैसे कल्पान्त-काल में उठी हुई वायु मेरुगिरि के तट प्रान्त से टकरा रही हो। राजा विदूरथ का हस्तलाघव सराहनीय था; क्यों लोक देखते थे कि उसकी प्रत्यञ्चा से एक ही बाण छूटता है, परंतु वह आकाश में पहुँचते-पहुँचते हजार हो जाता है और विपक्षियों पर एक लाख होकर गिरता है। राजा सिन्धु की शक्ति और फुर्ती विदूरथ के ही समान थी। उन दोनों को ऐसी धनुर्युद्ध-कुशलता वरदायक भगवान् विष्णु के वर प्रसाद से उपलब्ध हुई थी। तदनन्तर उन दोनों के छोड़े हुए मुसल नामक बाणों से, जिनकी आकृति मूसल की-सी थी, आकाश आच्छादित हो गया। उन बाणों से प्रलयकालीन वज्रों की गड़गड़ाहट के समान भीषण शब्द हो रहा था। युद्धस्थल में राजा

विदूरथ के बाण समूह वेगपूर्वक घर घर शब्द करते हुए राजा सिन्धु के सम्मुख उसी प्रकार बढ़ रहे थे मानो आकाश मार्ग से गिरते हुए गंगा के प्रवाह कलकल नाद करते हुए महासागर की ओर जा रहे हों। परंतु राजा सिन्धुरूपी बडवानल ने अपने अगस्त्य–तुल्य बाणों की ऊष्मा से विदूरथ के उस बाण–महासागर को पी लिया–ठीक उसी तरह, जैसे महर्षि जन्हु गंगाजी को पी गये थे। तत्पश्चात राजा सिन्धु ने बाणों की उस वृष्टि को छिन्न–भिन्न करके स्वयं बाणों की इतनी झड़ी लगायी कि आकाश में सायकों का ही मेघमण्डल घिर आया। तब बिदूरथ ने भी जैसे प्रलयकालीन वायु उमड़े हुए साधरण मेघ को उड़ा देती है, उसी तरह अपने उत्तम सायकों से शीघ्र ही उस बाणरूपी मेघ मण्डल को विध्वंस कर डाला। इस प्रकार वे दोनों भूपाल परस्पर बदला लेने की भावना से एक–दूसरे को लक्ष्य बनाकर बाणों की वर्षा करते थे और एक–दूसरे के प्रहार को व्यर्थ कर देते थे।

तदनन्तर राजा सिन्धु ने मोहनास्त्र का संधान किया। यह अस्त्र उसे किसी गन्धर्व के साथ मित्रता होने के कारण प्राप्त हुआ था। उस मोहनास्त्र के प्रयोग से विदूरथ के अतिरिक्त शेष सभी सैनिक मूर्च्छित हो गये। उनके शस्त्रास्त्र और वस्त्र अस्त–व्यस्त हो गये, मुख और नेत्रों में उदासी छा गयी। उनकी बोलती बंद हो गयी और वे मृतक–तुल्य अथवा चित्रलिखित से प्रतीत होने लगे। तब राजा विदूरथ ने प्रबोधास्त्र हाथ में लिया। फिर तो प्रातःकाल सूर्योदय होने पर जैसे कमलिनी विकसित हो जाती है, उसी तरह उस अस्त्र के प्रयोग से सभी योधाओं की मूर्च्छा जाती रही और वे उठ बैठे। तत्पश्चात् राजा सिन्धु ने भयंकर नागास्त्र को, जो नागप्राश–बन्धन द्वारा महान् कष्टदायक था, धनुष पर चढ़ाया। उसके संधान से आकाश पर्वत सरीखे विशालकाय नागों से व्याप्त हो गया। मृणालों द्वारा सुशोभित हुई पोखरी की तरह पृथ्वी श्वेत वर्ण के सर्पों से विभूषित हो गयी। सारे पर्वत काले नागरूपी कम्बलों से सम्पन्न हो गये। ये सभी पदार्थ विष की ऊष्मा से मलिन हो गये और वन तथा पर्वतों की विशालता से युक्त पृथ्वी व्याकुल हो गयी। तब महान् अस्त्रों के मर्मज्ञ विदूरथ ने भी गारुड़ास्त्र का प्रयोग किया। उस अस्त्र से पर्वत–सदृश विशालकाय इतने गरुड़ प्रकट हुए, जिनसे सारी दिशाएँ भर गयीं। उनके सुनहरे पंखों की चमक से सभी दिशाएँ स्वर्णमय प्रतीत होने लगीं। उड़ते हुए उन गरुड़ों के पंख से

पक्षधारी पर्वतों की उड़ान से उत्पन्न हुए प्रलयकालीन वायु की भाँति भयंकर आँधी प्रकट हो गयी। वे अपने श्वास वेग से फुफकारते हुए नाग-समूहों को अपनी ओर खींच लेते थे। उनकी घुरघुराहट की तीव्र आवाज समुद्रपर्यन्त व्याप्त हो गयी। तत्पश्चात् राजा सिन्धु ने तमोऽस्त्र प्रकट किया, जो अंधा बना देने वाले अन्धकार का उत्पादक था। उससे भूगर्भ का सा घना अन्धकार फैल गया। उस समय सारी प्रजाएँ अन्धकूप में गिरे हुए की भाँति प्रतीत होने लगीं और कल्पान्त की तरह सभी दिशाओं के व्यवहार एकदम बंद हो गये। तब मन्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ विदूरथ ने किसी गुप्त मन्त्रणा की अपेक्षा किये बिना ही ब्रह्माण्ड मण्डप में दीपक की तरह प्रकाश फैलाने वाले सूर्यास्त्र की सृष्टि करके सबको सचेष्ट कर दिया। उस समय सूर्यरूपी अगस्त्य ने अपनी किरणों से उस प्रकट हुए अन्धकार के महासागर को पी लिया-ठीक उसी तरह, जैसे निर्मल शरद्-ऋतु काले बादलों को पी जाती है। यह देखकर राजा सिन्धु क्रोध से भर गया। फिर तो उसने उसी क्षण अत्यन्त भीषण राक्षसास्त्र प्रकट किया, जिससे मन्त्रोच्चारण करते ही बाण निकलने लगते थे। उस राक्षसास्त्र का प्रयोग करते ही पाताल निवासी दिग्गजों के फूत्कार से विक्षुब्ध हुए महासागर की भाँति बहुत से भयंकर एवं क्रूर स्वभाव वाले वनराक्षस सभी दिशाओं से प्रकट हो गये। इसी बीच में लीला के स्वामी राजा विदूरथ ने उस युद्ध स्थल में नारायणास्त्र का प्रयोग किया, जो दुष्ट प्राणियों के निवारण करने में सिद्धहस्त है। उस अस्त्रराज के प्रकट होते ही राक्षसों के अस्त्र समूह पूर्णरूप से शान्त हो गये, जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है। तदनन्तर राजा सिन्धु ने वायव्यास्त्र की सृष्टि की, जिसने आकाश मण्डल को प्रचण्ड वायु से भर दिया। तब महान् अस्त्रवेत्ता विदूरथ ने पार्वतास्त्र चलाया, जो मानो मेघ-जल सहित आकाश को भी आत्मसात् कर लेने के लिये उद्यत था। तदुपरान्त राजा सिन्धु ने उद्दीप्त वज्रास्त्र प्रकट किया, जिससे झुंड-के-झुंड वज्र निकलकर रणभूमि में विचरने लगे। वे ईंधन को भस्मसात् कर लेने वाली आग की भाँति विशाल पर्वतरूपी अन्धकार को पी जाते थे तथा अपने करोड़ों चोंचों से पर्वतों के शिखरों को काट-काट कर उसी प्रकार भूतल पर गिरा देते थे, जैसे प्रचण्ड वायु फलों को गिराकर पृथ्वी पर बिछा देती है। तब विदूरथ ने वज्रास्त्र को शान्त करने के लिये ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। फिर तो ब्रह्मास्त्र और वज्रास्त्र दोनों एक साथ

विदूरथ के बाण समूह वेगपूर्वक घर घर शब्द करते हुए राजा सिन्धु के सम्मुख उसी प्रकार बढ़ रहे थे मानो आकाश मार्ग से गिरते हुए गंगा के प्रवाह कलकल नाद करते हुए महासागर की ओर जा रहे हों। परंतु राजा सिन्धुरूपी बडवानल ने अपने अगस्त्य–तुल्य बाणों की ऊष्मा से विदूरथ के उस बाण–महासागर को पी लिया–ठीक उसी तरह, जैसे महर्षि जन्हु गंगाजी को पी गये थे। तत्पश्चात राजा सिन्धु ने बाणों की उस वृष्टि को छिन्न–भिन्न करके स्वयं बाणों की इतनी झड़ी लगायी कि आकाश में सायकों का ही मेघमण्डल घिर आया। तब विदूरथ ने भी जैसे प्रलयकालीन वायु उमड़े हुए साधरण मेघ को उड़ा देती है, उसी तरह अपने उत्तम सायकों से शीघ्र ही उस बाणरूपी मेघ मण्डल को विध्वंस कर डाला। इस प्रकार वे दोनों भूपाल परस्पर बदला लेने की भावना से एक–दूसरे को लक्ष्य बनाकर बाणों की वर्षा करते थे और एक–दूसरे के प्रहार को व्यर्थ कर देते थे।

तदनन्तर राजा सिन्धु ने मोहनास्त्र का संधान किया। यह अस्त्र उसे किसी गन्धर्व के साथ मित्रता होने के कारण प्राप्त हुआ था। उस मोहनास्त्र के प्रयोग से विदूरथ के अतिरिक्त शेष सभी सैनिक मूर्च्छित हो गये। उनके शस्त्रास्त्र और वस्त्र अस्त–व्यस्त हो गये, मुख और नेत्रों में उदासी छा गयी। उनकी बोलती बंद हो गयी और वे मृतक–तुल्य अथवा चित्रलिखित से प्रतीत होने लगे। तब राजा विदूरथ ने प्रबोधास्त्र हाथ में लिया। फिर तो प्रातःकाल सूर्योदय होने पर जैसे कमलिनी विकसित हो जाती है, उसी तरह उस अस्त्र के प्रयोग से सभी योधाओं की मूर्च्छा जाती रही और वे उठ बैठे। तत्पश्चात् राजा सिन्धु ने भयंकर नागास्त्र को, जो नागप्राश–बन्धन द्वारा महान् कष्टदायक था, धनुष पर चढ़ाया। उसके संधान से आकाश पर्वत सरीखे विशालकाय नागों से व्याप्त हो गया। मृणालों द्वारा सुशोभित हुई पोखरी की तरह पृथ्वी श्वेत वर्ण के सर्पों से विभूषित हो गयी। सारे पर्वत काले नागरूपी कम्बलों से सम्पन्न हो गये। ये सभी पदार्थ विष की ऊष्मा से मलिन हो गये और वन तथा पर्वतों की विशालता से युक्त पृथ्वी व्याकुल हो गयी। तब महान् अस्त्रों के मर्मज्ञ विदूरथ ने भी गारुड़ास्त्र का प्रयोग किया। उस अस्त्र से पर्वत–सदृश विशालकाय इतने गरुड़ प्रकट हुए, जिनसे सारी दिशाएँ भर गयीं। उनके सुनहरे पंखों की चमक से सभी दिशाएँ स्वर्णमय प्रतीत होने लगीं। उड़ते हुए उन गरुड़ों के पंख से

पक्षधारी पर्वतों की उड़ान से उत्पन्न हुए प्रलयकालीन वायु की भाँति भयंकर आँधी प्रकट हो गयी। वे अपने श्वास वेग से फुफकारते हुए नाग-समूहों को अपनी ओर खींच लेते थे। उनकी घुरघुराहट की तीव्र आवाज समुद्रपर्यन्त व्याप्त हो गयी। तत्पश्चात् राजा सिन्धु ने तमोऽस्त्र प्रकट किया, जो अंधा बना देने वाले अन्धकार का उत्पादक था। उससे भूगर्भ का सा घना अन्धकार फैल गया। उस समय सारी प्रजाएँ अन्धकूप में गिरे हुए की भाँति प्रतीत होने लगीं और कल्पान्त की तरह सभी दिशाओं के व्यवहार एकदम बंद हो गये। तब मन्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ विदूरथ ने किसी गुप्त मन्त्रणा की अपेक्षा किये बिना ही ब्रह्माण्ड मण्डप में दीपक की तरह प्रकाश फैलाने वाले सूर्यास्त्र की सृष्टि करके सबको सचेष्ट कर दिया। उस समय सूर्यरूपी अगस्त्य ने अपनी किरणों से उस प्रकट हुए अन्धकार के महासागर को पी लिया-ठीक उसी तरह, जैसे निर्मल शरद्-ऋतु काले बादलों को पी जाती है। यह देखकर राजा सिन्धु क्रोध से भर गया। फिर तो उसने उसी क्षण अत्यन्त भीषण राक्षसास्त्र प्रकट किया, जिससे मन्त्रोच्चारण करते ही बाण निकलने लगते थे। उस राक्षसास्त्र का प्रयोग करते ही पाताल निवासी दिग्गजों के फूत्कार से विक्षुब्ध हुए महासागर की भाँति बहुत से भयंकर एवं क्रूर स्वभाव वाले वनराक्षस सभी दिशाओं से प्रकट हो गये। इसी बीच में लीला के स्वामी राजा विदूरथ ने उस युद्ध स्थल में नारायणास्त्र का प्रयोग किया, जो दुष्ट प्राणियों के निवारण करने में सिद्धहस्त है। उस अस्त्रराज के प्रकट होते ही राक्षसों के अस्त्र समूह पूर्णरूप से शान्त हो गये, जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है। तदनन्तर राजा सिन्धु ने वायव्यास्त्र की सृष्टि की, जिसने आकाश मण्डल को प्रचण्ड वायु से भर दिया। तब महान् अस्त्रवेत्ता विदूरथ ने पार्वतास्त्र चलाया, जो मानो मेघ-जल सहित आकाश को भी आत्मसात् कर लेने के लिये उद्यत था। तदुपरान्त राजा सिन्धु ने उद्दीप्त वज्रास्त्र प्रकट किया, जिससे झुंड-के-झुंड वज्र निकलकर रणभूमि में विचरने लगे। वे ईंधन को भस्मसात् कर लेने वाली आग की भाँति विशाल पर्वतरूपी अन्धकार को पी जाते थे तथा अपने करोड़ों चोंचों से पर्वतों के शिखरों को काट-काट कर उसी प्रकार भूतल पर गिरा देते थे, जैसे प्रचण्ड वायु फलों को गिराकर पृथ्वी पर बिछा देती है। तब विदूरथ ने वज्रास्त्र को शान्त करने के लिये ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। फिर तो ब्रह्मास्त्र और वज्रास्त्र दोनों एक साथ

ही शान्त हो गये।

इस प्रकार जब वह भयंकर संग्राम चल ही रहा था, उसी समय प्रतिभाशालियों में सर्वश्रेष्ठ, महान् उदार एवं उत्कृष्ट धैर्यशाली राजा सिन्धु ने विपक्षियों की सारी सेना का विनाश और अपनी सेना की पीड़ा शान्ति के लिये एकमात्र वैष्णवास्त्र का स्मरण किया, जो दिव्यास्त्रों का राजा, परम ऐश्वर्यशाली एवं कालरुद्र के समान संहारकारी था। उस वैष्णवास्त्र से अभिमन्त्रित करके राजा सिन्धु ने जो बाण चलाया, उसके फल के अग्रभाग से उल्मुक आदि निकलने लगे। उससे निकली हुई प्रकाशमान चक्रों की पंक्तियों ने दिशाओं को सैकड़ों सूर्यों से युक्त सा बना दिया। पंक्तिरूप में सन्मुख दौड़ती हुई गदाएँ आकाश में सैकड़ों बाँसों की भाँति प्रतीत होती थीं। सौ धार वाले वज्र समूहों ने आकाश को तृणराशि से आच्छादित सा कर दिया। पद्माकार पट्टिशों की कतारें आकाश में कटे हुए वृक्षों सी दीख रही थीं। तीक्ष्ण धार वाले बाणों की पंक्तियाँ ऐसी जान पड़ती थीं, जैसे आकाश में पुष्पजाल बिछा हो। काली आकृतिवाले खड्गों की कतारें नभोमण्डल को पत्र समूहों से व्याप्त सा कर रही थीं। तब विपक्षी राजा विदूरथ ने भी उस वैष्णवास्त्र की शान्ति के लिये वैष्णवास्त्र का ही प्रयोग किया, जो शत्रु के पराक्रम के अनुरूप ही था। उससे भी बाण, शक्ति, गदा, प्रास, पट्टिश आदि आयुधरूपी जल से परिपूर्ण बहुत सी शस्त्रास्त्रों की सरिताएँ प्रकट हुईं, जिन्होंने पूर्वप्रयुक्त वैष्णवास्त्र से उद्भुत हथियारों को नष्ट कर दिया। उन शस्त्रास्त्रपूर्ण नदियों का आकाश में ही ऐसा भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ, जो द्युलोक और पृथ्वी के अवकाश का विनाश करने वाला तथा बड़े-बड़े कुल पर्वतों को विदीर्ण कर देने वाला था। जैसे मेरे आयुधों ने विश्वामित्र के अस्त्रों का निवारण किया था, उसी तरह परस्पर जूझते हुए उन दोनों वैष्णवास्त्रों की धारावाहिक बाण-वृष्टि ने शस्त्र-समूहों को काट डाला और उन अस्त्रों से प्रकट हुए वज्रों ने अकाट्य पर्वतों को भी जर्जर कर दिया। इस प्रकार दोनों राजाओं के वे अस्त्र पराक्रमशाली दो सुभटों की भाँति क्षण भर तक परस्पर अत्यन्त भयंकर युद्ध करके शान्त हो गये।

तत्पश्चात् राजा सिन्धु अपने रथ को छोड़कर पृथ्वी पर उतर पड़ा और ढाल-तलवार से लैस हो गया। फिर तो उसने पलक मारते-मारते बड़ी फुर्ती से अपने शत्रु राजा विदूरथ के रथ के घोड़ों के खुरों को मृणाल की भाँति

तलवार से काट गिराया। अब तो राजा विदूरथ भी रथहीन हो गये, अतः उन्होंने भी ढाल-तलवार उठा ली। उस समय उन दोनों के आयुध एकसे थे और दोनों का उत्साह भी समान था; अतः वे परस्पर वार करने के लिये पैंतरे बदलने लगे। परस्पर प्रहार करते हुए उन दोनों के खड़ग आरे के समान हो गये थे। इसी बीचा राजा विदूरथ ने खड़ग छोड़कर एक शक्ति हाथ में ली और उसे शत्रु पर चला दिया। वह शक्ति मथे जाते हुए समद्र के जल की तरह घर्घर शब्द से युक्त अतएव महान् उत्पात की सूचना देने वाले वज्र के सदृश थी। वह अविच्छन्न रूप से आयी और राजा सिन्धु के वक्षःस्थल पर गिरी; परंतु उस शक्ति के आघात से राजा सिन्धु की मृत्यु नहीं हुई।

तब उस देश की लीला ने पूर्व लीला से कहा-'देवि! बड़े कष्ट की बात है; क्योंकि जैसे देवराज इन्द्र शत्रु का विनाश करने के लिये वज्र का सहारा लेते हैं, उसी तरह यह राजा सिन्धु प्रहार करने के लिये मुसलास्त्र की ओर देख रहा है; परंतु मेरे पतिदेव मुसलधारी राजा सिन्धु को चकमा देकर बड़ी फ़ुर्ती से सकुशल दूसरे रथ पर चढ़ गये और वेगपूर्वक दूर हट गये हैं। फिर भी हाय! धिक्कार है, महान् कष्ट आ पड़ा, इस राजा सिन्धु ने अत्यन्त वेग से बाण बरसाकर मेरे स्वामी के रथ को तहस-नहस करके उन्हें भी व्यथित कर दिया और अब यह अपने वज्रसरीखे बाणों द्वारा उनके स्थूल मस्तक को विदीर्ण करके उन्हें भूतल पर गिराना ही चाहता है। देखो न, बड़ी कठिनाई से होश में आने पर जब मेरे पतिदेव सारथि द्वारा लाये गये दूसरे रथ पर चढ़ रहे थे, उसी समय इसने उनके कंधे को काट दिया, जिससे वे रक्त के फौवारे छोड़ रहे हैं। हाय! हाय! अब तो और भी कष्ट की बात हुई, इस राजा सिन्धु ने अपने खड़ग की तीखी धार से मेरे पतिदेव की दोनों पिंडलियों को उसी प्रकार फाड़ डाला, जैसे आरे से वृक्ष चीरा जाता है। हाय! अब तो मैं बुरी तरह मारी गयी; क्योंकि मेरे पति के दोनों घुटने भी मृणाल की तरह काट डाले गये।' यों कहकर और पति की उस अवस्था पर दृष्टिपात करके पति-प्रेम और भय से आतुर हुई वह लीला फरसे से कटी हुई लता की भाँति मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। विदूरथ यद्यपि जानुरहित हो गये थे, तथापि वे शत्रु पर प्रहार कर ही रहे थे। उसी अवस्था में वे जड़ से कटे हुए वृक्ष की तरह रथ से नीचे गिरना ही चाहते थे, तब तक सारथि उन्हें रथ द्वारा संग्राम भूमि से दूर हटा

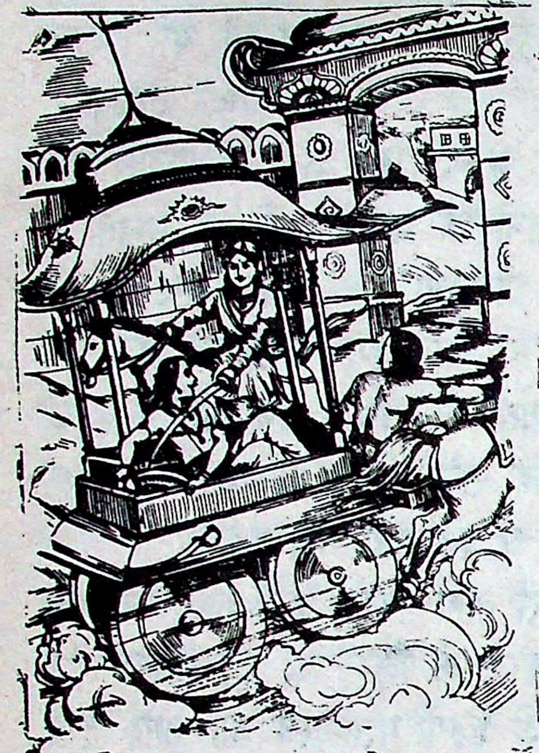

ले गया। जब ये भागे जा रहे थे, उस समय क्रूर-हृदय राजा सिन्धु ने इनके गले पर अस्त्र प्रहार किया, जिससे इनका आधा गला कट गया। फिर भी राजा सिन्धु इनका पीछा कर ही रहा था। तब तक राजा विदूरथ जैसे सूर्य की किरणें कमलकोश में घुस जाती हैं, उसी तरह रथ द्वारा भागकर अपने महल में जा पहुँचे; किंतु राजा सिन्धु उस राजभवन में प्रविष्ट न हो सका, क्योंकि वह महल सरस्वती देवी के प्रभाव से सुरक्षित था। वहाँ पहुँचकर सारथि ने राजा विदूरथ को, जिसके वस्त्र, कवच और शरीर खड़ग से काटे गये गले के छिद्र से बुदबुद ध्वनि के साथ निकलती हुई रक्त धाराओं से सन गये थे, महल के भीतर ले जाकर भगवती सरस्वती के समक्ष मरणशय्या पर लिटा दिया। इधर विपक्षी राजा सिन्धु महल में प्रवेश न कर सकने के कारण लौट गया।

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

विदूरथ पराजय

मुनिवर वशिष्ठ जी बोले-हे रघुनन्दन! राजा विदूरथ के मृत्य-तुल्य हो जाने पर जब 'रणभूमि में प्रतिद्वन्द्वी राजा के हाथ से राजा विदूरथ मार डाले गये, राजा मारे गये' ऐसी खबर फैल गयी, तब सारा राष्ट्र भयभीत हो गया। उस समय विदूरथ के राष्ट्र की ऐसी दशा हो गयी थी कि वह शत्रुराष्ट्र की साधारण एवं सैनिक जनता के विजयोल्लास के शब्द से मुखरित हो रहा था। उसमें स्वामियों से रहित हो जाने के कारण हाथी, घोड़े और वीर सैनिक टकराकर साधारण जनता को धराशायी कर रहे थे। कोष गृह के किवाड़ों के तोड़े जाने के कारण उठा हुआ घर्घर शब्द चारों ओर गूँज रहा था। शत्रुपक्ष का मन्त्रिमण्डल राजा सिन्धु के पुत्र का अभिषेक कार्य सम्पन्न करने के लिये आदेश देने में तत्पर था। राजा सिन्धु की रानियाँ नगर की शोभा देखने के

लिये झरोखों एवं अन्य बनाये गये छिद्रों पर बैठ रही थीं। अभिषिक्त हुए राजा सिन्धु के पुत्र का जय-जयकार सैकड़ों उच्च घोषों के साथ-साथ प्रबल प्रभाव फैला हुआ था। स्वपक्षीय असंख्य नरेशों ने राजा सिन्धु द्वारा बनायी गयी राष्ट्र मर्यादा को नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया था।

तदनन्तर 'भूमण्डल के एकच्छत्र सम्राट राजा सिन्धु की जय हो!' यों घोषणा करते हुए लोग प्रत्येक नगर में भेरियाँ बजाने लगे। पुत्र के राज्याभिषेक के पश्चात् राजा सिन्धु ने, जो विजयी होने के कारण उन्नत-मस्तक था, युगान्त के समय जगत् की सृष्टि करने के लिये प्रकट हुए दूसरे मनु की भाँति प्रजा की नयी व्यवस्था हेतु राजधानी में प्रवेश किया। तत्पश्चात् राजा सिन्धु के नगर में दसों दिशाओं से हाथी-घोड़ों के रूप में भेंट आने लगी। मन्त्रियों ने तत्काल ही प्रत्येक दिशाओं के सामन्त राजाओं के पास राजकीय नियम, चिन्ह और आदेश भेज दिये। फिर तो जैसे मन्थन-काल में आवर्तों के कारण क्षुब्ध हुआ क्षीरसागर मन्दराचल के निकाल लिये जाने पर तुरंत ही प्रकृतिस्थ हो गया था, उसी तरह अराजकता के कारण विक्षुब्ध हुआ सारा राष्ट्र दसों दिशाओं सहित शीघ्र ही शान्त हो गया।

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

संसार की असत्यता

श्री वशिष्ठजी कहते हैं-हे श्रीराम! इसी बीच में मूर्च्छित होकर सामने पड़े हुए अपने स्वामी को, जिनका श्वास मात्र ही अवशेष रह गया था, देखकर लीला ने सरस्वती से कहा-'अम्बिके! ये मेरे पतिदेव अब यहाँ अपनी देह का उत्सर्ग करने के लिये उद्यत हैं।'

श्री सरस्वती जी ने कहा-लीले! इस प्रकार महान् उद्योग से परिपूर्ण, राष्ट्र-विप्लवकारी और परम विचित्र व्यवसायों से युक्त इस संग्राम के आरम्भ होने, चलने और समाप्त होने पर यह राष्ट्र अथवा भूतल न तो कहीं कुछ भी उत्पन्न हुआ है और न नष्ट ही हुआ है; क्योंकि यह जगत तो स्वप्नात्मक है। अनघे! पूर्वोक्त गिरिग्राम निवासी ब्राह्मणघर के भीतर स्थित राजा पद्म के शव के निकटवर्ती आकाश में वर्तमान अन्तःपुर के भीतर तुम्हारे पति का यह भूतल

रूप राष्ट्र प्रतीत हो रहा है। पुनः विन्ध्याद्रि के ग्राम में वसिष्ठ नामक ब्राह्मण के घर के अंदर यह राष्ट्र सहित ब्रह्माण्ड स्थित है। उसी ब्राह्मण के घर में शवयुक्त गेह-जगत् वर्तमान है। उस शवयुक्त गेह-जगत् के मध्य में इस गेह-जगत का अस्तित्व है। यों यह त्रिजगत्, जो महान् व्यवसायों से युक्त है, भ्रमरूप ही है तथा गिरिग्रामरूपी देह के मध्य भाग में स्थित आकाशकोश में यह सागर सहित पृथ्वी दृष्टिगोचर हो रही है और तुमसे, मुझसे, इस लीला से एवं इस विदूरथ से संयुक्त यह चेतन परमात्मा ही विकसित हो रहा है। इसलिए तुम उत्पत्ति विनाश रहित उस परमपदरूप परमात्मा को जानो। वह स्वयम्प्रकाश, परम शान्त और निर्विकार है तथा मण्डप गृह के भीतर अपने चिन्मात्र स्वभाव के कारण उदित हुए अपने आत्मा में जगत्रूप से आभासित हो रहा है। यह भ्रम का द्रष्टा ही न रहे तो भ्रम में भ्रमता कैसे होगी। अतः भ्रम की सत्ता है ही नहीं। जो कुछ है, वह अविनाशी परमपदरूप परमात्मा ही है। उस परमात्मा को तुम ऐसे समझो कि वह उत्पत्ति विनाश रहित, स्वयम्प्रकाश, शान्त, आदि स्वरूप और निर्विकार होते हुए भी जगत्रूप से प्रतीत हो रहा है। स्वप्नावस्था में देह के अंदर देखे गये महापुर की भाँति मेरु आदि पर्वत समुदाय द्वारा उपलक्षित यह सारा दृश्य वर्ग शून्यात्मस्वरूप ज्ञानमात्र ही है, इसमें स्थूलरूपता कुछ भी नहीं है। शुभे! यह राजा पद्म जिस लोक में शवरूप से वर्तमान है, तुम्हारी यह सपत्नी लीला वहाँ पहले ही पहुँच गयी है। यह लीला तुम्हारे समक्ष ज्यों ही मूर्च्छित हुई त्यों ही तुम्हारे पति राजा पद्म के शव के निकट जा पहुँची है।

लीला ने पूछा-देवि! यह पहले ही वहाँ पहुँचकर देहधारिणी कैसे हो गयी ? इसके मेरे सत्पनीभाव को प्राप्त होने में क्या कारण है ? तथा राजा पद्म के उस उत्तम राजमहल के जो निवासी हैं, वे इसे किस रूप में देखते हैं और इसे क्या कहते हैं ?-यह सब मुझे संक्षेप से बतलाइये।

श्री देवी जी ने कहा-लीले! तुमने मुझसे जैसा प्रश्न किया है, तदनुसार मैं सारी घटना तुमसे संक्षेप में वर्णन करती हूँ; सुनो। यह दूसरी लीला के रूप में वर्तमान तुम्हारा ही वृत्तान्त है, जो तुम्हारी शंकाओं का निर्णायक है। इससे मरण परलोक गमन आदि भी, जिनका प्रत्यक्षीकरण होना कठिन है, तुम्हारे दृष्टिगोचर हो जायँगे। यह जो नगरादिरूप से दृष्टिगोचर होने वाला जगन्मय भ्रम

है, उस अत्यन्त विस्तृत भ्रम को तुम्हारा पति यह राजा पद्म उसी शवयुक्त गृह में देखता है। यहाँ तक कि यह सामने घटित हुआ युद्ध भ्रमयुद्ध है। यह लीला भी भ्रान्तिस्वरूप ही है। यह जन-समुदाय जन्मादिरहित आत्मा है। यहाँ की मृत्यु भी भ्रान्ति से ही दीख पड़ती है। इस प्रकार यह संसार भ्रमात्मक है। इसी भ्रमक्रम से लीला इस राजा पद्म की प्रेयसी भार्या हुई है। वरारोहे! तुम और यह दोनों सुन्दरियाँ भी स्वप्नमात्र ही हो। जिस प्रकार इस राजा की तुम दोनों सुन्दरी प्रियतमाएँ स्वप्नमात्र हो, उसी तरह तुम दोनों का पति यह राजा और स्वयं मैं भी स्वप्नमात्र ही हूँ। इसी तरह जगत की यह सारी शोभा भी भ्रमपूर्ण ही है और यहाँ का दृश्य वर्ग भ्रममात्र कहा जाता है। इसी तरह यह लीला, तुम, यह संसार स्थिति, यह राजा पद्म और मैं-ये सबके सब परमात्मा के सर्वव्यापक होने के कारण उसी परमात्मा में सत्यरूप से स्थित हैं। अतः महाचिद्घन की स्थिति के सर्वात्मक होने के कारण ये राजा आदि और हम लोग यहाँ परस्पर एक दूसरे के द्वारा प्रेरित होने के कारण इस रूप में परिणत हो गये हैं। जब इस लीला के लिये पद्म की मनोवासना जागृत् हुई, उसी समय यह तुम्हारे-सरीखे आकार-प्रकार धारण करके चैतन्यरूप चमत्कार में प्रकट हो गयी तथा तुम्हारे पतिदेव ने अपनी मृत्यु के अनन्तर शीघ्र ही इसे अपने सामने उपस्थित देखा; क्योंकि जिस समय चित्त वासनाभ्यासवश आधिभौतिक पदार्थों का स्वयं अनुभव करता है, उस समय उस अनुभव के कारण उसे यह दृश्य वर्ग सत्य सा प्रतीत होता है; वस्तुतः यह है मिथ्या कल्पनामात्र ही; परंतु जब चित्त इस भौतिक जगत् के पदार्थों का सत्यरूप से अनुभव नहीं करता अर्थात् असत् समझता है, उस समय तदनुरूप दृढ़ वासनावश उसके मिथ्यात्व का निर्णय हो जाता है।

ये दोनों स्त्री-पुरुष जब स्वमरणानुकूल मूर्छावस्था को प्राप्त हुए, उसी समय इन्होंने पूर्व वासना के जाग्रत हो जाने के कारण अपने हृदय में ऐसा अनुभव किया कि 'ये हमारे पिता हैं। ये हमारी माताएँ हैं। यह हमारा देश है। यह धन-सम्पत्ति है। यह हमारा कर्म है। पूर्वजन्म में हमने ऐसा ही कर्म किया था। इस प्रकार हम दोनों का विवाह हुआ और इस रूप में हम दोनों एकता को प्राप्त हुए।' इनका वह कल्पित जनसमूह भी उसी अवस्था में सत्यता को प्राप्त हुआ। जैसे स्वप्नावस्था में देखा हुआ पदार्थ सत्य सा प्रतीत होता है, उसी

तरह यहाँ भी यह दृष्टान्त है। लीले! इस लीला ने 'मैं विधवा न होऊँ' ऐसी भावना से भावित होकर मेरी आराधना की थी तथा मैंने भी उसे मनोऽनुकूल वर प्रदान किया था। इसी कारण निश्चय ही यह बालिका यहाँ पहले ही मृत्यु को प्राप्त हुई है। तुम लोग व्यष्टि चेतन हो और मैं तुम लोगों की समष्टि चेतनस्वरूपा कुलदेवी हूँ, अतः सदा पूजनीय हूँ। मैं अपने आप ही सब कुछ करती हूँ। जब इस लीला के जीव ने इसके शरीर से उत्क्रमण करना चाहा, उसी क्षण उसने प्राणवायु के रूप में सूक्ष्म शरीर धारण कर लिया और मन द्वारा चलायमान हो मुखछिद्र से निकलकर इस देह का परित्याग कर दिया। तदनन्तर मरणानुकूल मूर्च्छा के उपरान्त जीवात्मारूप से स्थित इस लीला ने इस घर के आकाश में बुद्धि में संकल्पित पदार्थों को देखा। फिर यह भावनावश पूर्व देह की स्मृति हो जाने से स्वप्न की तरह ब्रह्माण्ड मण्डल के भीतर जाकर अपने पति से संयुक्त हो गयी।

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तेतीसवाँ सर्ग

लीला को राजा पद्म की प्राप्ति

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-हे राघव! तदनन्तर यह लीला, जिसे सरस्वती द्वारा वर उपलब्ध हो चुका था, इसी वासनामय शरीर से अपने पति राजा पद्म से मिलने के लिये आकाशमार्ग से ऊपर के लोकों में जाने को उद्यत हुई; उस समय पतिमिलन के सुख का विचार करके यह प्रबल प्रेमभाव से संयुक्त हो आनन्दपूर्वक उड़ चली। वहाँ पहुँचकर इसे इसकी प्यारी कुमारी कन्या, जिसे सरस्वती देवी ने ही वहाँ भेजा था, प्राप्त हुई, मानो वह लीला के संकल्परूपी महान् दर्पण से निकलकर आगे खड़ी हो गयी हो।

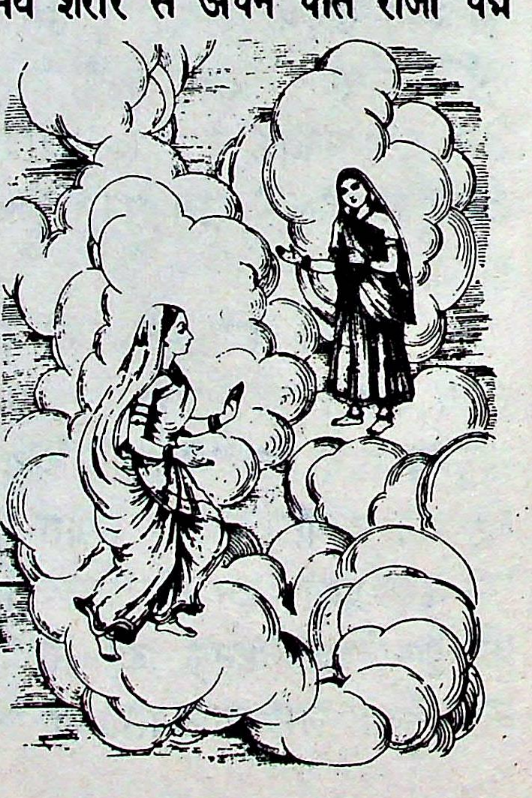

कुमारी ने कहा-सरस्वती देवी की सहेली! तुम्हारा स्वागत है। मैं तुम्हारी कन्या

हूँ। सुन्दरि! तुम्हारी ही प्रतीक्षा करती हुई मैं यहाँ आकाशमार्ग में खड़ी हूँ।

तब लीला ने कहा–कमलनयनी देवि! तुम मुझे स्वामी के समीप ले चलो।

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं–हे रघुनन्दन! तब वह कुमारी 'मातः! आओ, हम दोनों वहीं चल रही हैं'–यों कहकर लीला के आगे होकर आकाश में मार्ग प्रदर्शन करने लगी। तत्पश्चात् वह लीला उसके पीछे–पीछे प्रस्थित हुई। आगे बढ़ने पर वह मेघमार्ग को लाँघकर वायु मार्ग में प्रविष्ट हुई। फिर वहाँ से चलकर सूर्यमार्ग से निकलती हुई नक्षत्रमार्ग में गयी। उसे भी पार करके ब्रह्माण्ड–कपाल में जा पहुँची। वहाँ जाने पर, अपना चित्तमात्र ही जिसका शरीर है, वह लीला अपने हृदय में यों अनुभव करने लगी कि निश्चय ही यह सारा दृश्य अपनी कल्पना के स्वभाव से उत्पन्न हुआ भ्रम ही है। तदनन्तर ब्रह्माण्ड के उस पार पहुँचकर वह जलादि आवरणों को लाँघती हुई आगे बढ़ने पर महान् चेतनाकाश के मध्य में प्रविष्ट हुई। वह चेतनाकाश इतना विस्तृत है कि यदि अत्यन्त वेगशाली गरुड़ भी उसके चारों ओर चक्कर लगायें तो सैकड़ों करोड़ कल्पों में भी उसके ओर–छोर का पता नहीं लगा सकते, उसी तरह उस चेतनाकाश में लाखों क्या, असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो परस्पर एक–दूसरे से अलक्षित हैं। उन्हीं में से एक ब्रह्माण्ड को, जो सामने उपस्थित एवं विस्तृत आवरण से आवेष्टित था, वेधकर वह लीला उसके भीतर प्रविष्ट हुई–ठीक उसी तरह, जैसे कीड़ा बेर के फल में छेद करके उसके भीतर घुस जाता है। तदनन्तर भूमण्डल में राजा पद्म के राज्यान्तर्गत उसके नगर में पहुँचकर उस मण्डप में प्रवेश करके वह राजा के शव के निकट स्थित हुई। इतने में ही वह कुमारी सुन्दरी लीला की आँखों से ओझल हो गयी। जैसे पूर्णज्ञान हो जाने पर माया विनष्ट हो जाती है, उसी तरह वह भी कहीं चली गयी। तदुपरान्त लीला शवरूपी अपने पति के मुख को देखकर अपनी

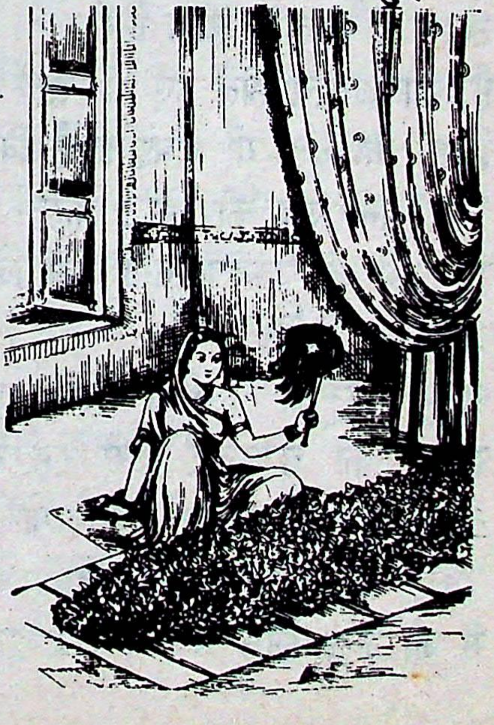

प्रतिभा के प्रभाव से इस सत्य को समझ गयी कि 'ये मेरे पतिदेव संग्राम में राजा सिन्धु के हाथों मारे गये और अब इन वीर-लोकों को प्राप्त होकर सुखपूर्वक सो रहे हैं। मैं भी इस प्रकार श्रीदेवी की कृपा से सशरीर यहाँ आ पहुँची हूँ, अतः मेरे समान धन्य दूसरी कोई स्त्री नहीं है।' यों भलीभाँति विचार कर लीला अपने हाथ में एक सुन्दर चँवर लेकर डुलाने लगी।

श्री देवी जी ने कहा-लीले! वह राजा, वह वासनामयी लीला और उसके वे सभी भृत्य परस्पर पति-पत्नी एवं स्वामी-सेवक के भाव के अनुकूल ही एक-दूसरे को देखते हैं-जैसे 'यह मेरी स्वाभाविक भार्या है। यह मेरी स्वाभाविक सखी है। यह मेरी स्वाभाविक रानी है और यह मेरा स्वाभाविक नौकर है।' परंतु इस आश्चर्यमय वृत्तान्त को पूर्णरूप से केवल तुम, मैं और यह लीला-ये तीन ही जान सकेंगे। अन्य किसी के लिये भी इसका जानना असम्भव है। इसलिये जो ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं अथवा जिन्होंने परम धर्म का आश्रय ग्रहण कर लिया है, वे ही आतिवाहिक अर्थात् ब्रह्मादि लोकों को प्राप्त होते हैं। दूसरों के लिये वह दुर्लभ है। महाप्रलय के अवसर पर जब सभी पदार्थों का विनाश हो जाता है, उस समय केवल अनन्त चेतनाकाशस्वरूप शान्त सद्ब्रह्म ही शेष रहता है और जीवात्मा चेतनरूप होने के कारण 'मैं तेजःस्वरूप सद्ब्रह्म का अंश हूँ, यों अनुभव करता है, जैसे तुम स्वप्नावस्था में आकाश गमन आदि का अनुभव करती हो। तदनन्तर तेजोऽशरूप वह जीवात्मा स्वयं ही अपने में स्थूलत्व लाभ करता है। फिर वह स्थूलत्व ही यह ब्रह्माण्ड कहा जाता है, जो असत्य होते हुए भी सत्य सा प्रतीत होता है। उस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत स्थित वह ब्रह्म यों समझता है कि 'यह ब्रह्मा मैं ही हूँ।' तब फिर वह अपने आप मनोराज्य की सृष्टि करता है। वही मनोराज्य यह जगत् है। उस प्रथम सृष्टि में जो संकल्पवृत्तियाँ जहाँ जिस रूप में विकसित हुई, वे वहाँ उसी रूप में आज भी निश्चल भाव से स्थित हैं। प्रलयकाल में भी विश्वरूप परमात्मा को सम्पूर्ण वस्तुओं से शून्य कहना युक्त नहीं। भला, सुवर्ण कटक-कुण्डल आदि स्थानों को छोड़कर कैसे रह सकता है। अर्थात् जैसे सुवर्ण कटकादि में ओतप्रोत है, उसी तरह परमात्मा समस्त पदार्थों में व्याप्त है।

यद्यपि पृथ्वी आदि दृश्यप्रपञ्च आकाशरूप है, तथापि सृष्टि के प्रारम्भ में जो जहाँ जिस रूप में विकसित हुआ, वह आज तक भी वहाँ उसी रूप में

वर्तमान है। अपनी स्थिति से विचलित होने में समर्थ न हो सका। वस्तुतः तो सृष्टि के आदि में यह जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ था। यह जो कुछ अनुभव हो रहा है वह तो चिदाकाशरूप जीवात्मा के संकल्प का विकास है। इसे स्वप्नकाल में घटित हुए स्त्री प्रसंग की भाँति कल्पित ही समझना चाहिये। सृष्टि के आदि में चिदाकाशस्वरूप जीवात्मा आकाश का संकल्प करने के कारण आकाशरूपता को और काल का संकल्प करने के कारण कालरूपता को प्राप्त होता है। जैसे स्वप्न में पुरुष अपने में ही जलता का दर्शन करता है, उसी तरह जीवात्मा जल का संकल्प करने के कारण जलवत् स्थित होता है। स्वप्न की भाँति जीवात्मा उस-उस रूप को प्राप्त होता है और जैसा होता है, वैसा ही वह ज्यों-का-त्यों स्थित रहता है; क्योंकि चेतन के चमत्कार अर्थात् माया की चतुरता से यह प्रपञ्च असत होते हुए भी सत् सा दीख पड़ता है। जैसे स्वप्न, कल्पना और ध्यान में आयी हुई वस्तुएँ असत् होती हैं, उसी तरह आकाशत्व, जलत्व, पृथिवीत्व, अग्नित्व और वायुत्व-ये सभी असत् हैं-ऐसा चेतन स्वयं अपने अंदर अनुभव करता है। अब मृत्यु के पश्चात् कर्मफल के अनुभव करने का जो क्रम है, उसे सम्पूर्ण संशयों की शान्ति के लिये सुनो। वह मरने पर कल्याणकारी होता है। जगत् में अपने कर्मों की देश, काल, क्रिया और द्रव्यजनित शुद्धि और अशुद्धि ही मनुष्यों की आयु के अधिक और न्यून होने में कारण होती हैं। अपने कर्मरूप धर्म का ह्रास होने पर मनुष्यों की आयु क्षीण हो जाती है और उस धर्म के बढ़ने पर आयु की वृद्धि होती है। बाल्यावस्था में मृत्यु प्रदान करने वाले कर्मों को करने से बालक, युवावस्था में मृत्युदायक कर्मों से नौजवान और बुढ़ापे में मृत्युप्रद कर्मों के करने से वृद्ध मृत्यु को प्राप्त होता है। जो अपने धर्म का शास्त्रानुकूल आरम्भ करके पीछे उसका अनुष्ठान करता रहता है, वह श्रीमान् पुरुष शास्त्रवर्णित आयु का भागी होता है। यों अपने कर्मों के अनुसार ही जीव को अन्तिम दशा प्राप्त होती है और उस मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हुआ जीव मर्मघातिनी वेदनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

प्रबुद्ध लीला ने पूछा-चन्द्रवदनी देवी! मरण सुखरूप है अथवा दुःखरूप? और मरने के बाद फिर क्या होता है ? इस प्रकार मरण का वृत्तान्त मुझसे संक्षेप में कहिये।

तेतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौतीसवाँ सर्ग

पदार्थों की नियति

वसिष्ठजी बोले हे राम! श्री देवी जी ने कहा–लीले! शरीरान्त के समय मुमूर्षु पुरुष तीन प्रकार के होते हैं–मूर्ख, धारणाभ्यासी और युक्तिमान्। इनमें धारणाभ्यासी दृढ़तापूर्वक धारणा का अभ्यास करके शरीर को छोड़कर सुखपूर्वक प्रयाण करता है। उसी प्रकार युक्तिमान् भी सूखपूर्वक ही गमन करता है, परन्तु जिसने न तो धार्णा का अभ्यास किया है और न युक्ति ही प्राप्त की है, वह मूर्ख पुरुष अपने मृत्यु समय में विवश होकर दुःख को प्राप्त होता है। वह विषयी पुरुष वासना के आवेश से विवशता का अनुभव करता हुआ जड़ से कटे हुए कमल की तरह अत्यन्त दीनता को प्राप्त हो जाता है। जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्यास द्वारा संस्कृत नहीं है एवं जो दुष्टों की संगति का सेवन करता है, वह मरने पर अग्नि में गिरे जीव की भाँति अन्तर्दाह का अनुभव करता है। जब उस अज्ञानी पुरुष के कण्ठ से घुरघुराहट की आवाज निकलने लगती है, आँखों की पुतलियाँ उलट जाती हैं, शरीर का रंग विकृत हो जाता है, उस समय उसकी बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। उसकी आँखों के सामने घना अन्धकार छा जाता है, जिससे उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। बोलने में असमर्थ होने के कारण वह स्वयं जड़वत् हो जाता है। जैसे सूर्य के अस्ताचल का आश्रय लेने पर क्रमशः प्रकाश की मन्दता के कारण दिशाएँ धुँधली हो जाती हैं, उसी तरह उसकी सारी इन्द्रियों की शक्तियाँ क्षीण हो जाने के कारण वे अपने–अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं। विशेषरूप से मोह के वशीभूत हो जाने से उसके मन की कल्पनाशक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे वह अविवेकवश मोह के अगाध सागर में डूबता उतराता रहता है। ज्यों ही उसे थोड़ी–सी मूर्च्छा हुई, त्यों ही प्राणवायु की गति बंद हो जाती है और जब सभी प्राणों की क्रिया रुक जाती है, तब उसे घोर मूर्च्छा आ घेरती है। इस प्रकार परस्पर एक–दूसरे के सहयोग से पुष्टता को प्राप्त हुए मोह, सवेदन और भ्रम से जीव पाषाणवत् जड़ता को प्राप्त हो जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही यह नियम चला आ रहा है।

प्रबुद्ध लीला ने पूछा–देवि! यद्यपि यह शरीर आठ अंगों (सिर, दो हाथ, दो चरण, गुह्यस्थान, नाभि और हृदय) से सम्पन्न है तो भी इसे व्यथा, विमोह,

मूर्च्छा, भ्रम व्याधि और अचेतना-ये सब कष्ट प्राप्त होते हैं। इसका क्या कारण है ?

श्री देवीजी ने कहा-भद्रे! स्पन्दनशक्ति-सम्पन्न ईश्वर ने सृष्टि के आदि में ही सुख-दुःखादि-प्रारब्धभोगरूप कर्म का इस रूप में विधान कर दिया है कि मदंशभूत जीव को उसकी आयु के इस इस समय में उसके कर्मानुसार इतने काल तक भोगने योग्य इस प्रकार का सुख-दुःख प्राप्त होगा। जिस समय नाड़ियों में प्रविष्ट हुई वायु बाहर नहीं निकलतीं और निकली हुई उनमें प्रवेश नहीं करती, उस समय उनका स्पन्दन रुक जाता है। तब नाड़ीशून्य हो जाने के कारण प्राणी की मृत्यु हो जाती है। जब वायु न प्रवेश करती है और न बाहर ही निकलती, तब शरीर से नाड़ियों के वियुक्त हो जाने के कारण लोग यों कहने लगते हैं कि 'यह मर गया।'

ज्ञानवृत्ति का वेदनरूप स्वभाव बाधारहित है, इसलिये जन्म-मरण उस स्वाभाविक ज्ञानवृति से पृथक नहीं हैं। (अर्थात जब तक मनुष्य में अविद्या रहेगी, तब तक उसे जन्म-मरण से छुटकारा नहीं मिल सकता, क्योंकि ये उसके लिये स्वाभाविक ही हैं। केवल मुक्ति होने पर ही उनसे छुटकारा मिलता है।) जैसे लंबी लता के बीच-बीच में गाँठें होती हैं, उसी तरह चेतन सत्ता के भी मध्य-मध्य में जन्म-मरण होते हैं। वस्तुतः तो चेतन पुरुष न कभी जन्मता है और न कभी मरता है। पुरुष स्वप्नकाल के सम्भ्रम की भाँति केवल भ्रम से ही इन जन्म-मरणादि को देखता है, क्योंकि चेतनामात्र ही तो पुरुष है, फिर वह कब और कहाँ नष्ट हो सकता है। यदि पुरुष (जीवात्मा) को चेतन से अतिरिक्त मानें तो बताओ, दूसरा कौन पुरुष हो सकता है ? अतः चेतनामात्र ही पुरुष है-यही बात ठीक है। भला, बताओ तो सही-क्या आज तक इस संसार में किसी ने किसी के चेतन को किसी प्रकार मरा हुआ देखा है ? अरे! यह तो सरासर असम्भव है, क्योंकि लाखों शरीर मरते देखे जाते हैं और चेतन अविनाशी ही बना रहता है। यों वास्तव में न तो कोई मरता है और न कोई जन्म ही लेता है। केवल जीव वासनारूपी आवर्त के गड्डों में गोते लगाता रहता है। जगदभ्य से भीत होकर जीव जब अभ्यास द्वारा भ्रमवश प्रतीत होते हुए जगत-प्रपञ्च को 'यह वास्तव में हुआ ही नहीं है'-यों सम्यक्रूप से समझ लेता है, तब पूर्णतया वासनाओं से रहित होकर विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार

विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहाँ सत्य वस्तु है। इसके अतिरिक्त सब असत् है।

प्रबुद्ध लीला ने पूछा–देवेशि! प्राणी जिस प्रकार मरता है और फिर वह जैसे पैदा होता है, उस प्रसंग को ज्ञान की वृद्धि के लिये आप पुनः मुझसे विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये।

श्री देवी जी ने कहा–लीले! नाड़ियों की गति रुक जाने पर जब प्राणी प्राण वायुओं की विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शान्त सी हो जाती है। इसी को मरण कहते हैं। वास्तव में चेतन सर्वथा शुद्ध और नित्य है। उसकी न तो उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश ही होता है। वह स्थावर, जंगम, आकाश, पर्वत, अग्नि और वायु–सभी में स्थित है। केवल प्राण वायु की गति अवरुद्ध हो जाने से जब शरीर की चेष्टा पूर्णरूप से शान्त हो जाती है, तब यह शरीर, जिसका दूसरा नाम 'जड़' है, 'मृत' कहा जाता है। जब यह शरीर शवरूप में परिवर्तित हो जाता है और प्राण वायु अपने कारणरूप महावायु में विलीन हो जाती है, तब वासनारहित चेतन अपने आत्मतत्त्व में स्थित हो जाता है। फिर पुनर्जन्म की बीजभूत वासना से युक्त एवं सूक्ष्म शरीर वाला वह व्यष्टिचेतन 'जीव' नाम से पुकारा जाता है। शरीर के मरने के बाद लौकिक व्यवहार करने वाले लोग उस जीव को 'प्रेत' शब्द से पुकारते हैं और चेतन गन्ध मिली हुई वायु के समान वासनाओं से संयुक्त हो जाता है। जब वह जीव इस शरीरादि दृश्य का परित्याग करके देहान्त का दर्शन करने के लिये उत्सुक होता है, उस समय उसकी स्वप्न एवं मनोराज्य की भाँति नाना आकृतियाँ हो जाती हैं। फिर उसी प्रदेश के अंदर वह पूर्वजन्म की तरह स्मरण शक्ति से युक्त हो जाता है और तभी मरणकाल की मूर्च्छा के पश्चात् वह अन्य शरीर को देखने लगता है।

लीले! मरने के बाद जीव को जो प्रेत कहा जाता है, वे प्रेत छः प्रकार के होते हैं। उनके इस भेद को सुनो–साधारण पापी, मध्यम पापी, स्थूल पापी, सामान्य धर्म वाले, मध्यम धर्म वाले और उत्तम धर्मात्मा। इनमें से किसी के दो भेद और किसी के तीन भेद भी होते हैं। कोई पाषाणतुल्य हृदय वाला एवं अत्यन्त मूढ़ महापातकी अपने अन्तःकरण में एक वर्ष तक स्मृति–मूर्च्छा का अनुभव करता है। तत्पश्चात् समयानुसार चेतना को प्राप्त होकर वासनारूपी स्त्री के उदर से उत्पन्न हुए अक्षय नारकीय दुःखों का चिरकाल तक अनुभव करके

एक महान् दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता हुआ सैकड़ों योनियों का भोग करता है। तब कभी स्वप्न सम्भ्रमरूपी संसार में शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् उसके कर्मफल भोगों की निवृत्ति होती है। अथवा मरण-मूर्च्छा के अन्त में उसी क्षण वे हृदय स्थित वृक्षादि स्थावर योनियों का ही, जो सैकड़ों जड़ दुःखों से व्याप्त हैं, अनुभव करते हैं और फिर चिरकाल तक नरक में अपनी-अपनी वासनाओं के अनुरूप दुःखों का भोग करके भूतल पर नाना योनियों में जन्म धारण करते हैं। (यह महापातकी की गति का वर्णन है।) अब जो मध्यम पापी है, उसकी गति का वर्णन करते हैं। वह मृत्युकालिक मूर्च्छा के अनन्तर कुछ काल तक पाषाण-तुल्य जड़ता का अनुभव करता है। तत्पश्चात् जब उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ काल के बाद अथवा उसी समय तिर्यगादि क्रम से नाना योनियों का भोग करके संसार को प्राप्त होता है। जो कोई साधारण पापी होता है, वह मरते ही अपनी वासनाओं के अनुसार प्राप्त हुए अविकल मानव देह का अनुभव करता है। उसी क्षण पूर्वसंस्कार के अनुसार उसकी स्मृति का उदय होता है और स्वप्न एवं मनोराज्य की भाँति उसके अनुभव में वैसी ही वस्तुएँ आने लगती हैं। जो सर्वश्रेष्ठ महान् पुण्यात्मा हैं, वे मृत्युजनित मूर्च्छा के पश्चात् पूर्व वासना की स्मृति से स्वर्गलोक तथा विद्याधर लोक के सुख का भली भाँति उपभोग करते हैं। फिर पुण्यफल भोग के अनन्तर अपने कर्मान्तर अर्थात् पापकर्म के अनुसार प्राप्त हुए फल को अन्यत्र भोगकर मनुष्यलोक में धनी सत्पुरुषों के घर में जन्म धारण करते हैं। जो मध्यम धर्मात्मा होते हैं, वे मरणमूर्च्छा के बाद आकाशवायु से आन्दोलित होकर उत्तम वृक्षों और पल्लवों से सुशोभित उपवन में जाते हैं और वहाँ अपने पुण्य कर्मों का फल भोग लेने के बाद मनुष्यों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं। फिर रेतः सिञ्चन के समय जन्म क्रमानुकूल स्त्रियों के गर्भ में स्थित होते हैं।

इस प्रकार प्रेत मृत्युजनित मूर्च्छा के अनन्तर अपनी वासना के अनुसार अपने हृदय में इस व्यवस्था का क्रमशः अथवा क्रमरहित ही अनुभव करते हैं। वे यह जानते हैं कि 'हम लोग पहले मृत्यु को प्राप्त हुए। तदनन्तर बन्धुओं द्वारा क्रमशः पिण्डादि दान करने से हम पुनः आतिवाहिक-शरीरधारी होकर उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् हाथों में कालपाश लिए हुए ये यमदूत आ पहुँचे। अब इन यमदूतों द्वारा ले जाया जाता हुआ मैं क्रमशः यम-पुरी को जाऊँगा।' उन

प्रेतों में जो उत्तम पुण्यात्मा होता है, वह यों समझता है कि 'ये दिव्य एवं मनोहर विमान और उपवन मुझे बारंबार अपने शुभ कर्मों से ही प्राप्त हुए हैं।' इसके विपरीत पापी पुरुष यों अनुभव करता है कि 'ये जो बरफ की चट्टानें, काँटे, गड्ढे और तलवार की धार के समान तीखे पत्तों से पूर्ण वन मुझे प्राप्त हुए हैं, ये मेरे अपने ही दुष्कर्मों के फलरूप से उत्पन्न हुए हैं।' मध्यम पुण्यात्मा जानता है कि, यह मार्ग, जो मेरे सामने उपस्थित है, इसमें आनन्द पूर्वक पैदल चला जाता है। शीतल और हरी घास उगी हुई है। वह घनी छाया से आच्छादित है और स्थान-स्थान पर बावलियों से युक्त है।' मध्यम पापी यों अनुभव करता है कि 'यह मैं यमपुरी में पहुँच गया। ये प्राणियों के राजा यमराज हैं और यहाँ मेरे कर्मों के विषय में यह विचार किया गया।' इस प्रकार संसार का विशाल अंश, जो सत्य से प्रतीत होने वाले सम्पूर्ण पदार्थों और उनकी क्रियाओं से प्रकाशमान है, प्रत्येक को प्राप्त होता है। आकाश की तरह स्वरूप रहित वह प्रपञ्च देश, काल और क्रिया के विस्तार से देदीप्यमान होते हुए भी कुछ नहीं है, किंतु सर्वारोपशून्य एवं विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न आत्मा ही सब कुछ है।

(यमपुरी में पहुँचने पर जीव कहता है–) अब मुझे यमराज का आदेश प्राप्त हो गया है, अतः मैं अपने कर्मों का फल भोगने के लिये शीघ्र ही यहाँ से उत्तम स्वर्गलोक अथवा नरक में जाता हूँ। यमराज ने मेरे लिये जिस स्वर्ग अथवा नरक का निर्देश किया था, मैंने उसका भोग कर लिया तथा यमनिर्दिष्ट उन-उन योनियों में भी भटक चुका। अब मैं पुनः संसार में जन्म ग्रहण करूँगा। यह मैं धान का अंकुर होकर उत्पन्न हुआ। फिर क्रमशः बढ़कर फलरूप में स्थित हुआ।' इस प्रकार शरीराभाव के कारण जब उसकी सारी इन्द्रियाँ भली-भाँति सोयी रहती हैं, उसी अवस्था में वह भुक्तान्नादि द्वारा पुरुष के शरीर में प्रवेश करके वीर्यरूप में परिणत हो जाता है। वही वीर्य जब माता की योनि में पड़ता है, तब वह गर्भ का रूप धारण करता है। वही गर्भ अपने पूर्व जन्म के कर्मानुसार उत्तम अथवा निकृष्ट प्रारब्ध से युक्त हो संसार में मनोहर आकृति वाले बालक के रूप में जन्म लेता है। कुछ काल के बाद वह चन्द्रमा के समान मनोहर तथा कामोन्मुख जवानी का अनुभव करता है। तत्पश्चात विकसित कमल पर गिरे हुए तुषाररूपी वज्र की तरह उसे वृद्धावस्था आ घेरती

है। उस बुढ़ापे में भी किसी न किसी व्याधि के निमित्त से ही उसका मरण होता है। पुनः उसे मृत्युजनित मूर्च्छा प्राप्त होती है। पुनः स्वप्न की भाँति बन्धुओं द्वारा दिये गये पिण्डादि द्वारा सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है और फिर वह यमलोक को जाता है। वहाँ से पुनः नाना योनियों की प्राप्ति होने पर उनमें वह भ्रमण क्रम का ही बारंबार अनुभव करता है। इस प्रकार इस वेगशाली परिवर्तन का वह तब तक पुनः पुनः अनुभव करता रहता है, जब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती।

प्राणियों के शरीरों में जो छिद्र स्थान हैं, उनमें प्रविष्ट हुई वायु जब अंगों में चेष्टा उत्पन्न करती है, तब लोग कहते हैं कि यह जीवित है। परंतु ऐसी स्थिति सृष्टि के आदि में केवल जंगम प्राणियों में ही उत्पन्न हुई थी, इसी कारण ये वृक्ष आदि स्थावर प्राणी सचेतन होते हुए भी चेष्टाहीन हैं। जब जीवात्मा मनुष्यादि शरीररूप दूसरे नगर में पहुँचता है, तब वहाँ बुद्धि को चक्षु आदि इन्द्रिय गोलकों में ले जाकर उनके द्वारा बाह्य पदार्थों का अनुभव करता है-जैसे आकाश शून्यता से, पृथ्वी धारण शक्ति से और जल आप्यायन शक्ति से युक्त है। तात्पर्य यह कि जीवात्मा स्वेच्छा से जिसके लिये जैसा कल्पना करता है, वह वैसा ही अपने शरीर को जानता है। इस प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा जंगमरूप से जंगम की और स्थावररूप से स्थावर की कल्पना करता हुआ सबके शरीररूप से स्थित है। इसलिये जो जंगम जगत् है, उसे उसने अपनी कल्पना के अनुसार जैसा समझा था, वह आज भी उसी रूप में वर्तमान है। जैसे जिन वृक्ष, शिला, पेड़-पौधों और तृण आदि को स्थावर होने के कारण जड़ समझा गया था, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं; क्योंकि न तो जड़ता ही कोई पृथक् वस्तु है और न चेतन ही। इन पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और विनाश में कोई भेद नहीं है और न सत्ता सामान्य में ही कोई अन्त है अर्थात् सबमें सत्ता समान है। यथार्थ बात तो यह है कि वृक्षों और पर्वतों के अंदर जो उनकी जड़ता एवं नाम-रूप आदि भेद परिलक्षित होते हैं, वे जीवात्मा की बुद्धि द्वारा विहित हैं, वस्तुतः नहीं हैं। वही जीवात्मा स्थावरादि के भीतर 'मैं स्थावर हूँ' ऐसी बुद्धि से स्थित होने के कारण जंगम से भिन्न नाम और अभिमान का विषयभूत होकर वृक्षादि अन्य स्वरूपों से स्थित है। कृमि, कीट और पंतगों के अंदर संवित-रूप से वर्तमान जीवात्मा ही उनकी बुद्धि का रूप धारण करता है

और वही अनेकविध नाम-रूपों से व्यवहृत होता है। सभी स्थावर-जंगम अपने-अपने अनुभव में ही लीन हैं; परंतु जब वे एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, तब उनमें 'यह स्थावर है और यह जंगम है' यों संकेत की आवश्यकता पड़ती है। चेतन तो परमार्थरूप से स्थावर जंगम सभी में वर्तमान है, परंतु जंगम प्राणियों में वायु के प्रवेश करने से चेष्टाएँ होती हैं और स्थावरों में नहीं होतीं। जिस प्रकार विश्व के समग्र पदार्थों के स्वभाव का विकास होता है और जैसे वे असत्य होते हुए भी सत्य से प्रतीत होते हैं, वह सब वृत्तान्त मैंने तुम्हें बता दिया। अब उधर देखो, ज्ञात होता है, यह राजा विदूरथ मृत्यु को प्राप्त होकर तुम्हारे पति राजा पद्म के, जो पुष्पमालाओं से आच्छादित शव के रूप में स्थित हैं, हृदयान्तर्गत पद्मकोश में प्रवेश करने की इच्छा से जाना चाहता है।

प्रबुद्ध लीला ने पूछा-देवेश्वरि! बताइये, यह राजा विदूरथ किस मार्ग से उस शव मण्डप में जाने का इच्छुक है ? जिससे हम दोनों भी उसे देखती हुई ही उस उत्तम मण्डप में शीघ्र ही जाएँ।

श्री देवी जी ने कहा-लीले! 'मैं दूरवर्ती दूसरे लोक को जाता हूँ' इस भावना से यह चिन्मय जीवात्मा मनुष्य वासना के अंदर स्थित मार्ग का अवलम्बन करके जाता है। यों तुम्हें जिस मार्ग से जाना अभीष्ट हो, उसी मार्ग से हम दोनों जाती हैं; क्योंकि एक दूसरे की इच्छा का विघातन प्रेम-बन्धन का हेतु नहीं होता।

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-राघव! इस प्रकार श्रेष्ठ राजा की कन्या लीला के विशुद्ध मन में जब परमार्थ दृष्टिरूप पूर्वोक्त कथा के श्रवण से सारे संताप मिट गये तथा ज्ञानरूपी सूर्य का प्रसार हो गया, तब राजा विदूरथ चित्त के विलीन हो जाने के कारण जड़ अर्थात मृत्युकालिक मूर्च्छा के वशीभूत हो गया।

चौतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

राजा विदूरथ का वासनामय यमपुरी में गमन

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! इसी बीच राजा विदूरथ की आँखों की पुतलियाँ उलट गयीं। होंठ सूखकर श्वेत हो गये। उसके शरीर की सभी इन्द्रियों के मूर्च्छित हो जाने पर केवल सूक्ष्म प्राण ही शेष रह गया। मुख की

छवि पुराने पीले पत्ते की कान्ति के समान क्षीण एवं पीली हो गयी। भौंरे के गुंजार के सदृश श्वासवायु की ध्वनि होने लगी। उसका मन महाप्रयाणकालिक मूर्च्छा के अन्धकूप में डूब गया। नेत्र आदि सारी इन्द्रियों की वृत्तियाँ अन्तर्लीन हो गयीं। इस प्रकार वह चेतनाशून्य हो गया। चित्रलिखित पुरुष सरीखे उसका आकारमात्र ही दीख पड़ता था। शिला पर खुदे हुए की भाँति उसके शरीर के सम्पूर्ण अवयव निश्चेष्ट हो गये थे। इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ ? जैसे आकाशचारी पक्षी गिरने के संनिकट पहुँचे हुए अपने निवासभूत वृक्ष को छोड़ देता है, उसी प्रकार प्राण ने स्वाधिष्ठित थोड़े से शरीरांश से चलकर राजा के शरीर का परित्याग कर दिया।

उस समय जैसे प्राणमयी ज्ञानवृत्ति वायु में स्थित सूक्ष्म गन्ध का अनुभव करती है, उसी प्रकार उन दोनों देवियों ने, जिन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त थी, आकाश मार्ग से जाते हुए उस जीव को देखा। फिर तो वे दोनों नारियाँ उसी जीवात्मा का अनुसरण करने लगीं–ठीक उसी तरह, जैसे दो भ्रमरियाँ वायु में मिली हुई गन्धकला का अनुगमन करती हैं। तदनन्तर दो घड़ी के पश्चात् जब मरण-मूर्च्छा शान्त हुई, तब जीवात्मा आकाश में सुगन्धयुक्त वायु के स्पर्श से प्रबुद्ध हो गया। उस समय उसने यमदूतों को, उनके द्वारा ले जाये जाते हुए अपने वासनामय शरीर को तथा बन्धुओं द्वारा किये गये पिण्डदान आदि से उत्पन्न हुए अपने स्थूल शरीर को भी देखा। फिर उसी मार्ग से बहुत दूर तक आगे जाने पर वह यमराज की नगरी में जा पहुँचा, जो प्राणिसमुदाय से घिरी हुई थी और जहाँ उनके कर्मफलों पर विचार किया जा रहा था। वहाँ पहुँचने पर यमराज ने इसके कर्मों पर विचार करके यह आदेश दिया कि 'यह सदा निर्मल पुण्य कर्मों का ही अनुष्ठान करता रहा है। इसने कभी भी पापकर्म नहीं किया है। साथ ही सरस्वती देवी के वरदान से इसके पुण्यों की विशेषरूप से वृद्धि हुई है। इस उपर्युक्त बात को समझकर तुम लोग इसे छोड़ दो और यह अपने पूर्वजन्म के शरीर में, जो शवरूप में पुष्पों से आच्छादित मण्डपाकाश में वर्तमान है, वहाँ जाकर प्रवेश करे।' यों आदेश पाने पर यमदूतों ने उसे आकाशमार्ग में लाकर छोड़ दिया। तदनन्तर वह जीवात्मा, लीला और सरस्वती–ये तीनों एक साथ आकाशमार्ग से उड़ते हुए आगे बढ़े। उस समय यद्यपि सरस्वती और लीला मूर्तिमती थीं, तथापि वह जीवात्मा उन्हें देख नहीं रहा था, जबकि वे उसे देख

रही थीं। इस प्रकार वे दोनों उस जीवात्मा का अनुसरण करती हुई आकाश मण्डल को लाँघकर लोकान्तरों को पार करती हुई दूसरे ब्रह्माण्ड में जा पहुँचीं। पुनः शीघ्र ही वहाँ से निकलकर दूसरे ब्रह्माण्ड में गयीं। फिर उस भूमण्डल से चलकर वे दोनों संकल्परूपिणी देवियाँ उस जीवात्मा के साथ राजा पद्म के नगर में आयीं और वहाँ तुरंत ही स्वच्छन्दता पूर्वक लीला के अन्तःपुर के मण्डप में प्रविष्ट हुईं।

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

शरीर की असत्यता का कथन

श्री राम जी ने पूछा–ब्रह्मन्! जिसका शरीर मर चुका था, उस जीवात्मा को मार्ग का परिज्ञान कैसे हुआ ? और वह शव के निकटवर्ती मण्डप में कैसे पहुँचा ।

श्री वसिष्ठ जी ने कहा–हे राघव ! उस जीव की अपनी वासना के अन्तर्गत शव की भावना विद्यमान थी, जिससे उसके हृदय में वह मार्ग आदि सब कुछ स्फुरित हो गया; फिर उसे उस गृह की प्राप्ति कैसे न हो। क्योंकि जैसे किसी अन्य स्थान में स्थित पुरुष दूर देशान्तर में रखे हुए अपने खजाने को अनवरत उसकी मानसिक भावना के कारण सदा सम्यक्रूप से देखता रहा है, उसी प्रकार सैकड़ों जन्मों के चक्कर में पड़ा हुआ भी जीव अपनी वासना के अंदर स्थित अपने अभीष्ट को देखता है।

श्री राम जी ने पूछा–भगवन् ! जिसके लिये पिण्डदान दिया ही नहीं जाता, उसमें पिण्डदानादि वासना का कारण तो है नहीं; फिर उस वासना से रहित स्वरूप वाला जीवन किस प्रकार शरीर को प्राप्त होता है ?

श्री वसिष्ठ जी ने कहा–रघुनन्दन ! बन्धुओं द्वारा पिण्ड दिया गया हो अथवा न दिया गया हो; परंतु यदि 'मैंने पिण्डदान किया है' ऐसी वासना हृदय में भली भाँति उत्पन्न हो जाय तो वह पुरुष पिण्डफल का भागी हो जाता है; क्योंकि अनुभूतियाँ बतलाती हैं कि जैसा चित्त होता है, वैसा ही वह प्राणी होता है। यह नियम जीवित अथवा मृत–किसी भी प्राणी में कहीं भी अन्यथा नहीं होता। पदार्थों की सत्यता उनकी भावना-वासना के अनुसार ही होती है और वह भावना कारण भूत पदार्थों से उत्पन्न होती है; क्योंकि जो स्वयं नित्य प्रकाश

स्वरूप है, एकमात्र उस ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरे किसी कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना हुई हो, ऐसा तो महाप्रलय पर्यन्त न तो कहीं देखा गया और न इस विषय में कुछ सुना ही गया। जैसे स्वप्न में जीव विविध पदार्थों के रूप में कल्पित हुआ दीख पड़ता है, उसी तरह चेतन जीवात्मा ही उस वासना का रूप धारण करता है। वही कार्य-कारण भाव को प्राप्त होता है और वही निश्चल सा होकर स्थित है। देश, काल, क्रिया और द्रव्य के संयोग से भावना अर्थात् वासना का उदय होता है। वह वासना जिस (सत्य एवं असत्य) फलरूप विषय में उत्पन्न होती है, वही विषय दोनों में अधिक जयशील होता है। यदि धर्मदाता की वासना प्रवृत्त हुई हो तो उससे क्रमशः प्रेत की बुद्धि पूर्ण हो जाती है अर्थात् दाता की वासना के अनुसार प्रेत को अवश्य फल मिलता है। यों परस्पर की विजय के कारण इस विषय में जो अत्यन्त वीर्यशाली होता है, वही विजयी होता है; इसलिये उत्तम यत्न द्वारा शुभकर्मों का अभ्यास करना चाहिये।

पूर्व वर्णन के अनुसार लीला और सरस्वती देवी राजा पद्म के उस राज महल में जा पहुँची, जिसका भीतरी भाग अत्यन्त मनोरम था। चारों ओर पुष्पोपहार से व्याप्त होने के कारण वह वसन्त सा शीतल लगता था। वह उन नगर-निवासियों से युक्त था, जिनकी राजकार्य करने की तत्परता पूर्णरूप से शान्त हो गयी थी। वहाँ उन दोनों ने एक कमरे में रखे हुए शव को देखा, जो मन्दार और कुन्द पुष्प की मालाओं से आच्छादित था। उस शव के सिरहाने जल से पूर्ण उत्तम कलश आदि मांगलिक पदार्थ रखे थे। उस कमरे के दरवाजे और खिड़कियों की साँकलें बंद थीं और उसकी निर्मल दीवालें दीपक के प्रकाश के प्रशान्त हो जाने के कारण मलिन दीख पड़ती थीं। वह एक ओर सोये हुए लोगों के मुख से निकली हुई श्वास वायु से व्याप्त था।

तदनन्तर उन दोनों ने उस शव मण्डप में विदूरथ की शवशय्या के पार्श्व भाग में स्थित लीला को देखा, जो पहले मृत्यु को प्राप्त हो चुकी थी और पहले ही वहाँ आ गयी थी। उसके वेष, आचरण, शरीर और वासनाएँ-सभी पहले के ही सदृश थे। उसकी आकृति पूर्वजन्म की सी थी। नख से शिखा तक उसके सारे अंग सुन्दर थे। उसका रूप और अंगों की चेष्टाएँ पूर्ववत् थीं। जैसे वस्त्र वह पूर्वजन्म में पहनती थी, वैसे ही वस्त्रों से उसका शरीर आच्छादित था और पहले के से आभूषणों से भी वह विभूषित थी। केवल इतना ही अन्तर था

कि वह राजा पद्म के महल में स्थित थी। उस समय उसके हाथ में चँवर सुशोभित था, जिसे वह सुन्दर ढंग से राजा के ऊपर डुला रही थी। इस प्रकार उन दोनों (सरस्वती और प्रबुद्ध लीला) ने तो उस लीला को देखा, परंतु वह उन दोनों को न देख सकी। इसका कारण यह था कि वे दोनों सत्य संकल्प स्वरूपा थीं और वह उनकी भाँति सत्य संकल्प से आविर्भूत नहीं हुई थी।

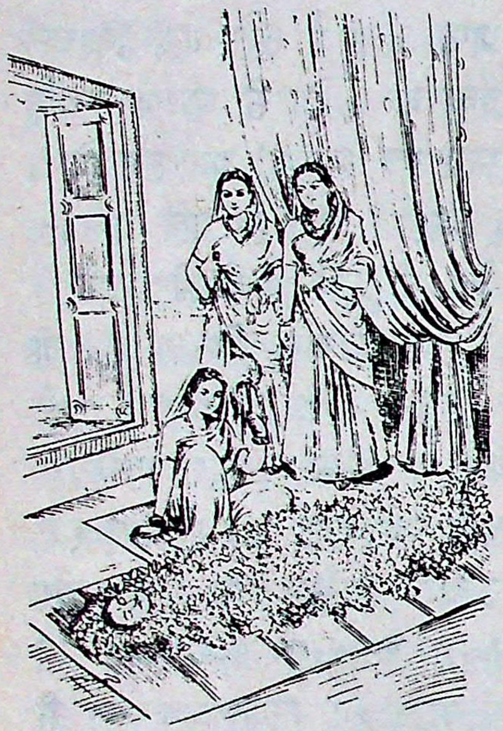

वत्स राम ! यह सारा जगत् आत्मा ही है। ऐसी दशा में देहादिकी कल्पना कहाँ से हो सकती है। तुम जो कुछ देख रहे हो, वह आनन्दरूप सद्ब्रह्म ही है और वही चेतन है। जिस पुरुष को स्वप्नकाल में 'मैं हरिन हूँ', ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई हो, वह क्या जागने पर अपने मृगस्वरूप का अभाव हो जाने पर स्वप्नकालिक मृग को खोजता है ? नहीं। जो अज्ञानी होता है, उसकी दृष्टि में सत्य का तिरोधान और असत्य का आविर्भाव शीघ्र होता है, परंतु रस्सी में उत्पन्न हुई सर्पभ्रान्ति के मिट जाने पर क्या पुनः उसमें सर्पभ्रम हो सकता है ? कदापि नहीं। इस प्रकार जो जन्म-मरणशील शरीर को ही आत्मा मानने वाले हैं, वे सभी अज्ञानी स्वप्न-तुल्य इस मिथ्या सृष्टि का चिरकाल तक सत्य की तरह अनुभव करते रहते हैं। किंतु आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान होने से 'देह में आत्मबुद्धि करना भ्रममात्र ही है, यों उनकी उस भ्रान्ति का उपशम हो जाता है-ठीक उसी तरह, जैसे रस्सी का ज्ञान होने से उसमें उत्पन्न हुई सर्प बुद्धि नष्ट हो जाती है। वस्तुतः तो शरीर क्या था ? किसी की सत्ता थी ? कहाँ और किस तरह किसका विनाश हुआ ? परमार्थतः जो वस्तु थी, वही रह गयी, केवल अज्ञान मिट गया। जब रस्सी में उत्पन्न हुई सर्प बुद्धि की भाँति यह सारी प्रतीति भ्रान्तिमात्र ही है, तब उसके उत्पन्न होने पर क्या बढ़ गया और नष्ट होने पर क्या नष्ट हुआ ? अर्थात उसके आने-जाने में कोई हर्ष-विषाद नहीं है।

श्री राम जी ने पूछा-प्रभावशाली गुरुदेव ! पद्म के राजमहल में पूर्व

लीला और नूतन लीला का समागम होने के पश्चात जो उस भवन के निवासी थे, वे लीला की सत्य संकल्पता के कारण यदि उसे देखते हैं तो उसके बाद उसे क्या समझते हैं ?

श्री वसिष्ठ जी ने कहा–राघव ! उस समय वे लोग ऐसा जानते हैं कि यहाँ ये दुखिया महारानी खड़ी हैं और उनकी यह कोई दूसरी सखी भी कहीं से आ गयी है। जैसे जाग जाने पर ज्ञान हो जाने से स्वप्नदृष्ट शरीर न जाने कहाँ विलीन सा हो जाता है, इसलिये वह असत्य ही है, वही दशा यहाँ इस पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर की भी है। (अर्थात् ज्ञान होने पर इसका भी विनाश होता है, अतः यह भी असत्य ही है।) स्वप्नभ्रान्ति अथवा मन की कल्पना में जो पर्वत आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सभी बुद्धिवृत्ति के अंदर उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं। बुद्धिवृत्ति ही स्वप्न आदि पदार्थों की प्रतीति द्वारा पर्याप्त रूप से स्फुरित होती है, परंतु वही स्फुरित न होने पर उस स्वप्न के साथ एकता को प्राप्त होकर तद्रूप हो जाती है। जैसे जल और उसका द्रवत्व अथवा वायु और उसकी गति दो नहीं हैं, उसी प्रकार बुद्धिवृत्ति और स्वाप्निक पदार्थों में कभी भेद नहीं पाया जाता। उनमें जो भेद सा प्रतीत होता है, वही सबसे बढ़कर अज्ञान है। वही 'संसार' कहा गया है और वह संसार मिथ्या ज्ञान रूप ही है। सहकारी कारणों का अभाव होने पर भी स्वप्नकाल में बुद्धिवृत्ति और स्वप्नदृष्ट पदार्थों का भेद निरर्थक ही है। स्वप्न में जैसे असत् नगर की प्रतीति होती है, उसी तरह सृष्टि के आदि में असत् जगत् का भान होता है; जैसे स्वप्न असत् है, वैसे ही जाग्रत् भी असत् है; इसमें संशय नहीं है। जैसे जाग जाने पर स्वप्नदृष्ट पर्वत का तत्काल ही अभाव हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होने पर इस पाञ्चभौतिक संसार का श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि क्रम से अथवा ईश्वरानुकम्पा से अभाव हो जाता है। ये सृष्टियाँ मिथ्या दृष्टियाँ ही हैं; क्योंकि ये मोहदृष्टियाँ हैं अर्थात् अज्ञान से इनका दर्शन होता है। जो माया रूप से प्रतीत होने वाले केवल संसार की भ्रान्ति है और जो स्वप्न की अनुभूतियाँ हैं, वे सभी अर्थशून्य हैं। भ्रम से जड़ संसार का दर्शन करने वाले पुरुष के मरणान्तकाल में स्वप्नानुभूति-सदृश जो ये सृष्टि की प्रत्यक्ष प्रतीतियाँ हैं, वे सब की सब यद्यपि आतिवाहिक शरीर में प्रवृष्ट हो चुकी हैं, तथापि भ्रमवश मृगतृष्णा की नदी के प्रवाह की भाँति मिथ्या प्रकट हुई सी प्रतीत होती

हैं। वास्तव में तो वे मन के अंदर ही हैं।

इसी बीच में सरस्वती देवी ने मन की चेष्टा के समान विदूरथ के जीवात्मा को अपने सत्यसंकलप से पुनः शीघ्र ही अवरुद्ध कर दिया।

तब श्री सरस्वती देवी लीला से बोलीं-वत्से ! तुम अपने सत्यसंकल्पवश अत्यन्त निर्मल सूक्ष्म शरीर से युक्त दिखायी देती हो, इसलिये तुम्हारे ऊपर लोगों को आश्चर्य हो रहा है। बाले ! अपने शरीर के प्रति तुम्हारी जैसा वासना थी, तदनुरूप ही तुम्हें शरीर मिला है। इसी कारण पूर्वजन्म के रूप के समान ही तुम्हारा रूप प्रकट हुआ है; क्योंकि सब लोग अपनी वासना के अनुसार ही सब पदार्थों को देखते हैं। सिद्धसुन्दरि ! तुम सूक्ष्म शरीर से सम्पन्न हो, अतः तुम्हारा वह पूर्वजन्म का शरीर तुम्हें भूल गया है, इसी कारण उस पर तुम्हारी वासना नहीं रह गयी है। जिस ज्ञानी पुरुष की सूक्ष्म दृष्टि दृढ़मूल हो जाती है, उसका पाञ्चभौतिक शरीर दूसरों द्वारा देखा जाता हुआ भी सूक्ष्म ही है। आज हम लोग इस मण्डपाकाश में प्राप्त हुई हैं। इस समय प्रभातकाल होने पर मैंने इन दोनों दासियों को निद्रा से मोहित कर दिया है; अतः लीले ! आओ, तब तक हम दोनों अपने सत्यसंकल्प के विलास द्वारा इस लीला को अपना स्वरूप दिखलायें। अब हम लोगों का कार्य आरम्भ होना चाहिये।

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

राजा पद्म को पुनर्जीवन

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन ! देवी सरस्वती ने ज्यों ही ऐसा विचार किया कि 'यह लीला तब तक हम दोनों को देखे', त्यों ही वे दोनों दीप्तिमती देवियाँ (सरस्वती और प्रबुद्ध लीला) वहाँ प्रकट हो गयीं। उनके प्रत्यक्ष होते ही विदूरथ पत्नी लीला की आँखें चौंधिया गयीं। उसने देखा कि वह घर उन देवियों के तेजःपुञ्ज से देदीप्यमान हो गया है। इस प्रकार उस प्रदीप्त गृह और अपने समक्ष लीला और सरस्वती-उन दोनों देवियों को उपस्थित देखकर वह बड़ी उतावली के साथ उठ खड़ी हुई और फिर उनके चरणों में पड़कर यों कहने लगी-'देवियो! आप जीवन प्रदान करने वाली हैं, आपकी जय हो। आप लोगों की सेविका मैं यहाँ पहले ही आ पहुँची हूँ। अब मेरे कल्याणोत्कर्ष के लिये आप दोनों का शुभागमन हुआ है।' उसके यों कहने

पर यौवन के मद से मतवाली वे तीनों माननियाँ वहाँ आसनों पर विराजमान हुईं।

तब श्री सरस्वती देवी बोलीं–वत्से ! तुम इस देश में कैसे आयीं ? तथा मार्ग में अथवा कहाँ पर तुमने कौन सी आश्चर्यजनक घटना देखी ? तुम आदि से लेकर यह सारा वृत्तान्त वर्णन करो।

विदूरथ पत्नी लीला ने कहा–देवि ! उस समय विदूरथ के गृह प्रदेश में जब मैं मूर्च्छित हो गयी, तब परमेश्वरि ! उस मरण–मूर्च्छा के पश्चात् मैं क्या देखती हूँ कि मैं होश में आकर उठ बैठी हूँ और फिर शीघ्र ही आकाश मण्डल में उड़ चली हूँ। तत्पश्चात् उस भूताकाश में मैं वायुरूपी रथ पर सवार हो गयी हूँ। वही रथ मुझे इस घर तक ले आया है। देवि ! तब मैंने इस भवन को देखा, जो शवरूप राजा पद्म से सुशोभित था। उसके भीतर दीपक का प्रकाश फैल रहा था। यह अत्यन्त स्वच्छ और बहुमूल्य शय्या से युक्त था। तदनन्तर जब मैं अपने इन पतिदेव का अवलोकन करने चली, तब क्या देखती हूँ कि जिनका सारा अंग पुष्पों से आच्छादित है, वे राजा विदूरथ यहाँ उसी प्रकार सो रहे हैं, मानो पुष्पवन में वसन्त शयन कर रहा हो। देवेश्वरि ! तब मैंने यह सोचा कि 'ये संग्रामरूपी कार्य के अधिक परिश्रम से थक गये हैं, इसीलिये गाढ़ निद्रा में सो रहे हैं।' अतः मैंने इनकी यह निद्रा भंग नहीं की। इसके बाद ही आप दोनों देवियाँ इस स्थान पर पधारी हैं। मुझ पर अनुग्रह करने वाली देवि ! इस प्रकार मुझे जैसा अनुभव हुआ था, वह सब आपसे कह सुनाया।

तब श्री सरस्वती देवी बोलीं–लीले ! तुम दोनों के नेत्र बड़े सुन्दर हैं और चलने का ढंग हंस की चाल के समान मनोहर है। अच्छा, अब हम इस राजा को शवशय्या से उठाती हैं। यों कहकर सरस्वती देवी ने कमलिनी द्वारा बिखेरी गयी सुगन्ध की भाँति राजा के जीवात्मा को छोड़ दिया। तब वायु रूपधारी वह जीव राजा की नासिका के निकट गया और उसके नासारन्ध्र में प्रविष्ट हो गया–ठीक उसी तरह, जैसे वायु बाँस के छिद्र में प्रवेश करती है। उस समय वह अनन्त वासनाओं से युक्त था। फिर तो जैसे अनावृष्टि के कारण मुरझाया हुआ कमल अच्छी जलवृष्टि होने से पुनः विकसित हो जाता है, उसी तरह जीव के अंदर प्रवेश करने पर राजा पद्म का विवर्ण हुआ मुख पुनः पूर्ववत्

कान्तिमान् हो गया। तदनन्तर उसके सारे अंग क्रमशः चेष्टाशील होकर सुशोभित होने लगे, जैसे पर्वत की लताएँ वसन्त को पाकर प्रफुल्लित हो जाती हैं। तब उसने अपने उन नेत्रों को, जिनकी पुतलियाँ निर्मल और चंचल थीं, खोल दिया। तत्पश्चात् वह बढ़ते हुए विन्ध्यपर्वत के समान अपने शरीर को शय्या से ऊपर उठाते हुए उठ बैठा और मेघ के समान गम्भीर वाणी में बोला–'यहाँ कौन है ?' तब तक दोनों लीलाएँ उसके आगे उपस्थित होकर बोलीं–'महाराज ! आज्ञा दीजिये।' जब उसने दो लीलाओं को, जिनके आचार, आकार, रूप, मर्यादा, वचन, उद्योग, आनन्द और अभ्युदय सभी एक से थे, नम्रतापूर्वक अपने सामने खड़ी देखा, तब उनकी ओर ध्यान पूर्वक देखते हुए पूछा–'तुम कौन हो ? और यह कौन है तथा यह कहाँ से आयी है ?' यह सुनकर पूर्व लीला ने उससे कहा–'देव! मैं जो कुछ कहती हूँ, उसे सुनिये। मैं आपकी पूर्वजन्म की सहधर्मिणी रानी हूँ। मेरा नाम लीला है। अर्थसंयुक्त वाणी की तरह मैं सदा आपके सम्बन्ध से सुशोभित हूँ। यह दूसरी लीला भी आपकी रानी है। इसे मैं क्रीड़ावश आपके उपभोग के लिये ले आयी हूँ। आप इसकी रक्षा करें। स्वामिन् ! सिरहाने की ओर स्वर्ण सिंहासनपर बैठी हुई ये कल्याण-कारिणी सरस्वती देवी हैं। ये तीनों लोकों की जननी हैं। भूपाल ! हम लोगों के पुण्य बाहुल्य से ये साक्षात् यहाँ पधारी हैं। ये ही हम दोनों को परलोक से यहाँ लायी हैं।'

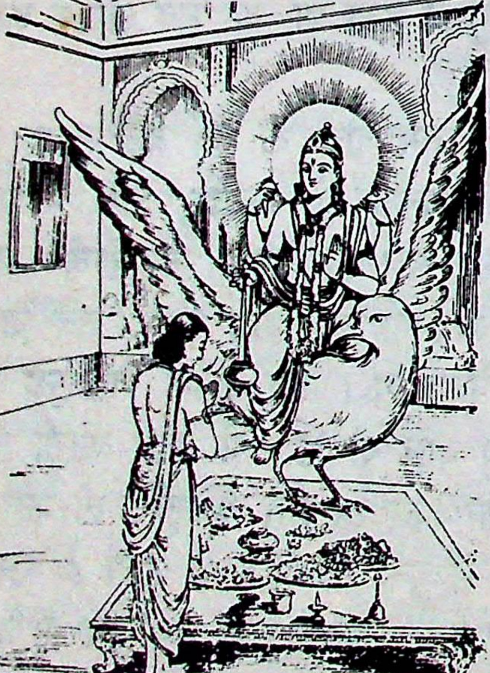

लीला की यह बात सुनकर राजा, जिसके नेत्र कमल के समान सुन्दर थे और शरीर पर लटकती हुई माला और वस्त्र सुशोभित थे, शय्या से उठ गया और सरस्वती के चरणों में पड़कर कहने लगा–'देवी सरस्वति ! आप सबको कल्याण प्रदान करने वाली हैं, आपको नमस्कार है। वरदायिनि ! मुझे मेधा, दीर्घायु और धन प्रदान कीजिये।' यों कहते हुए राजा के सिर पर सरस्वती देवी ने हाथ फेरते हुए कहा–'पुत्र ! तुम अपने अभीष्ट

पदार्थों तथा राजमहल से पूर्णतया सम्पन्न हो जाओ एवं तुम्हारी सारी आपत्तियाँ और समस्त पाप बुद्धियाँ विनष्ट हो जायँ और तुम्हें प्रचुर मात्रा में अनन्त सुख की प्राप्ति हो। तुम्हारे राज्य में प्रजा सदा आनन्दित रहे तथा सम्पत्तियाँ स्थिर होकर सदा विकसित होती रहें।'

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ अध्याय

लीलोपाख्यान का प्रयोजन

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं–रघुकुल भूषण राम ! सरस्वती देवी यों कहकर उस राजमहल में ही अन्तर्ध्यान हो गयीं। प्रातःकाल होने पर कमलों के विकसित होने के साथ ही सभी लोग निद्रा त्यागकर जाग पड़े। तदनन्तर क्रमशः राजा ने लीला का और लीला ने मृत्यु को प्राप्त होकर पुनरुज्जीवित हुए अपने प्रियतम राजा का महान् आनन्द के साथ बारंबार आलिंगन किया। उस समय उस राजसदन की विचित्र ही शोभा थी। उसके सभी निवासी आनन्द में निमग्न थे। वह जयध्वनि और मांगलिक पुण्याहवाचन के उच्च स्वर से निनादित हो रहा था। उसका आँगन राजपुरुषों से ठसाठस भरा था। प्रजाजनों द्वारा लाये जाते हुए उपहार परस्पर टकरा जाने से गिर जाते थे, जिससे उसकी समतल भूमि ऊँची–नीची हो गयी थी। उस उत्सव के अवसर पर मस्तक पर पुष्पमाला धारण किये हुए लोगों के आने–जाने से उसकी विशेष शोभा हो रही थी। वह मन्त्रियों, सामन्त राजाओं और नगरवासियों द्वारा बिखेरे गये मांगलिक पदार्थों से आच्छन्न था। उस समय 'पूर्व लीला दूसरी लीला रानी को एवं अपने पति महाराज पद्म को परलोक से ले आयी है' यों अनेकविध गाथाओं के रूप में लोग देश–देशान्तर में इसका गान करते थे। राजा पद्म ने अपने मरण आदि के वृत्तान्त को, जो संक्षेप में वर्णन किया गया था, सुनकर भृत्यों द्वारा लाये गये चारों सागरों के जल से स्नान किया। तत्पश्चात् ब्राह्मणों, मन्त्रियों और भूपालों ने उसका अभिषेक किया। उस समय पूर्व लीला, द्वितीय लीला और राजा पद्म–ये तीनों जीवन्मुक्त और महान् ज्ञान सम्पन्न हो गये थे। इस प्रकार पृथ्वी पति पद्म को अपने पुरुषार्थ के बल से तथा भगवती सरस्वती के प्रसाद से त्रिलोकी का वह श्रेय प्राप्त हुआ। तदनन्तर सराहनीय गुणों से युक्त राजा पद्म,

जिसे सरस्वती द्वारा उपदिष्ट ज्ञान के प्रभाव से भलीभाँति आत्मतत्त्व का बोध हो चुका था, दोनों लीलाओं के साथ वहाँ राज्य शासन करने लगा। अपने उस उत्तम राज्य का, जो प्रजाओं के नित्य अभ्युदय से निर्दोष, शास्त्रानुकूल होने से विद्वानों को भी मुग्ध करने वाला, समुचित, आत्महितकारी और सारी जनता के लिये संतोषप्रद था, चिरकाल तक पालन करके अन्त में वे श्रेष्ठ दम्पति (लीला और राजा पद्म) विमुक्त हो गये।

वत्स राम ! मैंने इस पवित्र लीलोपाख्यान का दृश्यरूप दोष की निवृत्ति के लिये तुमसे वर्णन किया। वस्तुतस्तु दृश्य सत्ता शान्त ही है। जब वह है ही नहीं, तब उसके लिये 'शमन' का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं है; क्योंकि सत् अर्थात् विद्यमान के मार्जन के लिये ही प्रयास किया जाता है, असत् के लिये कभी नहीं। तत्त्वज्ञ पुरुष आकाश-सरीखे निर्मल ज्ञान से ज्ञेयस्वरूप दृश्य को ब्रह्म में विलीन समझकर आकाश के समान निर्मल बना रहता है। यदि कहो कि पृथ्वी आदि से रहित स्वतः सिद्ध स्वयम्भू सच्चिदानन्द ब्रह्म ने ही इस दृश्य की कल्पना की है तो उसने उसे अपने में ही सिद्ध किया है। चेतनाकाशरूप परमात्मा का अवभास ही 'जगत्' नाम से समझा जाता है। यह उस विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा के किसी एक अंश में स्थित है। यह सब कुछ जिस रूप में देखा गया था, वह ज्यों का त्यों अखण्डरूप से स्थित है। यह अनन्त सृष्टि माया से उत्पन्न होने के कारण माया ही है और माया कोई सत्यवस्तु नहीं।

निष्पाप राम ! जिस-जिस पुरुष को जिस समय जिस रूप से जिस-जिस पदार्थ की प्रतीति होती है, वह-वह पुरुष उसी समय उसी प्रकार उस-उस पदार्थ का पूर्णरूप से अनुभव करता है। जैसे विष को सदा अमृत ही समझते रहने से वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, उसी तरह शत्रु के प्रति सदा मित्रभाव रखने से वह मित्र बन जाता है। इन पदार्थों के निजी स्वरूप की जैसी भावना की गयी, वह भावितस्वरूप ही चिरकाल के अभ्यास से स्वभाव बन गया। चेतन परमात्मा का स्वभाव ही विकासशील है। वह जैसे और जिस रूप में विकसित होता है, शीघ्र ही वैसा हो जाता है। इसमें उसका स्वभाव ही एकमात्र कारण है। इसी कारण दुखी पुरुष के लिये जो रात्रि कल्प के समान लंबी प्रतीत होती है, वही सुखी के लिये एक क्षण-सदृश लगती है-जैसे स्वप्न में

एक क्षण कल्प सा हो जाता है। उस क्षण भर के स्वप्न में मनुष्य यों देखता है कि अभी-अभी मेरी मृत्यु हो गयी, पुनः मैं पैदा हुआ और तरुण होकर युवावस्था में स्थित हूँ। फिर सौ योजन दूर चला गया हूँ। परंतु ध्यान द्वारा जिसका चित्त प्रक्षीण हो गया है अर्थात् जो निर्विकल्पसमाधि में स्थित है, उसके लिये न दिन है न रात्रि। परमात्मा के ध्यान में मग्न योगी की दृष्टि में न जगत् सत्य है न जगत् के पदार्थ ही। महाबाहो ! यह जगत्, जैसी उसके सम्बन्ध में भावना होती है, तदनुकूल ही प्रतीत होने लगता है-जैसे मधुर में निरन्तर कटुता की भावना करने से वह कटु सा लगने लगता है और कटु में मधुर की भावना करने से वह माधुर्य से युक्त सा अनुभूत होता है तथा शत्रु में मित्रबुद्धि रखने से वह मित्र एवं मित्र में शत्रुबुद्धि करने से वह शत्रु हो जाता है। जो शास्त्राध्ययन और जप आदि पदार्थ हैं, जिनका पहले अभ्यास नहीं किया गया है, उनकी भावना का अभ्यास करने से निश्चय ही समता प्राप्त होती है। नौकारोही अतएव भ्रमपीड़ित लोगों की भावना से पृथ्वी चलती हुई सी प्रतीत होती है; परंतु जो उस प्रकार के भावनाभ्रम से रहित हैं अर्थात् तट पर ही स्थित हैं, उन्हें वैसा अनुभव नहीं होता। जैसे स्वप्नद्रष्टा की भावना से स्वप्न में शून्य स्थान भी जनाकीर्ण प्रतीत होने लगता है, उसी तरह अज्ञानवश भावना से ही सर्वथा नीला आकाश कभी पीत और कभी शुक्ल सा अनुभूत होने लगता है तथा उत्सव आपत्ति-सरीखा विषाद जनक हो जाता है।

जैसे सुवर्ण के भीतर द्रवत्व वर्तमान है, परंतु वह दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी तरह परब्रह्म के अंदर यह सृष्टि स्थित है। जैसे स्वप्न में एक मनुष्य का दूसरे के साथ युद्ध हुआ, वह स्वप्नकाल में सत्य होते हुये भी जागने पर असत्य ही है, उसी तरह मायाकाश में स्थित यह स्वात्मारूप जगत् भी मायिक दृष्टि से सत् होते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से असत् ही है; महाकल्प के अन्त और सृष्टि के आदि में यह जगत् सच्चिदानन्द स्वरूप ही है। पीछे यह असत् जगत् कारणत्व अर्थात परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, परंतु वास्तविक परमात्मा किसी में लीन नहीं होता। इस ब्रह्मा के मुक्त हो जाने पर यदि उस परमात्मा की स्मृति से उत्पन्न दूसरे ब्रह्मा हों तो उनकी स्मृतिरूप ज्ञान से प्रकट हुई सृष्टि में ज्ञानमात्र ही स्थित है। जो जीवात्मा अभ्यास-वैराग्य आदि तीव्र साधनों से युक्त है, अतएव विषय भोगों से विचलित न होता हुआ मोक्षपर्यन्त एकाकार

वृत्ति से रहता है, वही परमस्थिरता-मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार सहस्त्रों सृष्टियों के बारंबार उत्पन्न होने, स्थित होने और नष्ट होने पर जीव समूहों में से किसी को न तो कोई वस्तु प्राप्त है और न अप्राप्त ही; क्योंकि जब पदार्थों की सत्ता है ही नहीं, तब फिर उन्हें प्राप्त-अप्राप्त कैसे कहा जा सकता है। अतः यह सब कुछ आवरणरहित शान्तस्वरूप सच्चिदानन्द परमात्मा ही है।

जैसे पत्र, पुष्प, फल और शाखा आदि अंशों से युक्त वृक्ष एकरूप से भली भाँति स्थित है, उसी तरह अनन्त एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा एकरूप से ही लोगों में व्याप्त है। जब अनादि परमपदस्वरूप परमात्मा का ज्ञान हो जाता है, तब प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण आदि मायिकरूप वाले जगत् का विस्मरण हो जाता है। फिर किसी को कभी उसकी स्मृति नहीं होती। जैसे स्वच्छ जल चाहे निश्चल हो अथवा लहरियों के थपेड़े खा रहा हो-दोनों अवस्थाओं में जल के स्वरूप में भेद न होने से वह एकरूप ही है, उसी प्रकार दिशा और कालरूप में व्यक्त होने पर भी परमात्मा सदा एकरस, अनादि और विशुद्ध है। वह सम्पूर्ण विकारों के उदय और नाश से रहित होने के कारण अज्ञान का प्रकाशक, आदि, मध्य और अन्त से परे तथा एकरूप से स्थित है। केवल विशुद्ध ज्ञानरूप ब्रह्म की स्वरूपभूता विभा द्वैत और ऐक्यविषयक संकल्प-विकल्प करने के कारण 'अहम्, त्वम्' इत्यादि जगत् के रूप से प्रतीत होती है-ठीक उसी तरह, जैसे आकाशमण्डल में उसकी अपनी शून्यता परिलक्षित होती है।

अड़तीसवां सर्ग समाप्त

उन्तालीसवाँ सर्ग

सृष्टि की असत्यता

श्री वसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! ज्ञानवान् पुरुष सब प्रकार की सारी भ्रान्तियों को सच्चिदानन्दघन परमात्मा के ही अंदर सदा स्थित जानता है, इसलिए वास्तव में सब सर्वस्वरूप अजन्मा परमात्मा ही है। इस तरह परब्रह्म परमात्मा की सर्वरूपता ही उसकी समता है। शब्दों और अर्थों का सारा ज्ञान ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं। जैसे कंगन का रूप सुवर्ण से और तरंग की सत्ता जल से कभी पृथक् नहीं हो सकती, उसी प्रकार जगत् परमेश्वर से भिन्न नहीं है। यह ईश्वर ही जगत् रूप है। ईश्वर में उससे पृथक् सत्ता नहीं है। जैसे

स्फटिकशिला के भीतर भेद न होने पर भी उसमें प्रतिबिम्बित वन-पंक्तियों का भेदपूर्वक समावेश प्रतीत होता है (प्रतिबिम्बित वस्तुएँ अपनी आधारभूत शिला से भिन्न न होने पर भी जैसे भिन्न-सी प्रतीत होती हैं), उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म में अभिन्न रूप से स्थित जगत् और अहं की अज्ञान के कारण भेदयुक्त प्रतीति होती है। अथवा जैसे शिल्पी शिला को खोदकर उसमें विभिन्न मूर्तियों का निर्माण करता है, वे मूर्तियाँ उस शिला से भिन्न न होने पर भी भ्रमवश भिन्न-सी जान पड़ती है, उसी प्रकार मनरूपी शिल्पी ने चिद्घन परमात्मा में जिस जगत् और अहं की कल्पना की है, वह उससे भिन्न नहीं है, तथापि अज्ञानवश भेद की प्रतीति होती है। वास्तव में वह चिद्घनरूप ही है। जैसे तरंगशून्य जल के भीतर तरंगें स्थित हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में सृष्टि-शब्दार्थ से शून्य सृष्टियाँ स्थित हैं। वास्तव में न तो सृष्टि में परब्रह्म है और न परब्रह्म में सृष्टि ही है।

जैसे वायु अपने में ही स्पन्द की कल्पना करती है, उसी प्रकार परमार्थ चिन्मय ब्रह्म अपनी ज्ञानवृत्ति से अपने ही गूढ़ स्वरूप को प्रपञ्च के रूप में अभिव्यक्त कर देता है। वास्तव में वह उसका अपना चिन्मय स्वरूप ही होता है। शब्द-तन्मात्रा, जो पहले अपने कारण में लीन थी, सर्वशक्तिमयी माया के चमत्कार से युक्तरूप को धारण कर चित्त से अन्तःकरण में उठने वाले संकल्प की भाँति जब चिन्मय आकाश के समान स्फुरित होती है, तब उसी को आकाश का आविर्भाव कहते हैं। वही (आकाश भाव को प्राप्त हुआ ब्रह्म ही) स्वयं अपने में अपनी ही सत्तारूप वायुभाव का अनुभव करता है, जिसके भीतर स्पर्श तन्मात्रा का संस्कार उद्बुद्ध होता है। उसकी अनुभूति वैसी ही है, जैसे पवन अपने में स्पन्दन का अनुभव करता है। वायुभाव को प्राप्त हुआ ब्रह्म ही स्वयं अपने में अपनी ही सत्तारूप प्रकाशभाव अनुभव करता है, जिसके भीतर रूपतन्मात्रा का संस्कार उद्बुद्ध होता है। उसकी यह अनुभूति वैसी ही है, जैसे तेज प्राकट्य का अनुभव करता है। वह तेजोमय ब्रह्म ही स्वयं अपने में अपनी सत्तारूप जलभाव का अनुभव करता है, जिसके भीतर रसतन्मात्रा का संस्कार उद्बुद्ध होता है। उसकी यह अनुभूति वैसी ही है, जैसे जल अपनी द्रवता का अनुभव करता है। वह जलरूपता को प्राप्त हुआ ब्रह्म ही अपने चित्त से अभिन्नरूप पृथ्वी भाव का अनुभव करता है, जिसके भीतर गन्धतन्मात्रा स्थित

होती है। उसकी यह अनुभूति भी वैसी ही है, जैसे पृथ्वी अपने में स्थैर्य–कला का अनुभव करती है।

जो नित्य एकरस प्रकाश से युक्त है, सृष्टि और प्रलय जिसके भीतर हैं, जो जन्म और विनाश से रहित, रोग–शोक से शून्य तथा शुद्ध है, वह ब्रह्म बिना किसी आधार के अपने आप में ही स्थित है। उस परमार्थ सत्य वस्तु (परब्रह्म परमात्मा) का यथार्थ ज्ञान होने पर परम गतिरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। उक्त परमार्थ–वस्तु सृष्टियुक्त होने पर भी सर्वथा सम (विषमता से रहित) ही है।

जैसे अग्नि में जो प्रकाश है, वह उससे भिन्न न होने पर भी भिन्न सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार सचिदानन्दघन ब्रह्म में जो यह जगत्‌रूपी प्रकाश है, वह उनसे भिन्न न होकर भी भिन्न सा जान पड़ता है। भिन्नरूप से दिखायी देना ही उसका असत्यरूप है और अभिन्नरूप से दीखना ही उसके सत्यरूप का दर्शन है।

जैसे गीली मिट्टी में अव्यक्तरूप से खिलौने मौजूद हैं, जैसे काष्ठ में खुदाई करके प्रकट न की हुई कठपुतली मौजूद है और जैसे स्याही के चूर्ण में अक्षर स्थित हैं, उसी तरह परब्रह्म परमात्मा में नाना प्रकार की सृष्टियाँ विद्यमान हैं। यद्यपि ब्रह्म–तत्वरूपी मरुभूमि में त्रिलोकरूपिणी मृगतृष्णा असत्य ही है, तथापि मायावश सत्य सी प्रतीत होती है। वह ब्रह्म से अभिन्न होती हुई भी भिन्न सी भासित होती है। जैसे दूध का मिठास, मिर्च का तीखापन, जल की तरलता और पवन का स्पन्दन उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में यह सर्ग अनन्यभाव से स्थित है। उससे भिन्नरूप में उसका कोई अस्तित्व नहीं है। परमात्मा में लीन होकर वह चिन्मात्रस्वरूप से स्थित होता है, परमात्मा का अपना ही स्वरूप धारण करता है। कोई भी वस्तु कहीं और कभी भी न तो प्रकट होती है और न लय को ही प्राप्त होती है। सब कुछ सुन्दर शिला के घनीभूत स्वरूप की भाँति शान्त, अनादि, निराकार, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। जैसे जल के भीतर गुप्त और प्रकटरूप से तरंग आदि रहते हैं, उसी तरह जीव में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि शक्तियाँ गुप्त और प्रकट रूप से विद्यमान रहती हैं। 'पुरुष जिस–जिस वस्तु की ओर से विरक्त होता है, उस उससे मुक्त होता जाता है। (जो सब ओर से निवृत होे जाता है, उसे अणुमात्र दुःख का अनुभव नहीं होता है।)' इस स्तुति वाक्य के अनुसार जो देह आदि में

अहंभाव का अनुभव नहीं करता, ऐसा कौन मनुष्य जन्म-मरणरूपी भ्रम को प्राप्त होगा। परब्रह्म में व्यष्टि जीव-रूप से प्रकट हुई जो अद्वितीय चित्त-सत्ता है, वह जल की तरलता के भीतर व्यक्त हुई आवर्त (भँवर) की रेखा के समान है। वही अहंभाव से युक्त होकर इन तीनों लोकों को धारण करती है। वास्तव में तो परमात्मा के भीतर न सद्‌रूप जगत् है और न असद्‌रूप ।

उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

जगत की असत्ता या भ्रमरूपता

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-हे रघुनन्दन ! ये वर्तमान, भविष्य और भूतकाल की सृष्टि-परम्पराएँ अपनी सत्ता को उसी प्रकार धारण करती हैं, जैसे जल की तरलता अपने भीतर स्पष्टरूप से आवर्तों की परम्परा धारण करती है। जैसी महती मरूभूमि में तटवर्ती वृक्षों और लताओं से झड़ती हुई पुष्प-राशि से परिपूर्ण लहराती नदी मिथ्या ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मा में यह सृष्टि-सुषमा सर्वथा मिथ्या ही है। जैसे स्वप्न का संसार इन्द्रजाल का नगर और संकल्प या मनोरथ द्वारा कल्पित जगत्-ये सब सत्य न होने पर भी प्रतीति के विषय होते हैं, उसी प्रकार सृष्टियों के अनुभव की भूमि असत्य होने पर भी प्रतीतिगोचर हो रही है।

श्री रामचन्द्रजी ने पूछा-ज्ञानवानों में श्रेष्ठ गुरुदेव ! पूर्वोक्त प्रकार से भलीभाँति विवेक-विचार करने पर जब एकमात्र अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा के साथ अपनी एकता का पूर्ण निश्चय हो जाने से उत्कृट एवं संशयरहित आत्मविज्ञान प्रकाशित हो जाता है, तब तत्वज्ञानियों के भी शरीर यहाँ किसलिये टिके रहते हैं ? यदि कहें वे दैव के ही अधीन होकर रहते हैं तो ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि उन तत्वज्ञानियों पर दैव का प्रभाव कैसे रह सकता है।

श्री वसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! ब्रह्म आदि तत्वज्ञानियों ने अज्ञानियों के बोध के लिये यह बताया है कि जो ब्रह्म है, वही नियति है और वही यह सर्ग है। स्फटिक-शिला के भीतर प्रतिबिम्बित चित्रसमूह की भाँति परमात्मा में स्थित हुए ब्रह्मा ने नियति (जीवों के अदृष्ट)-रूपी भावी सृष्टि को उसी तरह देखा है, जैसे सोया हुआ पुरुष अपने में स्वप्न-जगत की कल्पना के आधारभूत आकाश को देखता है। जैसे चेतन-स्वभाव होने के कारण अंगी (देहधारी पुरुष)

को शरीर में अंग आदि दिखायी देते हैं, उसी तरह 'कमलोद्भव' रूप से प्रसिद्ध चिन्मय ब्रह्मा को भी नियति आदि अंगों के दर्शन होते हैं। यह नियति (प्रारब्ध) ही दैव नाम से कही गयी है, जो शुद्ध चेतन परमात्मा की शक्तिरूप है। यही भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकाल में सम्पूर्ण पदार्थों को अपने अधीन करके जगत् की व्यवथारूप से स्थित है। 'भविष्य में अमुक पदार्थ में इस प्रकार की स्फूर्ति होनी चाहिये, अमुक को भोक्ता का पद प्राप्त होना चाहिये, इसके द्वारा इस प्रकार और उसके द्वारा इस प्रकार अवश्य होना चाहिये' ऐसा विचार दैव ही करता है। यह दैव या नियति ही सम्पूर्ण भूत आदि अथवा काल-क्रिया आदि जगत् है। इस नियति या प्रारब्ध से ही पुरुषार्थ की सत्ता लक्षित होती है और पुरुषार्थ से ही इस प्रारब्ध की सत्ता सूचित होती है। जब तक तीनों युक्त हैं, तबतक प्रारब्ध और पुरुषार्थ-ये दोनों सत्ताएँ परस्पर अभिन्नरूप से स्थित हैं। मनुष्य को अपने पौरुष से ही दैव और पुरुषार्थ दोनों को बनाना चाहिये। प्रारब्ध के अनुसार अवश्य होने वाला भोग होकर ही रहेगा-ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान पुरुष कभी पौरुष का त्याग न करे, क्योंकि प्रारब्ध पौरुषरूप से ही नियामक होता है अर्थात् पूर्वजन्मों में किया गया पुरुषार्थ ही वर्तमान जन्म में प्रारब्ध होकर यह नियम करता है कि अमुक को ऐसा ही होना चाहिये।

जो प्रारब्ध के भरोसे मूक बनकर पौरुषशून्य एवं अकर्मण्य हो जाता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। जो अकर्मण्य होकर बैठेगा, उसकी प्राण-वायु की चेष्टा कहाँ चली जायगी। यदि निर्विकल्प समाधि में चित्त को शान्ति प्रदान करने वाला प्राणनिरोध करके पुरुष साधु होकर मुक्ति पा ही गया तो वह भी उसके पुरुषार्थ का ही फल है। बिना पुरुषार्थ के किस फल की प्राप्ति बतायी जा सकती है ? एकमात्र शास्त्रीय पुरुषार्थ में तत्पर होना कल्याणकारी श्रेष्ठ साधन है और कर्तृत्व का अत्यन्त अभावरूप मोक्ष सर्वश्रेष्ठ कल्याणमय फल है।

इन साधन और फलों की अपेक्षा ज्ञानियों का पक्ष सबल है, क्योंकि उन ज्ञानी महात्माओं का प्रारब्ध-भोग दुःखरहित है। जो दुःखरहित प्रारब्ध-भोग है, वह यदि ब्रह्मसत्ता के प्रकाश में स्थिर हो जाय तो निश्चय समझना चाहिये कि वह परम शुद्ध ब्रह्म, जिसे परम गति कहते हैं, प्राप्त हो ही गया।

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

⟷

इकतालीसवाँ सर्ग

ब्रह्म की सर्वरूपता

श्री वसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! यह जो ब्रह्मतत्व है, वह सर्वथा, सर्वदा, सब ओर से सर्वशक्तिमान्, सर्वस्वरूप, सर्वेश्वर, सर्वव्यापी और सर्वमय ही है। वह जब, जहाँ, जिसकी, जिस प्रकार से भावना करता है, तब वहाँ उसी को प्रत्यक्ष देखता है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा से जो–जो शक्ति जैसे उदित होती है, वह उसी प्रकार रहती है। ऐसी स्थिति में वह शक्ति स्वभाव से ही नाना प्रकार के रूपवाली है। परमार्थ–दृष्टि से ये सारी शक्तियाँ यह आत्मा ही है अर्थात शक्ति और शक्तिमान् परमात्मा में कोई भेद नहीं है। बुद्धिमानों ने लौकिक व्यवहार की सिद्धि के लिये इस प्रकार भेदरूप संसारजाल की कल्पना की है। वस्तुतः परमात्मा में भेद नहीं है। जैसे समुद्र में छोटी–बड़ी लहरों का और समुद्र का, कंगन, बाजूबंद और केयूर के साथ सोने का तथा अवयव और अवयवी का भेद वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार आत्मा में द्वैत अथवा भेद वास्तविक नहीं है, कल्पना करने वाले पुरुष की बुद्धि से कल्पित है। परमार्थ–दृष्टि से देखा जाये तो यह सम्पूर्ण आकारों से युक्त विस्तृत प्रपञ्च सर्वव्यापी ब्रह्म ही है। मिथ्या ज्ञानवाले लोगों ने ही शक्ति और शक्तिमान् के तथा अवयव और अवयवी के भेद की कल्पना कर रक्खी है। यह भेद यथार्थ नहीं है। सत् हो या असत्, सच्चिदानन्दघन परमात्मा जिस सदसद्–वस्तु का संकल्प अथवा अभिनिवेश करता है, उसी–उसी को देखता है। वास्तव में सब वस्तुओं के रूप में वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भासित हो रहा है।

श्री राम ! यह जो सर्वव्यापी, स्वयम्प्रकाश, आदि–अन्त से रहित, सबका महान् ईश्वर, स्वानुभवानन्दस्वरूप, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परमात्मा है, इसी से पहले जीव उत्पन्न हुआ है। वही उपाधि की प्रधानता से चित्त कहलाता है और चित्त से यह जगत् उत्पन्न हुआ है।

रघुनन्दन ! जिसमें प्रतीत होने वाला दृश्य–प्रपञ्च असत् है, वह शुद्धस्वरूप ब्रह्म यहाँ सर्वत्र व्यापक है। वह बृहद् ब्रह्म अनात्मयोगी पुरुषों के लिये भीषण है और आत्मवेत्ताओं के लिये अविनाशी सच्चिदानन्दघन है। उसका जो सर्वत्र सम, परिपूर्ण, शुद्ध, चिन्हरहित सतस्वरूप है, वही शान्त परमपद है। ज्ञानी भी उसके स्वरूप का इदमित्थं रूप से निर्देश नहीं कर सकते। उसी का

चेतन अंश, जो स्वभावतः स्पन्दनशील (प्राण धारण करने वाला) है, जीव कहलाता है। उत्तम दर्पणरूपी उस चेतन आकाश में ये असंख्य जगत् जाल की परम्पराएँ प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। जैसे चलना या गतिशील होना वायु का स्वभाव है, उष्णता अग्नि का स्वभाव है अथवा शीतलता हिम का स्वभाव है, उसी प्रकार जीवत्व आत्मा (व्यष्टि-चेतन) का स्वभाव है। व्यष्टिचेतनघन जो आत्मतत्त्व है, उसकी स्वयं अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण जो अल्पज्ञता है, उसी को जीव कहा गया है। कोई पुण्यात्मा पुरुष दिव्य देह आदि की भावना करने से शीघ्र ही देवता आदि के शरीर को प्राप्त होता है। उस देह में रहकर वह गन्धर्वों या अन्य देवताओं से सुरक्षित नगर (अमरावती आदि) में निवास करता है। अपने संकल्प के अनुसार कोई पुरुष वृक्ष आदि स्थावर योनि को प्राप्त होता है, कोई जंगम योनि में जन्म ग्रहण करता है तथा कोई पक्षी आदि खेचर प्राणियों का रूप धारण करता है। इस प्रकार जन्म और मृत्यु के कारण बने हुए अपने कर्मों से जीव ऊपर या नीचे जाते हैं (ऊँच-नीच योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं)।

श्रीराम ! परम कारणरूप परमात्मा से ही पहले मन उत्पन्न हुआ है। मनन ही उसका स्वरूप है। भोगों से भरा हुआ जो यह विस्तृत जगत् है, वह मन में ही है। वह मन भी उस परम कारणरूप परमात्मा में ही स्थित है। वह भाव और अभाव के झूले में झूलता रहता है। जैसे पहले अनुभव में आयी हुई सुगन्ध याद करने पर मनोरथ के द्वारा देखी जाती है, उसी प्रकार उस मन के द्वारा सत् और असत् रूप से प्रतीत होने वाली यह सृष्टि देखी जाती है। परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्ता, कर्म और जगत् की प्रतीतियों का कोई भेद नहीं रह जाता। सब द्वैतों के एकमात्र आश्रय परमात्मा ही स्थित रहते हैं। जिसके विस्तार का कहीं आर-पार नहीं है, उस संवितरूपी जल के असीम प्रसारों से चिन्मय एकार्णवरूप यह आत्मा स्वयं विस्तार को प्राप्त होता है। क्षणिक होने के कारण असत्य तथा प्रतीत होने के कारण सत्य यह मनोमय जगत् स्वप्न के समान सदसद्रूप है। वास्तव में यह जगत् न तो सत् है, न असत् है और न उत्पन्न ही हुआ है। यह तो केवल चित्त का भ्रम है। जैसे अच्छी तरह न देखने के कारण ठूँठे काठ में झूठे ही पुरुष की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अविद्यायुक्त मन के प्रभाव से यह संसार

नाम दीर्घकालीन स्वप्न अज्ञानियों को स्थिर सा प्रतीत होता है। जैसे चेतन परमात्मा और जीव में भेद नहीं है, उसी तरह जीव और चित्त में भी भेद नहीं है और जैसे जीव तथा चित्त में भेद नहीं है, उसी तरह देह और कर्म में भी भेद नहीं है। वस्तुतः कर्म ही देह है; क्योंकि देह से ही कर्म होते हैं। देह ही चित्त है, चित्त ही अहंकार विशिष्ट जीव है। वह जीव ही चेतन परमात्मा है तथा वह परमात्मा सर्वस्वरूप एवं कल्याणमय है। यह शास्त्र का सारा सिद्धान्त एक पद्य में ही कह दिया गया है।

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

चित्त का विलास ही द्वैत है

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-श्रीराम ! जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जल जाते हैं, उसी तरह एक ही परमवस्तु चेतन आत्मा अपने संकल्प से मानो नानात्व को प्राप्त हुआ है। मनुष्य चित्तमात्र ही है। चित्त के हट जाने पर यह जगत् शान्त हो जाता है। जिस पुरुष के पैर जूते से ढके होते हैं, उसके लिये मानो सारी पृथ्वी पर ही चमड़ा बिछा हुआ है; इसी प्रकार जिसका चित्त शान्त है, उसके लिये सारा जगत् ही शान्त हो गया। जैसे केले के वृक्ष में पत्तों को छोड़कर और कुछ भी सार नहीं रहता, उसी प्रकार जगत् में भ्रम के सिवा और कुछ भी सार तत्त्व नहीं है। जीव जन्म लेता है; फिर क्रमशः बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वह शुभाशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग और नरक में पहुँचता है। यह सब भ्रमवश चित्त का नृत्य अर्थात् संकल्पमात्र है। जैसे मल दोष से मलिन नेत्र चन्द्रमा आदि में दो-दो आकृतियाँ देखता है, वैसे ही भ्रम से आक्रान्त हुआ जीवात्मा परमात्मा में द्वैत देखता है (जीव और ईश्वर में भेद का दर्शन करता है)। जैसे मदिरा पीकर मतवाला हुआ मनुष्य नशे के कारण वृक्षों को घूमते देखता है, उसी प्रकार जीवात्मा चित्त द्वारा कल्पित संसारों का दर्शन करता है। जैसे बालक खेल-कूद में वेग से घूमने के कारण सारे जगत् को कुम्हार के चाक की भाँति घूमता देखते हैं, उसी प्रकार जीव चित्त के भ्रम से ही इस दृश्य जगत् को देखते हैं-यों समझो। जिस पदार्थ का चेतन अनुभव करता है, वह चेतन से अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। इस प्रकार दृश्य की शान्ति होने पर विषय न रहने से

ईंधन रहित अग्नि के समान चित्त स्वयं शान्त हो जाता है। जब पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मा से एकता को प्राप्त होकर निश्चल स्थिति में स्थित हो जाता है, तब वह शान्त होकर बैठे या व्यवहार में लगा रहे-दोनों ही अवस्थाओं में भली भाँति शान्त कहा जाता है। व्यष्टिचेतन अज्ञानी जीव विषय का अनुभव करता है, परंतु सच्चिदानन्दघन में एकीभाव को प्राप्त ज्ञानी महात्मा विषय का आस्वादन नहीं करता।

परमपद में आरूढ़ और सच्चिदानन्दघन परब्रह्म में एकीभाव को प्राप्त हुए पुरुष का 'देह के भान से शून्य' और 'निर्विषय' आदि समानार्थक शब्दों द्वारा वर्णन होता है। जीवात्मा चित्त के संकल्प द्वारा ही स्थूलता को प्राप्त होता है और 'मैं उत्पन्न हूँ, जीवित हूँ, तथा (जन्म-मृत्युरूप) संसार को प्राप्त होता हूँ, इत्यादि रूप से मिथ्या-भ्रम का दर्शन करता है। चेतन के द्वारा जिस किसी का अनुभव होता है, वही स्थूल जगत् है। रज्जु में सर्प की भाँति प्रतीत होने वाले उस आभास को अविद्या-भ्रम कहते हैं। इस संसार नामक व्याधि की चिकित्सा एवं निवारण केवल ज्ञानमात्र से ही सम्भव है। यह संसार चित्त का एक संकल्पमात्र है। इसके बाद में किसी प्रकार का आयास नहीं है। जैसे अच्छी तरह देखभाल करने से रस्सी में साँप का भ्रम मिट जाता है, उसी प्रकार परमात्मा के यर्थाथ ज्ञान से यह संसाररूपी भ्रम अवश्य नष्ट हो जाता है।

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तेतालीसवाँ सर्ग

भोक्ता जीव का स्वरूप

वसिष्ठ जी बोले-हे श्रीराम ! जिस वस्तु की अभिलाषा हो, उसी का निश्चितरूप से त्याग करके यदि रहा जा सके, तब तो मोक्ष प्राप्त ही है। इतना करने में कौन-सी कठिनाई है। परमात्मा की प्राप्तिरूप महान् उद्देश्य से सम्पन्न पुरुष जब इस संसार में अपने प्राणों का भी मोह तिनके के समान त्याग देते हैं, केवल उसी का त्याग करने में कंजूसी कैसे की जा सकती है। जैसे हाथ में रक्खा हुआ बेल का फल अथवा सामने खड़ा हुआ पर्वत प्रत्यक्ष ही दिखायी देता है, उसी प्रकार उस तत्त्वज्ञ महात्मा के लिये परमात्मा का जन्म आदि विकारों से रहित होना प्रत्यक्ष ही है। जैसे प्रलय काल का अनन्त अपार एकार्णव अपनी असंख्य तरंगों के कारण अनेक सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार

अप्रमेय परमात्मा ही अज्ञान के कारण जगत्रूप से प्रतीत हो रहा है। उसके स्वरूप का यथार्थ ..न हो जाय तो वही मोक्षरूप सिद्धि प्रदान करता है; परंतु जो उसे तत्त्वतः जान नहीं लेता, उसका मन सदा बन्धन में ही पड़ा रहता है

रघुनन्दन ! ब्रह्म सदा सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न तथा सब कुछ करने में समर्थ है। वह जहाँ जिस शक्ति से स्फुरित होता है, वहाँ अपने में उसी शक्ति को प्राप्त हुई देखता है। सबका आत्मा ब्रह्म अनादिकाल से जिस व्यष्टिचेतन को स्वयं जानता है, वही यहाँ जीव नाम से कहा गया है और वह जीव ही संकल्प करने वाला है। जीव ईश्वर का अनादिकाल से स्वाभाविक भेद है, वही जीव के जन्म-मरण में कारण है। जैसे आकाश में क्रियाशील और अक्रिय वायु ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसी तरह यहाँ सर्वत्र क्रियाशील और अक्रिय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उस ब्रह्म के क्रियाशील होने पर सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है और अक्रिय रहने पर सबका प्रलय हो जाता है। उस अवस्था में ब्रह्म ही शान्तभाव से स्थित रहता है। जिसने जीव-ईश्वर के भेद की कल्पना कर रक्खी है, ऐसे जीवात्मा को ही देह की प्राप्ति होती है। वह जीवात्मा ही संसार में संकल्प से नाना प्रकार के विषयों को प्राप्त होता है। यही नाना योनियों का प्राप्त जीवात्मा ज्ञान होने पर शीघ्र मुक्त हो जाता है। उनमें से कोई मन्द अभ्यासी तो साधन करते-करते हजारों जन्मों में मुक्ति प्राप्त करता है और कोई तीव्र अभ्यास करने वाला पुरुष एक ही जन्म में मुक्ति लाभ कर लेता है। स्वभाव के कारण ही जीवात्मा ब्रह्म और जीव के भेदभाव को प्राप्त हो रहा है। इसी से वह गुणों का संग पाकर कर्मानुसार स्वर्ग, मोक्ष, नरक और बन्धन आदि के हेतु भूत देहभाव को क्रमशः प्राप्त होता है। वास्तव में यह संसार न तो उत्पन्न हुआ है और न यह सत्तावान् होकर स्थित ही है, तथापि मन का भ्रम इसे देखता है। जैसे गोलाकार घूमने या नृत्य करने से भ्रमपीड़ित पुरुष नगर को भी घूमता हुआ सा देखता है, उसी तरह मन के भ्रम से युक्त जीवात्मा 'मैं उत्पन्न हुआ, स्थित रहा और मेरा' इत्यादि भावों का अनुभव करता है। परमार्थ वस्तु का दर्शन न होने के कारण आशा-तृष्णा के वशीभूत हुआ चित्त 'अहं-मम' इत्यादि रूप से अनुभव में आने वाले असत् संसार को ही देखता (और उसे सत् मानता) है।

श्रीराम ! जैसे जल तरंगरूप से स्फुरित होता है, उसी तरह केवल मन

की भ्रान्ति के उल्लास (उत्कर्ष) से विस्तार को प्राप्त हुआ यह सभी दृश्य-प्रपञ्च जगत्रूप से भासित होता है। व्यष्टि-चेतन ही बुद्धि-वृत्ति के संयोग से जीव कहलता है। वह जीव ही संकल्प करने से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा माया के रूप में परिणत हो जाता है। जैसे स्वप्न में जो नगर आदि का भान होता है, वह मन का भ्रम ही है, उसी तरह यह संसार भी चित्त का भ्रम ही है। व्यष्टि-चेतन को जो संसार का ज्ञान है, वही जागरण कहा गया है। सूक्ष्म शरीर में जो उसका अहंभाव है, उसी को स्वप्न माना गया है। मन का जो प्रकृति में विलीन हो जाना है, वही सुषुप्ति है तथा केवल सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में जो एकीभाव से तन्मय हो जाना है, उसी को तुरीयावस्था कहते हैं। अत्यन्त शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा में जो अविचल स्थिति है, वही परिणाम में विकार रहित तुरीयातीत पद है। उस पद में स्थित पुरुष कभी शोक नहीं करता (वहाँ शोक का सर्वथा अभाव है)। उस परमात्मा में ही यह सब जगत् उत्पन्न होता है (उसी में स्थित रहता है) और उसी में लीन हो जाता है। वास्तव में न तो यह ब्रह्म जगत्रूप है और न उस ब्रह्म में जगत् ही है। जैसे नेत्र दोष के कारण आकाश में भ्रम से मोती के दाने से दीखते हैं, वैसे ही ब्रह्म में भ्रम से इस जगत् का दर्शन होता है। जैसे स्फटिक के भीतर प्रतिबिम्बित वन आदि उसके यथार्थ ज्ञान के बिना सत्य से दीखते हैं, उसी तरह यथार्थ ज्ञान न होने के कारण अद्वितीय ब्रह्मरूप होता हुआ भी यह जगत् शुद्ध ब्रह्म के भीतर नाना सा प्रतीत होता है। ब्रह्मा से लेकर कीट पतंग पर्यन्त बुद्धि वृत्ति का भ्रमरूप जगत् असत् ही है; क्योंकि परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर इसका बोध हो जाता है। यह जगत् मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है, मिथ्या ही बढ़ता है, मिथ्या ही रुचिकर प्रतीत होता है और मिथ्या ही लय को प्राप्त होता है; शुद्ध सर्वव्यापी ब्रह्म अनन्त और अद्वितीय है। अज्ञान से ही वह अशुद्ध सा, असत् सा, नाना सा और असर्वव्यापी सा (सीमित सा) ज्ञात होता है। जैसे जल भिन्न है और तरंग उससे भिन्न है-ऐसी जो बालकों अथवा मूर्खों की कल्पना है, उसी से जल और तरंग में मिथ्या भेद की प्रतीति होती है, उसी तरह जो यह जगत् का भेद प्रतीत होता है, वह भी वास्तविक नहीं है। केवल अज्ञानियों ने उसकी कल्पना कर रक्खी है। जैसे रस्सी में सर्प की स्थिति है, वैसे ही ब्रह्म में शत्रु और मित्र के समान विरुद्ध भेदाभेद शक्तियों की स्थिति सम्भव है।

तेतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

परमात्मसत्ता का विवेचन

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं–हे रघुनन्दन ! नाम रहित तथा मन और नेत्र आदि छः ज्ञानेन्द्रियों से अगम्य होने के कारण आकाश से भी सूक्ष्म चिन्मात्र परमात्मा ही 'अणु' शब्द से कहा गया है। अणु के भी अणु सच्चिदानन्दघन परमात्मा के अंदर अज्ञानियों की दृष्टि से सत्–सा और ज्ञानियों की दृष्टि से असत्–सा स्थित हुआ यह जगत् बीज के भीतर वृक्ष की सत्ता के समान स्फुरित होता है। सम्पूर्ण वस्तुओं की सत्ता के अधीन है; उसको यदि और किसी के अधीन मानें तो भूल होगी। अतः स्वतःसिद्ध वास्तविक सत्ता से ही सबकी सत्ता है। यह परम आकाशरूपी परमात्मा सूक्ष्म होने के कारण नेत्रेन्द्रिय का विषय नहीं है। सर्वात्मक होता हुआ भी वह मनसहित पाँचों इन्द्रियों से अतीत होकर स्थित है, अतः अणु का भी अणु है। सर्वात्मक होने के कारण ही वह कभी शून्य नहीं हो सकता। क्योंकि 'वह है, नहीं है'–ऐसा कहने और मनन करने वाला पुरुष आत्मा ही तो है; फिर उसकी असत्ता कैसे कही जा सकती है। किसी भी युक्ति से यहाँ सत् वस्तु की असत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। जैसे कपूर अपनी सुगन्ध से प्रतीत होता है, वैसे ही सर्वात्मा सर्वव्यापीरूप से अनुभव में आता है। अणु का भी अणु चेतन परमात्मा ही सब कुछ है। मन और इन्द्रियों की वृत्ति से नानात्व की प्रतीति होने के कारण मनःपरिच्छिन्नरूप से ही वह सर्वात्मक है और इन्द्रियातीत होने के कारण वह निर्मल परमात्मा नित्य सत्तावान् होकर भी कुछ प्रतीत नहीं होता–इन्द्रियों का विषय नहीं होता। वही एक है और सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरण में आत्मारूप से अनुभूत होने के कारण अनेक भी है। वही अपने संकल्प से इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है। अतः जगत्रूपी रत्नों का कोश भी वही है।

जैसे जिसका मुँह बंद है, ऐसे घड़े को अन्य देश में ले जाने पर उसमें स्थित आकाश का गमन और आगमन नहीं होता, उसी प्रकार देहरूपी उपाधि के गमनागमन से आत्मा का गमनागमन नहीं हो सकता। चिन्मय परमात्मा अपनी चेतना से सूर्य आदि के प्रकाश का भी प्रकाशक है और महाकल्प के प्रलय-कालीन मेघों से भी वह नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह स्वयम्प्रकाशरूप एवं अविनाशी है। वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म नेत्रों से नहीं देखा जा सकता; क्योंकि

वह अनुभवरूप, हृदय मन्दिर को प्रकाशित करने वाला, सबको सत्ता देने वाला, अनन्त और परम प्रकाशस्वरूप बताया गया है। आकाश आदि देश, काल और क्रिया आदि की सत्ता एवं जगत् उसी ज्ञानस्वरूप परमात्मा में प्रतीत होते हैं। वही सबका स्वामी, कर्ता, पिता और भोक्ता है। वास्तव में परमात्मा होने के कारण उसका किसी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। न निमेष है न कल्प है, न सामीप्य है और न दूरी ही है। चेतन परमात्मा का संकल्प ही अन्यान्य वस्तुओं के रूप में स्थित है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार जगत् के मिथ्यात्व का उपपादन करने वाले न्यायों (युक्तियों) की बारंबार भावनारूप अभ्यास के द्वारा निर्मल हुए मन से जिसने पारमार्थिक वस्तु ब्रह्म का दर्शन कर लिया है, उस पुरुष की अविद्या का नाश हो जाने के कारण चिदाकाश में उसे फिर संसार की प्रतीति नहीं होती। जैसे बीज के भीतर स्थित हुए वृक्ष की सत्ता अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आकाश के तुल्य है। उसी तरह ब्रह्म के भीतर स्थित हुए जगत् का परमात्मा साक्षी है; इसलिये जगत् की साक्षी से पृथक् प्रतीति न होने के कारण सच्चिदानन्दरूप से ही उसकी स्थिति है। शान्त, सर्वात्मक, जन्मरहित, अद्वितीय, आदि और मध्य से शून्य, निर्द्वन्द्व, माया के कार्य से रहित, जगतूरूप में नाना सा प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में एक, विशुद्ध, ज्ञानस्वरूप, अजन्मा, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। उसमें किसी प्रकार की कोई कल्पना किसी तरह भी सम्भव नहीं है।

जगत् की प्रतीति का अभाव ही जिस (परमात्मा) के स्वरूप का परम अनुभव है, सम्पूर्ण संकल्पों का त्याग ही चित्त के द्वारा जिसका संग्रह (चिन्तन) है, जिसके संकोच से संसार का प्रलय और विकास से उसकी सृष्टि होती है, जो वेदान्त वाक्यों का परम तात्पर्य एवं वाणी का अविषय है, यह चराचर जगत् जिसकी चिन्मयी लीला है तथा विश्वरूप होने पर भी जिसकी अखण्डता कभी खण्डित नहीं होती, वही सन्मात्र शाश्वत ब्रह्म कहा गया है। वह अणु से भी अणु परमात्मा अपने संकल्प से वायु होता है। किंतु उसकी वह भ्रमरूपता भ्रान्त दृष्टिमूलक है, अतः वास्तव में वह वायु आदि कुछ भी नहीं है, केवल शुद्ध चेतन ही है। वही परमात्मा शब्द के संकल्प द्वारा शब्द बनता है; किंतु उसकी शब्दरूपता का दर्शन भ्रममूलक है। वास्तव में तो वह शब्द और शब्दार्थ की दृष्टि से बहुत दूर है। उस परमात्मा की प्राप्ति के सैकड़ों साधन हैं। उसके

प्राप्त होने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। वही परम प्राप्तव्य है। उसके सिवा कुछ भी नहीं है।

जो अणु का भी अणु, केवल चिन्मय और अत्यन्त सूक्ष्मतम है, उस परमात्मा से यह सम्पूर्ण विश्व सब ओर से परिपूर्ण है। अणुरूप होता हुआ भी यह परमात्मा सैकड़ों-अनन्त योजनों में नहीं समाता; क्योंकि वह सर्वव्यापी, अनादि और रूपरहित होने के कारण निराकार है। जैसे मेरु पर्वत की सरसों के साथ तुलना करना उचित नहीं, उसी तरह शुद्ध ज्ञानमय चेतनाकाशरूप परमात्मा की परमाणु के साथ तुलना करना शोभा नहीं देता। जैसे प्रतिबिम्ब दर्पण में ही पड़ता है, उसी प्रकार जल में जो कोई भी सम्पूर्ण रस है, वह परमात्मा का ही आश्रय लेकर स्थित है। परमात्मा के बिना स्वतः उसकी कोई सत्ता नहीं है। जिसने संकल्प रहित होने पर इस जगत् को त्याग दिया-इसका अभाव कर दिया है और अपने संकल्प से ही पुनः सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया है, जगत् का अभाव करने वाले उस अणु से भी अणु चिन्मय परमात्मा ने इस समस्त विश्व को व्याप्त कर रक्खा है। जैसे सपने में एक ही निमेष में बाल्यावस्था से लेकर बुढ़ापे तक का बोध होता है, उसी प्रकार उस सूक्ष्म चिन्मय परमात्मा में निमेषांश का ज्ञान ही सहस्त्रों कल्पों के समान प्रतीत होता है। इसलिये वह सूक्ष्म परमात्मा निमेषरूप होता हुआ ही शत कोटि कल्पों का समूह है। अणु से भी अणु सच्चिदानन्दघन परमात्मा में सम्पूर्ण जगत् स्थित हैं और उसी से जगत् की सारी प्रतीतियाँ होती हैं।

जैसे बीज में भावी वृक्ष रहते हैं, वैसे ही चिन्मय परमात्मा में भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों कालों के प्राणी सदा विद्यमान रहते हैं। यह परमात्मा सम्पूर्ण जगत् में उदासीन की भाँति स्थित है। कर्तापन और भोक्तापन से उसका थोड़ा सा भी स्पर्श या सम्बन्ध नहीं है। परमात्मा इस जगत् के बाहर भी स्थित है और भीतर भी-यह बात तीनों लोकों में अधिकारी प्राणियों के उपदेश के लिये कही जाती है। यह बाह्य और आन्तरिक स्थिति का भेद 'शब्द' तक ही सीमित है, वस्तु में नहीं है; क्योंकि वस्तु चेतनरूप है, अतः उसमें उक्त भेद का होना कदापि सम्भव नहीं। द्रष्टा परमात्मा दृश्यजगत् का रूप नहीं धारण कर सकता; क्योंकि दृश्यत्व असत् एवं वास्तविक है। जो कोई भी वस्तु परमात्मा में है ही नहीं, परमात्मा उसका स्वरूप कैसे धारण कर सकता है।

[illegible] च जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।। तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

व्यवहार दृष्टि से द्रष्टा ही दृश्य भाव को प्राप्त होता है। जैसे पिता के बिना पुत्र और भोक्ता के बिना भोग्य नहीं है, उसी प्रकार दृश्य के बिना द्रष्टापन नहीं है।

जैसे विशुद्ध सुवर्ण में यह सामर्थ्य है कि उसका कंगन आदि बन सके, उसी प्रकार चिन्मय होने के कारण द्रष्टा में यह शक्ति है कि वह दृश्य का निर्माण कर सके। जैसे सोने का कड़ा यह सामर्थ्य नहीं रखता कि वह सुवर्ण का निर्माण कर सके, उसी प्रकार जड़ होने के कारण दृश्य में यह शक्ति नहीं है कि वह द्रष्टा का निर्माण कर सके। जैसे सुवर्ण कंगन के भ्रम को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार चिन्मय परमात्मा दृश्य का निर्माण करता है। उक्त दृश्य असत् होता हुआ भी अज्ञानवश सत्-सा प्रतीत होता है। दृश्य अज्ञानमात्र से उत्पन्न है। जब तक कारणभूत अज्ञान रहता है तभी तक, उसकी स्थिति रहती है। जैसे कड़े और कंगन आदि की प्रतीति के समय सुवर्ण की सुवर्णता सत्य होने पर भी स्फुटरूप से स्फुरित नहीं होती, क्योंकि मूढ़ पुरुष की बुद्धि उक्त आभूषण के नाम-रूप में ही उलझी रहती है, उसी प्रकार द्रष्टा के दृश्यरूप में स्थित होने पर उसके वास्तविक स्वरूप की स्फूर्ति नहीं होती। जैसे कंगन के रूप में प्राप्त होने पर सुवर्ण अपनी पूर्व सिद्ध सुवर्णता को लक्ष्य कराता है, वैसे ही दृश्यरूप में स्थित हुआ द्रष्टा अपने द्रष्टापन को लक्षित कराता है। द्रष्टा जब अज्ञानवश अपने को दृश्यरूप में देखता है, तब अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाता। द्रष्टा में दृश्यत्व की प्राप्ति होनें पर उसकी सत्ता भी असत्ता-सी भासित होने लगती है परंतु जब ज्ञान से दृश्य गलित हो जाता है, तब केवल द्रष्टा की ही सत्ता रह जाती है। जैसे कड़े और कंगन को गला देने पर जब उसके नामरूप की प्रतीति नहीं रहती, तब केवल सुवर्ण की सुवर्णता ही रह जाती है।

जैसे जल, भूमि आदि पाँच भूतों से भौतिक पदार्थ तनिक भी पृथक नहीं है, उसी प्रकार इस स्वभावसिद्ध परमात्मारूप अणु से कुछ भी पृथक् नहीं है। परमात्मा सर्वव्यापी अनुभवरूप है तथा सबका अनुभव भी उसी का स्वरूप है; अतः एकत्व के यथार्थ अनुभव की युक्ति जब सुदृढ़ हो जाती है, तब इस परमात्मा की सबके साथ एकता समझ में आती है। परमात्मा दिशा, काल आदि से सीमित नहीं है। वह एकमात्र, अद्वितीय है। सबका आत्मा होने के कारण

सबसे अभिन्न है। स्वतः तो वह सर्वानुभव रूप ही है, जड़ नहीं है।

जैसे कड़े या कंगन की सत्ता सुवर्ण से पृथक नहीं है, उसी प्रकार द्वैत भी ब्रह्म से अलग नहीं है-जिसे भली-भाँति ऐसा ज्ञान हो चुका है, उसका वह ज्ञान ही द्वैत है और वह ज्ञानसत् नहीं है। जैसे जल की द्रवता जल से, वायु का स्पन्दन वायु से तथा आकाश की शून्यता आकाश से अलग नहीं है, वैसे ही द्वैत परमात्मा से पृथक नहीं है। द्वैत और अद्वैत की प्रतीति दुःख रूप प्रवृत्ति की सिद्धि के लिये ही है, निवृत्ति के लिये नहीं। वास्तव में जो इन दोनों की अनुपलब्धि या अप्रतीति है, वह यदि अच्छी तरह समझ में आ जाय तो ज्ञानी पुरुष उसी को परमपद मानते हैं। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप तथा द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप जो यह सम्पूर्ण जगत् है, वह अणु से भी अणु चेतन परमात्मा के स्वरूप में ही स्थित है। जैसे वायु अपने शरीर में ही स्पन्दन को उत्पन्न करती और लीन भी कर लेती है, उसी प्रकार अणु से भी अणु परमात्मा ने अपने स्वरूप में इस जगत् रूपी अणु को अनेक बार उत्पन्न और विलीन किया है। जैसे बीज के भीतर फल और पल्लवों सहित समूचे वृक्ष का विस्तान निहित है और वह अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाता है, उसी तरह चेतन परमात्मा में अनेक शाखा-प्रशाखाओं से युक्त जगत् स्थित है और वह परमार्थ दृष्टि से उन्हीं में देखने में आता है (इसलिये जगत् वास्तव में परमात्मा से अभिन्न ही है)। जैसे बीज के भीतर अपने शाखा, फल, फूल आदि का त्याग न करता हुआ वृक्ष स्थित है, वैसे ही चेतन परमात्मा में यह शाखा-प्रशाखाओं सहित विशाल जगत् विद्यमान है। जैसे बीज के भीतर वृक्ष है, उसी प्रकार चेतन परमात्मा के भीतर स्थित हुए द्वैत रूप जगत् को जो अद्वैत देखता है, उसी का देखना तत्त्वदर्शन है। वास्तव में तो न द्वैत है न अद्वैत; न बीज है न अंकुर; न स्थूल है न सूक्ष्म; न जात है न अजात; न सत्ता है न असत्ता और न यह सौम्य है न क्षुब्ध। उस चेतन परमात्मा के भीतर तीनों लोक, आकाश और वायु आदि भी कुछ नहीं हैं। न जगत् है, न उसका अभाव। केवल एक सर्वोत्कृष्ट उत्तम चेतन परमात्मा ही है।

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

जगत् की ब्रह्म से पृथक् सत्ता का खण्डन

श्री वसिष्ठजी कहते हैं-हे रघुनन्दन ! परम कारण भूत, आदि, अन्त और मध्य से रहित, एक परमपद से यद्यपि यह जगत् उत्पन्न नहीं हुआ है, तथापि उत्पन्न हुआ सा प्रतीत होता है। जैसे जलराशि में उठती हुई तरंगें जल से भिन्न न होकर भी भिन्न सी स्थित हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में सारी सृष्टियाँ अभिन्न होकर भी भिन्न सी जान पड़ती हैं। जो नित्य उदित एवं नित्य प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म ही कर्ता सा होकर इस जगत् का अनेक रूपों में निर्माण करता है। फ़िर भी वह अपनी समता और सौम्यता आदि का त्याग नहीं करता। जैसे बीज में वृक्ष एवं फल आदि अभिन्नरूप से ही स्थित हैं, तथापि वे उससे इस तरह प्रकट होते हैं मानो भिन्न हों, उसी तरह चेतन परमात्मा में यह चेत्य (स्थूलजगत) अनन्य भाव से स्थित होने पर भी अन्य सा प्रकट हुआ प्रतीत होता है। जैसे बीज से लेकर फलपर्यन्त जो एक ही द्रव्य-सत्ता है, उसका विच्छेद न होने के कारण फल और बीज में कोई भेद नहीं है, जैसे जल और तरंग में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार चित् और चेत्य (ब्रह्म और जगत्) में कोई भेद नहीं है। अविचार (विवेक शून्यता) के कारण जो इनमें भेद की कल्पना की जाती है, उसकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि जिस किसी कारण से भ्रान्तिवश उत्पन्न हुआ भेद विचार से नष्ट हो जाता है। सारा जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है और सब का सब ब्रह्म में ही लीन होता है।

श्री वसिष्ठ जी ने कहा-श्री राम ! उपदेश के लिये जो शास्त्रीय शब्द है अथवा लोक सिद्ध अर्थ जनित व्यावहारिक भेद का उपपादक जो लौकिक-शब्द है, वह प्रतियोगी, व्यवच्छेद (अभाव), संख्या, लक्षण और पक्ष से युक्त होता है। जो भेद दिखायी देता है, यह व्यवहार-दृष्टि से ही है, वास्तविक नहीं। अज्ञानियों को समझाने के लिये ही कार्य कारण भाव, सेवक-स्वामिभाव, हेतु-हेतुमद्भाव, अवयवावयविभाव, भेदाभेद अथवा अन्वयव्यतिरेक, परिणाम आदि का विभ्रम, भावों के विचित्र विलास, विद्या-अविद्या और सुख-दुःख इत्यादि रूप से मिथ्या संकल्पों की संकलना की गयी है। वास्तव में जो सत्य वस्तु है, उसमें कोई भेद नहीं है। यह भेदवाद परम तत्त्वको न समझने के कारण ही है। परमार्थ वस्तु के ज्ञात हो जाने पर द्वैत नहीं रह जाता। उस समय

सारी कल्पनाएँ अथवा संकलनाएँ शान्त हो जाती हैं। फिर तो मौन स्वरूप परमार्थ-तत्त्व ही शेष रहता है। वह परमतत्त्व परमात्मा आदि और अन्त से रहित, अविभक्त, एक, अखण्ड और सर्वस्वरूप है। जिन्हें तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे अज्ञ पुरुष अपने विकल्पों से उत्पन्न हुए तर्कों द्वारा अद्वैत के विषय में विवाद करते हैं। उपदेश से तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर यह वाद और द्वैत नहीं रह जाता। द्वैत के बिना वाच्य-वाचक का बोध नहीं सिद्ध होता। परंतु द्वैत किसी तरह भी सम्भव नहीं है। इसलिये मौनरूप परमात्मा ही पूर्णतया सिद्ध होता है।

रघुनन्दन ! 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ में अपनी बुद्धि को प्रतिष्ठित करके वचन भेद की उपेक्षा कर दो और जो मैं कहता हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो। चित्त ही विकास रूप से जगत् को प्राप्त हुआ है। जैसे बालू के भीतर तेल नहीं है, उसी तरह ब्रह्म में शरीर आदि की सत्ता नहीं है। राग-द्वेष आदि क्लेशों से कलुषित यह चित्त ही संसार है। उन राग आदि दोषों से तभी छुटकारा मिल जाता है, तभी इस संसार-बन्धन का नाश हो गया,-यह कहा जाता है। चित्त ही साधन, पालन, विचार, श्रेष्ठ पुरुष की भाँति कर्तव्य का अनुष्ठान, आहार-व्यवहार, संचरण और आदरपूर्वक धारण करने के योग्य है। तीनों लोकों की कल्पना का आकाश रूप चित्त सम्पूर्ण दृश्य को अपने भीतर धारण करता है। सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी आदि रूप यह सारा प्रपञ्च अविद्यमान-असत् ही था। अव्यक्तस्वरूप अजन्मा ब्रह्म स्वप्न के समान इसे देखता हुआ भी वास्तव में नहीं देखता। हृदयंगम दृष्टान्त और युक्ति से तथा मधुर एवं युक्तियुक्त पदार्थवाली वाणी से जो कुछ कहा जाता है, वह श्रोता के हृदय में उसकी शंका को दूर करके सब ओर व्याप्त हो जाता है-ठीक उसी तरह, जैसे जल में डाला हुआ तेल उसमें सब ओर फैल जाता है। जिसमें दृष्टान्त और मनोहर पद नहीं होते, जो दुर्बोध होता है, जिससे क्षोभ प्रकट होता है तथा जिसका प्रत्येक अक्षर अपने स्थान से च्युत होता है और जिसके कई वर्ण मुँह में ही रह जाते हैं-स्पष्टतः उच्चारित नहीं होते, ऐसा उपदेश वाक्य श्रोता के हृदय तक नहीं पहुँच पाता। वह राख में आहुति के रूप में डाले गये घी के समान व्यर्थ हो जाता है। साधो ! इस भूतल पर जो-जो महाभारत आदि आख्यान तथा छोटी-छोटी कथाएँ हैं, जो-जो प्रमाणों द्वारा

जानने योग्य प्रमेय ग्रन्थ हैं, जो औचित्य से युक्त तथा शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से मधुर एवं कोमल हैं, वे सभी लोक प्रसिद्ध दृष्टान्तों तथा प्रमाण युक्त दर्शनों के प्रतिपादन पूर्वक वर्णित होने पर उसी प्रकार श्रोता के हृदय में शीघ्र प्रकाशित हो जाते हैं, जैसे श्वेत किरण वाले चन्द्रमा के प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित हो उठता है।

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

दृश्य-प्रपञ्च मन का विलास मात्र है

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-निष्पाप रघुनन्दन ! पूर्वकाल में ब्रह्माजी ने मुझे जो उपदेश दिया था, वह सब उनकी कही हुई कथा के साथ मैं तुम्हें बता रहा हूँ। पहले की बात है, मैंने कमलयोनि भगवान् ब्रह्माजी से पूछा-'ब्रह्मन् ! ये सृष्टि के समुदाय (ब्रह्माण्ड) कैसे प्रकट होते हैं ?' मेरे इस प्रश्न को सुनकर लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा ने मुझसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही।

ब्रह्माजी बोले-वत्स ! यह मन जगत्भाव को धारण करने की शक्ति से सम्पन्न है, अतः यही इस तरह सब पदार्थों के रूप में स्फुरित होता है, जैसे जल ही जलाशय में फैले हुए विचित्र आवर्तों के रूप में स्फुरित (भासित) होता है। पहले के किसी कल्प की बात है। मैं अपने दिन के आरम्भ में जब सोकर उठा और संसार की सृष्टि की इच्छा करने लगा, उस समय कैसी घटना घटित हुई, यह बताता हूँ; सुनो। एक दिन संध्या के समय (कल्प के अन्त में) सारी सृष्टि का संहार करके मैंने एकाग्र एवं स्वस्थचित्त हो अकेले ही वह रात बितायी। रात्रि के अन्त में मैं जाग उठा और विधिपूर्वक संध्या करके प्रजा की सृष्टि करने के लिये मैंने अपनी फैली हुई आँखें आकाश में लगायीं-मैं एकटक दृष्टि से आकाश की ओर देखने लगा। ज्यों ही दृष्टि डाली, त्यों ही मुझे आकाश अत्यन्त विस्तृत, अन्तरहित और शून्य दिखायी दिया। वह न तो अन्धकार से व्याप्त था और न तेज से ही।

'अब मैं सृष्टि के लिये संकल्प करूँ' ऐसा निश्चय करके मैंने सूक्ष्म चित्त से विशुद्ध भाव के साथ उस स्रष्टव्य (सृष्टि के योग्य) वस्तु की समीक्षा-पर्यालोचना आरम्भ की। अतने में ही उस विशाल आकाश के भीतर मैंने मन से अनेक बड़े-बड़े ब्रह्माण्ड देखे, जो पृथक्-पृथक् विद्यमान थे। उन

सबकी स्थिति व्यवस्थित थी। कहीं कोई प्रतिबन्ध नहीं था। उन ब्रह्माण्डों में दस पद्मयोनि ब्रह्मा विराजमान थे, जो मेरे ही प्रतिबिम्ब से प्रतीत होते थे। वे सभी कमल कोश के निवासी थे और राजहंसों पर चढ़े हुए थे। पृथक्-पृथक् स्थित हुए उन ब्रह्माण्डों में जरायुज आदिचार प्रकार के प्राणी उत्पन्न हो रहे थे। उन सभी ब्रह्माण्डों में जल देने वाले, विशुद्ध (अवग्रह आदि दोषों से रहित) मेघ-समुदाय छा रहे थे। बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती थीं और समुद्रों के समाज गर्जना करती थीं। आकाश में अनेक सूर्य तपते थे तथा मरुग्दण इधर-उधर संचरण करते थे। स्वर्ग में देवता, भूतल पर मनुष्य तथापातालों में रहकर दानव एवं नाग यथेष्ठ क्रीड़ाएँ करते थे। कालचक्र में गुँथी हुई तथा सर्दी, गरमी और वर्षा के स्वभाव वाली सब ऋतुएँ यथा समय प्रकट हो फल-फूलों से सम्पन्न होकर भूमण्डल की सब ओर से शोभा बढ़ाती थीं। प्रत्येक दिशा में स्वर्ग और नरक रूपी फल देने वाले शुभाशुभ आचार का प्रतिपादन करने वाली स्मृतियाँ सर्वत्र प्रौढ़ता को प्राप्त थीं-उनका सब ओर प्रचार और प्रसार था। भोग और मोक्षरूपी फल चाहने वाले विभिन्न जाति के समस्त प्राणी क्रमशः अपनी अभीष्ट वस्तु पाने के लिये यथा समय प्रयत्न करते थे। सात लोक, सात द्वीप, सातों समुद्र और सातों पर्वत, जो काल द्वारा नष्ट होने वाले हैं, बड़े कोलाहल से युक्त प्रतीत होते थे। उन ब्रह्माण्डों में अन्धकार कहीं (खुले स्थानों में) क्षीण हो गया था, कहीं (पर्वत की गुफा आदि में) अधिक स्थिर होकर छा रहा था और कहीं सब झाड़ियों एवं कुन्जों में लेशमात्र तेज से मिश्रित होकर विद्यमान था। नभरूपी नीलकमल के भीतर मेघरूपी भ्रमर मंडरा रहे थे तथा तारक-समूह रूपी केसरों से वह परिपूर्ण था। मेरुपर्वत के कुन्जों में कल्पान्त काल के मेघों की भाँति घनीभूत कुहासा छा रहा था, जो सेमल के फल के भीतर रहने वाली सफेद रूई के समान दिखायी देता था। लोकालोक पर्वत ही जिसकी करधनी है, गर्जते हुए समुद्र ही जिसके आभूषणों की झनकार हैं तथा जो अपने ही रत्नों से विभूषित है, वह पृथ्वी उन ब्रह्माण्डों में उसी प्रकार विराजमान थी जैसे कोई कुलांगना अपने अन्तःपुर में निवास करती हो।

भुवनरूपी गड्ढों में रहने वाले बहुत से प्राणी जिनमें बीज के समान जान पड़ते थे, वे पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड गोलक अरुण तेज से प्रकाशित हो अनार के फलों के सामान दिखायी देते थे। चन्द्रमा की कला के समान निर्मल

कान्तिवाली, तीन प्रवाहवाली तथा ऊपर-नीचे एवं मध्य-तीन मार्गों पर विचरने वाली गंगा जगत्‌रूपी पुरुष के यज्ञोपवीत की भाँति सुशोभित हो रही थी। दिशारूपी लताओं में विद्युत्‌रूपी फूलों से युक्त मेघरूपी पल्लव वायु से टकराकर इधर-उधर झोंके खाते, बिखर जाते और फिर नये पैदा हो जाते थे। विभिन्न भुवनों के भीतर समूह-के-समूह बसे हुए देवता, असुर, मनुष्य और नाग गूलर के फलों में रहने वाले मच्छरों के समान जान पड़ते थे। उन लोकों में युग, कल्प, क्षण, लब, कला और काष्ठा आदि से युक्त एवं सबके अतर्कित विनाश की प्रतीक्षा करने वाला काल प्रवाहरूप से स्थित था। अपने शुद्ध एवं उत्तम चित्त के द्वारा ऐसा दृश्य देखकर मैं बड़े विस्मय में पड़ गया कि यह क्या है और कैसे प्रकट हुआ है। इस स्थूल नेत्र से जो मुझे कुछ भी नहीं दिखायी देता, उसी अनुपम माया जाल को मैं मन से आकाश में स्पष्ट देख रहा हूँ-यह कैसे सम्भव हुआ है ? उसके बाद देर तक उस मायाजाल को देखने के पश्चात् मैंने मन से ही उस ब्रह्माण्ड के आकाश से एक सूर्य को अपने समीप बुलाकर पूछा-

'देवदेवेश्वर ! महातेजस्वी सूर्य ! आओ, तुम्हारा स्वागत है' यों कहकर मैंने पहले तो उनका स्वागत किया। फिर उनके सामने अपना प्रश्न इस प्रकार रक्खा-भगवन् ! तुम कौन हो ? तुम्हारा यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ ? इसके अतिरिक्त जो और जगत दिखायी देते हैं, इनकी उत्पत्ति भी किस प्रकार हुई है ? निष्पाप देव ! यदि जानते हो तो यह सब बताओ।' मेरे इस प्रकार पूछने पर उन्होंने मेरी ओर देखा और पहचान लिया। फिर मुझे नमस्कार करके उत्तम पदों से युक्त वाणी द्वारा इस प्रकार कहा।

सूर्य बोले-जगदीश्वर ! आप इस दृश्य-प्रपञ्च के नित्य कारण हैं, फिर भी इसे जानते कैसे नहीं ? और यदि जानते हैं तो मुझसे पूछते क्यों हैं ? सर्वव्यापी देव ! यदि मेरी बातें सुनने के लिये आप के मन में कौतूहल हो तो सुनिये। महात्मन् ! आप परम महान् परमात्मा हैं (आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है)। 'सत्-असत्' का बोध न होने से जो मोह में डालने वाली हैं तथा जिनसे अनवरत नाना प्रकार की सृष्टियाँ होती रहती हैं, उन सदसत् कलाओं (संकल्पों) से जो विस्तार को प्राप्त हुआ है, वह मन ही यहाँ विविध पदार्थों के रूप में विलसित हो रहा है। तात्पर्य यह कि यह सारा दृश्यप्रपञ्च मन का ही

विलास या संकल्प है।

छियालीसवां सर्ग समाप्त

सैंतालीसवां सर्ग

स्थूल शरीर की निन्दा

श्री वसिष्ठजी कहते है-रघुनन्दन ! इस संसार में ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सभी जाति के प्राणियों के सदा दो-दो शरीर होते हैं। एक तो मनोमय शरीर होता है, जो शीघ्रतापूर्वक सब कार्य करने वाला और सदा चंचल है। दूसरा मांस का बना हुआ स्थूल शरीर है, जो मन के बिना कुछ नहीं कर सकता। उक्त दोनों शरीर में से जो मांसमय स्थूल शरीर है, वह सभी लोगों को प्रत्यक्ष दिखायी देता है। उसी पर सब प्रकार के शापों, विद्याओं (आभिचारिक कृत्यों) तथा विष, शस्त्र आदि विनाश के साधन-समूहों का आक्रमण होता है। यह मांसमय शरीर असमर्थ, दीन, क्षणभंगुर, कमल के पत्ते पर पड़े हुए जल के समान चंचल तथा प्रारब्ध आदि के अधीन है। देहधारियों का जो यह मन नामक दूसरा शरीर है, वह तीनों लोकों में प्राणियों के अधीन होकर भी प्रायः अधीन नहीं रहता। वह यदि सदा बने रहने वाले धैर्य का अवलम्बन करके अपने पौरुष के सहारे स्थित होता है, तो दुःखों की पहुँच से बाहर हो जाता है-दुःख के हेतु भूत जो दोष हैं, वे उसे दूषित नहीं करते। प्राणियों का मनोमय शरीर जैसे-जैसे चेष्टा करता है, वैसे ही वैसे वह अपने निश्चय के एकमात्र फल का भागी होता है। मांसमय देह (पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर) का कोई भी पौरुष-क्रम सफल नहीं होता, परंतु मनोमय शरीर की प्रायः सभी चेष्टाएँ सफल होती हैं (क्योंकि मन ही प्रधान है)।

माण्डव्य ऋषि ने मानसिक पुरुषार्थ से मन को रागरहित और दुःखशून्य बना शूली पर चढ़कर भी सम्पूर्ण क्लेशों पर विजय प्राप्त कर ली थी। अन्धकारपूर्ण कुएँ में गिरे होने पर भी दीर्घतपा ऋषि ने मानसिक यज्ञों का ही अनुष्ठान करके देवताओं का पद (स्वर्गलोक) प्राप्त कर लिया था। दूसरे भी जो सावधान धीर देवता और महर्षि हैं, वे मन से की जाने वाली उपासना अथवा ध्यान का तनिक भी त्याग नहीं करते। संसार में सावधान चित्तवाला कोई भी पुरुष कभी स्वप्न अथवा जागरण में भी दोष-समूहों से थोड़ा-सा भी अभिभूत नहीं होता। इसलिये पुरुष को चाहिये कि वह इस संसार में पुरुषार्थ के साथ

अपनी बुद्धि के द्वारा ही अपने मन को पवित्र मार्ग में लगाये। जैसे कुम्हार के घट–निर्माण–सम्बन्धी व्यापार के अनन्तर घड़ा अपने मृत्पिण्डावस्था को त्याग देता है, उसी प्रकार पुरुष उत्तर पदार्थ की वासना के पश्चात् पूर्व की स्थिति का त्याग कर देता है (तात्पर्य यह है कि आगे की दृढ़ वासना से पिछली वासना नष्ट हो जाती है)।

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

जगत की मनोमयता

श्री वसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! भगवान् ब्रह्मा ने पूर्वकाल में मुझसे ये बातें कही थीं, उन्हीं का आज मैंने तुम्हारे समक्ष वर्णन किया है। नाम और रूप से रहित उस सर्वात्मा ब्रह्म से सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है। वह समय पाकर स्वयं ही घनता को प्राप्त हो संकल्प–विकल्परूप मन की सामर्थ्य से मनोरूप बन जाता है। इसलिये श्रीराम ! जो ये परमेष्ठी ब्रह्मा हैं, इन्हें तुम परमात्मा का समष्टि मन ही समझो। समष्टि मनरूप तत्त्व ही जिनका आकार है, वे भगवान् ब्रह्मा संकल्पमय होने के कारण जिस वस्तु का संकल्प करते हैं, उसी को देखते हैं। तदनन्तर उन्होंने इस अविद्या की कल्पना की। अनात्मा में आत्मा का अभिमान होना ही इस अविद्या का स्वरूप है। फिर उन ब्रह्मा ने क्रमशः पर्वत, तृण और समुद्र रूप इस जगत् की कल्पना की। इस प्रकार यद्यपि क्रमशः परब्रह्म–तत्त्व से यह सृष्टि आयी है, तथापि कुछ लोगों को यह और ही किसी से उत्पन्न हुई दिखायी देती है। अतः श्रीराम ! तीनों लोकों के भीतर वर्तमान सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति ब्रह्मा से ही हुई है–ठीक उसी तरह, जैसे तरंगों की उत्पत्ति समुद्र से होती है। जो अन्य व्यष्टि–चेतन शक्तियाँ अर्थात् प्राणी हैं, वे सब वास्तव में सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से अभिन्न ही हैं–साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही हैं। जब यह जगत् विस्तार को प्राप्त होता है, तब वे ही प्राणी समष्टि–मनरूप ब्रह्मा से पूर्वकर्मानुसार विकास को प्राप्त होते हैं। ये सब सहस्त्रों व्यष्टिचेतन संसरण शील जीव कहे जाते हैं। वे जीव सच्चिदानन्दघन परमात्मा से ही प्रकट होकर आकाश में तन्मात्राओं के साथ संयुक्त होते हैं। फिर आकाश स्थित वायुओं के मध्यवर्ती जो चौदह श्रेणियों में विभक्त जीव हैं, उनमें से जिस प्रकार की जीव–जाति में रहने से जो जीव जैसी वासना और कर्म के अभ्यास में प्रवृत्त

होते हैं, उसी जीव-जाति की प्राण शक्ति द्वारा वे स्थावर अथवा जंगम शरीर में प्रविष्ट हो रज-वीर्यरूपी बीज भाव को प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् योनि से जगत् में जन्म ग्रहण करते हैं। तदनन्तर वासना-प्रवाह के अनुसार अपने कर्म फल के भागी होते हैं। फिर शुभ और अशुभ वासनाओं से युक्त पुण्य-पाप कर्मरूपी रस्सियों से जिनका लिंग शरीर बँधा है, ऐसे वे जीव घूमते हुए कभी उत्तम लोकों में जाते हैं और कभी नरकों में गिरते हैं।

जीवों की ये सब जातियाँ वासनारूप ही हैं। कितने ही जीव हजारों जन्मों तक कर्म रूपी बंवडर में पड़कर चक्कर काटते हुये जंगल के पत्तों की भाँति झड़ जाते हैं और पर्वत के कुक्षि भाग में लुढ़कते फिरते हैं। कितने ही जीव जिन्हें सच्चिदानन्दघन परमात्मा का ज्ञान नहीं है। अतएव जो मोहित रहते हैं, वे असंख्य जन्म धारण करते हैं। चिरकाल से जन्म लेकर इस संसार में सैकड़ों कल्पों तक जन्म और मरण की परम्परा में बँधे रहते हैं। कतिपय जीव, जिनके कई असुन्दर जन्मान्तर व्यतीत हो चुके हैं, वर्तमान जन्म में शुभकर्म परायण हो इस जगत् में विचरण करते हैं। कई जाति के जीव तत्त्वज्ञान प्राप्त करके उसी तरह परमपद को प्राप्त हो गये हैं, जैसे वायु से उड़ाये हुये समुद्र के जल बिन्दु पुनः समुद्र के ही जल में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार यहाँ परमपदरूप ब्रह्म से सम्पूर्ण जीवों की गुण और कर्म के अनुसार उत्पत्ति (सृष्टि) हुई है। यह सृष्टि अविर्भाव और तिरोभाव के कारण क्षणभंगुर है तथा जन्म-मरण की परम्परा को प्रकट करने वाली है। वासनारूपी विष की विषमता से उत्पन्न हुए नाना प्रकार के दुःखरूपी ज्वर को धारण करती है। अनन्त संकटों से भरे हुए अनर्थकारी कार्यों का समाचर करने वाली है। अनेक दिशाओं, देशों, कालों तथा विविध पर्वतों की कन्दराओं में घुमाने वाली-कर्मफल का भोग कराने वाली है। स्वयं निर्मित उत्तम विचित्रताओं से इसने चारों ओर भ्रम का जाल बिछा रक्खा है। परमार्थ दृष्टि से यह सृष्टि असत् ही है। वत्स रामभद्र ! विक्षुब्ध मन ही जिसका शरीर है, वह संसाररूपी जंगल की जीर्ण-शीर्ण लता यदि तत्त्वज्ञानरूपी कुल्हड़ी से जड़ सहित काट दी जाय तो फरसे से काटी गयी बेल के समान यह फिर पनप नहीं सकती।

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनन्चासवाँ सर्ग

जीवों की चौदह श्रेणियाँ

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-श्रीराम ! सात्त्विक, राजस और तामस भेद से सभी पदार्थ उत्तम, मध्यम और अधम-इन तीन श्रेणियों में विभक्त होते हैं। इनकी जो इधर-उधर विभिन्न भुवनों में उत्पत्तियाँ बतायी गयी हैं, उनका विभाग इस प्रकार है-बताता हूँ, सुनो। जिस जीव को अपने पूर्वजन्म में शम, दम आदि समस्त साधन तथा गुण-सम्पत्ति प्राप्त होने पर भी ज्ञान नहीं हुआ, वह जीव इसी जन्म में ज्ञान-लाभ के योग्य बनकर उत्पन्न होता है; अतः यही उसका प्रथम जन्म है। उस श्रेणी के जीव का वह जन्म 'इदं प्रथम' नाम से विख्यात होता है। यह इदम्प्रथमता पूर्व-जन्म के शुभ अभ्यास से प्रकट होती है। वही इदम्प्रथमता यदि पूर्व जन्म में वैराग्य की कमी के कारण शुभ लोकों का आश्रय लेने वाली रही हो अर्थात् उत्तम लोकों की प्राप्ति के लिये किये गये शुभ कर्मों से संयुक्त हो और इसीलिये विचित्र संसार-वासना के कारण भोग-व्यवहार वाली हो तो भोगों से वासना का क्षय होने पर वह कुछ ही जन्मों से मोक्ष की प्राप्ति करा देती है। अतः शान्ति आदि गुणों से युक्त होने के कारण उसी दूसरी जीव-जाति को 'गुण-पीवरी' कहते हैं।

श्रीराम ! नाना प्रकार के सुख-दुःखरूपी फलों को देने में मुख्य कारण भूत पूर्वजन्म के पुण्य और पाप का अनुमान कराने वाली जो जीवों की श्रेणी है, उसे पुण्यात्मा पुरुषों ने 'ससत्त्वा' कहा है (क्योंकि वह सत्त्वगुण की वृद्धि के द्वारा मोक्ष की भागिनी होती है)। जो जीवश्रेणी विचित्र संसार की वासनाओं से युक्त होकर अत्यन्त कलुषित हो गयी हो अर्थात् पूर्वजन्म में संचित किये गये अधिक दुष्कर्मजनित दुर्वासनाओं से मलिन हो गयी हो और भाँति-भाँति के भले-बुरे फल प्रदान करने वाले मुख्य कारणभूत पूर्वजन्म के धर्म और अधर्म का अनुमान कराने वाली हो, वह सहस्त्रों जन्मों में ज्ञान की भागिनी होती है। इसलिये साधु पुरुष उसे 'अधमसत्वा' कहते हैं। वही जीवश्रेणी, यदि अध्यात्म-शास्त्र से विमुख होने के कारण असंख्य, अनन्त जन्मों के पश्चात् वर्तमान जन्म में भी उसके मोक्ष होने में संदेह ही रह जाय तो उसे 'अत्यन्त तामसी' कहते हैं। नृपश्रेष्ठ श्रीराम ! जीव की जो उत्पत्ति पूर्वजन्म की वासनाओं के अनुरूप एवं वैसे ही आचार व्यवहार वाली हो तथा दो-तीन जन्मों के अनन्तर जिसे मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ हो और वैसे ही कार्य कर रही हो, वह लोक में

'राजसी' कही गयी है। जिसके लिये ज्ञान प्राप्ति के योग्य जन्म का मिलना दूर नहीं है, जब जीव को ऐसी उत्पत्ति सुलभ हो जाती है, तब उस जन्म में मृत्यु होने मात्र से उसमें मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता आ जाती है। उस जन्म में उसके द्वारा वैसे ही कार्य होने से जो अनुमान होता है, उसके आधार पर ही मुमुक्षुओं ने उस अवस्था को 'राजस-सात्त्विकी' कहा है। वही उत्पत्ति यदि पूर्वोक्त मनुष्य-जन्मों से भिन्न, थोड़े से ही (देवता आदि) जन्मों में क्रमशः ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष की भागिनी हो तो वैसी उत्पत्ति को उसके ज्ञाता विद्वान 'राजस-राजसी' कहते हैं। वही यदि राजस-राजसी की अपेक्षा चिरकाल में मोक्ष की इच्छा से सम्पन्न होकर सैकड़ों जन्मों के पश्चात् मोक्ष-प्राप्ति की अधिकारिणी हो और ऐसे कार्यों का आरम्भ करे, जिनसे राजस एवं तामस कर्म जनित फलों की प्राप्ति हो तो वह जीव-जाति या जीव-श्रेणी सज्जन पुरुषों द्वारा 'राजस-तामसी' कही गयी है। यदि वही उत्पत्ति ऐसे कार्यों का आरम्भ करे, जिनसे सहस्त्रों जन्मों के पश्चात् भी मोक्ष मिलने में संदेह ही रहे, उसे 'राजसात्यन्ततामसी' कहा गया है।

सर्ग के आदि में हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है। तभी से सहस्त्रों जन्म भोग लेने के पश्चात् भी यदि बहुत जन्मों के बाद चिरकाल में मोक्ष मिलने की सम्भावना हो तो महर्षियों ने 'तामसी' उत्पत्ति कहा है। वह तामस उत्पत्ति यदि तामस योनि होने पर भी मोक्ष की सम्भावना से युक्त हो और वैसे ही कर्मों के आयोजन से सुशोभित होती हो तो उसे विद्वान् पुरुष 'तामससत्त्वा' कहते हैं। तामस-राजस गुणों से सम्पन्न कतिपय जन्मों में ही जहाँ मोक्ष-प्राप्ति की सम्भावना हो, उस उत्पत्ति को 'तमोराजसरूपिणी' कहा गया है तथा जो उत्पत्ति पहले के हजारों जन्मों से लेकर आगे होने वाले सैकड़ों जन्मों तक मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता से रहित हो, उसे उत्पत्ति की श्रेणी का विभाजन करने और जानने वाले विद्वानों ने 'तामस-तामसी' कहा है। जिस उत्पत्ति में अतीतकाल के लाखों जन्मों से लेकर भविष्यकाल के लाखों जन्मों तक मोक्ष मिलने में संदेह ही रहे, उसे 'अत्यन्त तामसी' कहते हैं।

प्राणियों की ये सारी जातियाँ पूर्व कर्मानुसार ब्रह्म से उत्पन्न होती हैं- ठीक उसी तरह, जैसे कुछ चंचल हुए समुद्र से तरगें उठती रहती हैं। जीवों की ये सभी श्रेणियाँ उसी तरह ब्रह्म से उत्पन्न हुई हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि से

घिनगारियाँ प्रकट होती हैं। जैसे सुवर्ण से कड़े, बाजूबंद और केयूर आदि आभूषण प्रकट होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से सारी जीव-श्रेणियाँ पूर्व-वासना और कर्मों के अनुसार उत्पन्न होती हैं। श्रीराम ! जैसे घटाकाश, स्थाल्यकाश और छिद्राकाश आदि आकाश के ही कल्पित रूप हैं, उसी तरह अजन्मा परब्रह्म की ही सम्पूर्ण प्राणिवर्ग के रूप में कल्पना हुई है। अतः वे सब प्राणी ब्रह्म के ही रूप हैं। जैसे जल से फुहारें, भँवरें, लहरें और बूँदें प्रकट होती हैं, अतः सब जलरूप ही हैं, उसी तरह सम्पूर्ण लोक-रचनाएँ परब्रह्म पद से ही प्रकट हुई हैं, अतः वे सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं।

श्रीराम ! जैसे सूर्य के तेज से ही मृग-तृष्णारूपिणी सरिताओं की प्रतीति होती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य-दर्शन ब्रह्म के ही संकल्प से प्रकट हुए हैं। ये सारे दृश्य-दर्शन द्रष्टा ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न नहीं हैं-ठीक वैसे ही, जैसे घाँदनी घन्द्रमा से और प्रकाश तेज से पृथक् नहीं है। इस तरह जो नाना प्रकार की जीवों की श्रेणियाँ हैं, ये जिस ब्रह्म से उत्पन्न होती हैं, उसी में लीन भी हो जाती हैं। रघुनन्दन ! इस प्रकार भगवान् परब्रह्म परमात्मा की इच्छा से व्यवहार में लगे हुए जो विचित्र आकार वाले रूप वैभव से सम्पन्न पूर्वोक्त प्राणिवर्ग हैं, वे आग से प्रकट होने वाली घिनगारियों के समान विभिन्न लोकों में आते, जाते और ऊँची-नीची योनियों में जन्म लेकर भ्रमण करते हैं।

उनन्चासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

कर्ता और कर्म की सहोत्पत्ति एवं अभिन्नता तथा घित्त और कर्म की एकता का प्रतिपादन

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-हे रघुनन्दन ! जैसे वृक्ष से फूल और उसकी गन्ध दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सृष्टि के आदि में परम-पद रूप ब्रह्म से परस्पर अभिन्न कर्म और कर्ता दोनों स्वयं (स्वभाववश) ही एक साथ प्रकट हुए। जैसे अज्ञानी लोगों की दृष्टि में सर्वत्र फैले हुए निर्मल आकाश के भीतर नीलिमा प्रतीत होती है, उसी तरह समस्त संकल्पों से रहित सर्वव्यापी विशुद्ध ब्रह्म अज्ञ पुरुषों की दृष्टि से ही जीवों का प्राकट्य प्रतीत होता है। राघव ! जहाँ अज्ञानी लोगों का ही आचार-व्यवहार दिखायी देता है, वहीं पर 'जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं' ऐसी उक्तियाँ टिक पाती हैं। किंतु जहाँ पर ज्ञानी पुरुषों का व्यवहार है, वहाँ यह कहना शोभा नहीं देता कि 'यह वस्तु

तो ब्रह्म से उत्पन्न हुई है और यह नहीं हुई है।' अतः भेद दृष्टि से जो शोचनीय द्वैत-कल्पना की गयी है, उसे व्यवहार मात्र के लिये स्वीकार करके यह उपदेश दिया जाता है कि 'यह ब्रह्म है और ये जीव हैं।' वास्तव में यह कथन केवल वाणी का विलास मात्र है। ये सब जीव राशियाँ सदा उस परमात्मा में स्थित रहती हैं, उसी से उत्पन्न होती हैं और उसी में लीन हो जाती हैं। रघुनन्दन ! जैसे फूल और गन्ध एक दूसरे से अभिन्न हैं, उसी तरह पुरुष (कर्ता) और कर्म परस्पर अभिन्न हैं। ये परमात्मा से प्रकट होते और धीरे-धीरे उसी में लीन हो जाते हैं। ये दैत्य, नाग, मनुष्य और देवता इस जगत में वस्तुतः उत्पन्न हुए बिना ही वासनाओं के साथ उत्पन्न होते-से प्रतीत होते हैं और तुरंत गमन आदि क्रिया से युक्त हो जाते हैं। साधो ! उन दैत्य, नाग, मनुष्य और देवता आदि के संसार-भ्रमण में आत्मा के यथार्थ ज्ञान के अभाव के अतिरिक्त दूसरा कोई कारण नहीं दिखायी देता। वह आत्मविस्मरण ही जन्मान्तररूपी फल प्रदान करने वाला है।

श्री रामचन्द्र जी ने कहा-भगवन् ! श्रुति, स्मृति-रूप प्रामाणिक दृष्टि वाले, वीतराग ऋषियों द्वारा अर्थ में श्रुति से विरोध न रखने वाले जो-जो स्मृति, पुराण एवं इतिहास आदि ग्रन्थ सिद्धान्त-निर्णय पूर्वक रचे गये हैं, वे सब शास्त्र कहलाते हैं। जो महान् सत्त्वगुण से सम्पन्न, धीर (ज्ञानी) और समदर्शी हैं तथा जिन्हें अनिर्वचनीय ब्रह्म का साक्षात्कार हो चुका है, वे पुरुष साधु (श्रेष्ठ संत) कहे गये हैं। जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, उन पुरुषों के सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिये (उन्हें धर्म और ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार कराने के लिये) श्रेष्ठ पुरुषों का सदाचार और श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्र-ये ही दो नेत्र हैं।

उनकी दृष्टि सदा इन (दोनों-सदाचार और शास्त्र) का ही अनुसरण करती है। जो पुरुष श्रेष्ठ व्यवहार के लिये शास्त्र का अनुसरण नहीं करता, उसका सभी शिष्टजन बहिष्कार कर देते हैं और वह दुःख में निमग्न हो जाता है। प्रभो ! इस लोक में और वेद में भी ऐसा सुना जाता है कि कर्म और कर्ता यहाँ क्रमशः एक के बाद एक उत्पन्न होकर कार्य-कारणभाव से परस्पर मिले हुए हैं। कर्म के द्वारा कर्ता का निर्माण होता है और कर्ता से कर्म का, जैसे बीज से अंकुर होता है और अंकुर से बीज। यह न्याय लोक और वेद में भी प्रसिद्ध है। जिस वासना के कारण जीव इस संसाररूपी पिंजड़े में डाला जाता है,

उसी वासना के अनुसार उसे फल भी भोगना पड़ता है। भगवन् ! जानने योग्य तत्त्व के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ महर्षे ! मुझे ठीक-ठीक बताइये कि जीव का किया हुआ कर्म फलरूप में अवश्य परिणत होता है या नहीं। यदि कर्म का फल अवश्य मिलता है, तब प्राणियों के जन्म आदि में वही हेतु हुआ। फिर आपने उत्पत्ति को अकारण या अज्ञान कल्पित कैसे बताया ? मेरे इस महान् संशय का निवारण कीजिये।

श्री वसिष्ठ जी ने कहा-हे रघुनन्दन ! मैं तुम्हें साधुवाद देता हूँ, तुमने मेरे सामने यह बड़ा सुन्दर प्रश्न रक्खा है। सुनो, मैं तुम्हें इसका उत्तर देता हूँ, जिससे पूर्णतया ज्ञान का उदय हो जाता है। यह संकल्प-विकल्पात्मक मन का विकास ही कर्मों का कारण है-उसी के अनुसार फल प्राप्त होता है। मन के संयोग के बिना किये हुए कर्म फलदायक नहीं होते। सृष्टि के आरम्भ में परम-पदरूपी ब्रह्म से जब मनरूपी तत्त्व उत्पन्न हुआ, तभी उस मन के संकल्प के अनुसार जीवों का कर्म भी उत्पन्न हुआ और जीव पूर्व वासना के अनुसार देह वाला होने के कारण देह में अहंभाव से स्थित है। (मनसे ही कर्म की उत्पत्ति हुई; इसलिये बीज और वृक्ष की भाँति कारण-कार्यरूप मन और कर्म परस्पर अभिन्न हैं।) जैसे अभिन्नरूप से स्थित हुए पुष्प और सुगन्ध में यहाँ भेद नहीं है, उसी प्रकार परस्पर अभिन्न मन और कर्म में भी भेद नहीं है। इस जगत् में क्रिया का होना ही विद्वानों द्वारा कर्म बताया गया है। उस क्रिया का आश्रयभूत देह भी पहले मन ही था अर्थात् यह देह भी मन का ही संकल्प होने के कारण मनोरूप ही है। इसी प्रकार क्रिया भी मन का ही संकल्प होने से मन का ही स्वरूप है। न ऐसा कोई पर्वत है, न आकाश है, न समुद्र है और न ऐसा कोई लोक ही है, जहाँ किये हुए अपने कर्मों का फल नहीं प्राप्त होता। तात्पर्य यह कि कर्मों का पल अवश्यम्भावी है। ज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म चाहे पूर्व जन्म का हो या इस जन्म का, वह क्रियारूप पुरुषार्थ ही पुरुष का परम प्रयत्न है। वह कभी निष्फल नहीं होता। जो मुक्त पुरुष है, उसी के कर्म का नाश होने पर मन का नाश होता है मन का नाश ही कर्म का अभाव है। जो मुक्त नहीं है, उसके कर्म और मन का नाश कदापि नहीं होता। अग्नि और उष्णता की भाँति सदा परस्पर मिले हुए चित्त और कर्म-इन दोनों में से एक का अभाव होने पर दोनों का ही अभाव हो जाता है।

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

मन का स्वरूप तथा उसकी विभिन्न संज्ञाओं पर विचार

श्री रामचन्द्र जी ने कहा–ब्रह्मन् ! जो जड़ होकर भी अजड़ (चेतन) के समान आकार धारण किये हुए है, उस मन के संकल्पारूढ़ स्वरूप का आप मेरे समक्ष विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।

श्री वसिष्ठ जी ने कहा–रघुनन्दन ! सर्वशक्तिमान्, असीम, महान् विज्ञानानन्दघन परमात्मतत्त्व की शक्ति से रचित जो संकल्पमय रूप है, उसी को विद्वान् पुरुष मन समझते हैं। वह मन स्वयं भी संकल्प की सामर्थ्य से युक्त है। इस लोक में जैसे गुणी का गुण से हीन होना सम्भव नहीं, उसी प्रकार मनका कल्पनात्मक क्रिया शक्ति से रहित होना असम्भव है। एकमात्र संकल्प ही जिसका शरीर है तथा जो नाना प्रकार के विस्तार से सुशोभित होने वाला एवं फलधर्मी (फल का जनक) है, उस चित्तरूपी कर्म ने अपने ही स्वरूप से इस नानाविध विश्व का, जो मायामय, निष्कारण (हेतु एवं प्रयोजन से रहित), विन्यासशून्य तथा वासना की कल्पनाओं से व्याप्त है, विस्तार कर रक्खा है। जिसने जहाँ लता की भाँति जिस वासना को जिस प्रकार आरोपित किया है, वहाँ पर कर्मानुसार फल देने वाली वह वासना ही उसे तदनुरूप फलरूप में प्राप्त होती है। मन जिसका अनुसंधान करता है, उसी का सम्पूर्ण कर्मेन्द्रिय-वृत्तियाँ सम्पादन करती हैं; इसलिये मन को कर्म कहा गया है। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, संसृति, वासना, अविद्या, प्रयत्न, स्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया, क्रिया तथा इनके सिवा और भी विचित्र शब्दोक्तियाँ संसार भ्रम की ही हेतु भूत हैं। चित्त भाव को प्राप्त हो प्रस्तुत संसार पदवी को पहुँचे हुए शुद्ध चेतन के अपने ही सैकड़ों संकल्पों द्वारा ये भिन्न-भिन्न नाम अत्यन्त रूढ़ि (प्रसिद्धि) को प्राप्त हुए हैं। वह शुद्ध चेतन परमात्मा ही लोक में जीव कहलाता है। मन, चित्त और बुद्धि भी उसी के नाम हैं।

जैसे नाटक में नट अनेक प्रकार के रूप धारण करता है, उसी प्रकार मन भी भिन्न-भिन्न कर्मों का आश्रय ले अनेक प्रकार के नाम धारण करता है। जैसे एक ही मनुष्य भोजन बनाने से पाचक और पढ़ाने से पाठक कहलता है–विभिन्न एवं विलक्षण अधिकारों के कारण विघित्र तथा विकृत (उन-उन कर्मों के प्रकाशक) नाम पाता है, उसी प्रकार मन भी कर्मवश उक्त नाम धारण

करता है। रघुनन्दन ! मैंने चित्त की जो ये अनेक संज्ञाएँ बतायी हैं, इन्हीं को अन्यान्यवादियों ने अपनी सैकड़ों कल्पनाओं द्वारा अन्य प्रकार से कहा है। अपने भावों के अनुरूप बुद्धि का मन में आरोप करके उन वादियों ने मन के द्वारा स्वेच्छा से मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि के विचित्र-विचित्र नाम भेद किये हैं। एक वादी के मत से मन जड़ है तो दूसरे के मत से वह जीव से भिन्न है। तीसरे के मत से वह अहं भावना का प्रतीक है तथा चौथे वादी के मतानुसार उसका नाम बुद्धि है।

रघुनन्दन ! अन्तःकरण के एकरूप होने के कारण उसकी संकल्प आदि भिन्न-भिन्न वृत्तियों के भेद से निर्मित जो अहंकार, मन और बुद्धि आदि नाम मैंने बताये हैं, उनकी नैयायिकों ने अन्य प्रकार से कल्पना की है। सांख्यों और चार्वाकों ने भी उनकी विभिन्न रूपों में कल्पना की है। मीमांसक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक तथा पांचरात्र आदि अन्य विभिन्न वादियों ने भी अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार उन नामों की भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना कर रक्खी है। जैसे बहुत से राहगीरों का एक ही नगर में जाना होता है, उसी प्रकार उन सभी वादियों का गन्तव्य स्थान एकमात्र पारमार्थिक पद ही है। परम पद में आरूढ़ होने की इच्छा वाले वे जिज्ञासुजन परमार्थ-वस्तु को न समझने तथा विपरीत बुद्धि को अपनाने के कारण अनेक प्रकार के विकल्पों द्वारा केवल विवाद या तर्क-वितर्क करते हैं। जैसे विचित्र देशकाल में उत्पन्न हुए पथिक अपनी विभिन्न दृष्टि के अनुसार अपने-अपने गन्तव्य मार्ग की प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों और कालों में पैदा हुए वे सभी वादी दृष्टि भेद के कारण अपने-अपने मार्ग (मत) का समर्थन करते हैं। यह सब कुछ चित्त ही है, ऐसा अनुभव प्रायः सभी लोगों को होता है; क्योंकि यदि चित्त का सहयोग न हो तो मनुष्य इस संसार को देखकर भी नहीं देख पाता। मनको साथ रखने पर ही पुरुष भली-बुरी वस्तु को सुनकर, छूकर, देखकर, आस्वादनकर और सूँघकर अपने भीतर हर्ष तथा विषाद का अनुभव करता है। जैसे विभिन्न रूपों के दर्शन में प्रकाश कारण है, उसी प्रकार विभिन्न विषयों के अनुभव में मन ही कारण है।

जिस पुरुष का चित्त विषयों में बँधा हुआ है, वह बन्धन में पड़ता है तथा जिसका चित्त कर्मवासना के बन्धन से रहित है, वह मुक्ति को प्राप्त होता

है। मन के एकमात्र ब्रह्माकार होने पर संसार का लय हो जाता है। यदि चित्त से पृथक् जगत् की सत्ता होती तो जिसका चित्त लीन हो गया है, उस सम्पूर्ण प्राणि समुदाय की दृष्टि में सारे जगत् का लय क्यों हो जाता (अतः चित्त से अतिरिक्त जगत् नहीं है)। जैसे एक ही काल विभिन्न ऋतुओं के कारण नाना रूपों में प्रकट होता है, उसी तरह एक ही मन विभिन्न कर्मों के कारण विचित्र आकार धारण कर लेता और अनेक नामों से प्रतिपादित होता है। जैसे चेतन मकड़ी से जड़ तन्तु की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार नित्य-प्रबुद्ध पुरुष परब्रह्म परमात्मा के संकल्प से जड़ प्रकृति एवं प्राकृत पदार्थ प्रकट होते हैं।

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

मन को परमात्म चिन्तन में लगाने की आवश्यकता

श्री रामचन्द्रजी ने कहा-ब्रह्मन् ! आपके पूर्वोक्त कथन से यह तात्पर्य प्रकट होता है कि यह जगत् रूपी आडम्बर मन से ही आविर्भूत हुआ है। अतः यह जगत् मन का ही कार्य है।

श्री वसिष्ठ जी ने कहा-जैसे मरुप्रदेश का प्रचण्ड धाम अपने में मृग-तृष्णारूपी जल का भ्रम ग्रहण करता है, उसी प्रकार दृढ़भावना से अनुरंजित हुए मन ने ही स्वयं प्रकाश आत्मा पर आवरण डालने वाले जड़ जगत् को स्वीकार किया है। मैं ऐसा मानता हूँ कि विविध प्रकार के आचार-आकाश-प्रदेश, ग्राम और नगर आदि का रूप धारण करने वाली विस्तृत आकृति के द्वारा मन ही अपने स्वरूप का विस्तार कर रहा है। ऐसी स्थिति में शरीरों के समुदाय तृण, काष्ठ और लता आदि के समान हैं। अतः उनके विचार से कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा। हमें तो इनके कूलभूत केवल मन का ही विचार करना चाहिये। मैं समझता हूँ कि यह सम्पूर्ण विस्तृत जगत् मन से ही व्याप्त है। मनसे भिन्न तो केवल परमात्मा ही शेष रहते हैं। परमात्मा सर्वातीत, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं, परमात्मा के ही प्रसाद से मन सम्पूर्ण संसार में दौड़ लगाता एवं नाचता-कूदता है। मेरे मत में मन ही क्रिया है और वही विभिन्न शरीरों का कारण है। मन ही जन्म लेता और मरता है; क्योंकि ऐसे गुण (भाव-विकार) आत्मा में नहीं हैं। मेरी राय में मन ही एक ऐसी वस्तु है, जिसका विचार करने से वह स्वयं विलीन हो जाता है। मन का विलय होने मात्र से परम श्रेय (मोक्ष) की प्राप्ति

हो जाती है। भ्रम उत्पन्न करने वाली मन नाम की क्रिया का क्षय होने पर जीव मुक्त कहा जाता है। वह फिर इस संसार में जन्म नहीं लेता है।

श्रीराम ! जिनका भीतरी भाग अत्यन्त विस्तृत है, ऐसे तीन आकाश विद्यमान हैं। पहला चित्तकाश, दूसरा चिदाकाश और तीसरा भूताकाश। जो बाहर और भीतर परिपूर्ण है, जगत् की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञाता है तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में व्यापक है, वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही चिदाकाश कहलाता है। जो इन्द्रियों और महाभूतों से श्रेष्ठ है, काल की कलना जिसका स्वभाव है और जिसने अपने संकल्प के द्वारा इस सम्पूर्ण जगत् का विस्तार किया है, वह समस्त प्राणियों का हितकारी संकल्पात्मक मन ही चित्ताकाश कहा जाता है। दसों दिशाओं के मण्डलाकार विस्तार से भी जिसका कलेवर सीमित नहीं होता तथा जो वायु और मेघ आदि का आश्रय है, वह भूतात्मक आकाश ही भूताकाश कहलाता है। भूताकाश और चित्ताकाश-ये दोनों परब्रह्म परमात्मरूप चिदाकाश की शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। जैसे दिन अपनी संनिधि मात्र से समस्त कार्य समूहों के सम्पादन में कारण होता है, उसी प्रकार, चेतन परमात्मा भी अपने सकाशमात्र से सबके कारण हैं। जिसे आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं है, उसी के लिये तीन आकाशों की कल्पना हुई है। उसी को उपदेश देने के लिये त्रिविध आकाश की कल्पना की जाती है। जिसे आत्मतत्त्व का बोध हो गया है, उसके लिये यह कल्पना नहीं है। आत्मज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में तो सब प्रकार की कल्पनाओं से रहित सर्वव्यापी, सर्वस्वरूप एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही नित्य विराजमान हैं। अज्ञानी पुरुष को ही अनेक प्रकार की वाक्य रचना से युक्त द्वैत एवं अद्वैत के भेदों का निरूपण करते हुए तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया जाता है। ज्ञानी पुरुष को किसी तरह भी ऐसा उपदेश नहीं दिया जाता।

निष्पाप श्रीराम ! मन जिस किसी से भी उत्पन्न हुआ हो और जो कुछ भी उसका स्वरूप हो, उसकी उधेड़-बुन में न पड़कर बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह उसे नित्य प्रयत्नपूर्वक अपनी मुक्ति के लिये परमात्मा में लगाये। रघुकुल तिलक ! परमात्मा में लगाया हुआ चित्त वासना रहित एवं शुद्ध हो जाता है। तत्पश्चात् वह कल्पनाशून्य होकर परमात्मभाव को प्राप्त हो जाता है। श्रीराम ! यह सारा चराचर जगत् चित्त के अधीन है। इसलिये बन्धन और मोक्ष भी चित्त के ही अधीन हैं। (अतः मनुष्य को उचित है कि वह

मोक्ष-प्राप्ति के लिये चित्त को परमात्म चिन्तन में लगाये।)

चिरकाल तक चित्त के निरोध की रक्षा करने और दीर्घकाल तक परमात्मा का चिन्तन करने से अभ्यासवश शून्यता को प्राप्त होकर मन फिर शोक नहीं करता। मन के प्रमाद से नाना प्रकार के दुःख बढ़ते हैं और बढ़कर पर्वत-शिखर के समान हो जाते हैं तथा उसी को वश में कर लेने से ज्ञान का उदय होने के कारण वे सारे दुःख उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्य के सामने बर्फ का ढेर गल जाता है। यदि मन शास्त्रों के अर्थज्ञान से उत्पन्न हुई अनिन्द्य वासना से युक्त हो राग आदि के विषय में मौन (निरोध) का आश्रय ले जीवन पर्यन्त मुनि की तरह रमता है तो आगे चलकर पावन को भी पावन बनाने वाले, जन्म रहित, शीतल (शान्तिमय) परिपूर्ण ब्रह्मपद को प्राप्त करके उसी में स्थित हुआ जीवन्मुक्त पुरुष बड़ी-से-बड़ी आपत्तियों में पड़ने पर भी कभी शोक नहीं करता।

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरेपनवाँ सर्ग

ब्रह्म की विविध शक्ति

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-श्रीराम ! जैसे जल-जाति का बोध रखने वाले पुरुषों की दृष्टि में तरंग समुद्र से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार इस लोक में जिन्हें परमात्मतत्त्व का ज्ञान हो गया है, उनकी दृष्टि में उनका मन भी परब्रह्म परमात्मा ही है, उनसे भिन्न नहीं। रघुनन्दन ! अज्ञानी पुरुषों का मन ही संसार रूपी भ्रम का कारण है (अथवा जन्म-मरण रूपी संसार में भटकाने का हेतु है) -जैसे जो लोग जल-सामान्य पर दृष्टि नहीं रखते, उन्हीं को समुद्र के जल और तरंग में भेद प्रतीत होता है। अज्ञानियों के पक्ष में उन्हें केवल ज्ञान का उपदेश देने के लिये ही वाच्य-वाचक-सम्बन्ध जनित भेद की कल्पना की जाती है। परब्रह्म परमात्मा सर्वशक्तिमान्, नित्य, परिपूर्ण एवं अविनाशी हैं, उन सर्वव्यापी परमात्मा में जो न हो, ऐसी किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है। भगवान् सम्पूर्ण शक्तियों से परिपूर्ण हैं। उन्हें जब जो शक्ति रुचती है, तब उसी अनन्त शक्ति को वे सर्वव्यापी परमात्मा प्रकाशित करते हैं (उपयोग में लाते हैं)। श्रीराम! प्राणियों के शरीर में ब्रह्म की चेतना शक्ति दिखायी देती है। इसी तरह

प्रवह आदि वायुओं में ब्रह्म की स्पन्दशक्ति, प्रस्तर में जड़-शक्ति, जल में द्रव-शक्ति, अग्नि में तेजस् शक्ति, आकाश में शून्य-शक्ति और जगत की स्थिति में उनकी भाव (सत्ता) शक्ति विद्यमान है। ब्रह्म की सम्पूर्ण शक्ति दसों दिशाओं में व्याप्त दिखायी देती है। विनाशकाल में नाशशक्ति, शोकयुक्त प्राणियों में शोक-शक्ति, प्रसन्न जीवों में आनन्दशक्ति, योद्धा में वीर्यशक्ति, सृष्टिकाल में सर्ग शक्ति और प्रलयकाल में उनकी सर्वशक्ति सत्ता दृष्टिगोचर होती है। जैसे वृक्ष के बीज में फल, फूल, लता, पत्र, शाखा-प्रशाखा तथा जड़सहित वृक्ष अव्यक्तरूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म में यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है।

रघुनन्दन ! अब इस जगत् को और अहंतत्व (जीव) को तुम ब्रह्मरूप ही देखो। वह परब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापी है। उसका महान् (अनन्त) स्वरूप नित्य प्रकाशमान है। वही ब्रह्म जब किंचित् मननशक्ति को धारण करता है, तब मन कहलाता है। जैसे आकाश में भ्रमवश मोर के पंखों की प्रतीति होती है। शत्रुसुदन श्री राम ! यह जो मन का मननात्मक रूप प्रकट हुआ है, वह ब्रह्म की शक्ति ही है, इसलिये वह ब्रह्म ही है। ‘इदं’ (यह) ‘तत्’ (वह) और ‘अहं’ (मैं) –यह सब भेद प्रतीतिमात्र ही है, वास्तविक नहीं। जैसे निश्चल और निर्मल जलराशि में अपने-आप स्पन्द (कम्पन्न) होता है, उसी तरह परमात्मा में यह जीव पूर्वकर्म और वासना के अनुसार प्रकट हुआ है। यही संसार का कारण है। श्रीराम ! जैसे समुद्र का जल ही कल्लोल, ऊर्मि और तरंग-समुदाय के रूप में सब ओर स्थित रहता है, उसी तरह ज्ञानी की दृष्टि में यह सारा प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप ही है। जैसे विविध तरंगों से व्याप्त विशाल महासागरों में जल के अतिरिक्त दूसरी कोई कल्पना या सत्ता नहीं है, उसी तरह परब्रह्म परमात्मा में नाम-रूप-क्रियात्मक संसार की ब्रह्म से अतिरिक्त सत्ता नहीं है। यह जो कुछ जगत् जन्म लेता, नष्ट होता, गमन करता अथवा स्थित रहता है, वह सब ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म ही बर्तता है। करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण और स्थिति- ये सब ब्रह्म ही हैं। उसके बिना दूसरी कोई कल्पना है ही नहीं। यह सारा जगत् परमात्मा ही है। जो कुछ यह संकल्प-क्रम है, वह सब भी परमात्मा ही है। जैसे सुवर्ण बाजूबंद के रूप में प्रकट होता है, उसी प्रकार परमात्मा मनरूप से प्रकट हुआ है, इसलिये मन भी परमात्मा ही है।

राघव ! बन्धन और मोक्ष आदि का कोई सम्मोह ज्ञानी को नहीं होता। मोहजनित बन्धन और मोक्ष आदि तो अज्ञानी को ही होते हैं।

निष्पाप श्री राम ! विकल्प-जाल से परिपूर्ण यह संसार रचना प्रतीतिमात्र ही है, जो बन्ध, मोक्ष आदि की कल्पनाओं के रूप में विस्तार को प्राप्त हो रही है। वास्तव में यहाँ संकल्पमात्र के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ विकल्परूप प्रतीत होता है, वह संकल्प के कारण ही प्रतीति का विषय होता है। वह वास्तव में कुछ नहीं है, अथवा कुछ है अर्थात् परमात्मा का संकल्पमात्र है। स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ- ये सब अपने स्वप्न के समान मन के संकल्पमात्र से ही विकसित हुए हैं। जैसे केवल जलमय चंचल समुद्र अपने स्वरूपभूत जल में स्वयं ही स्फुरित होता है, उसी तरह परमात्मा में एकमात्र संकल्प ही सब ओर स्फुरित हो रहा है। पहले परमात्मा से एकमात्र संकल्प ही प्रकट हुआ । वही संकल्प सूर्य के व्यापारों से बढ़ने वाले दिन की भाँति लोगों के विविध व्यापारों से विस्तार को प्राप्त हुआ है।

वस्तुतः भेदरहित परमात्मा में अहंकार नहीं है। जैसे सूर्य की प्रचण्ड धूप में भ्रमवश मृग-तृष्णारूपिणी नदी की प्रतीति होती है, उसी प्रकार असम्यक्-दृष्टि (अज्ञान) के कारण ही परमात्मा में अहंकार का भान होता है। मनरूपी चिन्तामणि के द्वारा कल्पित जो महान् आरम्भ (कार्यसमूह की सृष्टि) है, वही संसाररूप में देखा जाता है। जैसे जल अपने स्वरूप का आश्रय लेकर स्वयं ही तरंग आदि के रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा का आश्रय लेकर मन स्वयं ही संसार के रूप में स्फुरित होता है। अद्वितीय परमात्मा में अज्ञान के कारण भेद और अभेद की भ्रान्ति हो रही है। इस भ्रम का बोध होने पर जब यह सब कुछ ब्रह्मतत्वरूप में ही अवशिष्ट रह जाता है, तब यहाँ कौन बद्ध है और कौन मुक्त होता है ? जब तक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता, तभी तक देह आदि के पीड़ित होने पर यह पीड़ारहित जीव भी पीड़ा से युक्त-सा प्रतीत होता है। अच्छेद्य होने पर भी देह के किसी अंग के कट जाने पर तमतमा उठता है। परंतु जब परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तब ये बातें नहीं होतीं, क्योंकि परमात्मा में भेद, अभेद्य, विकार और पीड़ा-कुछ भी नहीं है।

यह शरीर गिर जाय या उठ खड़ा हो अथवा आकाश के भीतर घला

जाय, उससे विलक्षण रूपवाले मुझ आत्मा की क्या हानि है? श्री राम ! मन ही सम्पूर्ण जगत् का शरीर है। मनकी कारणभूत आद्याशक्ति-रूप चिन्मय परमात्मा का कभी नाश नहीं होता। यह वासना इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट वस्तु में द्वेष के कारण बन्धन में डालने वाली मन की शक्ति है। इसी के द्वारा व्यर्थ भ्रम से स्वप्न की भाँति इस जगत् की कल्पना हुई है। यह वासना अविद्या है। ज्ञान के बिना इसका अन्त होना बड़ा कठिन है। यह केवल दुःख देने के लिये ही बढ़ती है। इसके स्वरूप का ज्ञान न होने से ही यह इस मिथ्या प्रपञ्च का विस्तार करती है। इस मानसी-शक्ति वासना ने ही इस विशाल जगत् को दीर्घकाल तक रहने वाले स्वप्न के समान रचा है। यह है तो असत्, किंतु सत्-सा प्रकट हुआ जान पड़ता है। आरम्भमात्र ही इसका फल है अर्थात् यह निस्सार एवं आपातरमणीय है। मनका नाश ही महान् अभ्यूदय-परम पुरुषार्थ की प्राप्ति है और वही समस्त दुःखों के समूल नाश का उपाय है। निरन्तर सुख-दुख रूपी वृक्ष-समूहों से भरपूर और क्रूर कालरूपी विषैले सर्प के निवास स्थान इस समस्त संसाररूपी वन में यह विवेकहीन मन ही बड़ी-बड़ी विपत्तियों का एकमात्र कारण और प्रभु है।

महर्षि वसिष्ठ के इतना उपदेश दे लेने पर दिन बीत गया, सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये। उस राजसभा में बैठे हुए ऋषि-मुनि तथा अन्य सभासद् सायंकालिक कृत्य (संध्योपासना और अग्निहोत्र आदि) करने के लिये स्नान के उद्देश्य से उन महामुनि को नमस्कार करके चले गये तथा रात बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ ही वे सब सभासद् फिर वहाँ आ गये।

तिरेपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

जगत् की चित्तरूपता, वासनायुक्त मन के दोष, मन का महान् वैभव तथा उसे वश में करने का उपाय

श्री वसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! जैसे सागर से उसकी बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा से इस चित्तरूपी तरंग का उत्थान हुआ है। यही अपने संकल्प से विशालता को प्राप्त होकर चारों ओर इस भुवन का विस्तार करता है। सब प्रकार की वस्तुओं से सम्पन्न यह सब चित्त के संकल्प से ही प्रकट हुआ है। श्रीराम ! जैसे छोटा बच्चा घर में कीचड़ या गीली मिट्टी से विचित्र खिलौने बनाता है, वैसे ही मन अपने संकल्प से विकल्परूपी

जगत् सृष्टि करता है। जैसे ऋतुओं का निर्माण करने वाला काल विभिन्न ऋतुओं में वृक्ष कुछ और ही विलक्षण रूप कर देता है, उसी प्रकार चित्त भी इन सब पदार्थो को विलक्षण-सा बना देता है। जैसे वृक्ष से पल्लव प्रकट होते हैं, उसी प्रकार मन के संकल्प से व्यामोह, सम्भ्रम, अनर्थ, देश, काल, गमन और आगमन-ये सब-के सब उत्पन्न होते हैं। जैसे जल ही समुद्र है और उष्णता ही अग्नि है, उसी प्रकार चित्त ही विविध व्यापारों से पूर्ण संसार है (क्योंकि वह उसी के संकल्प से उत्पन्न हुआ है) । कर्ता, कर्म और करण के साथ जो यह द्रष्टा, दर्शन और दृश्य से सम्पन्न संसार प्राप्त हुआ है, वह सब-का-सब चित्त ही है। जैसे सुवर्ण-तत्व की परीक्षा करने वाला पुरुष बाजूबंद, मुकुट, कड़ा और हार आदि आकारों से सुशोभित उसके विविध रूपों को छोड़कर एकमात्र सुवर्ण में ही बुद्धि को लगाने पर वास्तविक सुवर्ण को देख पाता है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष भी विभिन्न लोकों, उनके भीतर के भुवनों और उनके भी भीतर फैले हुए वनान्तर आदि समस्त वस्तुओं को त्यागकर जब यह समझ लेता है कि इन सबके रूप में अपने ही स्वरूप-भेद से अपने ही संकल्प विकल्पों से चित्त स्वयं ही प्रकट हुआ है, तब यह सारा जगत् उसे चित्तरूप ही दिखायी देता है, फिर चित्त के सिवा दूसरी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती।

जैसे बालिका वेतालों का विस्तार करती है, उसी प्रकार अत्यन्त तुच्छ वासनारूपी सहस्त्रों दोषों से मलिन हुई मनोवृति, जो नहीं है उस दुःख का भी पूर्णरूप से विस्तार करती है, किन्तु जो वासनारूप कलंक से मलिन नहीं हुई है-निष्कलंक है, वह मनोवृत्ति महान् दुःख विद्यमान हो तो भी उसे उसी प्रकार क्षण भर में मिटा देती है, जैसे सूर्य की प्रभा अन्धकार को। वासनायुक्त अज्ञानी चित्त को जहाँ भय नहीं है, वहाँ भी भय दिखायी देता है। जैसे भ्रम में पड़े पथिक को ठूठा काठ दूर से पिशाच-जैसा जान पड़ता है। कलंक से मलिन हुआ मन मित्र में भी शत्रुभाव की आशंका करता है, जैसे नशे में चूर हुआ प्राणी इस पृथ्वी को घूमती हुई देखता है। मन के व्याकुल होने पर चन्द्रमा से भी वज्रपात होता जान पड़ता है। विष-बुद्धि से भक्षण किया गया अमृत भी विष का काम करता है। मन की उत्कट वासना ही जीव के लिये एकमात्र मोहका कारण है, अतः यत्नपूर्वक उसी की जड़ काटकर उसे उखाड़ फेंकना

जाय, उससे विलक्षण रूपवाले मुझ आत्मा की क्या हानि है? श्री राम ! मन ही सम्पूर्ण जगत् का शरीर है। मनकी कारणभूत आद्याशक्ति-रूप चिन्मय परमात्मा का कभी नाश नहीं होता। यह वासना इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट वस्तु में द्वेष के कारण बन्धन में डालने वाली मन की शक्ति है। इसी के द्वारा व्यर्थ भ्रम से स्वप्न की भाँति इस जगत् की कल्पना हुई है। यह वासना अविद्या है। ज्ञान के बिना इसका अन्त होना बड़ा कठिन है। यह केवल दुःख देने के लिये ही बढ़ती है। इसके स्वरूप का ज्ञान न होने से ही यह इस मिथ्या प्रपञ्च का विस्तार करती है। इस मानसी-शक्ति वासना ने ही इस विशाल जगत् को दीर्घकाल तक रहने वाले स्वप्न के समान रचा है। यह है तो असत्, किंतु सत्-सा प्रकट हुआ जान पड़ता है। आरम्भमात्र ही इसका फल है अर्थात् यह निस्सार एवं आपातरमणीय है। मनका नाश ही महान् अभ्यूदय-परम पुरुषार्थ की प्राप्ति है और वही समस्त दुःखों के समूल नाश का उपाय है। निरन्तर सुख-दुख रूपी वृक्ष-समूहों से भरपूर और क्रूर कालरूपी विषैले सर्प के निवास स्थान इस समस्त संसाररूपी वन में यह विवेकहीन मन ही बड़ी-बड़ी विपत्तियों का एकमात्र कारण और प्रभु है।

महर्षि वसिष्ठ के इतना उपदेश दे लेने पर दिन बीत गया, सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये। उस राजसभा में बैठे हुए ऋषि-मुनि तथा अन्य सभासद् सायंकालिक कृत्य (संध्योपासना और अग्निहोत्र आदि) करने के लिये स्नान के उद्देश्य से उन महामुनि को नमस्कार करके चले गये तथा रात बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ ही वे सब सभासद् फिर वहाँ आ गये।

तिरेपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

जगत् की चित्तरूपता, वासनायुक्त मन के दोष, मन का महान् वैभव तथा उसे वश में करने का उपाय

श्री वसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! जैसे सागर से उसकी बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा से इस चित्तरूपी तरंग का उत्थान हुआ है। यही अपने संकल्प से विशालता को प्राप्त होकर चारों ओर इस भुवन का विस्तार करता है। सब प्रकार की वस्तुओं से सम्पन्न यह सब चित्त के संकल्प से ही प्रकट हुआ है। श्रीराम ! जैसे छोटा बच्चा घर में कीचड़ या गीली मिट्टी से विचित्र खिलौने बनाता है, वैसे ही मन अपने संकल्प से विकल्परूपी

जगत् सृष्टि करता है। जैसे ऋतुओं का निर्माण करने वाला काल विभिन्न ऋतुओं में वृक्ष कुछ और ही विलक्षण रूप कर देता है, उसी प्रकार चित्त भी इन सब पदार्थों को विलक्षण-सा बना देता है। जैसे वृक्ष से पल्लव प्रकट होते हैं, उसी प्रकार मन के संकल्प से व्यामोह, सम्भ्रम, अनर्थ, देश, काल, गमन और आगमन-ये सब-के सब उत्पन्न होते हैं। जैसे जल ही समुद्र है और उष्णता ही अग्नि है, उसी प्रकार चित्त ही विविध व्यापारों से पूर्ण संसार है (क्योंकि वह उसी के संकल्प से उत्पन्न हुआ है) । कर्ता, कर्म और करण के साथ जो यह द्रष्टा, दर्शन और दृश्य से सम्पन्न संसार प्राप्त हुआ है, वह सब-का-सब चित्त ही है। जैसे सुवर्ण-तत्व की परीक्षा करने वाला पुरुष बाज़ूबंद, मुकुट, कड़ा और हार आदि आकारों से सुशोभित उसके विविध रूपों को छोड़कर एकमात्र सुवर्ण में ही बुद्धि को लगाने पर वास्तविक सुवर्ण को देख पाता है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष भी विभिन्न लोकों, उनके भीतर के भुवनों और उनके भी भीतर फैले हुए वनान्तर आदि समस्त वस्तुओं को त्यागकर जब यह समझ लेता है कि इन सबके रूप में अपने ही स्वरूप-भेद से अपने ही संकल्प विकल्पों से चित्त स्वयं ही प्रकट हुआ है, तब यह सारा जगत् उसे चित्तरूप ही दिखायी देता है, फिर चित्त के सिवा दूसरी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती।

जैसे बालिका वेतालों का विस्तार करती है, उसी प्रकार अत्यन्त तुच्छ वासनारूपी सहस्त्रों दोषों से मलिन हुई मनोवृति, जो नहीं है उस दुःख का भी पूर्णरूप से विस्तार करती है, किन्तु जो वासनारूप कलंक से मलिन नहीं हुई है-निष्कलंक है, वह मनोवृत्ति महान् दुःख विद्यमान हो तो भी उसे उसी प्रकार क्षण भर में मिटा देती है, जैसे सूर्य की प्रभा अन्धकार को। वासनायुक्त अज्ञानी चित्त को जहाँ भय नहीं है, वहाँ भी भय दिखायी देता है। जैसे भ्रम में पड़े पथिक को ठूठा काठ दूर से पिशाच-जैसा जान पड़ता है। कलंक से मलिन हुआ मन मित्र में भी शत्रुभाव की आशंका करता है, जैसे नशे में चूर हुआ प्राणी इस पृथ्वी को घूमती हुई देखता है। मन के व्याकुल होने पर चन्द्रमा से भी वज्रपात होता जान पड़ता है। विष-बुद्धि से भक्षण किया गया अमृत भी विष का काम करता है। मन की उत्कट वासना ही जीव के लिये एकमात्र मोहका कारण है, अतः यत्नपूर्वक उसी की जड़ काटकर उसे उखाड़ फेंकना

चाहिये। मनुष्यों का मनरूपी हिरन संसाररूपी वन की झाड़ी में वासनारूपी जाल से आकृष्ट हो बड़ी विवशता को प्राप्त हो जाता है। जिस विचार से जीव की ज्ञेय–पदार्थ सम्बन्धिनी वासना कट जाती है, उसका प्रकाश बादलों के आवरण से रहित सूर्य की प्रभा के समान प्रकाशित होता है। अतः तुम मन को ही मानव समझो, इस स्थूल देह को नहीं। देह जड़ है, किंतु इसके भीतर रहने वाले मन को न जड़ माना जाता है न अजड़। तात ! निष्पाप रघुनन्दन ! मन ने जो कर दिया, उसी को किया हुआ समझो और मन ने जिसे छोड़ दिया, उसी को छोड़ा हुआ मानो। यह सारा जगत् एकमात्र मन ही है। मन ही सम्पूर्ण भूमण्डल है। मन ही आकाश, मन ही भूमि, आदि पदार्थ में प्रकाश आदि रूप से अपने–आपको योजित न करे तो ये सूर्य आदि भी कभी प्रकाशित न हों। जिसका मन मोह को प्राप्त होता है, वही मूढ़ कहलाता है, यदि शरीर मोह को प्राप्त हो तो उसके शव को कोई मूढ़ नहीं कहता। मन जब देखता है तब नेत्र बन जाता है, सुनता है तब श्रवण या कान बन जाता है, स्पर्श का अनुभव करने से वही त्वगिन्द्रिय का रूप ग्रहण करता है, सूँघने से घ्राणेन्द्रिय और रसास्वादन करने से रसनेन्द्रिय हो जाता है। जैसे नाटक में एक ही नट अनेक भूमिकाओं (विविघ रूपों) में देखा जाता है, उसी प्रकार देह के भीतर इन विचित्र इन्द्रिय वृतियों में केवल मन की ही अनुवृति होती है। मन छोटे को बड़ा बना देता, सत्य पदार्थ में असत्ता स्थापित कर देता, स्वादिष्ट को कड़ुआ बनाता और शत्रु को मित्र बना लेता है।

यदि भगवत्–स्मरण आदि मनोहर मनोवृत्ति का उदय हो तो रौरव नरक का दुःख भी सुख के रूप में परिणत हो जाता है। जिसे कल सबेरे राज्य मिलने का विश्वास है, वह यदि कारागार में अच्छी तरह बँधा हो तो भी उसका वह बन्धन दुःखद नहीं होता। मन के जीत लिये जाने पर सारी इन्द्रियाँ स्वतः वश में हो जाती हैं। श्रीराम ! सर्वत्र विद्यमान, स्वच्छ, निर्विकार, सम, सूक्ष्म, साक्षिस्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थों में अनुगत, चेत्य पदार्थों से अभिन्न तथा चिन्मात्ररूप जो आत्मसत्ता है, उससे उपलक्षित जो बाग आदि सब क्रियाओं से रहित ब्रह्म है, उसे भी यह मन देह के तुल्य और जड़ बनाकर अन्तःकरण में काम–संकल्प–रूप भ्रान्ति से और बाहर पर्वत, नदी, समुद्र, आकाश, एवं नगर आदि की लीला से युक्त हो व्यर्थ घूमता रहता है।

जिसे चित्त ने देखा है, वही वस्तु देखी गयी मानी जाती है। यदि चित्त ने नहीं देखी तो सामने रक्खी हुई वस्तु भी नहीं दिखायी देती। जैसे अन्धकार में नील रूप की कल्पना की गयी है, उसी तरह मनने अपने में ही इन्द्रियों का निर्माण कर रक्खा है। इन्द्रियों से मन साकार होता है और मन से इन्द्रियाँ। इस प्रकार यद्यपि दोनों समान हैं, तथापि इनमें मन ही उत्कृष्ट है, क्योंकि मन से इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, इन्द्रियों से मन नहीं। इस तरह चित्त और शरीर एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न होने पर भी जिनकी दृष्टि में इन दोनों की एकता है अर्थात् जो चित्त और शरीर दोनों को जड़-कोटि में मानकर उन्हें एक सा समझते हैं, वे ज्ञेय आत्मा के ज्ञाता परम ज्ञानी महात्मा हम सबके लिए वन्दनीय हैं। जब मन अन्यत्र आसक्त होता है-किसी दूसरे काम में उलझा रहता है, तब बड़े यत्न से कही जाती हुई कथा का क्रम भी टूट जाता है। स्वप्न में जब मन उल्लास को प्राप्त होता है, तब हृदय के भीतर ही निर्मित हुए नगर एवं पर्वत आदि विस्तृत आकाश में निर्मित नगर और पर्वत आदि के समान अपने-अपने कार्य को करने में समर्थ दिखायी देते हैं। जैसे चंचल समुद्र अपने आप में ही तरंगमालाओं का विस्तार करता है, उसी तरह मन स्वप्नावस्था में अपने से विक्षिप्त हुए हृदय में ही पर्वत और नगरों की श्रेणी को फैला देता है। जैसे समुद्र के भीतर जल से तरंगमालाएँ और छोटी-छोटी लहरें प्रकट होती हैं, उसी तरह देह के भीतर मन से ही स्वप्नगत पर्वत और नगरों की पंक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। जैसे पत्र, लता, फूल और फल की शोभा अंकुर का ही स्वरूप है-उससे भिन्न नहीं, उसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्न की विलास-भूमियाँ मन का ही विकास हैं, मनसे भिन्न नहीं। जैसे सुवर्ण की नारी-प्रतिमा सुवर्ण से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्नावस्था की क्रिया-लक्ष्मी चित्त से पृथक नहीं है। जैसे जल का वैभव ही धारा, जलकण, तरंग और फेन आदि की शोभा के रूप में दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार जगत् के विविध पदार्थो के रूप में यह चित्त का ही विचित्र वैभवशाली नानात्व प्रकट हुआ है। जैसे नट श्रृंगार आदि रस के आवेश से विभिन्न भूमिका (वेश वैचित्र्य) को ग्रहण करता है, उसी प्रकार अपनी चित्तवृत्ति ही यहाँ राग के आवेश से जाग्रत् और स्वप्नगत दृश्य प्रपञ्च के रूप में उदित होती है।

सब ओर फैला हुआ वासनारूढ़ मन विषयों के मनन से अतिशय मोह

को प्राप्त हो अपने संकल्प के अनुसार विभिन्न प्रकार की योनि (जन्मस्थान), सुख-दुख तथा भय-अभय को प्राप्त होता है। जैसे तिल में तेल रहता है, उसी तरह मन में सुख और दुख रहते हैं। वे ही देश और काल का प्रभाव पड़ने से कभी घनीभूत हो जाते हैं और कभी अत्यन्त सूक्ष्म। मनःशरीर के संकल्प के सफल होने पर ही स्थूल-शरीर शान्ति एवं उल्लास को प्राप्त होता है, आता-जाता है और उछलता-कूदता है। वह स्वतन्त्ररूप से कुछ नहीं करता। जैसे साध्वी स्त्री अन्तःपुर के आँगन में ही अपने संकल्प से उदित विविध एवं विस्तृत उल्लासों के साथ क्रीड़ा करती है, उसी प्रकार मन इस देह के भीतर अपने संकल्पों द्वारा कल्पित अनेक प्रकार के बढ़े हुए उल्लासजनक भावों से क्रीड़ा-विलास करता है। इसलिये जो पुरुष अन्तःकरण में मन को चपलता (विषय-चिन्तन) के लिये अधिक अवसर नहीं देता, उसका वह मन खंभे में बंधे हुए हाथी के समान स्थिर होकर लय को प्राप्त हो जाता है। निष्पाप रघुनन्दन ! जिसका मन एक लक्ष्य में स्थिर होकर अपनी चपलता का त्याग कर चुका है, वह ध्यान के द्वारा सर्वोत्तम पद (परब्रह्म परमात्मा) से संयुक्त हो जाता है। जैसे मन्दराचल के स्थिर हो जाने पर क्षीरसागर शान्त हो गया था, उसी प्रकार मन के संयम से संसाररूपी भ्रान्ति का शमन हो जाता है।

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

मनोनिग्रह से लाभ

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्री राम ! यह चित्त एक महान् रोग है। इसकी चिकित्सा के लिये एक बहुत बड़ी औषध है, जो अभीष्टसाधक, निश्चितरूप से लाभ पहुँचाने वाली परम स्वादिष्ट और अपने ही अधीन है, उसे बताता हूँ, सुनो। राग के विषयभूत बाह्य विषयों का परित्याग करके परमात्मचिन्तनरूपी अपने ही पुरुषार्थमय प्रयत्न से चित्तरूपी वेताल पर शीघ्र विजय पायी जाती है। जो अभीष्ट वस्तु (बाह्य विषयभोग) को त्यागकर चित्त के राग आदि रोगों से रहित हो स्वस्थ रहता है, उसने अपने मन को उसी प्रकार जीत लिया है, जैसे मजबूत दाँतों वाला हाथी खराब और कमजोर दाँतवाले हाथी को जीत लेता है। स्वसंवेदन (आत्म या परमात्मा के निरन्तर चिन्तन) रूपी प्रयत्न से चित्तरूपी बालक का पालन किया जाता है। अर्थात् उक्त यत्न से उसके राग और

चपलता आदि रोगों की चिकित्सा करके उसे स्वस्थ बनाया जाता है। उसे अवस्तु (मिथ्या अथवा अनात्मवस्तु) से हटाकर वस्तु (सत्य अथवा आत्मतत्त्व) में लगाया जाता है तथा उसे बोध से सम्पन्न किया जाता है। जैसे बालक को प्यार या भय दिखाकर बिना प्रयत्न के ही इधर-उधर जहाँ चाहे लगाया जा सकता है, उसी प्रकार भावों से मन को भी अनायास ही अन्तरात्मा में लगाया जा सकता है। ऐसा करने में कठिनाई ही क्या है ?

भविष्य में अभ्युदयरूपी फलको देने वाले सत्कर्म (समाधि के अभ्यास) में लगे हुए मन को अपने पुरुषार्थ से ही चेतन परमात्मा के साथ संयुक्त करे। जो सर्वथा अपने अधीन और परम हितकर है, वह अभीष्ट वस्तु का त्यागरूपी वैराग्य जिसके लिये कठिन हो गया है, वह मनुष्य नहीं, विषयों का कीड़ा है। उसे धिक्कार है। जैसे कोई पहलवान किसी बालक को अनायास ही पछाड़ देता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धि से अरम्य विष-समूह में परम रमणीय परब्रह्म परमात्मा की भावना करके मन को बिना यत्न के ही जीत लिया जा सकता है। पौरूषरूपी प्रयत्न से चित्त को शीघ्र ही जीत लिया जाता है। जो चित्त को जीतकर उसके प्रभाव से रहित हो गया है, वह बिना किसी प्रयास के परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। अपने चित्त पर आक्रमण करके उसे वश में कर लेना मात्र जो सहजसाध्य और स्वाधीन कार्य है, उसे ही जो लोग नहीं कर सकते, वे पुरुष नहीं, गीदड़ हैं। उन्हें धिक्कार है। एकमात्र अपने पौरुष से ही सिद्ध होने वाला जो अभीष्ट वस्तु का त्यागरूपी मनोनिग्रहकर्म है, उसके बिना शुभगति नहीं हो सकती। अभीष्ट बाह्य विषयों का स्मरण न करना अथवा मनोवाञ्छित मोक्ष-सुख की प्राप्ति कराना जिसका स्वरूप है, उस मुख्य साधन मनोनिग्रह के बिना गुरू का उपदेश, शास्त्र के अर्थ का चिन्तन और मन्त्र आदि सारे साधन या युक्तियाँ तिनकों के समान व्यर्थ हैं।

संकल्पों के परित्यागरूपी शस्त्र से जब चित्तरूपी वृक्ष का समूल उच्छेद हो जाता है, तब साधक सर्व-स्वरूप सर्वव्यापी शान्त ब्रह्मरूप हो जाता है। श्रीराम ! जैसे दिग्भ्रम होने पर पूर्व में पशिचम की प्रतीति होने लगती है और वह अनुभव के विपरीत बुद्धि उस समय बिल्कुल स्थिर हो जाती है, परंतु विवेकरूपी पुरुष-प्रयत्न से उस भ्रान्त बुद्धि का भी शीघ्र ही निवारण किया जा सकता है, उसी तरह मनको भी वैराग्यरूपी पुरुष-प्रयत्न से शीघ्र ही जीता जा

सकता है। मन में उद्वेग का न होना राज्य आदि सम्पत्ति का मूल कारण है। उद्वेग या उकताहट न होने से ही जीव को अपने मन पर विजय प्राप्त होती है, जिससे तीनों लोकों पर विजय पाना तृण के समान सहज हो जाता है। जो नराधम अपने मन के निग्रह में भी समर्थ नहीं हैं, वे व्यवहार-दशाओं में व्यवहार का निर्वाह कैसे कर सकेंगे। मैं पुरुष हूँ, मरा हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ और जी रहा हूँ इत्यादि कुदृष्टियाँ चंचल चित्त की वृत्तियाँ ही प्रतीत होती हैं, जो बिना हुए ही प्रकट हुई हैं। यहाँ न तो किसी की मृत्यु होती है और न कोई जन्म ही लेता है। मन स्वयं ही अपने मरण का तथा लोकान्तर गमन का संकल्पमात्र से अनुभव करता है। जो नित्य सत्, सबका हितकारी, मायामयी मलिनता से रहित और सर्वव्यापी परमात्मा हैं, उनमें चित्त का लय हुए बिना मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस बात का ऊपर-नीचे तथा अगल-बगल के लोकों में रहनेवाले तत्त्वदर्शी विद्वानों ने बारंबार विचार किया है और सब-के सब इसी निश्चय पर पहुँचे हैं कि चित्त की शान्ति के सिवा मुक्ति का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। ऋतु, सत्य, व्यापक और निर्मल ज्ञान का हृदय में उदय होने पर मन के लय होने मात्र से परमशान्ति प्राप्त हो जाती है। यदि आपातरमणीय विषयों को तुम जैसे विद्वान ने अरमणीय वस्तुओं की कोटि में समझ लिया है, तब तो मेरा विश्वास है कि तुमने चित्त के सारे अंग काट डाले हैं। यह सामने दिखायी देने वाला जो वह (पिता से उत्पन्न) शरीर है, वह मैं हूँ और यह जो घर, खेत आदि धन है, यह सब मेरा है ! यह 'मैं' और 'मेरा' ही मन है। यदि यह मैं और मेरेपन की भावना न की जाय तो उससे मन उसी तरह कट जाता है, जैसे हँसियासे तृण। जैसे शरद् ऋतु में आकाश में बिखरे हुए बादलों के टुकड़े वायु द्वारा उड़ा दिये जाते हैं, उसी प्रकार मैं और मेरे पन की कल्पना या भावना न करने से मन भी उड़ा दिया जाता है-नष्ट कर दिया जाता है। इसलिये कोई विज्ञ पुरुष जैसे अपने बालक पुत्र को अच्छे कर्म में लगाता है, उसी तरह विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह अपने मन को कल्याण में लगाये। जिसका नाश होना कठिन है तथा जो नूतन या बालक न होकर सयाना और दर्प से भरा हुआ है, उसी मन रूपी सिंह को, जो संसार का विस्तार करने वाला है, जो लोग मार डालते हैं, वे निर्वाण पद का उपदेश देने वाले महात्माजन इस संसार में धन्य हैं। उनकी सदा ही विजय

होती है। भले ही प्रलयकाल के प्रचण्ड पवन प्रवाहित हों, चारों समुद्र एक में मिलकर एकार्णव हो जायँ और बारहों सूर्य एक साथ तपने लगें; परंतु जिसका मन शान्त हो गया है, उस पुरुष की कभी कोई हानि नहीं होती।

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

छप्पनवाँ सर्ग

वासना-त्याग का उपदेश

श्री वसिष्ठ जी ने कहा-जैसे बर्फ का रूप शीतलता और काजल का रूप कालिमा है, उसी प्रकार मनका रूप अत्यन्त चंचलता है।

श्रीराम जी ने पूछा-ब्रह्मन् ! इस अत्यन्त चंचल मन के तीव्र वेग या चपलता का बलपर्वक निवारण कैसे हो सकता है ?

श्री वसिष्ठ जी ने कहा-श्रीराम ! इस जगत् में कहीं भी चपलता से रहित मन नहीं देखा जाता। जैसे उष्णता अग्नि का धर्म है, वैसे ही चंचलता मन का। चेतन तत्त्व जो यह चंचल क्रिया शक्ति विद्यमान है, उसी को तुम जगत् का आडम्बररूप मानसी शक्ति समझो। जैसे स्पन्दन और अस्पन्दन के बिना वायु के अस्तित्व का पता ही नहीं चलता, वैसे ही चंचल स्पन्दन (चेष्टा) के बिना चित्त का अस्तित्व ही नहीं है। जो मन चंचलता से रहित है, वही मरा हुआ कहलाता है। वही तप है और वही शास्त्र का सिद्धान्तभूत मोक्ष कहलाता है। मन के विनाश मात्र से सम्पूर्ण दुःखों की शान्ति हो जाती है और मन के संकल्पमात्र से परम दुःख की प्राप्ति होती है। श्रीराम ! मन की जो यह चलता है, वह अविद्या से उत्पन्न होने के कारण अविद्या कही जाती है। उस अविद्या का ही दूसरा नाम वासनापद है। उसका विचार के द्वारा नाश कर देना चाहिये। विषय-चिन्तन का त्याग कर देने से अविद्या और वासनामयी उस चित्त-सत्ता का अन्तः करण में लय हो जाता है और ऐसा होने से परम श्रेय (मोक्ष-सुख) की प्राप्ति होती है। पौरुष प्रयत्न के द्वारा मन को जिस वस्तु में भी लगाया जाता है, उसी को प्राप्त होकर वह अभ्यासवश तद्रूप हो जाता है।

जो संसार-सागर के वेग में पड़कर तृष्णारूपी ग्राह की दाढ़ों में फँस गये हैं और भ्रमरूपी आवर्तों द्वारा दूर बहाये जा रहे हैं, उनके वहाँ से पार जाने के लिये अपना जीता हुआ मन ही नौकारूप है। जिसने परम बन्धनकारी मनरूपी पाश के अपने (जीते हुए) मन के द्वारा ही काटकर आत्मा का उद्धार नहीं कर

लिया, उसे दूसरा कोई बन्धन से नहीं छुड़ा सकता। विद्वान् पुरुष को चाहिये कि हृदय को वासित करने वाली जो-जो वासना, जिसका दूसरा नाम मन है, उदित होती है, उस-उस का परित्याग करे-उसे मिथ्या समझकर छोड़ दे। इससे (वासनात्मक मन के साथ ही) अविद्या का क्षय हो जाता है। भावना की भावना न करना ही वासना का क्षय है। इसी को मन का नाश एवं अविद्या का नाश भी कहते हैं।

रघुनन्दन ! भ्रम से दो चन्द्रमाओं की प्रतीति के समान यह वासना नित्य असत्य होती हुई ही सत्य के समान उठ खड़ी हुई है। इसलिये इसका त्याग कर देना ही उचित है। यहाँ पर तत्त्व (अद्वितीय परब्रह्म) के सिवा न कोई सद् वस्तु है न असद् वस्तु। जैसे तरंग मालाओं से परिपूर्ण विशाल महासागर में जलराशि के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है (उसी तरह संसार में ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई भाव या अभाव रूप पदार्थ नहीं है)। यदि कर्म का फल सत्य हो तो कर्म उपादेय (ग्राह्य) होना चाहिये और यदि उसका फल मिथ्या हो तो वह कर्म सर्वथा हेय (त्याज्य) ही होना चाहिये; क्योंकि सब लोग एकमात्र उपादेय वस्तु में ही आसक्त होते हैं। चूँकि कर्म का फल मिथ्या है, अतः उसमें आसक्त न होना ही उचित है। इन्द्रजाल के समान यहाँ सब कुछ मायामय और अवास्तविक है; फिर उसमें क्या आस्था हो सकती है-कैसे हेय और उपादेय दृटियाँ हो सकती हैं। रघुकुलतिलक श्रीराम ! संसार-वृक्ष की बीज-कणिकारूप जो यह अविद्या है, इसका अस्तित्व नहीं है, तो भी यह सत्तायुक्त वस्तु की भाँति विस्तार को प्राप्त हुई है।

यह अविद्या मनोराज्य की भाँति केवल कल्पित आकृतिमात्र से भासित होती है। सत्यता का इसमें सर्वथा अभाव है। यद्यपि यह सैकड़ों, हजारों शाखाओं से युक्त जान पड़ती है, तथापि वास्तव में कुछ भी नहीं है। यह जंगल में प्रतीत होने वाली मृगतृष्णा की भाँति मिथ्या ही है। तो भी इसने व्यर्थ ही आडम्बर फैला रक्खा है। जैसे मृगतृष्णा उन भोले-भाले मृगों को ही धोखे में डालती है-मनुष्यों को नहीं, उसी प्रकार यह अविद्या अज्ञ पुरुषों को ही धोखा देती है, विज्ञ पुरुषों को नहीं। जैसे प्रलय काल की आँधी भीषण रूप धारणकर धूलराशि से व्याप्त हो बलपूर्वक तीनों लोकों को आक्रान्त कर लेती है, उसी प्रकार अविद्या भी भयंकर आकार धारण कर विचरती है। रजोगुण के आधिक्य

से वह धूसर जान पड़ती है और हठात् लोक-लोकान्तरों को पददलित कर देती है। जैसे आकाश में अकारण ही नीलिमा दिखायी देती है, उसी प्रकार यह अविद्या भी किसी कारण के बिना ही प्रतीति का विषय होती है। दो चन्द्रमाओं के भ्रम की भाँति इसकी उत्पत्ति हुई है। यह स्वप्न समान भ्रम उत्पन्न करती है और जैसे नौका द्वारा यात्रा करने वाले लोगों को तटवर्ती ठूँठे काठ में भी गतिशीलता की प्रतीति होती है, वैसे ही यहाँ इस अविद्या का उत्थान हुआ है। यह अविद्या जब चित्त को दूषित कर देती है, तब इससे व्याकुल हुए लोगों को दीर्घकाल तक संसाररूपी स्वप्न का भ्रम बना रहता है। विषयरूपी रथ पर आरूढ़ हुई यह उद्भुत वासनारूपिणी प्रबल अविद्या मन को उसी तरह शीघ्र आक्रान्त कर लेती है, जैसे जाल पक्षी को फाँस लेता है। जैसे विवेक-बुद्धि से विषय-बुद्धि का निरोध किया जाता है, उसी तरह प्रयत्नपूर्वक इस वासनारूपिणी अविद्या का भी शीघ्र निरोध करना चाहिये। जैसे स्रोतों को रोक देने से नदी सूख जाती है, उसी प्रकार अविद्या के निरोध से यह मनोमयी नदी भी सूखकर नष्ट हो जाती है।

श्रीराम जी बोले-ब्रह्मन् ! यह अविद्या अविद्यमान (असत्) है, अत्यन्त तुच्छ है और मिथ्या भावनारूप है, तो भी इसने कोमलांगी युवती की भाँति सारे जगत् को अंधा बना रक्खा है-यह बड़े आश्चर्य की बात है। इसका न कोई रूप है न आकार। यह सुन्दर चेतन से भी रहित है और असत् होकर भी नष्ट नहीं हो रही है। इसने सारे जगत् को अंधा बना रक्खा है, यह कैसा आश्चर्य है ! यह सदा अनन्त दुःखों से व्याप्त, मृतक के तुल्य और संज्ञाहीन है; तो भी इसने जगत् को अंधा बना रक्खा है, यह विचित्र बात है। काम और क्रोध ही इसके सुदृढ़ अंग हैं। तमोगुण की अधिकता से यह वक्र जान पड़ती है और ज्ञान का उदय होने पर यह शीघ्र ही शरीर रहित (नष्ट) हो जाती है; तो भी इसने जगत को अंधा बना रक्खा है, यह कैसी अद्भुत बात है। अपने आत्मस्वरूप परमात्मा के विषय में जो अंधे (मूढ़) हैं, वे ही इस अविद्या के आश्रय हैं। यह जड़ है, जड़ता से जीर्ण-शीर्ण है और दुःख से अत्यन्त प्रलाप करने वाली है; तो भी इसने जगत् को अंधा बना रक्खा है, यह कितने आश्चर्य की बात है ! प्रभो ! अनन्त दुश्चेष्टारूप विलास करने वाली तथा मनरूपी गुहागृह में बद्ध वासना वाली यह अविद्या, जिसकी कहीं समता नहीं है,

किस उपाय से नष्ट होती है ?

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

आत्मदर्शन

श्रीरामचन्द्र जी ने पूछा-ब्रह्मन् ! अविद्या के प्रभाव से उत्पन्न हुआ जो पुरुष का गहन एवं महान् अंधापन है, उसका निवारण कैसे होता है ?

श्री वसिष्ठ जी ने कहा-रघुनन्दन ! जैसे ओस या पाले की एक कणिका सूर्य का दर्शन होने से क्षण भर में नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार परमात्मा का साक्षात्कार होने से इस अविद्या का तत्काल नाश हो जाता है। यह अविद्या संसार रूपी पर्वत शिखरों के तटवर्ती स्थान में, जो गहन दुःखरूपी काँटों से सुशोभित होते हैं, अपने साथ देहाभिमानी जीव को तभी तक नीचे गिराने के लिये आन्दोलित करती रहती है, जब तक उसका विनाश करने वाली और मोह को क्षीण बना देने वाली परमात्म-साक्षात्कार की इच्छा स्वयं ही उत्पन्न नहीं हो जाती। जैसे सभी दिशाओं में बारह सूर्यों के एक साथ उदित होने पर छाया अपने-आप नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप सर्वव्यापी परमात्मा का साक्षात्कार होने पर यह अविद्या स्वयं ही विलीन हो जाती है। रघुनन्दन ! बाह्य विषयों की इच्छामात्र को यहाँ अविद्या कहा गया है (क्योंकि अविद्या से ही इच्छा उत्पन्न होती है)। इच्छामात्र का नाश ही मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष संकल्प के अभावमात्र से सिद्ध होता है। जैसे सूर्य का उदय होने पर रात न जाने कहाँ चली जाती है, उसी प्रकार परमात्मा के यर्थाथ ज्ञान का उदय होने पर अविद्या न जाने कहाँ विलीन हो जाती है।

श्री राम जी ने पूछा-ब्रह्मन् ! यह जो कुछ भी दृश्यप्रपञ्च है, वह (अविद्या से उत्पन्न होने के कारण) अविद्या ही है और वह अविद्या परमात्मा के चिन्तन से नष्ट हो जाती है। तब कृपापूर्वक यह बताइये कि वह परमात्मा कैसा है ?

श्री वसिष्ठ जी ने कहा-श्रीराम ! जो विषयों के संसर्ग से रहित, असाधारण और अनिर्वचनीय चेतनतत्त्व है, वह परमेश्वर ही आत्मा या परमात्मा का शब्द से कहा गया है। निष्पाप श्रीराम ! ब्रह्मा से लेकर कीट-पतंग एवं पेड़-पौधों तक जो यह तृण-आदिरूप जगत् है, वह सब सदा परमात्मा ही है।

यहाँ अविद्या कहीं नहीं है। यह सब नित्य चैतन्यघन अविनाशी एवं अखण्ड ब्रह्म ही है। यहाँ मन नाम की कोईदूसरी कल्पना है ही नहीं। यहाँ तीनों लोकों में न कोई जन्म लेता है और न करता ही है। जन्म-मरण आदि भाव-विकारों का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। इस संसार में केवल-अद्वितीय एकमात्र ज्ञान-स्वरूप, समान भाव से सबमें व्यापक, अखण्ड और विषय संसर्ग से रहित सच्चिदानन्द घन परमात्मा ही है। उस नित्य, सर्वव्यापी, शुद्ध, चैतन्यघन, सब प्रकार के उपद्रवों से रहित, शान्त, सर्वत्र समभाव से स्थित, निर्विकार, विज्ञान-स्वरूप परमात्मा में जो यह आवरण सहित जीवात्मा चिन्मय स्वभाव से भिन्न-जड़ विषयरूप जगत् की स्वयं कल्पना करके दौड़ता है, वह अविद्यारूप आवरण से मलिन हुआ चेतन जीवात्मा ही मन के रूप में परिणत होने के कारण 'मन' नाम से कहा गया है। जो संसार वास्तव में कुछ नहीं है, वह एकमात्र-अद्वितीय, सर्वव्यापी, शान्तस्वरूप परमात्मा में संकल्पमात्र से ही उत्पन्न हुआ है। अतः जैसे अग्नि की ज्वाला जिससे उत्पन्न हुई, उसी वायु से शान्त हो जाती है, उसी तरह संकल्प से उत्पन्न हुई यह सृष्टि संकल्प से ही नष्ट हो जाती है। भोगाशारूपता को प्राप्त हुई वह अविद्या एकमात्र असंकल्परूप पुरुष-प्रयत्न द्वारा लय को प्राप्त होती है।

'मैं कृश हूँ, अत्यन्त दुखी हूँ, बँधा हुआ हूँ तथा हाथ-पैर आदि अवयवों से युक्त हूँ' इस भावना के अनुरूप व्यवहार से जीवात्मा बन्धन में पड़ता है। 'मेरा दुःख से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह शरीर भी मेरा नहीं है; भला, किस आत्मा को बन्धन प्राप्त हुआ है-किसी को भी नहीं, आत्मा नित्य-मुक्त स्वरूप है' इस भावना के अनुरूप व्यवहार से जीवात्मा की मुक्ति होती है। नेत्रों की ही अपनी दर्शन शक्ति का क्षय होने पर अर्थात् अत्यन्त दूरता के कारण दर्शन शक्ति के कुण्ठित हो जाने पर जो वस्तु स्वभाव से अदर्शन रूप अन्धकार उदित हुआ है। वही आकाश की नीलिमा के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह जान लेने पर जैसे आकाश में कालिमा दीखने पर भी 'यह वास्तव में कालिमा नहीं है' ऐसी बुद्धि सुदृढ़ हो जाती है, वैसे ही अविद्यारूपी अन्धकार को भी समझना चाहिये।

जैसे स्वप्न में 'हाय ! मैं दुःख से नष्ट हो गया' इस संकल्प से मनुष्य दुःख से नष्ट सा होने लगता है और 'मैं जाग गया हूँ, इस संकल्प से वह

स्वप्न के दुःख से छुटकारा पाकर सुखी हो जाता है, उसी प्रकार मन विषय के संकल्प से मूढ़ता को प्राप्त होता है और विज्ञानस्वरूप उदार परमात्मा के संकल्प या चिन्तन से वह विज्ञानमय ब्रह्मभाव की ओर अग्रसर होता है। 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसे संकल्प से यह अनादि अविद्या एक क्षण में प्रकट होती है और विस्मरण अर्थात् संकल्प-वासनाओं के मूलोच्छेद से यह विनाशशील अविद्या सर्वथा नष्ट हो जाती है।

जो दृश्य पहले ही नहीं था, वह आज भी नहीं है और जो यह भासित हो रहा है, वह शान्त, अद्वितीय, निर्विकार एवं निर्दोष ब्रह्म ही है। अतः कभी किसी के लिये किसी तरह और किसी भी कारण से ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई मननीय वस्तु नहीं है; इसलिये आदि-अन्त से रहित निर्विकार ब्रह्म में पूर्णतः स्थित हो जाना चाहिये। उत्तम बुद्धि के द्वारा परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर प्रयत्न पूर्वक चित्त से भोपाशाभावना को जड़-मूल सहित उखाड़ फेंकना चाहिये। महान् मोह (अज्ञान) ही जरा और मरण आदि का कारण है। जो-जो वस्तु कार्य रूप से प्रकट होती है, वह सब सैकड़ों आशापाशों से उल्लसित होने वाली वासना का ही विस्तार है। 'ये मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है, यह मैं हूँ, यह मेरा घर है' इस प्रकार के इन्द्र-जाल से यह वासना ही वृद्धि को प्राप्त होती है। तत्त्वज्ञ श्रीराम ! परमात्मतत्त्व के सिवा दूसरी कोई वस्तु कभी सत्य नहीं है। अतः वास्तव में 'मेरा' और 'मैं'-ये दोनों ही नहीं हैं। रघुनन्दन ! ज्ञानी की दृष्टि में अविद्या नहीं है। आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी और नदीरूप जो यह अविद्या है, वह अज्ञानी की ही दृष्टि में है। ज्ञानी की दृष्टि में तो आकाश आदि के रूप में ब्रह्म ही अपनी महिमा में स्थित है। अहो ! यह कितने आश्चर्य की बात है कि जो सत्य है, उस ब्रह्म को तो लोग भूल गये हैं और जो असत्य अविद्या नामक वस्तु है, उसी का निश्चित रूप से निरन्तर स्मरण हो रहा है !

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

अज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन

श्री वाल्मीकि जी कहते हैं-भरद्वाज ! पूज्यपाद महात्मा वसिष्ठ के यों कहने पर कमलनयन श्रीराम प्रफुल्ल पंकज के समान शोभा पाने लगे।

श्रीरामजी बोले–मुनिवर ! जो अविद्या वास्तव में है ही नहीं, उसने सबको वश में कर लिया है–यह कैसी विचित्र बात है ?

श्री वसिष्ठ जी ने कहा–हे रघुनन्दन ! इस संसार में काठ और दीवाल के समान जड़ देह कुछ भी नहीं है–वास्तव में इसकी सत्ता नहीं है। इस चित्त ने ही स्वप्न के संसार की भाँति इसकी कल्पना कर ली है। श्रीराम ! अज्ञानी जीवात्मा को ये अनन्त शारीरिक सुख–दुःख होते हैं। किंतु ज्ञानी महात्मा पुरुष को ये बिल्कुल नहीं होते (क्योंकि वे परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जान गये हैं)। देह जड़ है, अतएव वह दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। देहाभिमानी जीवात्मा ही अविवेक के कारण दुखी होता है। यह अविवेक या अविचार अतिशय अज्ञान के कारण है। अज्ञान ही समस्त दुःखों का हेतु है। एक मात्र अविवेकरूपी दोष के कारण ही जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों के सुख–दुःखादि फलों का भोक्ता बना है–ठीक उसी तरह, जैसे रेशम का कीड़ा अज्ञान–वश ही रेशम के कोष में बन्धन को प्राप्त होता है। अविवेकरूपी रोग से बँधा हुआ, विविध वृत्तियों से युक्त मन नाना आकृतियों में विचरण करता हुआ चक्र के समान घूमता रहता है। श्रीराम ! जैसे घर का मालिक घर में अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करता है, किंतु जड़ गृह स्वयं कुछ भी नहीं करता, उसी तरह शरीर में जीवात्मा ही विविध चेष्टाएँ करता है, शरीर नहीं।

श्रीरामजी ने पूछा–भगवन् ! आप सम्पूर्ण तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ हैं। सिद्धि देने वाली ज्ञान की सात भूमिकाओं का स्वरूप कैसा है ? यह मुझे संक्षेप से बताइये।

श्री वसिष्ठ जी ने कहा–रघुनन्दन ! अज्ञान की सात भूमिकाएँ हैं और ज्ञान की भी सात ही भूमिकाएँ हैं फिर गुणों की विचित्रता से इन दोनों के दूसरे–दूसरे असंख्य भेद हो जाते हैं। आत्मस्वरूप में अनादि काल से अज्ञान का आरोप है। उस अज्ञान की ये सात भूमिकाएँ हैं, जिन्हें सुनो–१ बीज–जाग्रत्, २ जाग्रत्, ३ महा–जाग्रत्, ४ जाग्रत्–स्वप्न, ५ स्वप्न, ६ स्वप्नजाग्रत् और ७ सुषुप्ति। इस तरह अज्ञान के ये सात भेद हैं। ये सातों भेद फिर एक दूसरे से संयुक्त होकर अनेक नाम धारण करते हैं। अब तुम इस सप्तविध अज्ञान के लक्षण सुनो।

महासर्ग के आदि में चिन्मय परमात्मा से जो प्रथम, नाम–निर्देश से रहित

एवं विशुद्ध व्यष्टि घेतन प्रकट होता है, वह भविष्य में होने वाले 'चित्त' और 'जीव' आदि संज्ञा-शब्दों तथा उनके अर्थों का भाजन होकर जाग्रत् अवस्था के बीज रूप में स्थित होता है; (क्योंकि वह महाप्रलय के समय भी परमात्मा में बीजरूप से ही था) इसलिये 'बीज-जाग्रत्' कहलाता है। यह अज्ञान की नूतन अवस्था है। अब तुम जाग्रत् संसार का वर्णन सुनो। नवजात बीज-जाग्रत् के पश्चात 'यह स्थूल देह मैं हूँ, यह देह, यह भोग्य-पदार्थ-समूह मेरा है' ऐसी जो अपने भीतर प्रतीति होती है, उसे 'जाग्रत' कहते हैं। 'यह देह मैं हूँ, 'यह भोग्य-समूह मेरा है' इस जाग्रत् प्रतीति के उत्पन्न होने के पश्चात् जन्मान्तर के अभ्यास से दृढ़ हुई जो प्रतीति स्फुरित होती है, उसे 'महाजाग्रत्' कहा गया है। जैसे ब्राह्मण आदि जातियों में उत्पन्न हुए लोगों में से किसी-किसी व्यक्ति का जन्मान्तर के अभ्यास से अपने वर्णोचित कर्मों में विशेष आग्रह और नैपुण्य देखा जाता है, सबमें ऐसी बात नहीं पायी जाती; अतः इस जन्म के या ज्रन्मान्तर के दृढ़ अभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त हुई जो पूर्वोक्त जाग्रत् प्रतीति है, उसी को महाजाग्रत् कहा गया है। (जाग्रत् के ही तुल्य,) मनोराज्य है, उसी को 'जाग्रत् स्वप्न' कहते हैं। दो चन्द्रमाओं का दर्शन, सीपी में चाँदी की प्रतीति और मृगतृष्णा (मरुस्थल में बिना हुए जल की प्रतीति) आदि भेद की तरह अभ्यासवश जाग्रत्भाव को प्राप्त स्वप्न-मनोराज्य अनेक प्रकार का होता है। 'उसे मैंने थोड़े ही समय तक देखा, वह सत्य भी नहीं है' नींद के समय (सुषुप्ति-काल के आदि या अन्त में) अनुभव में आयी हुई बातों के विषय में नींद के अन्त में जो ऐसी प्रतीति होती है, उसे 'स्वप्न' कहा गया है। वह स्वप्न अज्ञ पुरुष की महाजाग्रत् अवस्था में स्थित स्थूल शरीर के कण्ठ से लेकर हृदयपर्यन्त नाड़ी-प्रदेश में प्रकट होता है। चिरकाल तक दर्शन के अभाव से जो विकसित नहीं हुआ, वह महाशरीर वाला दृढ़ अभिमान ही स्वप्न है। सुदृढ़ अभिनिवेश से या चिरस्थायित्व की कल्पना से पुष्ट हो जाग्रत्भाव को प्राप्त हुआ स्वप्न महाजाग्रत् की समता प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ स्वप्न 'स्वप्न-जाग्रत्' माना गया है। पूर्वोक्त छहों अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो जीव की जड़ अवस्था है, वही भावी दुःखों का बोध कराने वाले बीजरूप अज्ञान से सम्पन्न 'सुषुप्ति' कही जाती है। रघुनन्दन ! इस प्रकार सात प्रकार की अज्ञान-भूमिका का मैंने वर्णन किया। यह नाना प्रकार के विकारों

तथा लोकान्तरों के भेदों से युक्त होने के कारण निन्द्य एवं त्याज्य बतायी गयी है।

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

ज्ञान की सात भूमिकाओं का विशद विवेचन

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-निष्पाप रघुनन्दन ! अब मैं सात प्रकार की ज्ञान भूमिका का वर्णन करता हूँ, इसे सुनो। पहली ज्ञान भूमिका शुभेच्छा बतायी गयी है, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावना और सातवीं तुर्यगा-इस प्रकार ये ज्ञान की सात भूमिकाएँ मानी गयी हैं।

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ।।

'मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषों के द्वारा जानकर तत्त्व का साक्षात्कार करूँगा-इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्ष की इच्छा होने को ज्ञानीजनों ने 'शुभेच्छा' कहा है।' मैं देह नहीं हूँ, ब्रह्म हूँ-इन वेदान्त-वाक्यों का एकमात्र परमात्मा के तत्त्व-रहस्य-ज्ञान पूर्वक उनको प्राप्त करने की इच्छा से सत्-शास्त्रों में अध्ययन करना और सत्पुरुषों का संग करके उनसे इन महावाक्यों का श्रवण करना ही 'शुभेच्छा' नाम की प्रथम भूमिका है। इसलिये इस भूमिका को 'श्रवण' भूमिका भी कहा जा सकता है।

शास्त्र सज्जन सम्पर्क वैराग्याभ्यास पूर्वकम्।
सदाचार प्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ।।

'शास्त्रों के अध्ययन, मनन और सत्पुरुषों के संग तथा विवेक-वैराग्य के अभ्यासपूर्वक सदाचार में प्रवृत्त होना-यह 'विचारणा' नाम की भूमिका कही जाती है।

इस नियम के अनुसार जो दृश्य जड़ पदार्थ हैं, वे उत्पत्ति-विनाशशील होने के कारण असत् हैं और परमात्मा ही एक सत् पदार्थ है। जीवात्मा भी उसका अंश होने के कारण सत् है। अद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं, माया की उपाधि के सम्बन्ध से उनका भेद प्रतीत होता है। जैसे महाकाश के एक होते हुए भी घड़े की उपाधि के सम्बन्ध से

घटाकाश और महाकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः घटाकाश, महाकाश एक ही हैं, उसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा वास्तव में एक ही हैं-इस तत्त्व को समझ लेना 'विवेक' है।

उपर्युक्त विवेक के द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्य का पृथक करण हो जाता है, तब असत और अनित्य से आसक्ति हट जाती है, एवं इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में और कर्मों में कामना और आसक्ति का न रहना ही 'वैराग्य' है।

विचारणा शुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ।।

'उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणा के द्वारा इन्द्रियों के विषय भोगों में आसक्ति का अभाव होना और अनासक्त हो संसार में विचरण करना-यह 'तनुमानसा' है। इसमें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाता है, इसलिये इसे 'तनुमानसा' कहते हैं।'

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममता के अभाव से, सत्पुरुषों के संग और सत्शास्त्रों के अभ्यास से तथा विवेक-वैराग्य पूर्वक निदिध्यासन-ध्यान के साधन से साधक की बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्व को ग्रहण करने की योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है। इसी को 'तनुमानसा' भूमिका कहा गया है।

इस तीसरी भूमिका में स्थितसाधक के अन्तःकरण में सम्पूर्ण अवगुणों का अभाव होकर स्वाभाविक ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनसूया (दोषदृष्टि का अभाव), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, समाधान, तेज, क्षमा, दया, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति, समता आदि सद्गुणों का आविर्भाव हो जाता है। फिर उसके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सब सदाचाररूप ही होती है तथा उस साधक को 'संसार के सम्पूर्ण पदार्थ माया के कार्य होने से सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभाव से परिपूर्ण हैं" ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसार के सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मों में उसकी वासना का भी अभाव हो जाता है। भाव यह है कि उसके अन्तःकरण में उनके चित्र संस्कार रूप से भी नहीं

रहते एवं शरीर में अहंभाव तथा मन, वाणी और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का अभिमान नहीं रहता; क्योंकि वह परमवैराग्य को प्राप्त हो जाता है।

पूर्वोक्त दूसरी भूमिका में स्थित पुरुष की तो विषयों का विशेष संसर्ग होने से कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है; परंतु इस तीसरी भूमिका में पहुँचे हुए पुरुष की तो विषयों के साथ संसर्ग होने पर भी उनमें आसक्ति नहीं होती; क्योंकि उसके निश्चय में एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं। अतः परमवैराग्य हो जाने के कारण उसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसार से अत्यन्त उपरत हो जाती हैं। यदि किसी काल में कोई स्फुरणा हो भी जाती है, तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उसकी एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में ही निरन्तर गाढ़ स्थिति बनी रहती है, जिसके कारण उसे कभी-कभी तो शरीर और संसार का विस्मरण होकर समाधि सी हो जाती है। ये सब लक्षण परमात्मा की प्राप्ति के अत्यन्त निकट पहुँच जाने पर होते हैं। सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन करते-करते उस परमात्मा में तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरति के कारण परमात्मा के ध्यान में ही नित्य स्थित रहने से मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही 'तनुमानसा' नाम की तीसरी भूमिका है। अतः इसे 'निदिध्यासन' भूमिका भी कह सकते हैं। ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूपा हैं। इनमें संसार से कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँ तक साधक की 'जाग्रत्-अवस्था' मानी गयी है।

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहता ॥

'ऊपर बतायी हुई शुभेच्छा-श्रवण, विचारणा-मनन और तनुमानसा-निदिध्यासन भूमिकाओं के अभ्यास से चित्त के सांसरिक विषयों से अत्यन्त विरक्त हो जाने के अनन्तर उसके प्रभाव से आत्मा का शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मा में तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है।'

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसंगफलेन च ।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका॥

'शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति-इन चारों के सिद्ध हो जाने

पर स्वाभाविक अभ्यास से चित्त के ब्राह्याभ्यन्तर सभी विषय–संस्कारों से अत्यन्त असंग (सम्बन्ध–विच्छेद) हो जाने पर अन्तःकरण का समाधि में आरूढ–स्थित हो जाना ही 'असंसक्ति' नाम की पाँचवीं भूमिका कहा गया है।'

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ।।
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्टी संजायते गतिः ।।

'उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से उस ज्ञानी महात्मा की आत्मारामता के प्रभाव से उसके अन्तःकरण में संसार के पदार्थों का अत्यन्त अभाव सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर–भीतर के किसी भी पदार्थ का स्वयं भान नहीं होता, दूसरों के द्वारा प्रयत्न पूर्वक चिरकाल तक प्रेरणा करने पर ही कभी किसी पदार्थ का भान होता है; इसलिये उसके अन्तःकरण की 'पदार्थाभावना' नाम की छठी भूमिका हो जाती है।' पाँचवीं भूमिका के पश्चात् जब वह ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिका में प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है; इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरण में शरीर और संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का अत्यन्त अभाव सा हो जाता है। उसे संसार का और शरीर के बाहर–भीतर का बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते–जाते हैं; इसलिये उस भूमिका को 'पदार्थभावना' कहते हैं। जैसे गाढ़सुषुप्ति में स्थित पुरुष को बाहर–भीतर के पदार्थों का ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः उस पुरुष की इस अवस्था को 'गाढ़सुषुप्ति अवस्था' भी कहा जा सकता है। किंतु गाढ़सुषुप्ति में स्थित पुरुष के तो मन–बुद्धि अज्ञान के कारण अपने कारण माया में विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुण- मयी है; पर इस ज्ञानी महापुरुष के मन–बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते हैं, अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिये यह गाढ़ सुषुप्ति से अत्यन्त विलक्षण है।

गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष तो निद्रा के परिपक्व हो जाने पर स्वतः ही जाग जाता है; किंतु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुष की व्युत्थानावस्था तो दूसरों के बारंबार प्रयत्न करने पर ही होती है, अपने–आप नहीं। उस व्युत्थानावस्था में वह जिज्ञासु के प्रश्न करने पर पूर्व के अभ्यास के कारण

ब्रह्मविषयक तत्त्व-रहस्य को बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुष को 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं।

श्री ऋषभदेव जी इस छठी भूमिका में स्थित माने जा सकते हैं।

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ।।

'उपर्युक्त छहों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक चिरकाल तक अभ्यास होने से जिस अवस्था में दूसरों के द्वारा प्रयत्न पूर्वक प्रेरित करने पर भी भेदरूप संसार की सत्ता-स्फूर्ति की उपलब्धि नहीं होती, वरं अपने आत्मभाव में स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थिति को उसके अन्तःकरण की 'तुर्यगा' भूमिका जानना चाहिये।' छठी भूमिका के पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुष के हृदय में संसार का और शरीर के बाहर-भीतर के लौकिक ज्ञान का अत्यन्त अभाव हो जाता है। क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरों के द्वारा प्रयत्न किये जाने पर ही होती है। जैसे मुर्दा जगाने पर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्दे की भाँति हो जाता है; अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्दे में प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुष का संसार में जीवन-निर्वाह दूसरे लोगों के द्वारा केवल उसके प्रारब्ध के संस्कारों के कारण ही होता रहता है। वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम-तीनों गुणों से और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-तीनों अवस्थाओं से अतीत होकर ब्रह्म में विलीन रहता है; इसलिये यह उसके अन्तः करण की अवस्था 'तुर्यगा' भूमिका कही जाती है।

ब्रह्म की दृष्टि में संसार का अत्यन्त अभाव है। उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धि में भी शरीर और संसार का अत्यन्त अभाव है। इसलिये ऐसे पुरुष को ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं। ऐसे ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुष से वार्तालाप न होने पर भी उसके दर्शन और चिन्तन से ही मनुष्य के चित्त में मल, विक्षेप और आवरण का नाश होने से उसकी वृत्ति परमात्मा की ओर आकृष्ट होने पर उसका कल्याण हो सकता है।

यह तुर्यावस्था जीवन्मुक्त पुरुषों में इस शरीर में रहते हुए ही विद्यमान

रहती है। इस देह का अन्त होने पर विदेह-मुक्ति का विषय साक्षात् तुर्यातीत ब्रह्म ही है (अतः भूमिकाओं में उसकी गणना नहीं है)। श्रीराम ! जो महाभाग सातवीं भूमिका में पहुँच गये हैं, वे आत्माराम महात्मा महत्पद (परब्रह्म) को प्राप्त हो चुके हैं। जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःख में आसक्त नहीं होते। केवल देह यात्रा के लिये छठी भूमिका में कुछ कार्य करते हैं, अथवा सातवीं भूमिका में नहीं भी करते। पूर्वोक्त महात्मा पार्श्ववर्ती पुरुषों द्वारा बोधित होकर उन-उन आश्रमों में स्थित पुरुषों की आचार-परम्परा से प्राप्त सम्पूर्ण सदाचारों का ही सावधान की भाँति पालन करते हैं। उनका वह आचार फल की कामना और आसक्ति नामक दोषों से रहित होता है। वे अपने आत्मा में ही रमण करने के कारण बाह्य विषयों से विरत होते हैं। अतः उन्हें जगत् के व्यवहार उसी तरह सुख नहीं दे पाते, जैसे गाढ़ नींद में सोये हुए पुरुषों को दर्शनीय रूप सौन्दर्य से सुशोभित स्त्रियाँ नहीं सुख दे सकतीं। ज्ञान की ये सात भूमिकायें विवेकी पुरुषों को ही प्राप्त होती हैं। इस ज्ञानदशाह को प्राप्त हुए पशु (हनुमान् और नन्दी), अन्त्यज (मूक चाण्डाल, धर्मव्याध, गुह, भील और शबरी) आदि भी सदेह (जीवन्मुक्त) अथवा विदेहमुक्त ही हैं-इसमें संशय नहीं हैं। चेतन और जड़ की ग्रन्थि का विच्छेद ही ज्ञान है। उसके प्राप्त होने पर मुक्ति हो जाती है। क्योंकि मृगतृष्णा में जलबुद्धि अथवा रज्जु में सर्पबुद्धि आदि का बोध है, वैसा ही चेतन और जड़ की ग्रन्थि का विच्छेद भी है। कुछ लोग एक ही जन्म में क्रमशः ज्ञान की सारी भूमिकाओं को प्राप्त हो जाते हैं। कोई-कोई एक, दो या तीन भूमिकाओं तक ही पहुँच पाते हैं।

कोई छः भूमिकाओं को प्राप्त होते हैं। कोई एकमात्र सातवीं भूमिकाओं में ही स्थित रहते हैं। कोई तीन भूमिकाओं तक जाते हैं। कोई अन्तिम भूमिका में पहुँच जाते हैं। कोई चार भूमिकाओं में स्थित होते हैं। कोई साढ़े तीन, कोई साढ़े चार और कोई साढ़े छः भूमिकाओं तक पहुँच जाते हैं। जो उन भूमिकाओं में पहुँचकर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थानों पर विजय पाते जाते हैं, वे महात्मा निश्चय ही वन्दनीय हैं। उन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है। उस चतुर्थ ज्ञानभूमिका (जीवन्मुक्तावस्था) में पहुँच जाने पर सम्राट (भूमण्डल का राजा) और विराट् (देवलोक का राजा) भी तिनके के समान तुच्छ प्रतीत होता है, क्योंकि वे ज्ञानी महात्मा उस अवस्था में परमपद

को प्राप्त हो जाते हैं।

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

मायिकारूप का निराकरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–राघव ! जैसे मृगतृष्णा के जल में, दो चन्द्रमाओं के भ्रम में और शरीर आदि की अहंता में माया से जो रूप परिलक्षित होता है, वह विचारपूर्वक देखने पर दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार स्वर्ण में जो कड़े, कुण्डल, अँगूठी आदि का भाव है, वह केवल भ्रान्ति है। वह असत् स्वरूपवाली माया है, क्योंकि उसका वह रूप ही ऐसा है, जो ज्ञानदृष्टि से देखने पर कायम नहीं रहता। असद्वस्तु तो सीप में चाँदी और मरुस्थल में जल की भ्रान्ति के समान विचारहीनता के कारण ही सत्-सी प्रतीत होती है। असत् शरीर में जो अहंता की भावना है, वही परमा अविद्या है, वही माया है और वही संसृति है। जैसे सुवर्ण में अँगूठीपना आदि वास्तव में कल्पित हैं, उसी तरह आत्मा में अहंता आदि की भावना भी कल्पित है। इस प्रकार जो स्वच्छ, शान्त एवं निर्मल है, उस परमोत्कृष्ट आत्मा में अहंता की भावना असत् है। वह शुद्ध आत्मा मेरुता, असुरता, मनपना, देहता और महाभूतता से रहित है। उसमें तीनों कालों की कल्पना और भावाभाव वस्तु का अभाव है। त्वत्ता, अहंता, आत्मता, तत्ता, सत्ता, असत्ता, आदि से भी वह रहित है। उसमें न कहीं भेद की कल्पना है, न राग और रंजन ही है, क्योंकि ये सब मायामात्र हैं। वह तो सर्वाधिक, शान्त, आश्रयरहित, जगत का कारण, शाश्वत, कल्याणमय, निर्विकार, इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य तथा नाम एवं कारणरहित ब्रह्म है।

रघुनन्दन ! वासनायुक्त चित्त जिस वस्तु की पर्याप्त रूप में जैसी भावना करता है, वह वस्तु चाहे सत् हो अथवा असत्, उसको उसी समय उसी रूप में प्रतीत होने लगती है, क्योंकि अहंता आदि भावों से युक्त अविद्या का ज्यों ही अभ्युदय हुआ, त्यों ही आदि, मध्य और अन्त से रहित अनन्त भ्रमों का ताँता लग जाता है। जैसे बहुत-से व्यक्तियों के मनःकल्पित वचन बहुधा एक-से होते हैं, उसी तरह स्वप्न में भी देश, काल और क्रिया भी एक से दीख पड़ते हैं। परंतु उस व्यवहार की सत्ता अज्ञान से ही प्रतीत होती है। वास्तव में तो चेतन सत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थों की कोई अन्य सत्ता है ही नहीं। वह चेतन

सत्ता भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों कालों में मौजूद रहती है और वही भिन्न-सी प्रतीत होती है-ठीक उसी तरह, जैसे समुद्र बालू में तरंग और बीज में वृक्ष भिन्न से भासित होते हैं। और जैसे बालू में तेल आदि का होना असम्भव है, वैसे ही अविद्या कोई वस्तु नहीं है। भला, सोने के बने हुए कंगण में स्वर्णता के अतिरिक्त दूसरी कौन वस्तु हो सकती है ? अर्थात् कोई नहीं अतः अविद्या के साथ आत्मतत्व सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह तो अपने अनुभव से स्पष्ट है कि सभी का अपने समान के साथ ही सम्बन्ध होता है। जब जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ चिन्मात्रमय एवं सन्मात्रमय होते हैं, तब वे भाव परस्पर अपने अनुभव के बल पर प्रकाशित होते हैं। विषम पदार्थों का निरन्तर साक्षात् सम्बन्ध होना असम्भव है और परस्पर सम्बन्ध हुए बिना आपस में अनुभव भी नहीं हो सकता।

तत्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ राम ! वास्तव में जैसे मिट्टी की बनी हुई सेना मूढ़बुद्धि से देखने पर विचित्र होने पर भी विचार दृष्टि से एकमात्र मिट्टी ही है, तरंग आदि एकमात्र जल ही हैं, काठ की बनी हुई पुतलियों में एकमात्र काष्ठ की व्याप्त है और घट आदि केवल मिट्टी ही हैं, उसी प्रकार यह भ्रम से प्रतीत होने वाला जगत् एकमात्र ब्रह्म ही है। द्रष्टा का दृश्य और दर्शन के साथ सम्बन्ध होने पर उसके मध्य में जो उसका द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आदि से रहित शुद्धरूप है, वही वह परब्रह्म है।

श्रीराम ! जैसे शिला में जल और जल में अग्नि नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मा में चित्त नहीं है, फिर वह परमात्मा में कहाँ से हो सकता है। विचार-पूर्वक देखने पर जो स्वयं ही कुछ नहीं है, उसके द्वारा जहाँ-कहीं जो कुछ किया जाता है, वह 'कृत' नहीं कहलाता। जो मूर्ख असत्य स्वरूपवाले चित्त का अनुवर्तन करते हैं, उन्हें धिक्कार है, क्योंकि वे केवल आकाश-ताड़नरूपी कर्म में व्यर्थ ही समय बिताने वाले हैं। इस प्रकार भूतल पर पैदा हुए पुरुष को बुद्धि के कुछ भी विकसित होने पर पहले सत्संगपरायण होना चाहिए, क्योंकि अनवरत प्रवाहित होते हुए इस अविद्यारूपी नदियों के समूह को शास्त्र एवं सज्जनों के सम्पर्क के अतिरिक्त और किसी उपाय से पार नहीं किया जा सकता। उस सत्संगद्वारा विवेक की प्राप्ति होने से पुरुष को 'यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है' ऐसा विचार उत्पन्न होता है। तब वह शुभेच्छा नाम की ज्ञान भूमि

में अवतीर्ण होता है। तदनन्तर विवेक वश विचारणा नाम की ज्ञान भूमि में आता है। वहाँ यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होने से मिथ्या वासना का परित्याग करने वाले पुरुष का मन सांसरिक वासनाओं से रहित हो तनुता (सूक्ष्मता) को प्राप्त होता है। इस कारण वह तनुमानसा नाम की ज्ञानभूमि में अवतीर्ण होता है। फिर ज्यों ही योगी यथार्थ ज्ञान का उदय होने से परमात्मा में तद्रूप हो जाता है, त्यों ही उसे सत्त्वापत्ति नाम की ज्ञानभूमि प्राप्त होती है। तब वासना का विनाश हो जाने के कारण वह 'असंसक्त' कहलाने लगता है और कर्मफल के बन्धन से मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् वासनाओं का विनाश हो जाने के कारण स्वाभाविक अभ्यास से जब वह कार्यों को करता हुआ अथवा उन से विरत हुआ या संसार की असत्य वस्तुओं में स्थित हुआ भी अपने आत्मा में ही मन के क्षीण हो जाने के कारण बाह्य वस्तुओं का व्यवहार करते हुए भी न तो उन्हें देखता है, न रुचिपूर्वक उनका सेवन करता है और न स्मरण ही करता है, बल्कि अर्ध-सुप्त एवं अर्ध-प्रबुद्ध पुरुष की भाँति केवल कर्त्तव्य-कर्मों को करता रहता है, तब वह योगी पदार्थ-भावना नाम की योगभूमि को प्राप्त होता है। इस प्रकार जिसका चित्त ब्रह्म में लीन हो गया है, वह योगी कुछ वर्षों तक ऐसे स्वाभाविक अभ्यास से बाह्य पदार्थों का व्यवहार करता हुआ भी जब उनकी भावना से रहित हो स्वयं तुर्यात्मा हो जाता है, तब 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष न तो प्राप्त हुई वस्तु का अभिनन्दन करता है न अप्राप्त के लिए चिन्ता। वह जो कुछ सामने उपस्थित हो जाता है, उसी का निश्शंक होकर अनुवर्तन करता है। रघुनन्दन ! तुम सम्पूर्ण कार्यों की वासना से रहित हो, इसलिये तुम सबके अंदर वर्तमान जानने योग्य सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में स्थित हो। अतः तुम चाहे संसार के कल्याण के लिये शास्त्रविहित कर्म करते रहो, चाहे एकान्त में ध्यान-समाधि में स्थित रहो।

श्रीराम ! आत्मा न तो प्रकट होता है न विलीन ही। जैसे घड़े के फूटकर टुकड़े हो जाने पर घटाकाश का नाश नहीं होता, उसी प्रकार इस शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का विनाश नहीं होता। अरे यह आत्मा तो अद्वितीय है। फिर दूसरी कौन-सी ऐसी वस्तु है, जिसकी वह अभिलाषा करेगा? राघव ! जगत् में श्रवण करने योग्य, स्पर्श करने योग्य, देखने योग्य, चखने योग्य, और सूँघने योग्य, कोई भी ऐसी वस्तु नहीं

है, जो आत्मा से पृथक हो। वह आत्मा सर्वशक्तिमान्, विस्तृत और व्यक्त है। वासनाक्षयरूप मनोनाश हो जाने पर इस माया का, जिसमें संस्कार रूप से कर्म रहते हैं, अत्यन्त अभाव हो जाता है। जब तक इस माया का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता, तभी तक यह बड़े-बड़े मोहों में डालती रहती है, किंतु जब यह माया बिना हुए ही प्रतीत हो रही है-इस प्रकार का इसका वास्तविक ज्ञान हो जाता है, तब ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। यह ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है और संसार की लीला करके ब्रह्म में ही विलीन हो जाती है।

रघुकुलभूषण राम ! जैसे तेज से सभी प्रकाश आविर्भूत होते हैं, उसी तरह कल्याणमय, रूपरहित, अप्रमेय और विशुद्ध ब्रह्म से सभी प्राणी उत्पन्न हुए हैं। जैसे पत्ते में उसकी नसें, जल में तरंगसमूह, सुवर्ण में कटक-कुण्डल आदि और अग्नि में उष्णता आदि व्याप्त हैं, उसी प्रकार यह त्रिलोकी उस ब्रह्म में ही स्थित है, उसी से उत्पन्न हुई है और उसी में विलीन हो जाती है। वही समस्त प्राणियों का आत्मा है और वही ब्रह्म कहा जाता है, उसका ज्ञान हो जाने पर इस मिथ्या जगत् का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। श्रीराम ! देह के नष्ट होने पर जीवात्मा का नाश नहीं होता। जो चिन्मय जीवात्मा मन से अतीत होने के कारण आकाश की भाँति अव्यक्त है, वह जड़ सुखों अथवा दुःखों से व्याप्त कैसे हो सकता है। उस चिदात्मा में, जो सबका साक्षी, सर्वत्र सम, निर्मल और निर्विकल्प है, ये सभी जगत् किसी प्रकार की इच्छा के बिना ही उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे दर्पण में पदार्थों का प्रतिबिम्ब। संकल्पों के पूर्णरूप से क्षय हो जाने के कारण जब चित्त विलीन हो जाता है, तब सांसारिक मोहरूपी तुषार नष्ट हो जाता है। उस समय शरद् ऋतु के आने पर स्वच्छ आकाश की तरह चिन्मय शुद्ध आत्मा ही अद्वितीय, अजन्मा, आद्य एवं अनन्त रूप से विभासित होता है। जैसे महासागर में जल-लहरियाँ उत्पन्न होती हैं, दीखती हैं और तुरंत ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह यह मिथ्या मन स्वयं अपने अधिष्ठानभूत चेतन की स्फुरणा से युक्त होकर सत् सा दिखायी देता है और साक्षीभूत चेतन में बारंबार उत्पन्न होकर विलीन होता रहता है।

साठवाँ सर्ग समाप्त

उत्पत्ति-प्रकरण सम्पूर्ण

सचित्र
योगवासिष्ठ महारामायण

प्रथम खण्ड

स्थिति प्रकरण

येषां गुणष्वसंतोषो रागो येषां श्रुतं प्रति।
सत्यव्यसनिनो ये च ते नराः पशवोऽपरे।।
(स्थिति प्रकरण से)

'जिसका (इन शम-दमादि) गुणों के विषय में संतोष नहीं है (इनको जो बढ़ाना ही चाहते हैं), जिनका शास्त्र के प्रति अनुराग है तथा जिनको सत्य के आचरण का ही व्यसन है, वह ही वास्तव में मनुष्य हैं, दूसरे तो पशु ही हैं।'

•••

है, जो आत्मा से पृथक हो। वह आत्मा सर्वशक्तिमान्, विस्तृत और व्यक्त है। वासनाक्षयरूप मनोनाश हो जाने पर इस माया का, जिसमें संस्कार रूप से कर्म रहते हैं, अत्यन्त अभाव हो जाता है। जब तक इस माया का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता, तभी तक यह बड़े-बड़े मोहों में डालती रहती है, किंतु जब यह माया बिना हुए ही प्रतीत हो रही है–इस प्रकार का इसका वास्तविक ज्ञान हो जाता है, तब ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। यह ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है और संसार की लीला करके ब्रह्म में ही विलीन हो जाती है।

रघुकुलभूषण राम ! जैसे तेज से सभी प्रकाश आविर्भूत होते हैं, उसी तरह कल्याणमय, रूपरहित, अप्रमेय और विशुद्ध ब्रह्म से सभी प्राणी उत्पन्न हुए हैं। जैसे पत्ते में उसकी नसें, जल में तरंगसमूह, सुवर्ण में कटक–कुण्डल आदि और अग्नि में उष्णता आदि व्याप्त हैं, उसी प्रकार यह त्रिलोकी उस ब्रह्म में ही स्थित है, उसी से उत्पन्न हुई है और उसी में विलीन हो जाती है। वही समस्त प्राणियों का आत्मा है और वही ब्रह्म कहा जाता है, उसका ज्ञान हो जाने पर इस मिथ्या जगत् का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। श्रीराम ! देह के नष्ट होने पर जीवात्मा का नाश नहीं होता। जो चिन्मय जीवात्मा मन से अतीत होने के कारण आकाश की भाँति अव्यक्त है, वह जड़ सुखों अथवा दुःखों से व्याप्त कैसे हो सकता है। उस चिदात्मा में, जो सबका साक्षी, सर्वत्र सम, निर्मल और निर्विकल्प है, ये सभी जगत् किसी प्रकार की इच्छा के बिना ही उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे दर्पण में पदार्थों का प्रतिबिम्ब। संकल्पों के पूर्णरूप से क्षय हो जाने के कारण जब चित्त विलीन हो जाता है, तब सांसारिक मोहरूपी तुषार नष्ट हो जाता है। उस समय शरद् ऋतु के आने पर स्वच्छ आकाश की तरह चिन्मय शुद्ध आत्मा ही अद्वितीय, अजन्मा, आद्य एवं अनन्त रूप से विभासित होता है। जैसे महासागर में जल–लहरियाँ उत्पन्न होती हैं, दीखती हैं और तुरंत ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह यह मिथ्या मन स्वयं अपने अधिष्ठानभूत चेतन की स्फुरणा से युक्त होकर सत् सा दिखायी देता है और साक्षीभूत चेतन में बारंबार उत्पन्न होकर विलीन होता रहता है।

साठवाँ सर्ग समाप्त

उत्पत्ति–प्रकरण सम्पूर्ण

सचित्र
योगवासिष्ठ महारामायण

प्रथम खण्ड

स्थिति प्रकरण

येषां गुणष्वसंतोषो रागो येषां श्रुतं प्रति।
सत्यव्यसनिनो ये च ते नराः पशवोऽपरे।।

(स्थिति प्रकरण से)

'जिसका (इन शम–दमादि) गुणों के विषय में संतोष नहीं है (इनको जो बढ़ाना ही चाहते है), जिनका शास्त्र के प्रति अनुराग है तथा जिनको सत्य के आचरण का ही व्यसन है, वह ही वास्तव में मनुष्य हैं, दूसरे तो पशु ही हैं।'

• • •

मैं, तुम, यह, वह, सृष्टि, संहार आदि रूप से जो दृश्य प्रपंच दिखायी दे रहा है, वह एकमात्र अद्वितीय नित्य निर्मल शान्त चिन्मय ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। इन समस्त सत्-रूप से दीखने वाले असत् पदार्थों में एकमात्र सत् परमात्मा ही प्रकट है। वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् है। उसके अतिरिक्त जगत नाम की कोई सत् वस्तु कभी न थी, न है।

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

स्थिति-प्रकरण

पहला सर्ग

चित्ररूप से जगत् का वर्णन

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-श्री राम ! अब उत्पत्ति-प्रकरण के अनन्तर इस स्थिति-प्रकरण को श्रवण करो, जो जान लिये जाने पर निर्वाण प्रदान करने वाला है। इस प्रकार जगत्रूप से स्थित यह दृश्य-प्रपंच और अहंता आदि आकाररहित भ्रान्तिमात्र और असत्स्वरूप ही हैं। यह आकाश में उत्पन्न हुए चित्र के समान एक निराधार विलक्षण चित्र है। यह यद्यपि ब्रह्म से अभिन्न है, तथापि जल में उसके भँवर की भाँति ब्रह्म में अन्य सा स्थित लक्षित होता है। यह जगद्रूपी चित्र चित्रलिखित उद्यान की तरह फूला हुआ है। इसकी आकृति मकरन्द आदि रस से रहित होने पर भी सरस प्रतीत होती है। यद्यपि इसका रूप रोगयुक्त नेत्रों द्वारा देखे गये अन्धकार के चक्र के समान वास्तव में नहीं है, तथापि यह प्रत्यक्ष-सा दीखता है। यह रसात्मक होता हुआ भी परिणाम में अत्यन्त कटु है और उसके उत्पत्ति विनाश होते रहते हैं।

ज्ञानवानों में श्रेष्ठ राम ! जो समस्त कल्पनाओं से अतीत एवं निर्मल है, उस महान् अनन्त निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में यदि वास्तव में जगत् आदि अंकुर रूप में विद्यमान हैं तो बताओ कि वह प्रलय काल के पश्चात् किन सहकारी कारणों के सहयोग से उत्पन्न हो सकता है ? क्योंकि इस जगत् में किसी ने कभी भी वन्ध्या की कन्या के समान सहकारी कारणों के अभाव में अंकुर की उत्पत्ति नहीं देखी है। श्रीराम ! यदि कहो कि सहकारी कारणों के अभाव में भी (रज्जु में सर्प की तरह) जगद्रूपी अंकुर आविर्भूत हुआ है तो ऐसी दशा में मूल कारण ही जगत्स्वभावता को प्राप्त हो गया है; क्योंकि सृष्टि आदि में यथास्थिति निराकार ब्रह्म ही सृष्टि रूप से अपने स्वरूप में स्थित होता है, अतः वहाँ जन्य-जनक का क्रम कहाँ से घट सकता है। इसलिये श्रीराम ! यह जगत् न तो था, न है और न होगा ही। (अतः ब्रह्म में जगत् का तीनों कालों में अत्यन्त अभाव है।) सच्चिदानन्द परमात्मा ही अपने आप में इस प्रकार जगत् के रूप में विकसित हो जाता है। वत्स राम ! जब इस जगत् का अत्यन्ताभाव हो जाता है, तब केवल एक ब्रह्म ही शेष रहता है। किंतु यदि

जगत् प्रतीत होता है तो वह ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब काम–कर्म–वासना आदि भावों के साथ इस दृश्य–प्रपंच का उपशमन हो जाता है, तभी इस जगत् का अत्यन्ताभाव होता है; परंतु चित्त के मौजूद रहते दृश्य–जगत् का शमन होना सम्भव नहीं। इसलिये परमात्मा के यथार्थ ज्ञान के बिना दृश्यता की शान्ति नहीं हो सकती। अतः दृश्यस्वरूप जगत् का सर्वथा अत्यन्ताभाव ही दृश्यता की शान्ति का एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त पूर्ण रूप से अनर्थ के विनाश के लिये दूसरी कोई युक्ति नहीं है। परमात्मा स्वयं ही अपने संकल्प से अपने अंदर वर्तमान जिस चमत्कार को प्रकट करता है, वही सृष्टिरूप से प्रतीत होता है। उसका वास्तव में न तो कोई रूप है और न कोई आधार ही है। जैसे महाशिलाओं पर खुदे हुए लेखों के स्वरूप दीख पड़ते हैं, उसी तरह ये सृष्टियाँ न उत्पन्न होती हैं न नष्ट होती हैं तथा न आती हैं, न जाती हैं–केवल प्रतीत होती हैं। जैसे जल का द्रवत्व, वायु का स्पन्दन, समुद्र के आवर्त और गुणी के गुण अपने आधार स्थान से भिन्न नहीं हैं, उसी तरह उत्पत्ति–विनाशशील कार्यों वाला यह जगत् एकमात्र अनन्त, शान्त, विस्तृत, विज्ञानघन ब्रह्मरूप से ही स्थित है, उससे पृथक् नहीं।

श्री राम जी ने पूछा ! महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले ये प्रजापति स्मृतिरूप से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये मैं ऐसा समझता हूँ कि उन स्मृत्यात्मा से प्रकट हुआ यह जगत् भी स्मृतिरूप ही है।

श्री वसिष्ठ जी ने कहा–रघूद्वह ! यह ऐसा ही है। महाप्रलय के अनन्तर सर्ग के आदि में सर्वप्रथम ये प्रजापति स्मृतिरूप से ही प्रकट होते हैं, अतः उनका संकल्प भूत यह जगत् भी स्मृति रूप ही है। उन प्रजापति का प्राथमिक संकल्प नगर ही जगत् रूप से प्रकाशित हो रहा है। ज्ञानी के लिये यह जगत् शान्त एवं अविनाशी केवल ब्रह्म ही है, परंतु वही अज्ञानी की बुद्धि से भासमान नाना लोकों से युक्त है। पर्वत पर स्थित परमाणु जैसे पर्वत से भिन्न नहीं हैं और न उनकी गणना ही की जा सकती है, उसी प्रकार ब्रह्म रूपी महान् मेरुगिरि पर स्थित त्रैलोक्यरूपी परमाणु ब्रह्म से अभिन्न तथा असंख्येय हैं। इस सृष्टि को यदि सृष्टि के रूप में ही समझा गया, तब तो यह अधोलोक में ले जाती है; परंतु इसी को यदि ब्रह्म से जान लिया गया तो यह परम मंगलमयी हो जाती है। यह सब जगत् विश्व के कारण विज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द परब्रह्म

परमात्मा ही है; क्योंकि जिससे जो उत्पन्न होता है उसे तद्रूप ही समझना चाहिये। इसलिये समस्त वेद्य दृश्य-प्रपंच आत्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानी की दृष्टि में शुद्ध चिन्मात्र ही है।

श्रीराम ! साधक के द्वारा इन्द्रिय समुदाय पर विजय प्राप्तिरूपी पुल के आश्रय से ही इस भवसागर को पार किया जा सकता है, अन्य किसी भी कर्म से इससे पार पाना कठिन है। निरन्तर शास्त्राध्ययन और सत्संगति के अभ्यास से जो विवेकयुक्त हो गया है, वही इन्द्रियजयी होता है और उसी को इस दृश्य प्रपंच के अत्यन्ता भाव का ज्ञान भी प्राप्त होता है। सौन्दर्यशालियों में श्रेष्ठ राम ! संसार सागर की श्रेणियाँ जैसे आती हैं और पुनः जैसे चली जाती हैं, वह सारा स्वरूप मैंने तुमसे वर्णन कर दिया। अब इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ ? मन ही कर्मरूपी वृक्ष का अंकुर है। उस मन के नष्ट हो जाने पर कर्मरूपी शरीर वाला संसार वृक्ष भी नष्ट हो जाता है। श्रीराम ! यह सब कुछ मन ही है। इस मन की चिकित्सा हो जाने पर जगज्जालरूपी सारी व्याधियों की चिकित्सा हो जाती है। यह मन ही जब देहाकार का मनन करता है, तब लोक में कर्म करने में समर्थ देह उत्पन्न होती है। भला, कहीं मन से भिन्न भी देह देखी जाती है ? जैसे विशाल आकाश में असत्स्वरूप गन्धर्व नगर की प्रतीति होती है, उसी तरह विषयों के चिन्तन से वृद्धिगत हुए मन में यह सारा जगत् स्फुरित होता है। मन ही जगत् है तथा सम्पूर्ण जगत् ही मन है; ये दोनों एक साथ रहते हैं।

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

जगत् की शून्यता का कथन

रघुनन्दन ! समस्त एषणाओं की शान्ति हो जाने पर विशुद्ध-चित्त पुरुष की जो स्थिति है, उसी को सत्य आत्मतत्त्व कहा गया है और उसी को निर्मल चैतन्य कहते हैं। निर्मल सत्त्वरूप मन जिस वस्तु के विषय में जैसी भावना करता है, वह वस्तु तत्काल वैसी ही हो जाती है। जैसे इस समय जाग्रत अवस्था में हम लोगों को संसार का स्वयं ही प्रत्यक्ष भान होता है, उसी प्रकार स्वप्न और भ्रम आदि अवस्थाओं में सहस्त्रों संसार भी मिथ्या दृष्टिगोचर होते

हैं। जैसे एक को दूसरे के स्वप्न और मनोरथ सम्बन्धी नगरों के व्यवहार पृथक् होने के कारण दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के ये संसार रूपी भ्रम पृथक्-पृथक् होने के कारण एक दूसरे के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसी प्रकार संकल्प रूपी आकाश में अनेक संसार रूपी नगरों के समुदाय हैं; परंतु वे ज्ञानदृष्टि के बिना मिथ्या नहीं प्रतीत होते। जैसे एकमात्र वसन्त ऋृतु का रस ही वन, लता और गुल्म आदि के रूप में प्रकट होता है, उसी तरह एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही प्रत्येक व्यक्ति के लिये मिथ्या जगतरूप से प्रकट हुआ है। अपना यह संकल्प ही जगत् के आकार में प्रतीत हो रहा है, यह बात अत्यन्त परमार्थ-दृष्टि से ही ज्ञात होती है।

अपने-अपने स्वभाव (अनादि अज्ञान) के भीतर स्थित चित्त ही प्रत्येक जीव में इदमित्थं रूप से प्रतीत होने वाला यह जगत है। इस प्रकार प्रतीति मात्र जगत् को असत्य समझने वाला चित्त स्वयं ही नष्ट हो जाता है; क्योंकि प्रतीति काल में ही इस जगत् की सत्ता है। परमार्थ वस्तु (अधिष्ठानरूप ब्रह्म) का साक्षात्कार होने पर उसकी सत्ता नहीं रहती। चित्त की सत्ता ही जगत् है और जगत की सत्ता ही चित्त है। एक के अभाव से दोनों का अभाव हो जाता है। यह इन दोनों का अभाव सत्यस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्म-विषयक विचार करने से ही सम्भव है। जैसे मलिन मणि को युक्ति से साफ करने पर उससे शुद्ध प्रकाश प्रकट होता है, उसी तरह शुद्ध चित्त का अनुभव सत्य होता है। चिरकाल तक एक परमात्मा के चिन्तनरूप दृढ़ अभ्यास से चित्त की शुद्धि होती है। जो संकल्पों से आक्रान्त नहीं है, ऐसे चित्त से ज्ञान का उदय होता है। जैसे मलिन वस्त्र में सुन्दर रंग नहीं टिकता, उसी तरह वासना से मलिन चित्त में ब्रह्माकार रूप एक दृष्टि स्थिर नहीं होती। वासना से रहित होना ही चित्त की शुद्धि है, जगत् के ज्ञान से शून्य और एक ब्रह्माकार होना ही उसका वासना से रहित होना है। चित्त की शुद्धि होने से पुरुष शीघ्र ही प्रबुद्ध (ज्ञान-सम्पन्न) हो जाता है। चित्त का चिन्मय परमात्मरूप में लय हो जाना ही उसकी वास्तविक शुद्धि है। इस शुद्धि का लाभ होते ही प्रबुद्ध पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

स्वरूप की विस्मृति से ही भेद भ्रम की अनुभूति

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन ! जिस प्राणी का जिस तरह के कर्मों का भोगानुकूल फल जहाँ जैसे रहता है, वहाँ उतना ही वह अनुभव करता है, उससे अतिरिक्त नहीं। एक व्यक्ति हृदय में विद्यमान जो मनोराज्य है, उसे देखने या भोगने आदि में दूसरे व्यक्ति का मन सफल नहीं होता। यह जो असफलता को प्राप्त हुई मन की स्थिति है, वही उसके विच्छेद यानी नानात्व में हेतु है-यों जानना चाहिये। उस मन के भेद से ही जीवों के भेद होते हैं अर्थात् जैसे भिन्न-भिन्न मन हैं, उसी तरह भिन्न-भिन्न जीव भी हैं। जैसे सुवर्ण अपने ज्ञान के अभाव से कड़े-कंगन आदि के रूप को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, उस चेतन ने स्थूल देह को स्वीकार करके संसाररूपिणी अविद्या का मिथ्या ही अनुभव किया है।

सम्पूर्ण जीव-समूहों का आत्मा स्वयं ही अपने संकल्प से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाओं को प्राप्त हुआ है। इन अवस्थाओं में शरीर कारण नहीं है। इस प्रकार जाग्रत् आदि तीन अवस्थारूप आत्मा में ही जीवत्व है अर्थात् वह आत्मा ही जीवरूप से स्फुरित हो रहा है; इसमें शरीरत्व का विकास नहीं है। तात्पर्य यह कि जैसे जल ही लहर एवं भँवर आदि के रूप में विख्यात होता है-यह तात्त्विक दृष्टि प्राप्त होने पर जल में उससे पृथक् लहर आदि की सत्ता नहीं रहती, उसी प्रकार जीवात्मा ही जाग्रत् आदि अवस्था रूप है-यह विचार दृढ़ होते ही जीव से पृथक् देह की वास्तविक सत्ता शेष नहीं रह जाती।

इसी प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुष सुषुप्ति अवस्था के अवसानभूत तुरीय पदरूप सच्चिदानन्दघन परमात्म पद को ज्ञान द्वारा प्राप्त करके संसार से निवृत्त हो जाता है; परंतु जो मूढ़ जीव है, वही सृष्टि में प्रवृत्त होता है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की सुषुप्ति एक रूप ही है; क्योंकि अज्ञ को भी सुषुप्तावस्था में सुख की प्राप्ती होती है। किंतु अज्ञानी जीव तो सुषुप्तावस्था में पहुँचकर भी असम्बुद्ध (वास्तविक आत्म ज्ञान से रहित और देहात्मभाव की भ्रान्ति-वासना से वासित) होने के कारण सृष्टि को प्राप्त होता है, परंतु ज्ञानी नहीं। परब्रह्म परमात्मा निर्विशेष होने के कारण स्वभाव नहीं कहा जा सकता। निर्विकार, अद्वितीय और असंग होने के कारण जो वास्तव में किसी का कारण नहीं है, तथापि सम्पूर्ण

प्रपंच के आरोप का अधिष्ठानरूप से आदिकारण है, उस निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा में वस्तुतः कारण एमं निमित्त आदि वस्तु की भी सम्भावना नहीं है। (अतः ब्रह्म में बिना किसी कारण के ही प्रतीत होने वाला यह जगत् मिथ्या ही है।)

सार वस्तु (ब्रह्म) का ही विचार करना उचित है। असार वस्तु (दृश्य संसार) के विचार से क्या लाभ। बीज अपने स्वरूप का त्याग करके अंकुर आदि के क्रम से फलरूप में परिणत होता देखा जाता है, परंतु ब्रह्म वैसा नहीं है। वह अपने स्वरूप का त्याग किये बिना ही जगत्रूप अध्यारोप का अधिष्ठान रूप से कारण होता है, बीज का अवयव आदि सब कुछ साकार है। अतः उससे निराकार परमपदरूप ब्रह्म की तुलना करना उचित नहीं। इसलिये कल्याणस्वरूप ब्रह्म के लिये कोई उपमा सम्मत ही नहीं हो सकती। अपने को दृश्य रूप में देखने वाला द्रष्टा अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा को नहीं देख सकता (इसलिये उसे अनर्थ की प्राप्ति होती है)। जिसकी बुद्धि प्रपंच से आक्रान्त हो, ऐसे किसी पुरुष को अपनी यर्थाथ स्थिति का ज्ञान नहीं होता।

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

वैराग्य से मोक्ष

वसिष्ठ जी बोले–हे श्रीराम ! जब तक भ्रान्ति से मृगतृष्णा में जल की प्रतीति हो रही है, तब तक किसी की समझदारी किस काम की; और जब यह ज्ञान हो गया कि यहाँ जल नहीं है, तब वहाँ मृगतृष्णा ही क्या रह गयी। जैसे नेत्र बहिर्मुख होने के कारण अपने–आपको नहीं देख पाता, उसी प्रकार आकाश की भाँति निर्मल होता हुआ भी द्रष्टा बहिर्मुख होने के कारण अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकता। यह भ्रम की प्रबलता कैसी आश्चर्य-जनक है ! यदि–प्रपंच को दृश्यरूप से ही सच्चा समझा जाय तो आकाश के समान निर्मल ब्रह्म यत्न करने पर भी नहीं मिल सकता; फिर तो उसकी प्राप्ति बहुत दूर हो जाती है। श्रीराम ! इसीलिये उसको दृश्य ही दिखायी देता है, द्रष्टा का दर्शन नहीं होता। वास्तव में एकमात्र द्रष्टा ही सर्वत्र स्थित है, दृश्य नाम की कोई वस्तु यहाँ है ही नहीं (जो कुछ दिखायी देता है, वह केवल भ्रम है)। जब द्रष्टा और दृश्य में कोई अन्तर ही नहीं रहा, तब कौन द्रष्टा और

कैसा दृश्य; क्योंकि वह द्रष्टा ही दृश्यरूप में प्रकट होता है।

जब चित्त सिद्धि को प्राप्त होता है, तब जीव जड़ संसर्ग से मुक्त हो केवल शुद्ध चिन्मय आत्म स्वरूप से स्थित होता है। वह चेतन आत्मा शुद्ध एवं सर्वव्यापी है; चेतन आत्मा जहाँ जिस वस्तु की भावना करता है, वहाँ वह तत्काल प्रकट हो जाती है। उसने स्वप्न में भी जो कुछ देखा है, वह स्वप्न के समय में सत्य ही है। जैसे बीज के अंदर सूक्ष्म रूप से पत्ते, लता, फूल और फल रूप अणु रहते हैं, उसी प्रकार चेतन रूप अणु के भीतर समस्त सूक्ष्म अनुभव विद्यमानहैं। जिस पुरुष के भीतर यह विचार नहीं उठता कि मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है, वह संसार के बन्धन से मुक्त नहीं हुआ। जिस विशुद्ध बुद्धि वाले पुरुष की भोगलिप्सा प्रतिदिन क्षीण होती जाती है, उस वैराग्यवान् का ही विवेक युक्त विचार सफल होता है। जैसे शरीर के द्वारा पथ्य-भोजन आदि नियमों के साथ सेवन किया हुआ औषध ही आरोग्य प्रदान करता है, उसी प्रकार जितेन्द्रियता का अभ्यास हो जाने पर ही विवेक सफल होता है। चित्र में अंकित प्रज्वलित अग्नि की भाँति जिसका विवेक केवल कथन मात्र ही है, कार्य में परिणत नहीं हुआ है, उसने अविवेक का त्याग नहीं किया है; अतः वह अविवेक उसे दुःख ही देने वाला होगा। जैसे स्पर्श से ही वायु की सत्ता का भान होता है, कथनमात्र से नहीं, उसी प्रकार भोगेच्छा के क्षीण होने से ही पुरुष का विवेक जाग्रत् होता है। चित्रलिखित अमृत अमृत नहीं है, चित्रलिखित अग्नि अग्नि नहीं है, चित्रलिखित नारी निश्चय ही नारी नहीं है; उसी तरह कथनमात्र का विवेक विवेक नहीं है, वास्तव में अविवेक ही है। विवेक से पहले राग और द्वेष का समूल नाश हो जाता है। तत्पश्चात् विषय भोगों के लिये प्रयत्न सर्वथा क्षीण हो जाता है। जिस पुरुष में विवेक जाग्रत् है, वही परमपवित्र है।

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

उपासनाओं के अनुसार फल की प्राप्ति

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-श्रीराम ! वे जीव अपनी सिद्धि के लिये जैसे-जैसे प्रयत्न करते हैं, उन विविध उपासनाओं के क्रम से वे शीघ्र वैसे ही

वैसे हो जाते हैं। देवताओं की पूजा करने वाले देवताओं को, यक्षों की आराधना करने वाले यक्षों को और ब्रह्म के उपासक ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। इनमें जो सर्वोत्तम है, उस परमात्मारूप इष्टदेव का आश्रय लेना चाहिये।

श्रीराम जी ने पूछा-भगवन् ! आप मुझे जाग्रत् तथा स्वप्न-अवस्थाओं का भेद बताइये।

श्री वसिष्ठ जी ने कहा-रघुनन्दन ! जिसकी प्रतीति स्थिर हो, उसे जाग्रत् कहते हैं और जिसकी प्रतीति स्थिर नहीं होती, उसे स्वप्न कहा गया है। यदि स्वप्न भी कालान्तर में स्थित हो तो प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर उसे जाग्रत् की श्रेणी में ही देखा जायगा; और यदि जाग्रत् भी कालान्तर में स्थित नहीं है तो वह स्वप्न ही है। इस प्रकार जाग्रत् स्वप्नभाव को और स्वप्न जाग्रत्-भाव को प्राप्त होता है। स्वप्न भी स्वप्न काल में स्थिर होने के कारण जाग्रत-भाव को प्राप्त होता है और जाग्रत् के मनोरथ भी जाग्रत् काल में अस्थिर होने से स्वप्न ही हैं; क्योंकि वैसा ही बोध होता है।

रघुनन्दन ! मैंने तुमसे यह जो कुछ कहा है-जाग्रत् आदि अवस्थाओं का वर्णन किया है, वह सब मन के स्वरूप का निरूपणमात्र है। और किसी हेतु या प्रयोजन से यह सब नहीं कहा गया है। जैसे अग्नि के सम्पर्क में आने से लोहे का गोला आग बन जाता है, उसी प्रकार दृढ़ निश्चय से युक्त चित्त जिस वस्तु की बारंबार भावना करता है, उसी के आकार को प्राप्त हो जाता है। भाव, अभाव, ग्रहण और त्याग आदि सारी प्रतीतियाँ चेतन में मन के द्वारा कल्पित हैं। ये प्रतीत होती हैं, इसलिये तो ये असत्य नहीं हैं और वास्तव में ये हैं नहीं, इसलिये सत्य नहीं हैं। चित्त की चपलता से ही इनका निर्माण हुआ है। मन मोह का जनक और जगत् की स्थिति का कारण है। मलिन मन ही व्यष्टि और समष्टिरूप से इस जगत् की कल्पना करता है। संसार की सारी विभूतियाँ एकमात्र मन को जीतने से ही प्राप्त होती हैं। चित्त जिसकी भावना में तन्मय होता है, उसे निस्संदेह प्राप्त कर लेता है। सौभाग्यशाली श्रीराम ! मन के द्वारा अभिलषित देश या विषय को शरीर प्राप्त होता है। परंतु शरीर के द्वारा आचरित देश या विषय को मन नियमतः प्राप्त नहीं होता।

जैसे सुगन्धित पुष्प के भीतर स्थित हुई वायु उसकी घनीभूत सुगन्ध को प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार मनन से चंचल हुआ मन जिस-जिस वस्तु की

भावना करता है अथवा जिस-जिस वासना से युक्त भाव को अपनाता है, उसी के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। श्रीराम ! जैसे गन्ध के भीतर स्थित हुई वायु गन्ध रूपता को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार मन जिस भाव से युक्त होता है, उसके बाद उसका वशवर्ती शरीर भी उसी के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होने पर उनसे कर्मोन्द्रियस्वरूप स्वतः ही इस तरह स्फुरित होता है, जैसे धूल मिश्रित वायु में पृथ्वी अपने-आप धूलिकणों के रूप में स्फुरित होती है। कर्मेन्द्रियाँ क्षुब्ध होकर जब अपनी क्रिया शक्ति को प्रकट करती हैं, तब वायु में धूल समूह की भाँति मन में प्रचुर कर्म सम्पादित होता है। इस प्रकार मन से कर्म की उत्पत्ति हुई है और मन की उत्पत्ति में भी कर्म को ही बीज (कारण) बताया गया है। फूल और सुगन्ध की भाँति इन दोनों की सत्ता एक दूसरे से भिन्न नहीं है। दृढ़ अभ्यास के कारण मन जैसे भाव को ग्रहण करता है, वैसे ही स्पन्द और कर्म नाम की शाखाओं को वह प्रकट करता है तथा उसकी तरह की क्रिया रूप उसके फल को बड़े आदर से उत्पन्न करता है। तदनन्तर उसी के स्वाद का अनुभव करके शीघ्र बन्धन में पड़ता है। मन जिस-जिस भाव को अपनाता है, उसी-उसी को वस्तु रूप में पाता है। वही श्रेय है, दूसरा नहीं-ऐसा उसका निश्चय हो जाता है। अपनी-अपनी प्रतीति के द्वारा ही दृढ़ता पूर्वक भिन्नता को प्राप्त हुए (मनुष्य के) मन सदा ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं।

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छटवाँ सर्ग

भावना का त्याग

वसिष्ठ जी बोले-हे श्रीराम ! जो अकृत्रिम अर्थात् नित्य-सिद्ध विज्ञान आनन्दघन परमात्मा है, उसके लिये प्रयत्न करने वाले मनुष्यों को चाहिये कि वे अपने मन को तन्मय बना दें, जिससे उसकी प्राप्ति हो सके। यह दृश्य माया है, अविद्या है और भय देने वाली भावना है। मन की जो दृश्यमयता है, विद्वान् लोग उसी को (बन्धन में डालने वाला) कर्म कहते हैं। स्वभाव में स्थित जो यह दृश्य-तन्मयता अनुभव में आती है, वही विद्वानों द्वारा मदिरा के समान संसार को उन्मत्त बना देने वाली अविद्या कही जाती है। जैसे पटलनामक रोग से अंधा हुआ पुरुष सूर्य के दीप्तिमान् प्रकाश को नहीं देखता, उसी प्रकार इस अविद्या

से उपहत हुए लोग कल्याण को नहीं प्राप्त होते। वह अविद्या संकल्प से स्वयं उत्पन्न होती है। महामते ! भावना के संकल्प को त्याग देने मात्र से जब वह क्षीण हो जाती है, उस समय रस स्वरूप आनन्दमय परमात्मा के ध्यान के अभ्यास की दृढ़ता से सुशोभित श्रवण-मननात्मक विचार के द्वारा सब पदार्थों में अनासक्ति स्थिर हो जाती है। फिर सत्य दृष्टि के प्राप्त होने पर असत्य दृष्टि का विनाश हो जाता है और वह निर्मल-स्वभाव, निर्विकल्प-स्वरूप सच्चिदानन्द परमात्मा प्राप्त हो जाता है, जो न सत् है न असत् है, न सुखी है न दुखी है तथा जिसका कैवल्यभाव अपने हृदय अनुभव से ही प्राप्त होता है। जैसे यह रस्सी है या सर्प है-ऐसा संदेह होने पर रस्सी में सर्पभाव आरोपित होता है, उसी प्रकार बन्धन-रहित चिन्मय आकाश स्वरूप जीवात्मा ने अपने में भ्रमवश बन्धन की कल्पना कर रक्खी है। जैसे एक ही आकाश रात और दिन की कल्पना से रात में और तरह का दिखायी देता है और दिन में अन्य प्रकार का, उसी तरह परमार्थ वस्तु ब्रह्म बारंबार उस प्रतिकूल कल्पना द्वारा और ही प्रकार का भासित होता है और अपने स्वरूप के विपरीत दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जो तुच्छ नहीं है, आयास-रहित है, उपाधिशून्य है, जिसमें कोई भ्रम नहीं है तथा जो नानाप्रकार की कल्पनाओं से परे है, वह परब्रह्म परमात्मा ही परम सुखस्वरूप होने से सबको सुख दे सकता है। जीव की अपनी कल्पना से ही भाव, अभाव, शुभ और अशुभ क्षण भर में उत्पन्न हो जाते हैं और क्षण भर में मिट जाते हैं। समस्त पदार्थ-समूह भाव के अनुसार ही फल देने वाले हैं, यह जानकर ज्ञानी पुरुष इस परिवर्तनशील जगत् के पदार्थों के विषय में किसी एक निश्चितरूप का प्रतिपादन नहीं करता। चित्त दृढ़ भावना के द्वारा जिस पदार्थ के विषय में जब तक जैसे निश्चित धारणा बनाये रखता है, तब तक उसके वैसे ही परिणाम को वह देखता या अनुभव करताहै। रघुनन्दन ! वह सत्य ब्रह्म ही है अथवा परमात्मा से अभिन्न है, ऐसा अपने मन में निश्चय करके तुम अपनी बुद्धि के द्वारा उस अनादि अनन्त परमात्मा का अपने आप में ही अनुभव करो-मैं ही वह परब्रह्म परमात्मा हूँ, ऐसा अनुभव करो।

छटवाँ सर्ग समाप्त

←——→

सातवाँ सर्ग

अन्तःकरण की शुद्धि

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन ! जो नित्यानित्य वस्तु के विवेक से सम्पन्न है, जिसके चित्त की वृत्तियाँ परमात्मा में विलीन होती जा रही हैं, जो ज्ञान प्राप्त करके संकल्पों का त्याग कर रहा है, जिसका मन परमात्मा के स्वरूप में परिणत हो गया है, जो इस हेय नाशवान् जड़ दृश्य का परित्याग कर रहा है तथा उपादेय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का ध्यान कर रहा है, अर्थात् जो द्रष्टा परमात्मा का अनुभव करता है तथा अद्रष्टारूप दृश्य का अनुभव नहीं करता, जागरण के योग्य परम तत्त्व में ही जाग रहा है और घनीभूत अज्ञान के विकाररूप संसार से सोया हुआ है, जो सम्पूर्ण तुच्छ सुखों से लेकर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा तक के सुखों में अत्यन्त वैराग्य के कारण सरस और नीरस आपातरमणीय भोगों में आसक्त न होकर उनकी ओर से पूर्णतया विरक्त है, जिसके मन में किसी प्रकार की कामना नहीं है–ऐसे अधिकारी पुरुष का अनादि जड़ता (अज्ञान) रूपी आकाश आसक्ति शून्य हो जब परमात्मारूपी जल के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है और धूप में बर्फ की भाँति पूर्णतया विगलित हो जाता है। वर्षाकाल बीत जाने पर जैसे तरंग युक्त जल से चंचल मध्य भाग वाली लहराती हुई नदियाँ धीरे-धीरे सूखने लगती हैं, उसी प्रकार जब विषयरूपी तरंगों से युक्त तृष्णाएँ शान्त हो जाती हैं तथा जैसे चूहे चिड़ियों के जाल काट देते हैं, उसी प्रकार जब तीव्र वैराग्य से संसार वासनारूपी जाल टूट जाता है और हृदय की गाँठें ढीली पड़ जाती हैं, तब जैसे निर्मली को पीसकर जल में डालने से जल स्वच्छ हो जाता है, उसी तरह विज्ञान के प्रभाव से अन्तःकरण विशुद्ध होकर प्रसन्न हो जाता है। जैसे वायु के शान्त होने पर समुद्र में (निश्चलता) रूप समता आ जाती है, उसी प्रकार मन के शान्त होने पर सब जगह सर्वोत्तम शान्ति पैदा करने वाली अज्ञान रूपी मल से रहित उन्नत समदर्शिता का उदय होता है। इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ–जिसने जानने योग्य परमात्मतत्त्व को जान लिया है, वह परम बुद्धिमान् पुरुष वायु आदि चारों भूतों से रहित आकाश कोश के समान न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।

मैं कौन हूँ, यह दृश्य जगत् कैसे हुआ ?–इन सब बातों का जब तक

विवेकपूर्वक विचार नहीं किया जाता, तभी तक यह अन्धकार के समान संसार का आडम्बर खड़ा है। मिथ्या भ्रमसमूह से उत्पन्न यह शरीर आपत्तियों का घर है। जो आत्मभावना के द्वारा इस दृश्य को नहीं देखता अर्थात् जो यह दृश्य नहीं है, सब कुछ आत्मा ही है-ऐसा देखता है, वही यथार्थरूप से देखने वाला है। जो देश और कालवश शरीर में उत्पन्न हुए सुख-दुःखों को भ्रमरहित दृष्टि से 'ये मेरे नहीं हैं' इस तरह देखता है, वही यथार्थ द्रष्टा है। जो असीम आकाश, दिशा और काल आदि हैं तथा उनमें वर्तमान जो परिच्छिन्न क्रियाओं से युक्त वस्तु है, वह सब 'मैं ही हूँ'-इस प्रकार जो सबमें अपने आत्मा को देखता है, वही वास्तव में देखने वाला है। सर्वशक्तिमान्, अनन्तात्मा, सम्पूर्ण पदार्थों में स्थित, एकमात्र अद्वितीय चेतन परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हैं-ऐसा जो अपने हृदय के भीतर देखता है, वही वास्तव में देखता है। जो विद्वान् आधि, व्याधि, जन्म, जरा और मृत्यु से युक्त इस देह को अपना स्वरूप नहीं मानता-मैं देह हूँ, ऐसा नहीं देखता, वही यथार्थदर्शी है। सूत में गुँथी हुई मणियों के समान यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही ओतप्रोत है, परंतु मैं मन नहीं हूँ-इस तरह जो देखता है, वही आत्मा के यथार्थस्वरूप को देखता है। न मैं हूँ न दूसरी ही कोई वस्तु है; किंतु एकमात्र निरामय ब्रह्म ही सर्वत्र सब रूपों में विराजमान है-इस तरह जो देखता है, वही वास्तव में देखता है। जिस महात्मा के सांसारिक देह आदि के प्रति अपने-पराये और तेरे-मेरे के भेद मिट गये हैं, वही सुन्दर दृष्टि से सम्पन्न महापुरुष आत्मा का यथार्थरूप से अनुभव करता है। जो आकाश की भाँति एकात्मा है और सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त होता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, ऐसा महात्मा पुरुष साक्षात् महेश्वर ही है। जो तम (सुषुप्ति), प्रकाश (जाग्रत्) और कलना (स्वप्न)-इन तीनों अवस्थाओं से मुक्त है, कालका भी परम प्रेमास्पद आत्मा बन गया है तथा जो सौम्य, समदर्शी और अपने आत्मस्वरूप में स्थित है, ऐसे उस परमात्म-पद को प्राप्त हुए पुरुष को मैं नमस्कार करता हूँ। सम्पूर्ण जगत् में एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान है-जिसकी बुद्धि में ऐसा निश्चय हो गया है तथा जिसकी वृत्ति (ब्रह्माकार दृष्टि) जगत् की सृष्टि, प्रलय और स्थितिरूपिणी विचित्र एवं मनोहर वैभवयुक्त कलाओं में सदा ही एकरस है, उस परम बोधवान् शिवस्वरूप महापुरुष को नमस्कार है।

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

ज्ञानी की रागरहित स्थिति का वर्णन

श्री वसिष्ठजी कहते हैं-रघुकुलनन्दन श्रीराम ! जैसे देवराज इन्द्र अपनी अमरावतीपुरी में निश्चिन्त होकर राज्य करते हैं, उसी प्रकार विवेकी पुरुष इस देहरूपिणी नगरी में राज्य करता हुआ सदा निश्चिन्त एवं अपने आत्मा में स्थित रहता है। वह अपने मनरूपी मतवाले घोड़े को कामभोग के भयानक गड्ढे की ओर नहीं जाने देता तथा अपनी प्रज्ञारूपिणी पुत्री को लोभ के वश में होकर नहीं बेचता। अज्ञानरूपी शत्रुराष्ट्र इसके छिद्र को नहीं देख सकता और यह संसाररूपी शत्रु के भय की जड़ों को ही काट देता है। तृष्णारूपिणी नदी के प्रवाह के भीतर उठने वाली बड़ी भारी भँवर में, जहाँ काम-भोगरूपी दुष्ट ग्राह निवास करते हैं, वह विवेकी पुरुष बहिर्मुख होकर डूबता नहीं। वह मन की ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ़ हो बाहर-भीतर परमात्मा के सिवा दूसरी किसी वस्तु को न देखता हुआ सदा समता-शान्तिरूप गंगा-यमुना के संगम में स्नान करता है। जिस पर सम्पूर्ण इन्द्रियरूपी जन-समुदाय की दृष्टि रहती है, उस विषय सुख के अवलोकन से पराङ्मुख हो वह ध्यान में सदा सुखपूर्वक बैठा रहता है।

सर्वव्यापक होकर भी इस शरीररूपी नगरी में स्थित आत्मारूपी पुरुष विश्व की कल्पना द्वारा निर्मित विविध भोगों का प्रारब्धानुसार उपभोग करके अपने स्वरूपभूत परम पुरुषार्थ को प्राप्त होता है। समस्त पदार्थों की क्रिया से विमुख रहने वाला वह विवेकी पुरुष व्यवहार दृष्टि से कर्म करता हुआ भी परमार्थ दृष्टि से कुछ नहीं करता; क्योंकि वह सम्पूर्ण व्यावहारिक कार्यों का कर्तापन के अभिमान से रहित होकर सम्यक्रूप से अनुष्ठान करता है। उस शरीर नगरी में रहकर हृदय-पुण्डरीक में आरूढ़ हो वह सदा शान्तिरूप शीतल शरीर वाली लोक सुन्दरी मैत्रीरूपिणी अपनी प्रिया के साथ नित्य रमण करता है। जैसे चन्द्रमा के अगल-बगल में चित्त को आल्हादित करने वाली विशाखा नामक दो ताराएँ स्थित होती हैं, इसी तरह विवेकी पुरुष के दोनों पार्श्वभागों में सत्यता और समता नाम की दो कान्ताएँ सम्यक्रूप से विराजमान होती हैं, जो चित्त को आल्हाद प्रदान करने वाली हैं। जैसे सम्पूर्ण कलाओं से युक्त और समस्त शोभा-सम्पत्ति से सुन्दर प्रतीत होने वाले पूर्णिमा के चन्द्रमा चिरकाल तक सम्पूर्ण दिशाओं को अपनी सुधामयी किरणों से पूर्ण करके प्रकाशित होते

हैं, उसी प्रकार जिसके सारे मनोरथ चिरकाल के लिये परिपूर्ण हो गये हैं, जो सर्वात्मभावरूप सम्पत्ति से सुन्दर दिखायी देता है, वह आत्मकाम तत्त्ववेत्ता पुरुष निरन्तर अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है। चन्द्रमा तो पुनः क्षीण होने के लिये प्रकाशित होते हैं, परंतु तत्त्वज्ञ फिर क्षीण नहीं होता। वह अखण्ड एकरस भाव से अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने के लिये प्रकाशित होता है।

जैसे बिना किसी प्रयत्न के स्वतः प्राप्त हुए तथा व्यर्थ पदार्थों में मनुष्य की दृष्टि आसक्ति शून्य होकर ही पड़ती है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष की बुद्धि सांसारिक कार्यों में भी राग शून्य ही रहती है। इन्द्रियों को प्रारब्धवश जो न्याय युक्त विषय प्राप्त होते हैं, उनका तो वह कभी निवारण नहीं करता और अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न भी नहीं करता (प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाय, उसी में संतुष्ट रहता है)। इस प्रकार ज्ञानी अपने आप में परिपूर्ण रहता है। जैसे मोर-पंखों के आघात पर्वत को कम्पित नहीं कर सकते, उसी प्रकार ज्ञानी को अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये होने वाली चिन्ताएँ और प्रतिकूल प्राप्त वस्तु के लिये पश्चाताप विचलित नहीं करते। जिसके सारे संदेह निवृत्त हो गये हैं, भोग सम्बन्धी सारी उत्सुकता विनष्ट हो गयी है तथा काल्पनिक शरीर क्षीण हो गया है, वह ज्ञानी पुरुष सम्राट् के समान विराजमान होता है। जैसे अपार अनन्त क्षीरसागर अपने आप में ही परिपूर्ण है, उसी प्रकार अपरिच्छिन्न आत्मज्ञानी अपने आप में ही नहीं समाता अर्थात् अपने आप में ही परिपूर्ण है और आत्मा से आत्मा में ही रमण करता है।

इतने बड़े भूमण्डल में वे ही पुरुष सौभाग्यशाली, शुद्धचित्त और पुरुषोचित कलाओं के ज्ञान में गणनीय हैं, जो अपने चित्त से पराजित नहीं हुए हैं। जिसके हृदय रूपी बिल में कुण्डलाकार मनरूपी महान् सर्प सर्वथा शान्त हो गया है, अपने स्वरूप में पूर्ण रूप से उदित हुए ऐसे उस अत्यन्त निर्मल तत्त्ववेत्ता को मैं प्रणाम करता हूँ।

आठवाँ सर्ग समाप्त

↔

नवाँ सर्ग

मन और इन्द्रियों को जीतने से लाभ

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन ! (मनसहित) इन्द्रियरूपी छः शत्रु बड़े ही दुर्जय हैं। वे तपन, अवीचि, महारौरव, रौरव, संघात और काल सूत्र नरक

के इन छः बड़े-बड़े साम्राज्यों पर प्रतिष्ठित हैं। पापरूपी मतवाले हाथी इनके वाहन हैं तथा तृष्णारूपी बाण-शलाकाओं से वे सदा सम्पन्न रहते हैं। वे इतने कृतघ्न हैं कि सबसे पहले अपने आश्रयभूत शरीर का ही नाश करते हैं। उनका महान कोशागार कुकर्मरूपी धन से ही भरा हुआ है। अपने इन इन्द्रियरूपी शत्रुओं पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। जिसने विवेकरूपी सूत के जाल से उन इन्द्रियरूपी दुष्ट शत्रुओं को बाँध लिया है, उसके अंगों (शम, दम, समता, शान्ति आदि) का वे विनाश नहीं करते। जिसने इन्द्रियरूपी भृत्यों को काबू में कर लिया है तथा मनरूपी शत्रु को पूर्णतया बंदी बना लिया है, उस पुरुष की विशुद्ध बुद्धि उसी तरह बढ़ती है, जैसे वसन्त ऋतु में आम की मंजरी। जिसका चित्तरूपी गर्व नष्ट हो गया है और इन्द्रियरूपी शत्रु जिसकी कैद में आ गये हैं, उस पुरुष की भोग-वासनाएँ उसी तरह क्षीण हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतु में कमल विनष्ट हो जाते हैं। जब तक एकमात्र परमात्मतत्त्व के दृढ़ अभ्यास द्वारा मन पर विजय नहीं पा ली जाती, तभी तक मध्य रात्रि में नाचने वाले वेतालों की तरह हृदय में वासनाएँ उछल-कूद मचाये रहती हैं। मैं समझता हूँ कि विवेकी पुरुष का यही मन विवेक के द्वारा अभीष्ट कार्य करने से भृत्य, मन्त्रणा द्वारा उत्तम कार्य करवाने से मन्त्री और सब ओर से इन्द्रियों पर आक्रमण करने के कारण सामन्त बन जाता है। मनरूपी मन्त्री शास्त्र विहित शुभ कर्म में प्रवृत्त हुए पुरुष को उन निष्काम कर्मों के करने के लिये सलाह देता है, जो जन्म-मृत्युरूपी वृक्षों को काटने के लिये कुठार के समान हैं तथा भविष्य में होने वाले अभ्युदय (निरतिशय आनन्द की प्राप्ति) के कारण हैं।

किंतु जिसे जगत् की सत्यता का पूर्ण निश्चय है, वह अत्यन्त मूढ़ है। उस अत्यन्त मूढ़ पुरुष के प्रति यदि जगत् की असत्यता का प्रतिपादन किया जाय तो यह उपदेश वहाँ शोभा नहीं पाता-उसके मन को अच्छा नहीं लगता। परमात्मतत्त्व के विचार का अभ्यास किये बिना जगत् की सत्यता के अनुभव का अपलाप (निराकरण) नहीं हो सकता। इस संसार में किसी का भी जो निश्चय अन्तःकरण में जड़ जमाकर सुदृढ़ हो गया है, वह शास्त्रोक्त परमार्थ तत्त्व का अभ्यास किये बिना कदापि नष्ट नहीं होता। जो अनधिकारी के प्रति ऐसा उपदेश देता है कि यह जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म सत्य है, उस पुरुष को उन्मत्त के समान समझकर इस जगत् के उन्मत्त और मूढ़ मनुष्य उसकी

पूरी हँसी उड़ाते हैं; किंतु जो मदिरा पीकर मतवाला हो गया है और जो मदिरा से दूर रहने के कारण मदमत्त नहीं हुआ है, उन दोनों की कहाँ एकता होती है। जैसे अन्धकार और प्रकाश को समझने में, छाया और धूप को पहचानने में कोई बाधा नहीं आती, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के विषय में भी समझना चाहिये। बोध के विषय में ज्ञानी और अज्ञानी की कभी एकता नहीं हो सकती। अज्ञानी को कितने ही यत्न से क्यों न समझाया जाय, उसे बाहर–भीतर जो संसार की सत्यता का अनुभव हो रहा है, उसका वह सत्य अधिष्ठानरूप ब्रह्म में उसी प्रकार बाध नहीं कर सकता, जैसे शव अपने पैरों चल नहीं सकता (अध्यस्त वस्तु का बाध किये बिना अधिष्ठान–तत्त्व का बोध नहीं हो सकता; इसलिये उसे बोध का उपदेश देना व्यर्थ है।)

नवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

जगत् और ब्रह्म का स्वरूप

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है–ऐसा उपदेश उस मनुष्य के प्रति देना उचित नहीं, जो अत्यन्त अज्ञानी है; क्योंकि उस अज्ञानी ने तप और विद्या आदि के अनुभव से होने वाले संस्कार का अभाव होने के कारण सदा उस लोक प्रसिद्ध देहात्मभाव का ही अनुभव किया है। कभी भी असंसारी आत्मभाव का उसे अनुभव नहीं हुआ। श्रीराम ! जिसको थोड़ा–थोड़ा ज्ञान है, उस पुरुष के प्रति ही यह उपदेश–वाणी सुशोभित (सफल) होती है। जो पुरुष पूर्ण ज्ञानी है, उसको तो 'मैं हूँ' इस प्रकार अहंकारास्पदरूप से विचार करने के लिये कुछ भी नहीं है। (इसलिये वह भी उपदेश देने के योग्य नहीं है। तात्पर्य यह कि जो न तो अत्यन्त अज्ञानी है और न पूर्ण ज्ञानी ही, वही जिज्ञासु इस उपदेश का अधिकारी है।) जो शुद्ध बुद्धि से युक्त ज्ञानी पुरुष निरन्तर यह अनुभव करता है कि यह सब कुछ शान्त परब्रह्म ही है, उसके इस अनुभव का बोध कैसे हो सकता है। आत्मा में परब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, सोने में अँगूठी आदि की तरह आत्मा में अन्य किसी की प्रातीति सत्ता भी नहीं है। मूढ़ पुरुष मिथ्या अहंकारमय है और सुन्दर बुद्धि से युक्त ज्ञानी एकमात्र सत्य आत्मास्वरूप है। इन दोनों के स्वभाव के अन्तर का निराकरण कहीं नहीं हो

सकता है। जो सर्वत्र व्याप्त, शान्त, शुद्ध, चेतन, आकाशवत्, निर्विकार, निर्मल तथा उत्पत्ति-विनाश से रहित है, वह ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। जिसके नेत्र तिमिर-रोग से पीड़ित हैं, उसकी स्वाभाविक दृष्टियाँ ही आकाश में केशों के वर्तुलकार गोलों की तरह प्रतीत होती हैं। उसी तरह चिन्मय परमात्मा में से ये सृष्टियाँ प्रतिभासित होती हैं। वह चिदाकाशस्वरूप सत्यात्मा अपने आपको जैसा समझता है क्षणभर में वैसा ही अनुभव करने लगता है। उसके दृष्टिबल से असत्य वस्तु भी क्षणभर में सत्य-सी प्रतीत होने लगती है।

जैसे मरुभूमि में सूर्य की किरणों के ताप को ही मृगजल या मृगतृष्णा नाम दिया गया है, उसी प्रकार जो आकाश की ज्योति निराकार है, उस आकाश रूप चिन्मय परमात्मा के अपने स्वप्न तुल्य प्रतिभास का ही, जो वास्तव में शून्य है, जगत् नाम रक्खा गया है। जैसे स्फटिकशिला का मध्य भाग वास्तव में घनीभूत है, उसी प्रकार महाचेतन परमात्मा का यह जो शान्त और निर्मल अपना स्वरूप है वह वास्तव में सच्चिदानन्दघन है। स्फटिकशिला में प्रतिबिम्बित होने वाले वन, पर्वत और नदी आदि के स्वरूप की भाँति 'है और नहीं है' ये दो दृष्टियाँ चिदाकाश परमात्मा में कहीं नहीं हैं। और प्रतिभास मात्र से जो कुछ है, उस चेतन-आत्मा का स्वरूप ही उस रूप में भासित होता है-ऐसा समझना चाहिये।

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

शास्त्र चिन्तन

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-श्रीराम ! चिन्मय आकाशस्वरूप जो 'जीवात्मा' है, वही रजोगुण से रंजित होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप-स्वप्रकाशरूपता का त्याग न करता हुआ ही अहंकार, प्राण, देह, और इन्द्रिय आदि के संघातरूप इस विरूप देह को भी अपना आत्मा समझता है। असत्य होकर भी सत्य सी प्रतीत होने वाली मृगतृष्णा में जल बुद्धि के समान अपनी ही अविद्या मूलक वासना की भ्रान्ति से जीव मानो अपने चिन्मय रूप से भिन्नता (जड़ देह रूपता) को प्राप्त होता है। जो लोग महावाक्यरूप शास्त्र से दृश्य-प्रपंच को आगन्तुक समझकर निर्वाण भाव में स्थित हैं, वे अन्तरात्मा की ओर उन्मुख हुई अपनी बुद्धि से ही भवसागर से पार हो जाते हैं। जो उदार चेता पुरुष त्रिलोकी के

वैभव को भी सदा तृण के तुल्य समझता है, उसे सारी आपत्तियाँ इस तरह छोड़ देती हैं, जैसे साँप अपनी केंचुल को। जिसके भीतर सदा सत्यस्वरूप ब्रह्म का चमत्कार स्फुरित होता है, उसी सारे लोकपाल अखण्ड ब्रह्माण्ड के समान रखा करते हैं। अपार विपत्ति में पड़ने पर भी कभी कुमार्ग में पैर नहीं रखना चाहिये; क्योंकि राहु अनुचित मार्ग से अमृत पीने का प्रयत्न करने के कारण ही मृत्यु को प्राप्त हो गया। जो पुरुष उपनिषद् आदि उत्तम शास्त्र और उनके अनुसार चलने वाले श्रेष्ठ पुरुषों के सम्पर्करूपी सूर्य का, जो कि परमात्मा का साक्षात्काररूपी तीव्र प्रकाश देने वाला है, आश्रय लेते हैं, वे फिर कभी मोह रूपी अन्धकार के वशीभूत नहीं होते। जिसने शम-दम आदि गुणों के द्वारा यश प्राप्त किया है, वश में न आने वाले प्राणी भी उसके वशीभूत हो जाते हैं। उसकी सारी आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और उसे अक्षय कल्याण की प्राप्ति होती है। जिनका गुणों के विषय में संतोष नहीं है, जिनका शास्त्रों के प्रति अनुराग है तथा जिन्हें सत्यपालन का स्वाभाविक अभ्यास है, वे ही वास्तव में मनुष्य हैं। उनके अतिरिक्त जो दूसरे लोग हैं, वे पशुओं की ही श्रेणी में हैं। जिनके यशरूपी चन्द्रमा की चाँदनी से प्राणियों का हृदयरूपी सरोवर प्रकाशित है, वे क्षीर सागर के समान हैं। उनके शरीर में निश्चय ही भगवान् श्रीहरि का निवास है।

परम पुरुषार्थरूपी प्रयत्न का आश्रय ले उत्तम उद्योग को अपना कर शास्त्र के अनुकूल उद्वेग शून्य आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धि का भागी नहीं होता। अर्थात् वह सिद्धि का भागी अवश्य होता है। शास्त्र के अनुसार कार्य करने वाले पुरुष को सिद्धियों के लिये उतावली नहीं करनी चाहिये; क्योंकि चिरकाल तक परिपक्व हुई सिद्धि ही पुष्ट एवं उत्तम फल को देने वाली होती है। शोक, क्लेश और भय का परित्याग करके घमंड और शीघ्रता के आग्रह को छोड़कर शास्त्र के अनुसार व्यवहार करना चाहिये। उसके विपरीत चलकर अपना विनाश नहीं करना चाहिये। परिणाम में दुर्भाग्य प्रदान करने वाली, दीन, शुभ फल से रहित जो धन, पुत्र आदि लौकिक वस्तुओं की चिन्ता है, वह दीर्घकाल तक बनी रहने वाली प्रगाढ़ महानिद्रा ही है। उसे त्यागकर सचेत हो जाना चाहिये-विशुद्ध ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर लेना चाहिये। व्यवहार परायण पुरुषों के विचार से लोक मर्यादा के अनुसार तथा शास्त्र और सदाचार के

अनुकूल कर्म करके उत्तम फल की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। जिसका चरित्र सदाचार से सुन्दर तथा बुद्धि विवेकशील है और संसार के सुख-फलरूपी दुःखद दशाओं में जिसकी आसक्ति नहीं है, उस पुरुष के यश, गुण और आयु-ये तीनों ही वसन्त ऋतु की लताओं के समान उत्तम फल देने के लिये शोभा के साथ विकास को प्राप्त होते हैं।

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

शास्त्रीय शुभ उद्योग की सफलता

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन ! समस्त साधनों का अधिक अभ्यास ही सफल होता है। इसलिये सर्वत्र और सदा साधन करने से सब प्रकार के फलों की प्राप्ति सम्भव है; क्योंकि इष्ट, मित्र, स्वजन एवं बन्धु-बान्धवों को आनन्द देने वाले नन्दी ने तालाब के किनारे आराधना करके भगवान् शिव को पाकर मृत्यु पर भी विजय पा ली। दानव-सेना और धन-धान्य से सम्पन्न बलि आदि दानवों द्वारा देवता उसी तरह कुचल दिये गये, जैसे हाथियों के द्वारा कमलों से भरे हुए सरोवर मथ डाले जाते हैं; किंतु फिर अतिशय प्रयत्न करने के कारण देवताओं ने सबसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया। राजा मरुत्त के यज्ञ में महर्षि संवर्तने ब्रह्माजी की तरह देवताओं और असुरों सहित दूसरी सृष्टि ही रच डाली थी। (अतिशय साधन और प्रयत्न से ही उन्हें ऐसी शक्ति प्राप्त हुई थी।) शास्त्रीय विधि से महान् साधनों के अनुष्ठान में अत्यन्त संलग्न रहने वाले विश्वामित्र ने बारंबार की गयी कठोर तपस्या द्वारा दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया। राजकुमारी सावित्री अपने पति-प्रेमरूप पातिव्रत्य धर्म के प्रभाव से यमराज को जीतकर उत्तम वाणी का प्रयोग करके संतुष्ट किये हुए यम देवता की अनुमति से अपने पति सत्यवान् को लौटा लायी। संसार में ऐसा कोई शास्त्रीय शुभ कर्म का अतिशय अनुष्ठान नहीं है, जिसका फल स्पष्टरूप से प्राप्त न होता हो। अपने मन में ऐसा विचार करके कल्याणकामी पुरुषों को सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न से सुशोभित होना चाहिये। सम्पूर्ण सुख-दुःख आदि अवस्थाओं की भ्रम-दृष्टियों का मूलोच्छेद करने वाला परमात्मा का यथार्थ ज्ञान ही है। अतः परमात्मा के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये साधन का अतिशय अभ्यास

करना चाहिये। संसार-सागर को पार करने के लिये सत्पुरुषों के संग और सेवा के बिना तप, तीर्थ तथा शास्त्रभ्यास आदि कोई भी साधन सफल नहीं होते। जिसके सेवन से लोभ, मोह और क्रोध प्रतिदिन क्षीण होते हों और जो शास्त्र के अनुसार अपने कर्मों के अनुष्ठान में संलग्न रहता है, वही पुरुष श्रेष्ठ है।

जब तक अन्तःकरण के आकाश में चैतन्यरूपी चाँदनी अहंकाररूपी मेघमाला से आच्छादित है, तब तक वह परमार्थरूपिणी कुमुदिनी को विकसित नहीं कर सकती। जब तक हृदयाकाश में अहम्भाव का बादल उमड़-घुमड़ कर बढ़ता जाता है, तभी तक तृष्णारूपी कुटज-कुसुम की मंजरी विकास को प्राप्त होती है। वह मिथ्या कल्पित अहंकार दूषित अन्तःकरण में अनन्त संसार बन्धन में डालने वाले मोह को जन्म देता है। 'यह देह मैं हूँ' इस प्रबल मोह से बढ़कर अनर्थकारी दूसरा अज्ञान इस संसार में न कभी हुआ है और न होगा ही। इस संसार में यह जो कुछ भी सुख-दुःखरूपी विकार आता है, उसके रूप में अहंकार-चक्र का ही मुख्य विकार बढ़ रहा है। जिस पुरुष ने अज्ञान से आरोपित अहंकाररूपी वृक्ष के अंकुर को विवेकपूर्वक विचार से संस्कृत मनरूपी हल के द्वारा जोतकर उखाड़ फेंका है, उसके आत्मारूपी खेत में संसार-ताप का नाशक एवं सहस्त्रों शाखाओं से युक्त अच्छेद्य ज्ञानरूपी वृक्ष बढ़ता और फलता है। जिस नराधम को अहंकाररूपी पिशाच ने पकड़ लिया है, उसके उस पिशाच को मार भगाने के लिये विवेक के बिना न कोई शास्त्र समर्थ हैं न मन्त्र।

श्री राम जी ने पूछा-भगवन् ! ब्रह्मन् ! कौन सा ऐसा उपाय है, जिससे अहंकार नहीं बढ़ता ? आप संसाररूपी भय का शान्ति के लिये वह उपाय मुझे बताइये।

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

मोक्ष प्राप्ति का वर्णन

श्री वसिष्ठ जी ने कहा-रघुनन्दन ! आत्मा चैतन्यमय दर्पण के समान शुद्ध है। उसमें उसके पूर्वोक्त शुद्धस्वरूप का निरन्तर स्मरण करने से अहंकार नहीं बढ़ता। यह जगत् झूठे इन्द्रजाल की शोभा के समान है। असमें अनुराग या वैराग्य से मेरा क्या प्रयोजन है-ऐसा मन में विचार करते रहने से अहंकार

उत्पन्न ही नहीं होता। श्रीराम ! इस त्रिलोकी में तीन प्रकार के अहंकार होते हैं। उनमें दो प्रकार के अहंकार तो श्रेष्ठ हैं, किंतु तीसरा त्याज्य है। मैं उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ! मैं ही यह सम्पूर्ण विश्व हूँ। मैं ही अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ। मेरे सिवा दूसरा कुछ नहीं है-इस तरह का जो अहंकार है, उसे उत्तम समझना चाहिये। यह अहंकार जीवन्मुक्त पुरुष की मोक्ष-प्राप्ति के लिये है। यह बन्धन में डालने वाला नहीं होता। 'बाल के अग्र भाग के सौ टुकड़े करने पर जो सौवाँ हिस्सा होता है, उसी के समान मुझ जीवात्मा का सूक्ष्मस्वरूप है अर्थात् मैं अवयव से रहित हूँ, अतएव सबसे भिन्न हूँ।' इस प्रकार का जो अनुभव है, वही दूसरा शुभ अहंकार है। वह भी साधक के मोक्ष के लिये ही है, बन्धन के लिये नहीं। उपर्युक्त अहंकार के नाम से केवल कल्पना होती है। वास्तव में वह नहीं है। यह हाथ-पैर आदि से युक्त शरीर ही मैं हूँ, इस प्रकार का जो मिथ्या अभिमान है, वही तीसरा अहंकार है। वह लौकिक एवं तुच्छ ही है। उस दुष्ट अहंकार को त्याग ही देना चाहिये; क्योंकि वह सबसे बड़ा शत्रु माना गया है। पहले बताये गये जो दो अहंकार हैं, उनको स्वीकार करके 'मैं देह नहीं हूँ, ऐसा विचार से भी निश्चय कर लेने के पश्चात् उन दोनों को भी अन्तिम तीसरे अहंकार की भाँति ही लौकिक समझकर त्याग देना उचित है-ऐसा प्राचीन महापुरुषों का मत है। प्रथम दो अहंकार अलौकिक हैं। उन दोनों को अंगीकार करके तीसरे लौकिक अहंकार का, जो दुःख देने वाला है, त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि यह तीसरा अहंकार सर्वथा त्यागने ही योग्य है। इस दुःखदायी अहंकार को त्यागकर पुरुष जैसे-जैसे ज्ञान में स्थित होता जाता है, वैसे-ही-वैसे वह परमात्मभाव की ओर बढ़ता जाता है। निष्पाप रघुनन्दन ! यदि पुरुष पूर्वोक्त दो अहंकारों की भावना करता रहे तो उसे परमपद प्राप्त हो जाता है; और यदि उनका भी त्याग करके सम्पूर्ण अहंकारों से रहित हो जाय तो वह अत्यन्त उच्च पद (परमात्मभाव) में शीघ्र आरूढ़ हो जाता है। महामते ! जिस जीव का अहंकार शान्त हो गया है, उसे भोग रोग के समान जान पड़ते हैं। जैसे अच्छी तरह से तृप्त हुए पुरुष को विषमिश्रित रस स्वादिष्ट नहीं प्रतीत होते, उसी प्रकार उसे भोग अच्छे नहीं लगते। रघुनन्दन ! अहंकार की स्मृति का भी सर्वथा त्याग करके अतिशय पुरुषार्थरूप प्रयत्न के द्वारा भवसागर को पार किया जाता है। पहले 'सब मैं ही

हूँ और ये सब मेरे हैं’ ऐसा समझकर फिर ‘यह देह आदि मैं नहीं हूँ और इस देह के सम्बन्धी भी मेरे कुछ नहीं हैं’ ऐसा विचार करके उससे सब प्रतिबन्धकों का नाश होने से प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए स्तुत्य आत्म ज्ञान को अपने हृदय में उतारकर महात्मा पुरुष परम पद को प्राप्त कर लेता है।

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

मनोनिग्रह के उपाय

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम ! जिन्होंने अविद्या के घनीभूत विलासों से विषयों की ओर उन्मुख हुए अपने मन को जीत लिया है, उन महाशूर श्रेष्ठ पुरुषों की ही सदा विजय होती है। सब प्रकार के उपद्रवों को प्राप्त कराने वाले इस संसार के दुःख को निवारण करने का एक मात्र उपाय यही है कि अपने मन को वश में किया जाय। ज्ञान का जो सारभूत सर्वस्व है, उसे बताता हूँ; उसे सुनकर हृदय में धारण करना चाहिये। भोग की इच्छा मात्र ही बन्धन है और उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है। जैसे जहाँ काँटों के बीज विखेर दिये गये हैं। वह भूमि काँटों के समुदाय को ही उत्पन्न करती है, उसी प्रकार वासना से आवृत हुई बुद्धि केवल दोषों को ही जन्म देती है। जिसमें वासना-समूह का कोई लगाव नहीं है, अतएव जहाँ राग और द्वेष नहीं देखे गये हैं, वह चांचल्यरहित बुद्धि धीरे-धीरे परम शान्ति को प्राप्त हो जाती है। जैसे जहाँ उत्तम बीज बोया गया है, वह भूमि समय पर श्रेष्ठ फल देने वाले पौधों को उत्पन्न करती है, उसी प्रकार शुभ बुद्धि दोष रहित, शुभ एवं उत्तम गुणों को ही सदा प्रकट करती है। जब शुभ भावों के अनुसंधान से मन प्रसन्न (शुद्ध) हो जाता है और धीरे-धीरे मिथ्या ज्ञानरूपी घने मेघ शान्त हो जाते हैं, सुजनतारूपी चन्द्रमा जब शुक्लपक्ष की भाँति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होने लगता है और आकाश में सूर्य के तेज की भाँति पुण्यमय विवेक का प्रसार हो जाता है, अन्तःकरण रूपी बाँस के भीतर धैर्यरूपी मोती की वृद्धि होने लगती है, वसन्त ऋतु में चटकीली चाँदनी के प्रसाद से चरितार्थ होने वाले चन्द्रमा की भाँति जब अन्तःकरण की स्थिति आत्मज्ञानजनित परमानन्द की प्राप्ति से सर्वथा सफल हो जाती है, शीतल छाया वाले सत्संगरूपी फलवान् वृक्ष जब फलने लगते हैं तथा ध्यान-समाधिरूप सरल वृक्ष जब आनन्दमय सुन्दर रस टपकाने लगता है, उस

समय मन निर्द्वन्द्व, निष्काम और उपद्रव शून्य हो जाता है। उसके चपलतारूपी अनर्थ तथा शोक, मोह और भयरूपी रोग शान्त हो जाते हैं। शास्त्रों के अर्थ के विषय में उसका सारा संदेह दूर हो जाता है। उसमें सभी सांसारिक पदार्थों को देखने की उत्कण्ठा का अभाव हो जाता है। उसकी कल्पनाओं के जाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वह मोहरहित एवं वासनाशून्य हो जाता है। उसमें आकांक्षा, उपाक्रोश (परनिन्दा), अपेक्ष और दुश्चिन्ता का अभाव हो जाता है। वह शोकरूपी कुहरे से रहित और आसक्ति शून्य होता है तथा उसके हृदय की अज्ञान की गाँठें खुल जाती हैं।

विशुद्ध आत्मा न तो संसार पुरुष है, न शरीर है और न रुधिर ही है; शरीर आदि सब जड़ हैं, किंतु शरीरी (आत्मा) आकाश के समान निर्लेप है। जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही बन्धन के लिये रेशमी तन्तुओं का जाल रच लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा मन में विकल्प वासनाओं का प्रसार करके अपने बन्धन के लिये सुदृढ़ जगत् रूप जाल की रचना कर लेता है। जीवात्मा इस वर्तमान देह भ्रम का त्याग करके फिर दूसरे देश और दूसरे काल में अन्य देह भाव को धारण करता है; जीवात्मा के मनमें जैसी वासना होती है, वैसा ही शरीर उत्पन्न होता है। जीवात्मा का चित्त जैसी वासना लेकर सोता है, रात को स्वप्न में वैसा ही बनकर रहता है। इमली का बीज यदि शहद के रस से सींचा जाय तो अंकुर आदि के क्रम से वृक्ष बनकर फलने के समय भी वह उस मधु से अनुरंजित होकर मधुर फल ही देता है और वही बीज यदि विष के प्रतिनिधि भूत धतूरे और करंज आदि लता के पीसे हुए चूर्ण के रस से सींचा जाय तो उसका फल कडुवा ही होता है। महती शुभ वासना से मनुष्य का चित्त महान् होता है। मनुष्य 'मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकार का मनोरथ होने पर इन्द्र रूप में प्रतिष्ठित होने का स्वप्न देखता है। इसी तरह मनुष्य का क्षुद्र वासना से वासित हुआ चित्त तुच्छ क्षुद्रता को देखता है। पिशाच का भ्रम होने से मनुष्य रात को स्वप्न में पिशाचों को ही देखने लगता है। जैसे प्रतिदिन क्षीण होता हुआ चन्द्रमा अपने पूर्ण होने की आशा को कभी नहीं छोड़ता, उसी प्रकार दरिद्रता आदि से पीड़ित होने पर भी उद्योगशील श्रेष्ठ पुरुष उदार गति का परित्याग नहीं करता। वास्तव में तो न यहाँ बन्धन है और न मोक्ष है, न बन्धन का अभाव है न बन्धन की सत्ता ही है। इन्द्रजाल लता की भाँति यह झूठी माया ही प्रकट

हुई है। बन्धन और मोक्ष की अवस्थाओं से तथा द्वैत और अद्वैत से रहित यह सम्पूर्ण विज्ञानानन्दमयी ब्रह्म-सत्ता ही है-ऐसा निश्चय ही परमार्थ है। यह जगत् परमात्मा का स्वरूप ही है, ऐसा ज्ञान हुए बिना यह दृश्य जगत् दुःख देने वाला ही होता है और यदि वैसा ज्ञान हो गया तो यह दृश्य मोक्ष प्रदान करने वाला होता है। जल भिन्न है और तरंग भिन्न, इस प्रकार अनेकता और भिन्नता का बोध अज्ञान है। जल ही तरंग है, इस प्रकार एकत्व बोध से यथार्थ ज्ञान सिद्ध होता है। जैसे स्नेहरहित बन्धु के मिलने और बिछुड़ने से मनुष्य को न सुख होता है न दुःख, उसी प्रकार परमात्मा का तात्त्विक ज्ञान हो जाने पर इस पांचभौतिक शरीर के रहने या बिछुड़ने से पुरुष सुख या दुःख से लिप्त नहीं होता। वासना रहित एवं शान्तचित्त हुआ अपने देह-नगर का स्वामी जीवात्मा आक्षेप (संकोच) शून्य, सर्वव्यापी और सबका अधिपति हो जाता है। चित्त के सर्वथा विगलित (शान्त) हो जाने पर अपने दोषों का त्याग करके धीर हुई बुद्धि से युक्त पुरुष मृत्यु और जन्म होने पर प्राप्त होने वाली पारलौकिक और ऐहलौकिक नीरस गतियों पर दृष्टिपात करके विवेक-विचार द्वारा परमात्मरूपी दीपक पाकर ताप रहित हो अपने देह रूपी नगर में आनन्द पूर्वक प्रतिष्ठित होता है।

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

सर्वत्र चेतन आत्मा की ही स्थिति का वर्णन

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन ! जैसे जो तरंगें भविष्य में प्रकट होने वाली हैं और अभी व्यक्त नहीं हुई हैं, वे समुद्र के जल में अभिन्नरूप से स्थित हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में भावी सृष्टियाँ उस सत्स्वरूप परमात्मा से पृथक् नहीं हैं; क्योंकि उनकी स्वतः सत्ता नहीं है, परमात्मा की सत्ता से ही उनकी सत्ता है। जैसे आकाश सर्वत्र व्यापक होकर भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दृष्टि में नहीं आता, उसी प्रकार निरवयव शुद्ध चेतन परमात्मा सर्वव्यापी होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे जलमय समुद्र में जो नाना प्रकार की असंख्य तरंगें उठती हैं, उनका वह नानात्व जल से पृथक् भाव विकार वाला नहीं है, उसी प्रकार चैतन्य ब्रह्मस्वरूप चिन्मय समुद्र में 'तू', 'यह', 'वह' इत्यादि रूप से जो प्रचुर नानात्वरूप में जगत् भासित होता

है, वह उस ब्रह्मरूप चैतन्य-सिन्धु से पृथक् नहीं है। वास्तव में चेतन परमात्मा न अस्त होता है न उदित, न उठता है न खड़ा होता या बैठता है, न आता है न जाता है, न यहीं है और न यहाँ नहीं है। रघुनन्दन ! वह निर्मल चेतन परमात्मा स्वयं अपने आप में ही स्थित है। वही भ्रम से प्रतीत होने वाले जगत् नामक प्रपंच के रूप में विस्तार को प्राप्त हुआ है। जैसे तेज ही तेजःपुंज (सूर्य आदि) के रूप में और जल ही जलराशि (समुद्र आदि) के रूप में स्फुरित होता है, उसी प्रकार चेतन परमात्मा ही अपने स्पन्दनभूत सृष्टि के रूप में स्फुरित हो रहा है।

चेतन परमात्मा ही आकाशरूप से अवकाश प्रदान करता है, जिससे अंकुर को बाहर निकलने या फैलने का अवसर मिलता है। स्पन्दात्मक वायु रूप से वह उसका आकर्षण करता है, जिससे अंकुर बाहर निकलता है। वही जलरूप होकर रसरूप से अंकुर को स्नेह युक्त बनाता है। वही सुदृढ़ पृथ्वीरूप से उस अंकुर को दृढ़ता प्रदान करता है और तेजरूप होकर उसे अपना रूप देता है, जिससे वह दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार वह परमात्मा स्थावर-जंगम जगत् पर अनुग्रह करता है। वही परमात्मा हेमन्त आदि कालरूप से प्रकट होकर जौ आदि अंकुरों के विरोधी तृण आदि की उत्पत्ति में बाधक बनता है और उन अंकुरों की उत्पत्ति के अनुकूल वातावरण तैयार करता है। वह चेतन तत्त्व परमात्मा ही फूलों में धीरे-धीरे केसर का संचय करके गन्धरूप में प्रकट होता है। मिट्टी के भीतर रसरूपता को प्राप्त हो वही वृक्ष की वृद्धि के द्वारा स्थाणुभाव (मूल और तने के रूप) को प्राप्त होता है। उस कूल में स्थित हुए सुन्दर रसलेश ही फल के रूप में प्रकट होते हैं तथा वे ही पल्लवों में प्रविष्ट हो रेखाएँ बनकर पत्र आदि के स्वरूप को प्राप्त होते हैं। वह चेतन तत्त्व परमात्मा ही वृक्षों में इन्द्रधनुष के समान नूतनता का सम्पादन करता हुआ उन पर अनुग्रह करता है। स्थिरतारूप चतुरता को प्रकट करने वाली नियतिरूप से वही स्थिति को प्राप्त होता है। उसी परमात्मा के अनुग्रह से धारण रूप धर्मवाली यह धीर वसुन्धरा प्रलय काल तक स्थित रहती है।

इस प्रकार सब ओर स्थित और सुस्थिर आकार वाली ये समस्त संसार-पंक्तियाँ, जो ब्रह्म की स्वभावभूत हैं, बारंबार आती-जाती रहती हैं। यह सारा जगत् एक दूसरे के प्रति कारण भाव को प्राप्त होकर अपने अधिष्ठान

भूत चैतन्य के सकाश से स्वयं ही उत्पन्न हुआ है और एक दूसरे के द्वारा नष्ट होता हुआ यह उस अधिष्ठान भूत चैतन्य में स्वयं ही लीन होता है। जैसे अगाध जल में होने वाला स्पन्दन भी स्वतः अस्पन्दन ही है; क्योंकि वहाँ जल से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार चेतन आत्मा में प्रकट हुआ सदसद् रूप जगत् भी वास्तव में अप्रकट ही है; क्योंकि वह सब ज्ञान से चेतन स्वरूप ही अनुभूत होता है।

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन ! ऐसी परिस्थिति में सुख–दुःख आदि भोग देने वाले कर्मों में या ध्यान समाधि में तत्त्व ज्ञानियों का जो यह कर्म या कर्तृत्व दिखायी देता है, वह वास्तव में असत् है; क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है। परंतु मूर्खों का वह कर्म (कर्तृत्वाभिमान होने के कारण) असत् नहीं है (यही ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर है)। पहले यह विचार करना चाहिये कि कर्तृत्व किसका नाम है। अन्तःकरण में स्थित जो मन की वृत्ति है, उसका निश्चय–अमुक वस्तु ग्रहण करने योग्य है, इसका विश्वास वासना कहलाता है। वह वासना ही 'कर्तृत्व' शब्द से प्रतिपादित होती है; क्योंकि वासना के अनुसार ही मनुष्य चेष्टा करता है और चेष्टा के अनुसार ही फल भोगता है। अतः कर्तृत्व से फल भोक्तृत्व होता है–यह सिद्धान्त है। कहा भी है–'पुरुष कर्म करे या न करे, वह स्वर्ग में या नरक में सर्वत्र उसी का अनुभव करता है जैसी उसके मन में वासना होती है। इसलिये जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, वे पुरुष कर्म करें या न करें, तो भी उनमें वासना होने के कारण कर्तृत्व अवश्य है। इसके विपरीत जिन्हें तत्त्वज्ञान हो गया है, वे कर्म करें तो भी उनमें कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि वे वासना से सर्वथा शून्य हैं। तत्त्व ज्ञानी की वासना शिथिल हो जाती है, इसलिये वह कर्म करता हुआ भी उसके फल की इच्छा नहीं रखता। उसकी बुद्धि कर्तृत्वाभिमान और आसक्ति से रहित होती है, अतः वह अनासक्त भाव से केवल चेष्टा मात्र करता है। उसे जो कुछ भी प्रारब्ध के अनुसार कर्मों का फल प्राप्त होता है, वह उस सारे कर्म–फल को यह आत्मा ही है–ऐसा अनुभव करता है। परंतु जिसका मन फलासक्ति में डूबा हुआ है, वह कर्म न

करके भी कर्ता ही माना जाता है। मन जो कुछ करता है, वही किया हुआ होता है। मन जिसे नहीं करता, वह किया हुआ नहीं होता; अतः मन ही कर्ता है, शरीर नहीं। चित्त से ही यह संसार प्राप्त हुआ है, इसलिये यह चित्तमय ही है, केवल चित्त मात्र होकर चित्त में स्थित है-यह बात पहले विचारपूर्वक निर्णीत हो चुकी है। सम्पूर्ण विषय और विभिन्न प्रकार की चित्तवृत्तियाँ-ये सब शान्त होकर जब वासनारूप हो जाते हैं, तब उस वासनारूप उपाधि से युक्त जीवात्मा ही रहता है। उनमें से जो आत्मतत्त्व के ज्ञाता हैं, उनका मन वर्षाकाल में मृगतृष्णा के जल और प्रचण्ड धूप में हिमकण के समान गलकर जब परम शान्त हो जाता है, तब तुरीय दशा को प्राप्त हो, उसी परमात्मरूप में स्थित हो जाता है। विद्वान् लोग ज्ञानियों के मनको न तो आनन्दमय मानते हैं और न अनानन्दमय ही। उनका मन न चल है, न अचल है। न सत् है, न असत् है और न इनका मध्य ही है। बल्कि वह इन सबसे विलक्षण अनिर्वचनीय है। जैसे हाथी छोटी तलैया में नहीं डूबता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष वासनामय चेष्टारस में नहीं मग्न होता। मूर्ख का मन तो भोगों को ही देखता है, परमार्थ तत्त्व को नहीं। तत्त्व ज्ञानी की चित्तवृत्ति सांसारिक विपत्ति में भी प्रसन्न ही रहती है। वह चाँदनी की तरह भुवनमात्र को प्रकाशित करती है। चित्त के संयोग के बिना कर्म करता हुआ भी ज्ञानी अकर्ता ही है; क्योंकि वह कर्म मन को लिप्त नहीं करता। यह यत्नपूर्वक किये हुए हाथ-पैर आदि के संचालन रूप कर्म के फल को भी नहीं भोगता। बालक मन से ही नगर का निर्माण और उसकी सफाई एवं सजावट करता है तथा उस मनःकल्पित नगर को खेल-खेल में ही अकृत सा अनुभव करता है; उसको उपादेयरूप से नहीं ग्रहण करता। उसके सुख-दुःख को स्वभाविक सा देखता है। मन के द्वारा किये गये नगर के विध्वंस को वास्तविक विध्वंस समझकर खेल-खेल में दुःख का सा भी अनुभव करता है। साथ ही यह भी समझता रहता है कि यह वास्तविक दुःख नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानी कर्म करता हुआ भी वास्तव में उससे लिप्त नहीं होता। जिनका मन पूर्ण आत्मा में ही संलग्न है, उन ज्ञानियों की दृष्टि से तो वस्तुतः संसार में मोक्ष नहीं है। जिनका मन आत्मा में संलग्न नहीं है, उन्हीं लोगों की दृष्टि यह बन्धन-मोक्ष आदि सब कुछ है।

किंतु वास्तव में तो न बन्धन है न मोक्ष है, न बन्धन का अभाव है और

न बन्धन के कारण भूत वासना आदि ही हैं। परमात्मतत्त्व का ज्ञान होने से ही यह दुःख है। यथार्थ ज्ञान से उसका लय हो जाता है।

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति

श्री रामचन्द्र जी ने पूछा–भगवन् ! ऐसी स्थिति में यदि वस्तुतः बन्धन और मोक्ष कल्पित ही हैं, एकमात्र परब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान हैं तो बिना दीवार के चित्र की भाँति इस निराधार सृष्टि का आगमन कहाँ से हुआ ? यह कृपा पूर्वक बताइये।

श्री वसिष्ठ जी ने कहा–राजकुमार ! ब्रह्मतत्त्व ही इस सारी सृष्टि के रूप में विद्यमान है; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। इसलिये उस ब्रह्म में सारी शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सत्त्व, असत्त्व, द्वित्व, एकत्व, अनेकत्व, आदित्व और अन्तत्व–ये परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले सारे भाव परब्रह्म में हैं। परंतु वे उससे भिन्न नहीं हैं। जैसे समुद्र का जल–प्रवाह उल्लास एवं विकास को प्राप्त हो उत्तल तरंगों द्वारा अपनी नानाकारता का दर्शन कराता हुआ प्रकट होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म चित्त का तथा चित्त स्वरूप होने के कारण कर्ममयी, वासनामयी और मनोमयी सारी शक्तियों का संचय, प्रदर्शन, धारण, उत्पादन और संहार करता है। समस्त जीवों की सब ओर फैली हुई सारी दृष्टियों की और समस्त पदार्थों की परब्रह्म से ही निरन्तर उत्पत्ति होती है। जैसे लहरें समुद्र से ही उत्पन्न होती और उसी में लीन हो जाती हैं, इसलिये सदा समुद्ररूप ही हैं, उसी प्रकार सारे पदार्थ परमात्मा से उत्पन्न होकर उसी में लीन होते हैं। फलतः चिन्मय परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण वे परमात्म रूप ही हैं।

निष्पाप रघुनन्दन ! यह सब निर्मल ब्रह्म ही विराजमान है। यहाँ मल नामक कोई वस्तु नहीं है। समुद्र में तरंग समूहों के रूप से जल ही स्फुरित होता है, मिट्टी नहीं। रघुकुलतिलक ! यहाँ एकमात्र परब्रह्म के सिवा दूसरी किसी वस्तु की कल्पना ही नहीं है, जैसे अग्नि में उष्णता के सिवा और कोई कल्पना ही नहीं है। जिसकी बुद्धि पूर्णरूप से व्युत्पन्न नहीं हुई है–जिसमें आधी

समझ और आधी मूढ़ता है, उसे 'यह सब ब्रह्म ही है' यह उपदेश अच्छा नहीं लगता। वह दृश्यों को उपस्थित करने वाली भोग दृष्टि से सदा दृश्य पदार्थों की ही भावना करता हुआ नष्ट (तत्त्वज्ञानरूप परमार्थ से भ्रष्ट) हो जाता है। किंतु जो तत्त्वज्ञानरूप परमार्थ-दृष्टि को प्राप्त है, उस पुरुष के भीतर विषय-भोग की इच्छा नहीं उत्पन्न होती। उसके लिये तो 'यह सब ब्रह्म ही है' ऐसा समयोचित उपदेश भी उपयुक्त होता है। जिसकी बुद्धि पूर्णतया व्युत्पन्न नहीं है, ऐसे शिष्य को उन सद्गुणों द्वारा शुद्ध करे, जिनमें शम (मनोनिग्रह) और दम (इन्द्रिय विग्रह) की प्रधानता हो। तत्पश्चात् यह उपदेश दे कि यह सब कुछ ब्रह्म है तथा तुम भी विशुद्ध ब्रह्म ही हो। जो अज्ञानी को अथवा आधी समझ वाले पुरुष को 'सर्व ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म है) यह उपदेश देता है, उसने मानो उस शिष्य को महान् नरकों के जाल में डाल दिया। जिसकी बुद्धि पूर्णतया व्युत्पन्न है, जिसकी भोगेच्छा नष्ट हो गयी है और कामना सर्वथा मिट गयी है, उस महात्मा में अविद्यारूपी मल नहीं है। अतः उसी के लिये 'सर्व ब्रह्म' का उपदेश देना उचित है। जो शिष्य की परीक्षा लिये बिना ही उसे उपदेश देता है, वह अत्यन्त मूढ़बुद्धि वाला उपदेशक महाप्रलयपर्यन्त नरक को प्राप्त होता है।

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

जगत के मिथ्यात्व का वर्णन

ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वगत और सर्वस्वरूप है। यह ब्रह्म मैं ही हूँ, यों समझना चाहिये। अपनी माया द्वारा विचित्र कार्य करने वाले ऐन्द्रजालिकों (बाजीगरों) को तो तुम देखते ही हो। वे माया के द्वारा सत् को असत् और असत् को सत् बना देते हैं। उसी प्रकार परमात्मा अमायामय होकर भी मायामय महान् ऐन्द्रजालिक की भाँति बनकर संकल्प के द्वारा घट को पट बनाता है और पट को घट। मेरु के सुवर्णमय तटप्रान्त में लहराते हुए नन्दनवन की भाँति पत्थर पर लता पैदा करता है और कल्प वृक्षों पर प्रकट हुए रत्न के गुच्छों की भाँति लता में प्रस्तर पैदा कर देता है तथा आकाश में सुन्दर वन लगा देता है। गन्धर्व नगर में दीखने वाले उद्यान की भाँति उस भावी जगत् में कल्पना द्वारा आकाश में ही नगर की रचना कर देता है-आकाश को ही नगर

रूप में दिखा देता है। व्योम की नीलिमा को नष्ट सी करके उसे भूतल बना देता है। गन्धर्व नगर के राज महल में बहुत सी महिलाओं की भाँति भूतल में आकाश की स्थापना कर देता है। पद्मरागमणि के बने हुए लाल फर्श में प्रतिबिम्बित हुआ आकाश जैसे आधार की लालिमा से ही लाल दिखायी देता है, उसी प्रकार जगत् में जो कुछ है, होगा या था, वह सब ब्रह्म की सत्ता से ही सत् सा प्रतीत होता है; क्योंकि ईश्वर संकल्प के द्वारा स्वयं व्यक्त रूप हो विचित्र वेश-भूषा को अपना कर स्वयं अपने आपको दिखलाता है। श्रीराम ! जब कि इस जगत् में एक ही वस्तु सब प्रकार से सर्वत्र सब रूपों में प्रकट होती है, सभी रूपों में एक ही सद्-वस्तु विद्यमान है, तब हर्ष, ईर्ष्या और आश्चर्य के लिये अवसर ही कहाँ है। अतः धैर्यशाली होकर सदा समभाव से ही स्थित रहना चाहिये। जो समता से युक्त है, वह तत्त्वज्ञानी पुरुष आश्चर्य, गर्व, मोह, हर्ष और अमर्ष आदि विकारों को कभी प्राप्त नहीं होता।

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

↔

उन्नीसवाँ सर्ग

माया के दोष तथा आत्मज्ञान से ही उसका निवारण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! परब्रह्म परमात्मा की जो निर्मल चैतन्य-शक्ति है, वह सर्वशक्तिमती है। वह परमात्मा के सकाश से स्वाभाविक ही विभिन्न रूपों की कल्पना करती हुई भावी देह आदि आकृतियों की किंचित् स्फुरण के रूप में स्वयं ही दृश्य जगत् बन जाती है। उस चेतन शक्ति का संकल्परूप मन ही अपने संकल्पमात्र से क्षण भर में गन्धर्व नगर के समान इस असत् (मिथ्या) दृश्यप्रपंच का विस्तार कर देता है। सब ओर प्रकाशित होता हुआ वह स्वयम्प्रकाश सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही जब बाह्यदृष्टि से दृश्यमान आकाशरूप होकर स्थित होता है, वही यह सबकी दृष्टि (अनुभव) में आने वाला प्रसिद्ध आकाश है। वही परमात्मा कमलजन्मा ब्रह्मा का संकल्प करके उनके उस स्वरूप को देखता है। तदनन्तर दक्ष आदि प्रजापतियों की कल्पना करके जगत् की कल्पना करता है। श्रीराम ! इस प्रकार चौदह भुवनों में रहने के कारण चौदह प्रकार के अनन्त प्राणी समुदाय के कोलाहल से युक्त यह सृष्टि परमात्मा के चित्त से ही निर्मित हुई है। भूतल से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्राणियों में जो ये मनुष्य-जाति के प्राणी हैं, ये ही आत्मज्ञान के उपदेश

के पात्र हैं।

श्रीराम! यह जगत् अमुक निमित्त से और अमुक उपादान से उत्पन्न हुआ है, यह जो वाणी की रचना या कल्पना है, वह शास्त्रोक्त मर्यादा के निर्वाह के लिए है, वास्तव में कुछ नहीं है; क्योंकि परमात्मा में विकार, अवयव, विभिन्न दिशाओं की सत्ता तथा देश-काल आदि के क्रम सम्भव नहीं हैं। यद्यपि इनका आविर्भाव प्रत्यक्ष देखा जाता है, तथापि निराकार, निर्विकार और सर्वगत परमात्मा में इन सबका होना कदापि सम्भव नहीं। उस चिन्मय परमात्मा के बिना जगत् के किसी दूसरे मूलकारण की कल्पना हो ही नहीं सकती। दूसरी कोई कल्पना न है न होगी। क्रम, शब्द और अर्थ अन्यत्र कहाँ से आ सकते हैं तथा व्यवहारजनित उक्तियाँ भी उस परमात्मा के सिवा और कहाँ सम्भव हो सकती हैं। यहाँ जो-जो कल्पनाएँ हैं, जो-जो पदार्थ हैं, उनके वाचक जो-जो शब्द हैं और जो-जो वाक्य हैं, वे सब उस सत्-स्वरूप परमात्मा से उत्पन्न तथा सद्रूप होने के कारण 'सत्' ही समझे जाते हैं। 'यह जगत् भिन्न है और यह ब्रह्म भिन्न है-इस तरह के शब्दों और अर्थों का व्यवहार-श्रम केवल वाणी में है, परमात्मा में नहीं; क्योंकि परिच्छेद होने पर ही भिन्नता होती है। (ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, इसलिए उसका किसी से भेद होना सम्भव नहीं।) अग्नि की एक शिखा की दूसरी शिखा जननी है, यह कथन उक्ति-वैचित्र्यमात्र है। इस वाक्य के अर्थ में वास्तविकता नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा के विषय में जन्य-जनक आदि शब्दों का व्यवहार वास्तव में सम्भव नहीं है; क्योंकि अनन्त होने के कारण जब ब्रह्म एक ही है, तब वह किसको किस तरह उत्पन्न करेगा ? जैसे समुद्र में जो तरंगों का समूह दिखायी देता है, वह उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परब्रह्म में जो अर्थबोधक शब्द दृष्टिगोचर होता है, उसे विद्वान् पुरुष ब्रह्म ही मानते हैं। ब्रह्म की चेतन जीवात्मा है, ब्रह्म ही मन है, ब्रह्म ही बुद्धि है, ब्रह्म ही अर्थ है, ब्रह्म ही शब्द है और ब्रह्म ही धातु है। यह सारा विश्व ब्रह्म ही है। इस विश्व से परे भी ब्रह्मपद ही है। वास्तव में तो जगत् है ही नहीं। सब कुछ केवल ब्रह्म ही है। सर्वस्वरूप एवं सर्वव्यापी उस अनन्त ब्रह्मपद से दूसरी कोई वस्तु उत्पन्न हो, यह सम्भव नहीं। जो कुछ ब्रह्म से प्रकट हुआ है, वह ब्रह्मरूप ही है इस जगत् में ब्रह्मत्व के बिना कुछ भी होना सम्भव नहीं। निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म ही है। यही परमार्थता-यथार्थ कथन है।

रघुनन्दन! यह माया ऐसी है, जो अपने विनाश से ही हर्ष देने वाली होती है। इसके स्वभाव का पता नहीं लगता। ज्ञान की दृष्टि से जब इसको देखने का प्रयत्न किया जाता है, तब यह तत्काल नष्ट हो जाती है। अहो ! संसार को बाँधने वाली यह माया बड़ी ही विचित्र है। यद्यपि यह असत्य ही है, तथापि इसने अत्यन्त सत्य की भाँति अपना ज्ञान कराया है। जो पुरुष 'यह जगत् ब्रह्मरूप से सत्य ही है' अथवा 'मिथ्या होने के कारण असत्य ही है-इन दो बातो में से किसी एक को दृढ़ निश्चय के साथ अपना लेता है और मन में आसक्ति न रखकर जगत् को स्वप्न भूमि की भाँति भ्रान्तिमात्र ही देखता है, वह कभी दुःख में नहीं डूबता। जिसकी इन मिथ्याभूत देह-इन्द्रिय आदिरूप द्वैत भावनाओं में अहंबुद्धि है, वही दुःख के सागर में डूबता है। स्वरूप-ज्ञान से शून्य उस मिथ्यादर्शी पुरुष के लिये सब ओर केवल अविद्या ही विद्यमान है। जैसे जल में सूखी धूल नहीं होती, उसी प्रकार महान् पुरुष परमात्मा में विकार आदि कोई दोष नहीं होते। अविद्यारूपी नदी में बहता हुआ इस संसार में आत्मा के यथार्थ ज्ञान के बिना अनुभव में नहीं आता और वह आत्मज्ञान शास्त्र के तात्पर्य का यथार्थ बोध होने से ही प्राप्त होता है। श्रीराम ! परमात्मा की प्राप्ति के बिना अविद्यारूपी नदी का पार नहीं मिलता। वह परमात्मा की प्राप्ति ही अक्षयपद कहलाती है।

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

जीवों के कर्मानुसार नाना योनियों में जन्मों का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-महाबाहु श्रीराम! विभिन्न कल्पनाओं द्वारा ही जिसने आकार ग्रहण कर रक्खा है तथा जो देश, काल और क्रिया के अधीन है, चैतन्य का वही रूप क्षेत्रज्ञ कहलाता है। क्षेत्र कहते हैं शरीर को। उसे बाहर और भीतर से वह पूर्णतया जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है। क्षेत्रज्ञ ही वासना का संकलन करके अहंकार भाव को प्राप्त होता है। अहंकार ही निश्चयात्मकवृत्ति से युक्त होकर जब निर्णायक एवं विभिन्न कल्पनाओं से युक्त होता है, तब उसे बुद्धि कहते हैं। संकलपयुक्त बुद्धि ही मन का स्थान ग्रहण करती है तथा घनीभूत विकल्पों से युक्त मन ही धीरे-धीरे इन्द्रियभाव को

प्राप्त होता है। विद्वान् पुरुष इन्द्रियों को ही हाथ-पैर आदि से युक्त शरीर मानते हैं। वह शरीर लोक में सभी के अनुभव में आता है, उत्पन्न होता है और जीवित रहता है। इस प्रकार संकल्प-वासनारूपी रस्सी से जकड़ा और दुःखों के जाल से व्याप्त हुआ वह जीव अज्ञान से चित्तता-दृश्यता को प्राप्त होता है। जैसे बेर आदि का फल परिपक्व अवस्था (रूप, रस आदि गुणों के परिवर्तन) से ही अन्यरूपता को प्राप्त होता है, उसकी आकृति (जाति) नहीं बदल जाती-वह बेर से भिन्न कोई दूसरा फल नहीं हो जाता, उसी प्रकार जीव-क्षेत्रज्ञ भी अविद्यारूप मल के परिणामवश अवस्था भेद से ही कुछ अन्य रूप-सा हो जाता है, आकृति (परिणाम रहित चेतन जाति) से नहीं। (तात्पर्य यह है कि अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर के संघातरूप अनात्म-वस्तु में वह आत्मभिमान कर लेता है; किंतु वास्तव में उसका स्वरूप चेतन ही है।) इस प्रकार जीव अहंकारभाव को प्राप्त होता है। अहंकार बुद्धि रूप में परिणत होता है और बुद्धि संकल्पों के समूह से व्याप्त मन का रूप धारण करती है। फिर संकल्पमय मन नाना प्रकार के शरीरों को धारण करने में संलग्न होता है। जैसे गौएँ मदमत्त साँड़ के पीछे दौड़ती हैं और जैसे नदियाँ समुद्र की ओर भागी जाती हैं, उसी प्रकार इच्छा आदि शक्तियाँ मन का अनुसरण करती हैं, जिससे काम-क्रोध-लोभ-मोहादि दोषों की ही वृद्धि होती है। इस प्रकार इच्छा द्वेष आदि शक्तियों के बाहुल्य से युक्त मन शाखा-प्रशाखारूप से अभिमान की वृद्धि होने के कारण घनीभूत अहंकार भाव को प्राप्त हो रेशम के कीड़े की भाँति स्वेच्छा से ही बन्धन को प्राप्त होता है। जैसे पक्षी स्वयं ही अपने शरीर को जाल आदि फंदों में फँसाकर कष्टकारी बन्धन में डालते और पछताते हैं, उसी तरह मन अपने संकल्पों के अनुसंधान से स्वयं ही दुःखदायी बन्धन में पड़कर इस लोक में संतप्त होता है।

जैसे पक्षी समुद्र में गिरा हो उसी तरह मन घोर दुःख के महासागर में पड़ा हुआ है, गन्धर्व नगर के समान शून्य जगत्-जाल में अपने बन्धन के हेतु रूप देह आदि पर आसक्ति रखता है, विषयों की ओर दौड़ जाता है और तत्त्व ज्ञान आदि के प्रति अविश्वास के समुद्र में निरन्तर बह रहा है।

जो अनन्त विषयों में अनन्त संकल्प-कल्पनाओं की उत्पत्ति में हेतु है, उस माया अथवा अविद्या के द्वारा इस जगत्रूपी विशाल इन्द्रजाल का विस्तार

करने वाले मूढ़ जीव जल में आवर्तों (भँवरों) के समान तब तक चक्कर काटते रहे हैं, जब तक उन्हें अपने अनिन्दित-विशुद्ध आत्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो जाता। किन्तु जब वे साधन करते-करते काल पाकर आत्मा का साक्षात्कार करके असत् को त्याग कर सत्य ज्ञान को अपनाते हैं, तब परम पद को प्राप्त होकर फिर इस संसार में जन्म नहीं लेते। कुछ अज्ञानी जीव सहस्त्रों जन्मों का कष्ट भोग कर विवेक को प्राप्त करके भी मूर्खता के कारण उस संसाररूपी संकट में ही गिर जाते हैं; कुछ लोग उच्च कुल में जन्म और साधन की शक्ति एवं सुविधा को पाकर भी अज्ञान और विषयासक्ति के कारण अपनी तुच्छ बुद्धि से ही पुनः तिर्यग्योनियों को प्राप्त होते हैं और तिर्यग्योनि से नरकों में भी गिरते हैं। कुछ महाबुद्धिमान् सत्पुरुष एक ही जन्म द्वारा मोक्षरूप ब्रह्मपद में शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते हैं। श्रीराम! कितने ही जीव समूह तिर्यग्योनियों में जन्म लेते हैं, कितने ही देवयोनियों को प्राप्त होते हैं, कितने ही नागयोनि को प्राप्त होते हैं। जैसे यह जगत् विशाल दिखायी देता है, वैसे ही अन्यान्य जगत् भी हैं, थे और भविष्य में भी बहुत से होंगे। इस ब्रह्माण्ड में लोग जिस व्यवहार से रहते हैं, उसी व्यवहार से अन्य ब्रह्माण्डों में भी रहते हैं। केवल उनकी आकृतियों में अन्तर या विलक्षणता होती है। जैसे नदी की लहरें परस्पर टकराने से परिवर्तित होती रहती हैं, उसी प्रकार विभिन्न सृष्टियाँ अपने सात्त्विक, राजस आदि स्वभाववश परस्पर संघर्ष के कारण बदलती रहती हैं। जैसे जलराशि समुद्र में अनन्त लहरें निरन्तर उठती और विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार उस परमपद-स्वरूप परमात्मा में यह तीनों लोकों की रचना आदि मोह माया व्यर्थ ही विस्तार को प्राप्त हो अनवरत बढ़ती, परिणाम को प्राप्त होती और विनष्ट होती रहती है।

बीसवां सर्ग समाप्त

इक्कीसवां सर्ग

संसार का मिथ्यात्व

श्रीरामजी ने पूछा-भगवन्! इस क्रम से जिस जीव ने परमात्मा के स्वरूप में अपनी स्थिति प्राप्त कर ली, वह अस्थिपिंजररूप देह को कैसे ग्रहण किये रहता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! जो यह शरीर आदि के रूप में स्थावर

जंगम जगत् दिखायी देता है, यह आभासमात्र ही है, अतएव स्वप्न के समान असत् होता हुआ ही प्रकट हुआ है। (तात्पर्य यह कि वह परमात्मनिष्ठ जीव इस शरीर आदि को स्वप्न के तुल्य मिथ्या मानता हुआ ही इसमें रहता है)। निष्पाप श्रीराम ! यह प्रपंच दीर्घकाल तक बने रहने वाले स्वप्न के समान मिथ्या ही दीखता है, दो चन्द्रमाओं की भ्रान्ति के समान तथा पहाड़ी भूमि में घूमते हुए पुरुष को घूमते दीखने वाले पर्वत के समान मिथ्या ही दृष्टिगोचर होता है। जिसकी अज्ञानमयी निद्रा टूट गयी और वासनात्मक भावना गल गयी है, वह ज्ञानवान् पुरुष इस संसाररूपी स्वप्न को देखता हुआ भी नहीं देखता–इसे मिथ्या समझता है। श्रीराम ! जीवों के स्वभाव से कल्पित यह संसार, जिसकी मोक्ष होने से पहले तक निरन्तर प्राप्ति होती रहती है, अनात्मज्ञानी के ही अंदर सदा सत्य–सा विद्यमान रहता है।

इक्कीसवां सर्ग समाप्त

बाईसवां सर्ग

ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन

वसिष्ठजी बोले हे रघुनन्दन! यह जगत् यद्यपि सब प्रकार से सम्पन्न दिखायी देता है, तथापि यहाँ वास्तव में कुछ भी सम्पन्न नहीं है। यह अभास मात्र एवं मन का विलासमात्र है; अतः शून्य (असत्) रूप में ही स्थित है। मन का संकल्प मात्र ही इसका स्वरूप है। यहाँ भी यह प्रतीत होता है, वहाँ स्वप्न देखे गये नगर के समान शून्यरूप ही है, केवल आकाशरूप में ही स्थित है। शरीर आदि के रूप में जो ये तीनों लोक दिखायी देते हैं, वे सब–के–सब मन से ही कल्पित हैं। जैसे पदार्थों के देखने में नेत्र कारण हैं, उसी प्रकार उनके स्मरणमात्र में मन कारण है (अतः मनःकल्पित यह जगत् अतीत की स्मृति के ही तुल्य है। स्मरणकाल में वह पदार्थरूप से विद्यमान या उपलब्ध नहीं है)। श्रीराम! मन की इस अद्भुत शक्ति को तो देखो; उसने अपने से उत्पन्न हुए इस शरीर को अपनी भावना या संकल्प के द्वारा ही प्राप्त किया है। इसलिये लोग उस मन की कल्पना को सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न समझते हैं। देवता, असुर और मनुष्य आदि सभी प्राणी मन के द्वारा अपने संकल्प से ही रचे गये हैं। अपने संकल्प के शान्त होने पर तैलरहित दीपक की भाँति वे सब शान्त हो जाते हैं। महामते ! देखो, यह सारा जगत् आकाश के समान शून्य, मन की

कल्पनामात्र से विकसित तथा दीर्घकालीन स्वप्न के तुल्य मिथ्या ही प्रकट हुआ है। विशुद्ध बुद्धिवाले रघुनन्दन! इस जगत् में कभी कोई वस्तु वास्तव में न उत्पन्न होती है और न उसका नाश ही होता है। यहाँ जो जन्म और मरण दीखते हैं, वे सब मिथ्या ही हैं। जैसे मरुभूमि में सूर्य की किरणों का ताप बढ़ने से उसमें मृगतृष्णा (जल) का दर्शन होता है, उसी प्रकार मन के संकल्प से ये ब्रह्मा आदि सभी प्राणी बिना हुए ही दिखायी देते हैं। संसार में जितनी आकार-राशियाँ दिखायी देती हैं, वे सब-की-सब दो चन्द्रमाओं के भ्रम की भाँति असत् हैं, मिथ्या ज्ञान की घनीभूत मूर्तियाँ हैं तथा मनोरथ की भाँति संकल्प में ही प्रकट हुई हैं (वास्तव में इनकी सत्ता नहीं है)। जैसे नौका द्वारा यात्रा करने वाले पुरुष को नदी के तटवर्ती वृक्ष और पहाड़ आदि मिथ्या ही चलते हुए प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इन दृश्य आकारों की परम्परा नित्य असत्य होती हुई ही सत्य-सी प्रकट दिखायी देती है। माया से ही जिसकी ठठरी रची गयी है और मन के मनन से ही जिसका निर्माण हुआ है, ऐसा जो यह दृश्य जगत् है, इसे इन्द्रजाल ही समझो। यह सत्य नहीं है, तो भी सत्य के समान स्थित है। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है। फिर इसके लिये उससे भिन्न होने का प्रसंग ही कहाँ है। यदि कोई प्रसंग है तो कौन और कैसा है ? वह भिन्नता या भेद भावना कहाँ स्थित है ? 'यह पर्वत है, यह ठूँठा वृक्ष है' इत्यादि रूप से जो जगत् के आडम्बर का विलास है, वह मनकी भावना के दृढ़ होने से असत् होता हुआ भी सत्-सा दृष्टिगोचर होता है। जैसे महान् आयोजनों से पूर्ण स्वप्न भ्रम ही है, वास्तविक नहीं, उसी प्रकार मन के द्वारा रचे गये इस जगत् को भी दीर्घकालीन स्वप्न ही समझो। जो मूढ़चित्त मानव अपने संकल्प से उत्पन्न हुई मनोरथमयी सम्पत्ति को स्वरूप से युक्त (सत्य) समझकर उसका अनुसरण करता है, वह एकमात्र दुख का ही भागी होता है। यदि परमात्मस्वरूप यथार्थ वस्तु न हो तो लोग भले ही अवस्तुरूप संसार का अनुसरण करें; परंतु जो यथार्थ वस्तु-परमात्मा का परित्याग करके अवस्तुरूप संसार का अनुगमन करता है, वह नष्ट हो जाता है-परमात्मा की प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थ से वंचित रह जाता है। जैसे रज्जु में सर्प का भय मन का व्यामोह (धर्म) मात्र ही है। मन की भावनाओं की विचित्रता से जगत् चिरकाल तक प्रतीति का विषय बना रहता है। जल के भीतर प्रतिबिम्बित हुए चन्द्रमा

के समान चंचल (क्षणभंगुर) जो मिथ्या उदित हुए पदार्थ हैं, उनसे इस लोक में मूर्ख बालक ही धोखा खा सकता है, तुम-जैसा तत्त्वज्ञानी नहीं। यह जड़संघात देह आदि रूप जो विशाल जगत् दिखायी देता है, मिथ्या ही है। मन के मनन से ही इसका निर्माण हुआ है। जैसे हृदय में स्वप्न या संकल्पमय नगर निर्मित होता है, उसी प्रकार यह जगत् भी मन के संकल्प में ही निर्मित हुआ है (वास्तव में इसकी सत्ता नहीं है)। यह दृश्य-प्रपंच मन के संकल्प से उत्पन्न होता है और उसके संकल्परहित हो जाने से विलीन हो जाता है। इस तरह यह समृद्धिशाली गन्धर्व नगर की भाँति बिना हुए ही दिखायी देता है। हृदय में मन के संकल्प द्वारा कल्पित विशाल नगर का विध्वंस अथवा अभ्युदय हो जाने पर तुम्हीं बताओ, किसकी क्या हानि होती है या किसको क्या लाभ हो जाता है ? जैसे बालक के मन में खेल के लिये बने हुए गुड़ियाओं या खिलौनों के द्वारा पुत्र-पशु आदि व्यवहारों की कल्पना होती है, उसी प्रकार यह जगत् भी सदा मन से ही प्रकट होता है। जैसे इन्द्रजाल के द्वारा रचित जाल के नष्ट-भ्रष्ट होने पर किसी का कुछ भी नहीं बिगड़ता। जो वास्तव में असत् ही है, वह यदि अविद्यमान हो जाय तो किसका क्या बिगड़ गया ? इसलिये संसार में हर्ष और शोक का आधार कुछ भी नहीं है। महामते ! जिसका सदा से ही अत्यन्त अभाव है, उसके नष्ट होने से क्या नष्ट हो जाता है ? और जब किसी का नाश ही नहीं होता, तब उसके लिये दुःख का क्या प्रसंग है ?

एकमात्र प्रपंच का ही विस्तार करने वाले इस असत्य भूत समस्त संसार में ग्रहण करने योग्य कौन-सी ऐसी वस्तु है, जिसे विद्वान् पुरुष ग्रहण करने की इच्छा करें ? इसी प्रकार जो सर्वथा सत्यभूत ब्रह्मतत्त्वमय है, उस समस्त त्रिलोकी में कौन ऐसा हेय पदार्थ है, जिसका विद्वान् पुरुष त्याग करे ? अर्थात् तीनों लोक ब्रह्मभूत होने के कारण चिन्मय हैं; उनमें विज्ञानानन्दघन परमात्मा के सिवा अन्य कोई पदार्थ नहीं है, जिसका त्याग किया जा सके। आदि और अन्त में जिसका अभाव है, उसका वर्तमान में भी अभाव ही है। अतः श्रीराम! जो अज्ञानी इस असत् संसार की इच्छा करता है, उसको असत् (जड़ संसार) ही प्राप्त होता है। आदि और अन्त में जो सत्य है, वर्तमान में भी वह सत्य ही है; अतः जिसकी दृष्टि में सब सत् परमात्मा ही है, उसे सर्वत्र परमात्मसत्ता का ही दर्शन होता है। जल के भीतर जो असत्यभूत चन्द्रमा और आकाश-तल आदि

दिखायी देते हैं, उन्हें अपने मन के मोह के लिये मूर्ख बालक ही विशाल आकार वाले अर्थ शून्य कार्यों में सुख समझकर संतुष्ट होता है; किंतु अज्ञान के कारण उसे अनन्त दुःख ही प्राप्त होता है; सुख नहीं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज! वसिष्ठ मुनि के यों कहने पर दिन बीत गया। सूर्य अस्ताचल को चले गये। सारी सभा के लोग मुनि को नमस्कार करके सायंकाल की उपासना के लिये स्नान करने के उद्देश्य से उठ गये और रात बीतने पर दूसरे दिन उदित हुए सूर्यदेव की किरणों के साथ-साथ फिर सभा भवन में आ गये।

बाईसवां सर्ग समाप्त

तेईसवां सर्ग

सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! रमणीय स्त्री आदि तथा धन के नष्ट होने पर शोक का कौन-सा अवसर है ? इन्द्रजाल की दृष्टि से देखे गये पदार्थ के नष्ट होने पर क्या कोई विलाप करता है ? अविद्या के अंशभूत पुत्र आदि के प्राप्त होने पर सुख और नष्ट होने पर दुःख का प्रसार होना क्या उचित है? रमणीय धन और स्त्री आदि की प्राप्ति एवं वृद्धि होने पर हर्ष से फूल उठने का क्या अवसर है ? क्या मृगतृष्णा के जल की वृद्धि होने पर जलार्थी पुरुषों को आनन्द प्राप्त होता है ? कदापि नहीं। धन और स्त्री आदि के बढ़ने पर तो उन्हें परमार्थ में बाधक समझकर दुःख का अनुभव करना चाहिये, संतोष मानना तो कदापि उचित नहीं। संसार में मोहमाया की वृद्धि होनेपर भला, कौन सुखी एवं स्वस्थ रह सकता है। जिन भोगों के बढ़ जाने पर मूढ़ मनुष्य को राग होता है, उन्हीं की वृद्धि से विवेकशील पुरुष के मन में वैराग्य होता है, नश्वर धन और स्त्री आदि के सुलभ होने में हर्ष का क्या कारण है ? जो इनके परिणाम को देख पाते हैं, उन साधु पुरुषों को तो इनसे वैराग्य ही होता है। अतः रघुनन्दन ! संसार के व्यवहारों में जो वस्तु नश्वर प्रतीत हो उसकी तो तुम उपेक्षा करो और जो न्यायतः प्राप्त हो जाय, उसे यथायोग्य व्यवहार में लाओ; क्योंकि तुम तत्त्वज्ञ हो। अप्राप्त भोगों की स्वभावतः कभी इच्छा न होना और दैवात् प्राप्त हुए भोगों को यथायोग्य व्यवहार में लाना-यह ज्ञानवान् का लक्षण है।

जिस किसी भी युक्ति अथवा साधन से जिस पुरुष का जड़ दृश्य से राग चला जाता है, उसकी परमात्मा में दृढ़ विश्वास रखने वाली विमल बुद्धि कभी मोहरूपी सागर में नहीं डूबती। यह असत् है, ऐसा समझकर जिसकी समस्त सांसारिक वस्तुओं में आस्था नहीं रह गयी है, उस सर्वज्ञ को मिथ्या अविद्या अपने अंक में नहीं ले सकती-चंगुल में नहीं फँसा सकती। श्रीराम! अत्यन्त विरक्त, अपने परमार्थिकस्वरूप में स्थित और वासस्थान में सब प्रकार की अहंता-ममता से रहित हो तथा न्याय प्राप्त कार्य में तत्पर रहते हुए भी राग रहित हो तुम आकाश के समान निर्लिप्त हो जाओ; क्योंकि कर्म में लगे रहने पर भी जिस ज्ञानी महापुरुष की उसमें न तो इच्छा (राग) है और न अनिच्छा (द्वेष) ही है, उसकी बुद्धि जल से कमलदल की भाँति कभी लिप्त नहीं होती। तुम्हारी इन्द्रियाँ और मन गौणी वृत्ति से दर्शन और स्पर्श आदि कार्य करें या न करें, तुम सर्वथा इच्छारहित हो अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित रहो। यह संसार- सागर वासनाओं के जल से भरा हुआ है। जो शुद्ध बुद्धिरूप नौका पर आरूढ़ हैं, वे ही इसके पार जा सके हैं। दूसरे लोग तो डूब ही गये हैं। जो नित्य तृप्त, शुद्ध एवं तीक्ष्ण बुद्धि वाले जीवन्मुक्त महात्मा हैं, उन्हीं के आचारों का अनुसरण करना चाहिए, भोग-लम्पट दीन-हीन शठों के आचरणों का नहीं। महात्मा पुरुष सब कुछ नष्ट हो जाने पर भी खिन्न नहीं होते, देवताओं के उद्यान में भी आसक्त नहीं होते और शास्त्र-मर्यादा का कभी त्याग नहीं करते। महात्मा पुरुष इच्छारहित तथा न्याय प्राप्त व्यवहार का अनासक्त भाव से अनुसरण करने वाले हैं। वे देहरूपी रथ का आश्रय ले परमात्मस्वरूप में स्थित हो आसक्ति-शून्य होकर विचरते हैं। परम सुन्दर श्रीराम! तुम भी यथार्थ एवं विस्तृत विवेक को प्राप्त कर चुके हो। अपनी इस पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धि के बल से सदा विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूप में स्थित हो।

तेईसवां सर्ग समाप्त

चौबीसवां सर्ग

ब्रह्माण्ड एवं भूतों की परम्परा

श्रीरामजी ने कहा-भगवन् ! आप सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता और समस्त वेदान्तों के पारंगत विद्वान् हैं। आपके पवित्र उपदेश से मैं आश्वस्त पुरुष के समान अपने स्वरूप में नित्य स्थित हूँ। प्रवचन करते समय आपके मुख से जो

उदार भावों से युक्त, सुस्पष्ट, सुन्दर तथा परमात्मा के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले वचन निकले हैं, उन्हें सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती-अधिकाधिक सुनने की इच्छा बढ़ती जाती है। आपने श्रुति-पुराण आदि शास्त्रों के आधार पर कमलयोनि ब्रह्मा की जो उत्पत्ति कही थी, उसका पुनः स्पष्ट रूप से वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! इस ब्रह्माण्ड में तथा दूसरे-दूसरे विचित्र ब्रह्माण्डों में भी बहुत से विभिन्न आचार-व्यवहार वाले सहस्त्रों प्राणी विचरते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य समयों में उत्पन्न होने वाले अनन्त भुवनों में दूसरे-दूसरे बहुत से प्राणी एक ही समय अधिक संख्या में उत्पन्न होंगे। महाबाहो ! उन ब्रह्माण्डों में उन ब्रह्मा आदि देवताओं की उत्पत्तियाँ विचित्र सी हुई बतायी गयी हैं। महासर्ग के आरम्भ काल में कभी तो ब्रह्मा कमल से उत्पन्न होते हैं, कभी जल से, कभी अण्ड से और कभी आकाश से प्रादुर्भूत होते हैं। विभिन्न सृष्टियों में कोई भूमि केवल मिट्टी के रूप में प्रकट हुई तो कोई पथरीली थी, कोई सुवर्णमयी थी और कोई ताम्रमयी थी। इस ब्रह्माण्ड में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के कितने ही आश्चर्यमय जगत् हैं। इस सच्चिदानन्दघन परब्रह्मस्वरूप महाकाश में अनन्त जगत् महासागर की तरंगों के समान उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। जैसे समुद्र में लहरें और मरु-मरीचिका में जल की धाराएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में अगणित विश्व की शोभा प्रकट होती है। (तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य की किरणों में जल की प्रतीति मिथ्या है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मा में इस जड़ जगत् का वैभव मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है।) जैसे वर्षा आदि ऋतुओं में मच्छरों के समूह उत्पन्न हो-होकर सब ओर भर जाते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार ये संसार की सृष्टियाँ उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं; यह नहीं ज्ञात होता कि ये सदा उत्पन्न और नष्ट होने वाली सृष्टि परम्पराएँ परमात्मा में कब से आरम्भ हुई। ये सृष्टियाँ पूर्व-से-पूर्व काल में थीं और उससे भी पहले विद्यमान थीं। इस प्रकार अनादिकाल से इनकी परम्पराएँ चल रही हैं। जैसे समुद्र में निरन्तर लहरें उठती रहती हैं, उसी तरह परमात्मा में सदा ही ये सृष्टियाँ उत्पन्न एवं विलीन होती रहती हैं। देवता, असुर और मनुष्य आदि से युक्त ये समस्त प्राणी नदी की तरंगों के समान उत्पन्न हो-होकर विलीन होते रहते हैं।

जैसे मिट्टी की राशि में घड़े और अंकुर में पत्ते विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार भविष्य में होने वाली अन्य सृष्टि-परम्पराएँ भी परब्रह्म परमात्मा में स्थित हैं।

श्रीराम ! परमात्मा के स्वरूप में जो वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं-बिना हुए ही प्रतीत होती हैं, ऐसी इन विलक्षण सृष्टियों में ब्रह्मा की विविध विचित्र उत्पत्तियाँ बीत चुकी हैं। वास्तव में यह संसार मन के संकल्प का विस्तारमात्र है। यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है। मैंने केवल समझाने के लिये तुम्हारे समक्ष इस सृष्टि-क्रम का वर्णन किया है। सत्ययुग, फिर त्रेता, फिर द्वापर और फिर कलियुग-इस प्रकार सारा जगत् घूमते हुए चक्र की तरह बारंबार आता-जाता रहता है जैसे प्रत्येक प्रातःकाल के बाद दिन आता है, उसी प्रकार पुनः मन्वन्तरों के आरम्भ होते हैं। एक के बाद पुनः दूसरे कल्पों की परम्पराएँ चलती हैं और बारंबार कार्यावस्थाएँ प्राप्त होती रहती हैं। जैसे वृक्ष में विभिन्न ऋतुओं के अनुसार सारे फल-फूल आदि कभी अप्रकट रहते हैं और कभी समय पाकर प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार परम तत्त्व परमात्मा में यह सारा जगत् कभी अवयक्त रहता है और कभी व्यक्त हो जाता है। श्रीराम ! यह संसार कभी भी सत् नहीं है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् परमात्मा में स्वभाव से ही सदा संसार का अत्यन्ताभाव है। महामते ! ज्ञानी की दृष्टि में यह सब कुछ ब्रह्म ही है। इसलिये 'संसार नहीं है' यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त ही है। अज्ञानी की दृष्टि में संसार का विच्छेद नहीं होता, वह सदा बना रहता है। इसलिये यह संसार माया मिथ्या होती हुई भी मूढ़ के लिये नित्य है, यह कथन भी युक्ति संगत ही है। रघुनन्दन ! जगत् बारंबार उत्पन्न होता रहता है, इसलिये कभी इसका अभाव नहीं है-ऐसा जो कुछ लोगों का कथन है, वह भी उनकी दृष्टि मिथ्या नहीं है। यह सब दृश्य पुनः-पुनः प्रकट होता है। बारंबार जन्म और मरण होते रहते हैं। सुख-दुःख, करण और कर्म भी बारंबार हुआ करते हैं। दिशाएँ, आकाश, समुद्र और पर्वत भी बारंबार उत्पन्न होते हैं। जैसे खिड़की वाले घरों में एक ही सूर्य की प्रभा बारंबार अनेक रूपों में प्राप्त होती है, वैसे ही यह सृष्टि प्रवाहरूप से पुनः-पुनः चक्र की भाँति चलती रहती है। फिर दैत्य और देवता जन्म लेते हैं, पुनः लोक-लोकान्तरों के क्रम प्रकट होते हैं, फिर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने की चेष्टाएँ चालू होती हैं। अनेकानेक दानव भी बारंबार जन्म लेते हैं तथा बारंबार सम्पूर्ण दिशाओं में मनोहर चन्द्रमा, सूर्य,

वरुण एवं वायु का संचार होता रहता है। कालरूपी कुम्हार नाना प्रकार के प्राणीरूप प्यालों को बनाने के लिये पुनः बड़े वेग से निरंतर कल्प नामक चाक को चलाने लगता है।

चौबीसवां सर्ग समाप्त

पच्चीसवां सर्ग

ज्ञानी तथा भोगासक्त मूढ़ की स्थिति में अन्तर

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! जिनकी बुद्धि भोग और ऐश्वर्य के द्वारा नष्ट हो गयी है तथा जो ऐहिक और पारलौकिक भोग एवं ऐश्वर्य के लिये सकामभाव से नाना प्रकार की चेष्टाऐं करते हैं, ऐसे मूढ़ पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मा की ओर ध्यान नहीं देते, इस कारण उनको परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव नहीं होता (अर्थात् वे परम पुरुषार्थरूप परमात्मा की प्राप्ति से वंचित रह जाते हैं)। जो पुरुष विवेकयुक्त तीक्ष्ण बुद्धि की चरमसीमा को पहुँचे हुए हैं तथा जिन्हें इन्द्रियों ने अपने वश में नहीं कर रक्खा है, वे इस जगत् की माया का हाथ पर रक्खे हुए बेल के समान प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। जो जीव विवेकपूर्ण विचार से युक्त है, वह इस जगत् की अहंकारमूलक माया को तुच्छ जानकर उसी तरह त्याग देता है, जैसे साँप केंचुल को। श्रीराम ! जैसे आग से भुना हुआ बीज चिरकाल तक खेतों में रहने पर भी जमता नहीं, उसी प्रकार वह विवेकी पुरुष अनासक्ति को प्राप्त हो दीर्घकाल तक शरीर में रहने पर भी फिर जन्म नहीं लेता। किंतु अज्ञानी मनुष्य आधि–व्याधि से घिरे हुए तथा आज या कल प्रातःकाल नष्ट हो जाने वाले इस क्षणभंगुर शरीर के हित के लिये ही प्रयत्न करते हैं, आत्मा के लिये नहीं।

इसके बाद दाशूर मुनि का उपाख्यान सुनाकर वसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम! यह जड़ जगत् वास्तव में है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके इसमें सब ओर से आसक्ति का त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं, उसके प्रति विवेकशील पुरुषों का विश्वास कैसे होगा। जैसे मन के संकल्प द्वारा कल्पित पुरुष अथवा मनोराज्य को, स्वप्नगत जन–समुदाय तथा भ्रम से प्रतीत होने वाले दो चन्द्रमाओं की आकृतियों को तुम देखते हो, उसी प्रकार मन की भावना से ही उत्पन्न हुए इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को देखना चाहिये (अर्थात् इसे मिथ्या समझकर इसके प्रति राग–द्वेष नहीं करना चाहिये)। निष्पाप रघुनन्दन ! पदार्थों

के सौन्दर्य का चिन्तन करने से जो उनके प्रति आन्तरिक आस्था होती है, उसका पूर्णतः परित्याग करके तुम जिस चिन्मयस्वरूप से स्थित हो, वही तुम्हारा वास्तविक रूप है। उसी रूप से इस जगत् में तुम लीलापूर्वक विचरण करो। सब पदार्थों के भीतर विद्यमान रहते हुए भी जो सबसे अतीत है, वह परमात्मा तुम्हीं हो। तुम्हारे सकाशमात्र से यह नियति विस्तार को प्राप्त होती है। जैसे सब प्रकार की इच्छाओं से रहित सूर्यदेव के आकाश में स्थित होनेपर जगत् के सब व्यवहार होने लगते हैं, उसी प्रकार इच्छारहित परमात्मा की सत्ता से ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं। जैसे रत्न (सूर्यकान्त एवं चन्द्रकान्त मणि आदि) में प्रकाश करने की इच्छा न होनेपर भी उसकी स्थितिमात्र से स्वतःप्रकाश होने लगता है, उसी प्रकार इच्छारहित परमात्मा के सकाश से ही इस जगत्-समुदाय की प्रवृत्ति (व्यवहार चेष्टा) होती रहती है। सच्चिदानन्द परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियों से अतीत होने के कारण वास्तव में कर्ता और भोक्ता नहीं है, किंतु इन्द्रियों में व्यापक होने के कारण वही कर्ता भोक्ता माना जाता है। 'मैं सबके भीतर स्थित और अकर्ता हूँ'-ऐसी सुदृढ़ धारणा के साथ विवेक पुरुष प्रवाहरूप से प्राप्त हुए कार्य को करता रहे, तो भी वह उससे लिप्त (बद्ध) नहीं होता। चित्त में प्रवृत्ति का अभाव होने से मनुष्य उपरति को प्राप्त होता है। जिसको यह निश्चय हो गया है कि मैं यहाँ कुछ भी नहीं करता, अर्थात् जो कर्तापन के अभिमान से रहित हो गया है, ऐसा कौन पुरुष भोग-समूहों की कामना मन में लेकर किसी कार्य को करेगा अथवा छोड़ेगा। इसलिये सदा 'मैं कर्ता नहीं हूँ' मैं यह नहीं हूँ, मैं इसे करता हूँ और इसे नहीं करता' इस तरह के भावों का अनुसंधान करने वाली दृष्टि वास्तव में संतोषजनक नहीं होती। 'मैं शरीर हूँ-ऐसी धारणापूर्वक जो स्थिति है, वही कालसूत्र नामक नरक का मार्ग है। वही महावीचि नरक का जाल है और वही असिपत्रवन की पंक्तियाँ है। उस देहाभिमान का सर्वथा प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिए। मैं यह दृश्यरूप कुछ भी नहीं हूँ, किन्तु साक्षात् सच्चिदानन्द परमात्मा हूँ-ऐसा निश्चय करके तुम अपने इस सर्वोत्तम स्वरूप में सदा स्थित रहो, जिसमें श्रेष्ठ साधु, ब्रह्मवेत्ता पुरुष स्थित हुए हैं।

पच्चीसवां सर्ग समाप्त

छब्बीसवां सर्ग

तत्त्वज्ञानी महात्मा की महत्तम स्थिति का वर्णन

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा-ब्रह्मन् ! आपने अपनी उत्तम उक्तियों द्वारा जो यह सुन्दर बात कही है, वह सर्वथा सत्य है। समस्त भूतों की सृष्टि करने वाले परमात्मा अकर्ता होते हुए ही कर्ता हैं और अभोक्ता होते हुए भी भोक्ता हैं। प्रभो ! जो सबका अधिष्ठान और समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित हैं, उस सर्वेश्वर, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द निर्मल पदस्वरूप ब्रह्म का मेरे हृदय में प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले-रघुनन्दन ! आत्मा ही आत्मा को जानता है, आत्मा ने ही आत्मा को संसारी बनाया है अर्थात् इसने स्वयं ही अज्ञान के कारण अपने-आप को संसार बन्धन में बाँधा है। आत्मा ही अपने ज्ञान के द्वारा पवित्र होकर सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। जो वासनाओं के बन्धन में बँधा है, उसी को बद्ध कहा गया है। वासना का अभाव ही मोक्ष है। (वासनाओं का सर्वथा क्षय हो जाने पर साधक संसार के बन्धनों से सदा के लिये मुक्त हो जाता है।) अतः मन, बुद्धि आदि से युक्त सम्पूर्ण वासनाओं का त्याग करके जिस वृत्ति के द्वारा उन सब का त्याग किया जाता है, उस बुद्धि वृत्ति का भी त्याग कर दो अर्थात् उससे सम्बन्ध रहित हो जाओ और सबका अभाव हो जाने पर जो एकमात्र नित्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही शेष रहता है, उसी में अविचल भाव से स्थित रहो। शुद्ध बुद्धि से युक्त रघुनन्दन ! प्राणों के स्पन्दन पूर्वक कलना (चेष्टा एवं संकल्प), काल, प्रकाश एवं तिमिर आदि का तथा वासना और विषयों का (इन्द्रियों तथा समूल अहंकार का) सर्वथा त्याग करके उनसे सम्बन्धरहित होकर जो तुम आकाश के समान सौम्य (निर्मल), प्रशान्त-चित्त तथा चिन्मयरूप से विराज रहे हो, उसी सर्व सम्मानित रूप में स्थित रहो। जो परम बुद्धिमान् पुरुष सबका हृदय से परित्याग करके सब विक्षेपों के कारण भूत अभिमान से रहित हो जाता है, वह साक्षात् शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप परमेश्वर है। जिसके में हृदय में अभिमान का अत्यन्त अभाव हो गया है, ऐसा विशुद्ध अन्तःकरण वाला ज्ञानी महात्मा ध्यान, समाधि अथवा कर्म करे या न करे, सदा मुक्त ही है; क्योंकि जिसका मन सर्वथा वासनारहित हो गया है, उसे न तो कर्मों के त्याग से कोई प्रयोजन है और न कर्मों के अनुष्ठान से ही।

जप, ध्यान और समाधि से भी उसका कोई प्रयोजन नहीं है। मैंने शास्त्र का अच्छी तरह विचार किया और चिरकाल तक सत्पुरुषों के साथ परामर्श करके यही सार निकाला कि सम्पूर्ण वासनाओं से रहित हुए सच्चिदानन्दघन परमात्मा के निरन्तर मननरूप मौन से बढ़कर दूसरा कोई उत्तमपद नहीं है। दसों दिशाओं में घूम-घूमकर मैंने सारी दर्शनीय वस्तुओं को देख लिया; उनमें कुछ ही लोग ऐसे दिखायी दिये, जो परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ अनुभव करने वाले हैं।

मनुष्य के जो कोई भी लौकिक शुभ आयोजन हैं और जो भी उनके व्यावहारिक सत्कर्म हैं, वे सब केवल शरीर का निर्वाह करने के लिये ही हैं, आत्मा के लिये नहीं। पाताल, भूतल, स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक और आकाश में कुछ ही ऐसे प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें सच्चिदानन्द परमात्मा का यथार्थ बोध हो गया हो। जिस ज्ञानी के 'यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है' इस तरह के अज्ञानजनित निश्चय नष्ट हो गये हैं, ऐसा कर्तव्याकर्तव्य दृष्टि से रहित ज्ञानी महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। प्राणी चाहे लोक में राज्य करे, चाहे मेघ या जल में प्रवेश कर जाय; परन्तु परमात्मा की प्राप्ति के बिना उसे परम शान्ति नहीं मिल सकती। जो इन्द्रियरूपी शत्रुओं का दमन करने में शूरवीर हैं, जन्मरूपी ज्वर का विनाश करने के लिये उन्हीं महाबुद्धिमान् महापुरुषों की सेवा करनी चाहिये। पाताल में और स्वर्ग में सर्वत्र पाँच ही भूत हैं, छठा कुछ भी नहीं है। फिर धीर मनुष्यों की बुद्धि कहाँ अनुरक्त हो (क्योंकि सर्वत्र क्षणभंगुर पदार्थों की ही उपलब्धि होती है)। शास्त्र के अनुसार निष्कामभावरूप युक्ति से व्यवहार करने वाले विवेकी पुरुष के लिये संसार गौ के खुर के समान अनायास ही लाँघ जाने योग्य है। परंतु जिसने उपर्युक्त युक्ति का दूर से ही परित्याग कर दिया है, उस अज्ञानी के लिये यह संसार महाप्रलयकालीन महासागर के समान दुस्तर है। पाताल से लेकर स्वर्गपर्यन्त इस जगत् में ज्ञानी महात्मा पुरुष के लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है। जैसे मन्द-मन्द वायु के चलने से पर्वत नहीं हिलता, वैसे ही भोग-समूहों से तत्त्वज्ञानी पुरुष नहीं विचलित होता। जैसे बादल आकाश में बारंबार छा जाने पर भी उसे अपने रंग में नहीं रंग सकते, उसी प्रकार संसार के ये विषय-भोगरूप कोई भी पदार्थ पुनः-पुनः प्राप्त होने पर भी विशाल-हृदय तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष को आसक्त नहीं कर सकते।

छब्बीसवां सर्ग समाप्त

सत्ताइसवां सर्ग

भोगों से वैराग्य का उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! इस पूर्वोक्त वस्तु के विषय में पहले बृहस्पति के पुत्र कच ने जो पवित्र गाथाएँ गायी थीं, उनका मैं वर्णन करता हूँ; सुनो। एक समय मेरु पर्वत के किसी वन प्रान्त में देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच ब्रह्मविचार में तत्पर होकर रहते थे। वहाँ उन्होंने सुनी हुई ब्रह्म विद्या का बारंबार मनन और निदिध्यासन करके आत्मा में परम शान्ति प्राप्त कर ली थी। इसलिये उनकी बुद्धि परमात्मा के यथार्थ ज्ञानरूपी अमृत से परिपूर्ण थी। विरक्त एवं विवेकी पुरुषों के लिये अनादर के योग्य जो यह आपात रमणीय पाँच भौतिक दृश्य जगत् है, इसमें उनकी बुद्धि नहीं लगती थी। दृश्य–प्रपंच के प्रति आदर न होने के कारण उसमें उनका मन नहीं लगता था। इसलिये एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मा के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु को न देखते हुए उन्होंने अत्यन्त विरक्त पुरुष की भाँति अकेले एकान्त स्थान में हर्ष–गद्गद वाणी द्वारा यह उद्गार प्रकट किया।

अहो ! जैसे महाप्रलय के जल से समस्त संसार भरा रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व परमात्मा से परिपूर्ण है। दुःख, जीवात्मा और सुख एवं दिशाओं से घिरा हुआ सुमहान् आकाश–ये सब परमात्मा ही हैं। बाह्य एवं अभ्यान्तर भावों से युक्त इस देह में, ऊपर नीचे और पूर्व आदि दिशाओं में तथा इधर–उधर परमात्मा ही हैं। परमात्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। सभी जगह परमात्मा स्थित हैं। सब कुछ परमात्ममय ही है। यह सब जगत् परमात्मा ही है, अतः मैं सदा परमात्मा में ही स्थित हूँ। मैं नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मस्वरूप हूँ और एकार्णव के समान सर्वत्र सुखपूर्वक विराजमान हूँ–इस प्रकार की भावना करके क्रमशः घण्टानाद की तरह ओंकार का उच्चारण करते हुए वे उस मेरु पर्वत के कुंज में बैठे रहे। श्रीराम ! वे कल्पनारूपी कलंक से रहित होने के कारण शुद्धरूप में स्थित थे। ऐसी स्थिति में पहुँचे हुए महात्मा कच ने उपर्युक्त गाथाओं का गान किया था।

रघुनन्दन ! इस जगत् में खाने–पीने और स्त्री समागम के अतिरिक्त उत्तम पुरुषार्थरूप शुभ वस्तु कुछ भी नहीं है–अज्ञानियों के इस कथन पर विचार करके परम पद में आरूढ़ हुआ महान् पुरुष यहाँ किस वस्तु की वांछा

कर सकता है ? जो मूढ़ एवं असाधु पुरुष कृपाणों के सर्वस्वभूत–आदि, मध्य एवं अन्त में भी विनाशशील भोगों द्वारा संतुष्ट होते हैं, वे पशुओं और पक्षियों के समान गये–बीते हैं। जो संसार में इन मिथ्या विषयभोगों को सत् मानते हैं–इनकी स्थिरता पर विश्वास करते हैं, वे मनुष्यों में गदहों के समान हैं, उनका जीवन व्यर्थ है। सारी पृथ्वी मिट्टी ही है। समस्त वृक्ष काष्ठमय ही हैं और सभी शरीर हड्डी–मांस के पुतले ही हैं। नीचे पृथ्वी है तथा ऊपर और आगे पीछे आकाश है; फिर यहाँ सुख देने के लिये कौन–सी अपूर्व वस्तु है ? उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली, अनित्य तथा मन और इन्द्रियों के संयोग से प्रकट हुए समस्त भोग वास्तव में मिथ्या ही हैं। हड्डियों के समूह को अपने शरीर की संज्ञा देने वाले पुरुष के द्वारा अपनी प्रेयसी कहकर एक रक्त–मांस की पुतली का सादर आलिंगन किया जाता है। यह संसार को मोहित करने वाले काम का ही क्रीड़ा–विलास है। श्रीराम ! यह सारा जगत् मूढ़ पुरुषों की दृष्टि में ही सत्य और स्थिर है। उन अज्ञानी मनुष्यों के लिये ही यह संतोषदायक होता है। विवेकशील एवं विरक्त पुरुष को संतोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि उनकी दृष्टि में यह समस्त संसार क्षणभंगुर एवं विनाशशील है। भोगों की वासना ऐसी विषैली होती है कि उन विषयों का उपभोग न करने पर भी विष की तरह मूर्च्छा (मोह) पैदा कर देती है। महाबाहु श्रीराम ! सृष्टि की व्यवस्था करने वाले पितामह भगवान् ब्रह्मा जब समाधि से उत्थित होते हैं, जब यह जगत्‌रूपी जीर्ण घटीयंत्र अपनी व्यवस्था के अनुसार चालू होता है और प्राणीरूपी घट वासनारूपी रस्सी से बँधकर जीवन की इच्छा से अपने कर्मानुसार नीचे–ऊपर आने–जाने लगते हैं, तब से निरन्तर कुछ जीव इस भवकूप से निकलते हैं और कुछ इसके भीतर प्रवेश करते हैं। श्रीराम ! अनादि–अनन्त ब्रह्मपद से उत्पन्न हुए जीव–समुदाय उसी तरह ब्रह्म में स्थित हैं, जैसे तरंगों के समूह समुद्र में। पुण्यात्मा रघुनन्दन! संसार में उत्पन्न हुए जो–जो पुरुष केवल सात्त्विक भाव से सम्पन्न हैं, वे फिर कभी यहाँ जन्म ग्रहण नहीं करते–सर्वथा मुक्त हो जाते हैं; परंतु जो सत्त्वगुण प्रधान राजस–प्रकृति पुरुष हैं, उनका इस जगत् में पुनर्जन्म लेना सम्भव है। जो परमात्मा से अधिकार प्राप्त करके प्रधानरूप से यहाँ आते हैं, ऐसे महान् गुणशाली पुरुष संसार में दुर्लभ हैं।

सत्ताइसवां सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवां सर्ग

जगत् की अनित्यता एवं परमात्मा की सर्वव्यापकता

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! जो पूर्वजन्म की राजस–सात्त्विक की कर्मोपासना से भूतल पर उत्पन्न हुए हैं, वे महान् गुणशाली पुरुष आकाश में प्रकाशित चन्द्रमा के समान सदा मनोहर कान्ति से युक्त एवं आनन्द मग्न रहते हैं। जैसे आकाश का भाग मेघ आदि से मलिन नहीं होता, उसी प्रकार वे सांसारिक दुःखों से दुखी नहीं होते। जैसे स्थावर वृक्ष आदि प्रारब्ध भोग के अतिरिक्त दूसरी कोई चेष्टा नहीं करते, उसी प्रकार वे भी ज्ञान और ज्ञान के साधनों के अतिरिक्त और कोई चेष्टा नहीं करते। जैसे वृक्ष अपने पुष्प और फल आदि से सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने सदाचारों से शोभायमान होते हैं। जैसे चन्द्रमा क्षीण होने पर भी कभी शीतलता का त्याग नहीं करता, उसी प्रकार वे आपत्तिकाल भी अपने सौम्य स्वभाव को नहीं छोड़ते। मैत्री आदि गुणों से कमनीयता को प्राप्त हुई अपनी प्रकृति से ही वे नूतन पुष्प गुच्छों से विभूषित लता से शोभा पाते हैं। वे पुरुष सब पर समान भाव रखते, समतारूप रस का अनुभव करते, सदा सौम्यभाव का आश्रय लेते, साधुओं से भी बढ़कर साधु होते और अपनी मर्यादा में स्थित रहते हैं। अतः महाबाहो ! आपत्तियों की पहुँच से परे जो उनका पद (स्थान) है, उसकी ओर सदा चलना चाहिये। मनुष्य को इस जगत् में सत्त्वगुण प्रधान राजस पुरुषों की भाँति ऐसा बर्ताव तथासत्–शास्त्रों का विचार करना चाहिये, जिससे परमात्मा की प्राप्ति हो। इस प्रकार भावना करने वाले पुरुष को सब वस्तुओं की अनित्यता का भी विचार करना चाहिये। विशुद्ध बुद्धिवाला पुरुष अज्ञान को बढ़ाने वाले मिथ्याभूत अनात्म दर्शन का त्याग करके सांसारिक पदार्थों के विषय में यह भावना करे कि ये सब–के–सब आपत्ति ही है; उनमें सम्पत्ति भावना कभी न करे। उस परम पुरुषार्थरूप अनन्त नित्य–विज्ञानानन्दघन ब्रह्म का भली–भाँति चिन्तन करना चाहिए और अनर्थकारी जन–समुदाय के साथ कभी नहीं रहना चाहिये। 'संसार की सभी वस्तुओं के साथ सम्बन्ध–विच्छेद अवश्यम्भावी है' ऐसा विचार करके सदा श्रेष्ठ पुरुषों का ही अनुसरण अथवा (अनुकरण) करना चाहिये। जैसे सूत में मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार उस नित्य विस्तृत सर्वव्यापी सर्वभावित शिवस्वरूप परमपद (परमात्मा) में यह समस्त

जगत् पिरोया हुआ है (अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत् में परमात्मा व्याप्त है)। जो चेतन परमात्मा विशाल भूमण्डल को विभूषित करने वाले आकाशवर्ती सूर्यदेव में विराजमान हैं, वे ही धरती में बिल के भीतर रहने वाले कीड़े के पेट में भी हैं। निष्पाप रघुनन्दन! जैसे यहाँ घटाकाशी का महाकाश से वास्तविक भेद नहीं है, उसी प्रकार शरीरवर्ती जीवों का परमात्मा से परमार्थतः भेद नहीं है। श्रीराम! जो उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, वह वस्तु वास्तव में है ही नहीं। अतः यह जड़ संसार प्रतीतिमात्र है। यह सदा स्थिर नहीं रहता, इसलिये इसे सत् नहीं कहा जा सकता। किन्तु प्रतीत होता है, इसलिये इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता। अतएव यह अनिर्वचनीय है।

पहले विवेक और विचार से युक्त धीर साधक शास्त्र के अनुसार परम बुद्धिमान् तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ महापुरुषों से मिलकर उनके साथ सत्शास्त्र विषयक विचार करे। विषय-तृष्णा से रहित तत्त्वज्ञान सम्पन्न साधु महापुरुष के साथ परमात्मविषयक विचार करके परमात्मा का ध्यान करने से परमपद प्राप्त होता है। शास्त्रों के विचार, महापुरुषों के संग, वैराग्य और अभ्यासरूप सत्कार्य से युक्त पुरुष परमात्मा के ज्ञान का पात्र होकर तुम्हारे समान शोभा पाता है। तुम ज्ञानवान् तथा नाना प्रकारके दिव्यगुणों की खान हो। तुम्हारा आचार-व्यवहार उदार है तथा तुम समस्त दोषों से रहित एवं दुःखहीन परमपद में स्थित हो। तुम उत्तम अनुभव से सम्पन्न हो। अतः इस समय संसार में पूर्वोक्त साधक मनुष्य राग-द्वेषहीन व्यवहार द्वारा तुम्हारी चेष्टा का अनुसरण करेंगे। जो लोकोचित आचार से युक्त हो बाहर विचरण करेंगे, वे ज्ञानरूपी नौका से युक्त बुद्धिमान् पुरुष संसार सागर से पार हो जायँगे। जो तुम्हारे समान विशुद्ध बुद्धि से युक्त और समदर्शी है, वह उत्तम दृष्टिवाला सत्पुरुष मेरी बतायी हुई ज्ञानदृष्टियों को प्राप्त करने में समर्थ होता है। जब तक तुम्हारा शरीर है, तब तक राग-द्वेष और इच्छा आदि से रहित हो शास्त्र के अनुसार आचरण करते हुए स्थित रहो। शुद्ध सात्त्विक जन्मवाले जीवन्मुक्त पुरुषों के जो परम सत्य एवं स्वाभाविक शम, दम आदि गुण हैं, उनका सेवन करता हुआ साधारण पुरुष भी मरकर दूसरे जन्म में जीवन्मुक्त पद को प्राप्त हो जाता है; क्योंकि जीव इस जगत् में जिन जाति-गुणों का सदा सेवन करता है, दूसरे जन्म में उत्पन्न होकर वह उसके अनुसार उसी जाति को प्राप्त होता है। (तात्पर्य यह कि उत्कृष्ट जाति के

गुणों का सेवन करने पर वह उत्तम जाति में जन्म पाता है और अधम जाति के गुणों का सेवन करने पर अधम जाति में ही जन्म ग्रहण करता है।) कर्मों के अधीन हुए जीव पूर्वजन्म के सब भावों को कर्मों के अनुसार ही पाते हैं। पर्वतों को भी लोग पराक्रम से जीत लेते हैं, इसलिये मनुष्य को आत्मकल्याण के लिये तत्परतापूर्वक परम पुरुषार्थ करना चाहिये। जीव सात्त्विक, राजस और तामस–किसी भी योनि में क्यों न उत्पन्न हुआ हो, उसे कीचड़ में फँसी हुई भोली–भाली गाय की तरह अपनी बुद्धि का धैर्य के साथ परम उद्योगपूर्वक संसाररूपी पंख से उद्धार करना चाहिये। पुरुषोचित प्रयत्न से ही उत्तमोत्तम गुणों द्वारा सुशोभित होनेवाले मुमुक्ष पुरुष दूसरे जन्म में जीवन्मुक्त–पद को प्राप्त होते हैं। पृथ्वी पर, स्वर्ग में, देवताओं में अथवा अन्यत्र भी कहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे सदगुण सम्पन्न पुरुष अपने पुरुषार्थ या प्रयत्न से प्राप्त न कर सके।

अट्ठाइसवां सर्ग समाप्त

स्थिति–प्रकरण सम्पूर्ण

लोभमोहरुषां यस्य तनुतानुदिनं भवेत्।
यथाशास्त्रं विहरति स्वकर्मसु स सज्जनः।।

(स्थिति प्रकरण से)

'जिस के संग से लोभ, मोह और क्रोध प्रतिदिन क्षीण होते हों और जो शास्त्र के अनुसार अपने कर्मों का आचरण करने में लगा रहता हो, वह सत् पुरुष है।'

• • •

सचित्र
योगवासिष्ठ महारामायण

प्रथम खण्ड

उपशम प्रकरण

अपुनर्जन्मने यः स्याद् बोधः स ज्ञानशब्दभाक्।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ।।

(निर्वाण प्रकरण से)

'जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है, पुनर्जन्म की नहीं, उसी का नाम ज्ञान है। उसके अतिरिक्त दूसरा जो शब्दज्ञान का चातुर्य है, वह तो रोटी-कपड़ा प्राप्त करने की कलामात्र है। उसे केवल भोजन-वस्त्र जुटाने वाली व्यवस्था समझना चाहिये।'

•••

यह समस्त दृश्य जगत् तथा इसमें होने वाली सभी क्रियाएँ चिदानन्दघन ब्रह्म का ही संकल्प है। वह संकल्प भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, क्योंकि जगत्‌रूपी कार्य सर्वथा असत् ही है। नित्य सत्य ब्रह्म से अनित्य असत् जगत् की उत्पत्ति, नित्य निरतिशय दिव्य परमानन्दघन परमात्मा से दुःखपूर्ण जगत् की उत्पत्ति, प्रकाशमय परब्रह्म से तमोमय जगत् की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं। अतएव ब्रह्म तथा जगत् में कारण-कार्यभाव नहीं है, ब्रह्म ही जगत्‌रूप में भासित हो रहा है। उस चिदाकाश में ही चिदाकाश से यह सब खेल हो रहे हैं। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं।

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

उपशम-प्रकरण

प्रथम सर्ग

श्रीवसिष्ठजी द्वारा प्रवचन समाप्त

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा-वत्स भरद्वाज! राजा दशरथ की वह सुन्दर सभा शरद्-ऋतु में तारों से भरे हुए आकाश की भाँति निश्चल थी। महर्षि वसिष्ठ हृदय को आल्हाद प्रदान कने वाला परमपवित्र प्रवचन कह रहे थे। श्रीरामचन्द्रजी प्रातः काल के प्रफुल्ल पंकज की भाँति प्रसन्नता से खिल उठे थे। महाराज दशरथ वसिष्ठजी के वचनों को उसी तरह रस के साथ सुन रहे थे, जैसे मयूर वृष्टि के कारण हुई आर्द्रता से युक्त हो मेघ-गर्जन की मधुर ध्वनि को सुनते रहते हैं। इतने में ही दसों दिशाओं को पूर्ण करती हुई मध्यान्हकालीन शंखध्वनि प्रकट हुई, जो प्रलयकाल के मेघों की गर्जना के समान गम्भीर और महासागर की जलराशि के उद्घोष की भाँति दूर तक सुनाई देने वाली थी। वह शंखनाद सुनते ही महर्षि ने अपना प्रवचन बंद कर दिया। दो घड़ी तक विश्राम कर लेने के पश्चात् जब वह घनीभूत कोलाहल शान्त हो गया, तब वसिष्ठ मुनि पुनः श्रीरामचन्द्रजी से बोले-'रघुनन्दन ! आज का दैनिक प्रवचन यहीं तक कहा जा सका है। शत्रुसूदन ! इसके बाद जोकुछ कहना है, उसे मैं कल प्रातःकाल कहूँगा। मध्यान्हकाल में नियमतः करने योग्य जो कर्तव्य द्विजातियों के लिये प्राप्त है, उसे हमलोगों को भी करना चाहिये, जिससे वह कर्म-परम्परा नष्ट न हो जाय। अतः सौभाग्यशाली राजकुमार ! तुम भी उठो। आचारचतुर श्रीराम ! स्नान, दान और पूजन. आदि समस्त आचारों तथा सत्कर्मों का अनुष्ठान करो।' यों कहकर महर्षि वसिष्ठ उठ गये। साथ ही राजा दशरथ भी सभासदों सहित उठकर खड़े हो गये। राजा लोग महाराज दशरथ को प्रणाम करके राजभवन से बाहर निकले। फिर सुमन्त्र और दूसरे-दूसरे मंत्री महर्षि वसिष्ठ तथा राजा दशरथ को प्रणाम

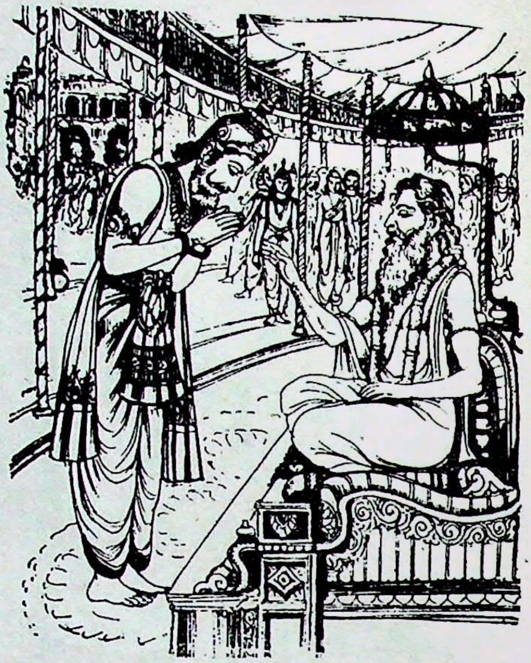

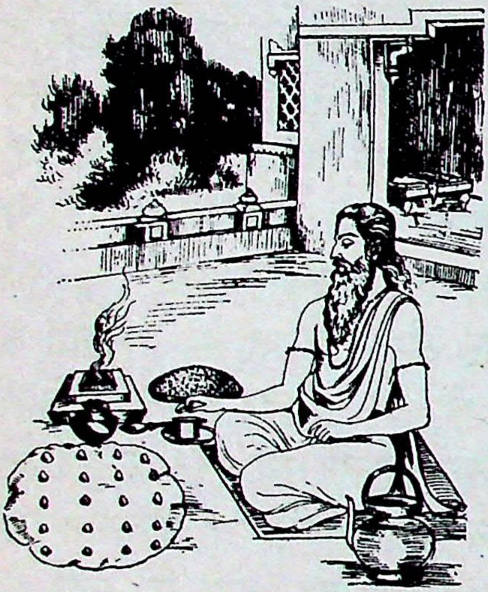

करके स्नान आदि के लिये चले गये। तदनन्तर वामदेव और विश्वामित्र आदि ऋषि-महर्षि वसिष्ठ को आगे करके उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहे। शत्रुओं का दमन करने वाले राजा दशरथ मुनि समुदाय का सत्कार करके उनसे विदा ले अपने कार्य का सम्पादन करने के लिये चले गये। वनवासी मुनि वन में और पुरवासी मनुष्य नगर में दूसरे दिन प्रातःकाल लौटने के लिये चले गये। राजा दशरथ और वसिष्ठ मुनि के प्रेमपूर्वक अनुरोध करने पर विश्वामित्र ने वसिष्ठजी के घर में रात्रि बितायी। श्रेष्ठ ब्राह्मणों, राजाओं मुनियों तथा श्रीराम आदि समस्त दशरथ-राजकुमारों से घिरे हुए सर्वलोकवन्दित श्रीमान् वसिष्ठजी उसी तरह अपने आश्रम को गये। तत्पश्चात् अपने चरणों पर गिरे हुए श्रीराम आदि समस्त दशरथ राजकुमारों को वसिष्ठजी ने अपने आश्रम से विदा किया और अपने घर में प्रवेश करके उन उदारचेता महर्षि ने द्विजजनोचित दैनिक कृत्य-पंच महायज्ञों का अनुष्ठान सम्पन्न किया।

प्रथम सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

श्रीराम आदि राजकुमारों की तात्कालिक दिनचर्या

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा-भरद्वाज! चन्द्रमा के समान मनोरम कान्ति वाले उन राजकुमारों ने घर में जाकर अपने-अपने भवन में समस्त आह्निक कृत्य पूर्णरूप से सम्पन्न किया। महर्षि वसिष्ठ, महाराज दशरथ, अन्यान्य राजा, मुनि

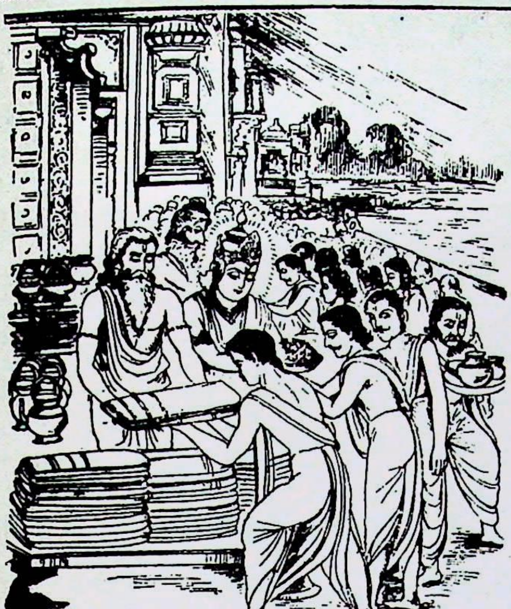

तथा ब्राह्मणों ने अपने-अपने घरों तथा गलियों में अपने-अपने कार्यों का इस प्रकार सम्पादन किया। उन सबने जलाशयों में स्नान किया और ब्राह्मणों को अपनी शक्ति के अनुसार गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, शय्या, आसन वस्त्र और बर्तन आदि का दान दिया। सुवर्ण और मणियों से जटित होने के कारण विचित्र शोभा धारण करने वाले अपने घरों और देवालयों में उन्होंने भगवान् विष्णु, शंकर, अग्नि और सूर्य आदि देवताओं का पूजन किया। तत्पश्चात् पुत्र, पौत्र, सुहृद्, सखा भृत्य और बन्धु-बान्धवों के साथ अपनी रुचि के अनुरूप भोज्य पदार्थों का आस्वादन किया। फिर सायंकाल तक का समय उन्होंने पुराण एवं धर्मशास्त्र के श्रवण आदि के द्वारा व्यतीत किया। सूर्यास्त होने पर उन्होंने विधिपूर्वक संध्या-वन्दन, अघमर्षण-मंत्रों का जप, पवित्र स्तोत्रों का पाठ और मनोहरगाथाओं का गान किया। फिर धीरे-धीरे वे रघुवंशी राजकुमार दीर्घ चन्द्रबिम्ब के समान रमणीय शय्याओं पर सोये। तदनन्तर प्रातःकाल के तूर्यघोष के साथ चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाले श्रीरामचन्द्रजी शय्या से उठे, तत्पश्चात प्रातःकाल की स्नानविधि सम्पन्न करके संध्या वन्दन आदि से निवृत्त हो थोड़े से

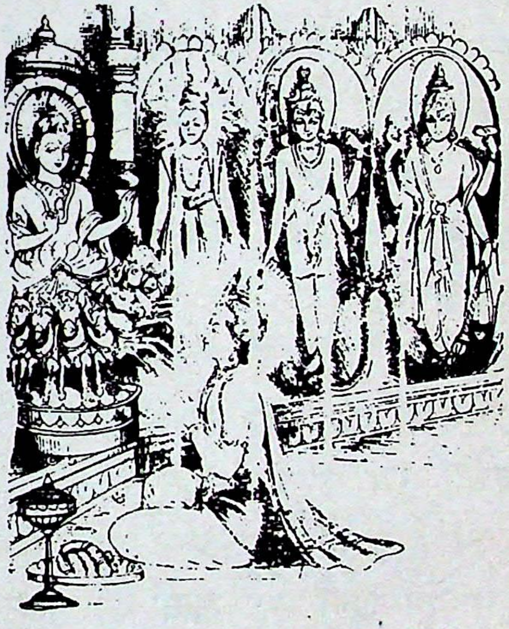

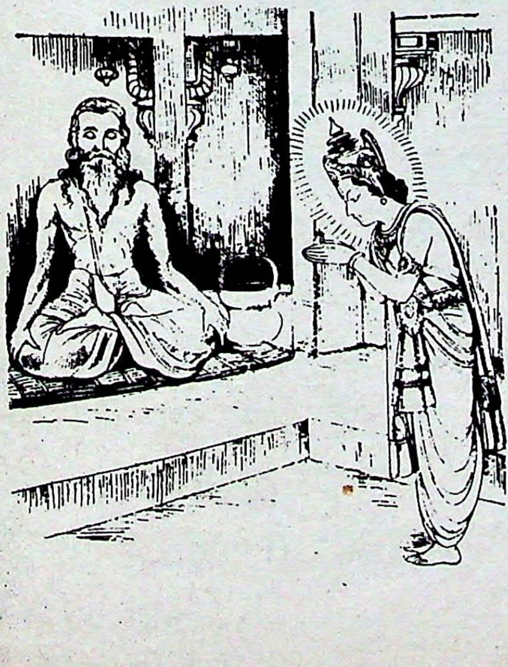

परिजनों को आगे भेजकर पीछे स्वयं श्रीराम भी भाईयों के साथ वसिष्ठजी के निवास स्थान पर गये। मुनिवर वसिष्ठ एकान्त में समाधि लगाये बैठे थे और परमात्मा का चिन्तन करते थे। श्रीराम ने दूर से ही कंधा झुकाकर मुनि को प्रणाम किया। उन्हें प्रणाम करके वे विनययुक्त राजकुमार तब तक उस आँगन में खड़े रहे, जब तक अन्धकार का नाश होकर दिगंगनाओं का मुखमण्डल स्पष्ट दिखायी देने लगा। तदनन्तर अनेक राजा, राजकुमार, ऋषि और ब्राह्मण मौनभाव से वसिष्ठजी के निवास स्थान पर आये। ऐसा लगता था मानो देवता लोग ब्रह्मलोक में एकत्र हो रहे हों। वसिष्ठजी का वह निवास स्थान समागत जन-समुदाय से भर गया और राजाओं के संचरण से राजभवन के समान सुशोभित होने लगा। फिर एक ही क्षण में भगवान् वसिष्ठ समाधि से विरत हुए और अपने चरणों में प्रणत हुए लोगों को उचित आचार एवं उपचार से अनुगृहीत करने लगे। तत्पश्चात् मुनियों और विश्वामित्रजी के साथ श्रीमान् मुनिवर वसिष्ठ उसी प्रकार सहसा रथ पर आरूढ़ हुए, जैसे कमलयोनि ब्रह्मा कमल के आसन पर विराजमान हुए हों। राजा के महल में पहुँचकर उन्होंने नतमस्तक हुई राजा दशरथजी की उस रमणीय सभा में प्रवेश किया। उस समय महावीर राजा दशरथ तुरंत अपने सिंहासन से उठकर मुनि के स्वागतार्थ तीन पग आगे बढ़ आये थे। तदनन्तर वहाँ दशरथ आदि समस्त नरेशों, वसिष्ठ आदि ऋषियों, ब्राह्मणो, सुमन्त्र आदि मन्त्रियों, सौम्य आदि विद्वानों, श्रीराम आदि राजकुमारों, शुभ आदि मन्त्रि पुत्रों, मंत्री आदि प्राकृतियों, सुहोत्र आदि नागरिकों, मालव आदि भृत्यों तथा पौर आदि मालियों ने सभा में प्रवेश किया।

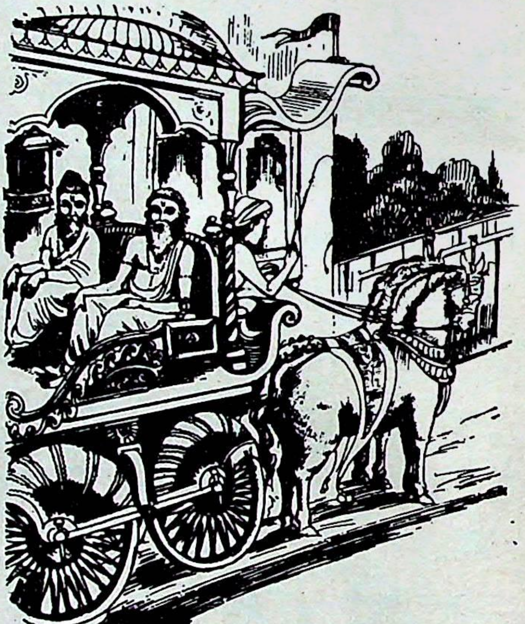

तत्पश्चात जब वे सब-के-सब अपने-अपने आसन पर बैठ गये, उन सबकी दृष्टि वसिष्ठजी के मुख की ओर लग गयी और सभा का कोलाहल शान्त हो गया, तब राजा दशरथ ने मेघ-गर्जन के समान गम्भीर वाणी द्वारा मुनि के उपदेश में विश्वास प्रकट करने वाली पदावलियों से युक्त यह सुन्दर

वचन मुनीश्वर वसिष्ठजी से कहा–'भगवन ! कल आपने जो आनन्ददायिनी विशद वचनावली सुनाई थी, उससे हम लोगों को ऐसा आश्वासन मिला, मानो हमारे ऊपर अमृतराशि की वर्षा हुई हो। जैसे अमृतराशि से पूर्ण चन्द्रमा की निर्मल किरणें अन्धकार को हटाकर अन्तःकरण को शीतल कर देती हैं, उसी प्रकार आप–जैसे महात्माओं के अमृततुल्य मधुर और निर्मल ये उपदेश–वाक्य अज्ञानान्धकार को दूर करके श्रोताओं के अन्तःकरण को परम शान्ति प्रदान करते हैं। जैसे शीत रश्मि शशि की किरणें अन्धकार–राशि को दूर कर देती हैं, उसी तरह सज्जनों के सदुपदेश मन के दुर्विचारों तथा शरीर की सारी दुश्चेष्टाओं को मिटा देते हैं। मुने ! जैसे शरद्‌ऋतु में वर्षा के काले मेघ क्षीण होने लगते हैं, उसी प्रकार हमारे तृष्णा और लोभ आदि दोष, जो संसार में बाँधने के लिये श्रृंखलारूप हैं, आपके उपदेश–वाक्य से क्षीण हो चले हैं। आपके उपदेशरूपी शरद्‌ऋतु से हमारे हृदयाकाश में स्थित संसार–वासना नामक कुहरा अब क्षीण होने लगा है।'

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा–रघुनन्दन ! महामते ! मैंने पूर्वापर–विचार से युक्त जो वाक्यार्थ तुम्हारे समक्ष उपस्थित किया था, क्या तुम्हें उसका स्मरण है ? साधुवाद के एकमात्र भाजन साधुपुरुष ! क्या तुम्हें स्मरण है कि यह जगत् सर्वशक्तिसम्पन्न परब्रह्म परमात्मा से किस प्रकार प्रकट हुआ है ? श्रीराम ! बारंबार विचारपूर्वक हृदय में दृढ़तापूर्वक स्थापित किया हुआ तत्त्वज्ञान मनुष्य को मोक्षरूपी सिद्धि देता है; किंतु जिसने उपदेश से प्राप्त हुए तत्त्वचिन्तन को अवहेलनावश नष्ट कर दिया–भुला दिया, उस मनुष्य को उससे मोक्षरूपी फल नहीं प्राप्त होता। रघुनन्दन ! जैसे विशाल वक्षःस्थल वाला धनवान् पुरुष अपने कण्ठ में उत्तम जाति के मोतियों की माला धारण करने का अधिकारी होता है, उसी प्रकार जिसका हृदय विवेक से सम्पन्न है, वह तुम्हारे–जैसा पुरुष ही सुविचारित एवं विशुद्ध उपदेश–वचनों का योग्य पात्र होता है।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा–भगवन् ! सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता मुनीश्वर ! मैं परम उदार होकर जो आपके उपदेश को समझ सका हूँ, यह आपके ही प्रभाव का विस्तार है। आप मेरे लिये जो–जो आदेश देते हैं, वह सब मैं उसी रूप में ग्रहण करता हूँ, उसके विपरीत कुछ नहीं करता। उदार हृदय महर्षे ! आपने पहले जो मनोहर, पुण्यमय और पवित्र उपदेश दिया है, वह सब मैंने अपने

अन्तःकरण में क्रमशः धारण कर लिया है-ठीक उसी तरह, जैसे कोई सुन्दर और पवित्र रत्न समूह को माला के रूप में गूँथ कर अपने कण्ठ में धारण कर ले। आपका अनुशासन हितकारक, मनोरम, पुण्यदायक और परमानन्द-प्राप्ति का साधन है। भला, कौन ऐसे सिद्ध पुरुष हैं, जो इसे शिरोधार्य नहीं करेंगे। आपका यह पवित्र उपदेश पहले श्रवणकाल में ही परम मधुर लगता है, फिर मध्यकाल में-मनन और निदिध्यासन के समय शम आदि के सौभाग्य की वृद्धि करता है तथा अन्त में परम उत्तम मोक्षरूपी फल की प्राप्ति करने वाला होता है। आपका उपदेश कल्पवृक्ष के पुष्प की भाँति सदा विकास युक्त, उज्ज्वल, अम्लान, शुभ और अशुभ-देव-दानव, सभी को आनन्दमय बना देने वाला और अक्षय शोभा से सम्पन्न है। यह हम सब लोगों को अभीष्ट फल देने वाला हो। भगवन् ! आप सम्पूर्ण शास्त्रों के विचार में विशारद हैं। विस्तृत पुण्यरूपी जलराशि के एकमात्र महान् सरोवर हैं। महान् व्रतधारी और पाप-ताप से रहित हैं। इस समय मेरे प्रति आप पुनः अपनी उपदेश-वाणी के प्रवाह का प्रसार कीजिये-सदुपदेशरूपी अमृत का निर्झर बहाइये।

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

संसाररूपा माया का मिथ्यात्व

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-परम सुन्दर आकृति वाले रघुनन्दन ! अब तुम सावधान होकर इस उपशम-प्रकरण-को सुनो, जो उत्तम सिद्धान्तों के कारण सुन्दर और मोक्षप्रद होने के कारण हितकारक है। रघुनन्दन ! पहले शास्त्र के अभ्यास से, उत्तम वैराग्य से तथा सत्पुरुषों के संग से मन को पवित्र करना चाहिये। सौजन्य से युक्त चित्त जब वैराग्य को प्राप्त हो जाय, तब शास्त्रों के ज्ञान-विज्ञान से गौरवशाली गुरुजनों का अनुसरण करना चाहिये। फिर गुरुदेव के बताये हुए मार्ग से पहले सगुण परमेश्वर का ध्यान-पूजन आदि करे। यों करने से साधक उस परम पावन परमात्मपद को प्राप्त होता है। अपने अन्तःकरण में निर्मल विचार के द्वारा स्वयं ही आत्मा का साक्षात्कार करे। मनुष्य तब तक संसाररूपी महासागर में तिनके के समान बहता रहता है, जब तक वह बुद्धि रूपी नौका द्वारा विचाररूपी तटपर पहुँचकर स्थिर नहीं हो जाता। जिसने

विवेक-विचार के द्वारा जानने योग्य वस्तु को जान लिया है, उस पुरुष की बुद्धि उसकी सारी मानसिक चिन्ताओं को उसी तरह शान्त कर देती है, जैसे सुस्थिर जल बालू के कणों को नीचे दबा देता है। जैसे सुवर्ण का ज्ञान रखने वाला सुनार राख में पड़े हुए सोने को 'यह सोना है, यह राख है' इस तरह साफ-साफ समझ लेता है, अतः उसे सुवर्ण की अप्राप्ति के कारण होने वाला मोह नहीं सताता, उसी तरह यह जीव चिरकाल तक विचार द्वारा अपने स्वरूप का परिज्ञान कर लेने पर स्वतः अपने अविनाशीस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस दशा में उसके लिये यहाँ मोह का अवसर ही कहाँ रह जाता है। जिस पुरुष ने तत्व का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, उसका मन यदि मोहग्रस्त होता है तो हो। किंतु जिस सारतत्व का यथार्थ ज्ञान हो चुका है, उसमें तो मूढ़ता की सम्भावना ही नहीं है-यह बात निश्चितरूप से कही जा सकती है। जगत् के लोगो ! जिसका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, वह आत्मा ही तुम्हारे दुःखों की सिद्धि का कारण है। यदि उसका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो वह तुम्हें अक्षय सुख एवं शान्ति दे सकता है। मनुष्यो ! जिसने आत्मा पर आवरण डाल रक्खा है, ऐसे इस शरीर से मिले-जुले हुए-से अपने आत्मा का विवेक द्वारा साक्षात्कार करके तुम लोग शीघ्र स्वस्थ हो जाओ। मानवो ! जैसे कीचड़ में गिरे होने पर भी सोने का उस कीचड़ के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार इस निर्मल आत्मा का देह के साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध नहीं है। प्रबुद्ध हुआ मन जब अपनी पारमार्थिक स्थिति को मिथ्याभूत प्रपंच से पृथक् करके देखता है, तब हृदय का अज्ञानान्धकार उसी प्रकार भाग जाता है, जैसे सूर्योदय होने पर रात्रि का अँधेरा दूर हो जाता है।

जैसे धूल से आकाश और जल से कमल लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीरों से सम्बन्ध होने पर भी आत्मा उनसे लिप्त नहीं होता। जैसे नेत्रदोष के कारण आकाश में बिन्दुओं के समान आकृति वाले तिरमिरे दिखायी देते हैं और आकाश के निर्मल होने पर भी उसमें मलिनता की प्रतीति होती है, उसी प्रकार आत्मा में सुख-दुःख का अनुभव मलिन बुद्धि-वृत्तिरूप अज्ञान के कारण ही होता है। सुख और दुःख न तो जड़ देह के धर्म हैं और न सर्वातीत विशुद्ध आत्मा के। ये अज्ञान के कारण ही अज्ञानी के अनुभव में आते हैं और यथार्थ ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश हो जाने पर किसी के भी अनुभव में नहीं आते।

रघुनन्दन ! वास्तव में न तो किसी को कुछ सुख है और न किसी को कुछ दुःख ही है। सबको शान्त, अनन्त आत्मस्वरूप ही देखो। ये जो विस्तृत सृष्टियों के दर्शन होते हैं, इन्हें जल में तरंगों और आकाश में मोरपंखों के समान आत्मा में ही देखना चाहिये। अर्थात् जैसे जल ही तरंगरूप में दीखता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत् के रूप में दृष्टिगोचर होता है तथा जैसे नेत्रों के दोष से मनुष्य को आकाश में मयूर-पुच्छ-सा दिखाई देता है, पर वास्तव में वह वहाँ होता नहीं, उसी प्रकार यह संसार वस्तुतः न होनेपर भी अज्ञान के कारण परमात्मा में दीखता है। सच्ची बात तो यह है कि एकमात्र ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

शुद्ध बुद्धि वाले रघुनन्दन ! आत्मा और जगत् न तो एक हैं और न अनेक ही हैं; क्योंकि जगत् है अर्थात् ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई वस्तु न होने से द्वैत भी नहीं है तथा ब्रह्म से संसार पृथक् दीखता है, इसलिये एक भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में अज्ञान के कारण अज्ञानी को बिना हुए ही यह संसार प्रतीत हो रहा है। निष्पाप श्रीराम ! यह सब निश्चय ही ब्रह्म है इस प्रकार सब परमात्मा ही है। वही सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। मैं पृथक् हूँ और यह जगत् मुझसे पृथक् है, इस भ्रमपूर्ण कल्पना का परित्याग करो। जैसे अग्नि में हिमकण की कल्पना नहीं हो सकती, उसी प्रकार एक-मात्र अद्वितीय सर्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्म तत्त्व में उससे भिन्न दूसरी वस्तु की कल्पना ही नहीं हो सकती। रघुनन्दन ! इस परमात्मा में न शोक है न मोह है, न जन्म है और न कोई जन्म लेने वाला ही है। यहाँ जो है, वही है-ऐसा निश्चय करके तुम दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों से रहित, नित्य सत्त्व में स्थित, योग क्षेमरहित, अद्वितीय, शोकशून्य और संतापहीन हो जाओ। परम सुन्दर श्रीराम ! इस समस्त विस्तृत संसार की रचना असत्यरूप है। इसकी असत्यता को जानने वाला तत्त्व ज्ञानी पुरुष इस मिथ्याभूत प्रपंच के पीछे नहीं दौड़ता। तुम तत्त्वज्ञ हो। तुम्हारी कल्पनाएँ शान्त हैं। तुम रोग-दोष से रहित हो और नित्य प्रकाश स्वरूप हो; अतः शोक-शून्य हो जाओ। अपने समस्त गुणों से राजाओं तथा प्रजाजनों को आनन्दित करते हुए तुम इस भूतल पर पिता के दिये हुए इस एकच्छत्र राज्य का चिरकाल तक सर्वत्र समतापूर्ण दृष्टि के द्वारा भली भाँति पालन करते रहो। यहाँ कर्मों का न तो त्याग उचित है और न उनमें राग होना

ही उचित है।

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

कर्तव्य-बुद्धि से अनासक्त एवं सम रहकर कर्म करने की प्रेरणा

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम! मैं श्रुति, स्मृति और सदाचार से युक्त समस्त व्यवहार को वासनाशून्य होकर करता हूँ इस प्रकार जो पुरुष कर्तव्य-बुद्धि से कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह मुक्त है। ऐसी मेरी मान्यता है। मानव शरीर का आश्रय लेकर भी कोई मूढ़ पुरुष सकामभाव से कर्मों में रत हैं, इसलिये वे स्वर्ग से नरक में और नरक से पुनः स्वर्ग में आते जाते रहते हैं। कुछ लोग न करने योग्य कर्मों में आसक्त हैं और करने योग्य कर्तव्य से विरत हैं; ऐसे पुरुष मरकर नरक से नरक को, दुःखसे दुःख को और भय से भय को प्राप्त होते रहते हैं। उनमें से कितने ही जीव अपने वासनारूप तन्तुओं से बँधे रहकर उपर्युक्त कर्मों के फल भोगते हुए तिर्यग् योनि को आते-जाते रहते हैं। कोई-कोई ही मन के साक्षी आत्मा का विचार के द्वारा अनुभव करके तृष्णा रूपी बन्धक को तोड़कर परम कैवल्यरूप पद को प्राप्त होते हैं। ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष धन्य हैं। ऐसे पुरुषों का श्रेष्ठता, मनोरमता,मैत्री, सौम्यभाव, करुणा और ज्ञान आदि सद्गुण सदा ही आश्रय लेते हैं।

श्रीराम! विदेह देश में जनक नाम से प्रसिद्ध एक पराक्रमी राजा राज्य करते थे, जिनकी सारी आपत्तियाँ नष्ट हो चुकी थीं और सम्पत्तियाँ दिनों-दिन बढ़ रही थीं। उनका हृदय बड़ा उदार था। वे याचक-समूहों के लिये कल्पवृक्ष थे। बन्धु-बान्धवरूपी फूलों के विकास के लिये ऋतुराज बसन्त के तुल्य थे, ब्राह्मणरूपी कुमुदों के लिये शीतरश्मि चन्द्रमा थे और भगवान् विष्णु के समान प्रजावर्ग के पालन में तत्पर रहने वाले थे। एक दिन की बात है, वे बसन्त ऋतु में खिले हुए पुष्पों से सुशोभित रमणीय उपवन में गये। उस मनोरम उद्यान में अनुचरों को दूर रखकर राजा पर्वत शिखर पर उगे हुए कुंजों में विचरण करने लगे। वहाँ किसी तमाल-वन के निकुंज में कुछ सिद्ध पुरुष बैठे हुए थे, जो दूसरों को दिखायी नहीं देते थे। पर्वतों और उनकी कन्दराओं में विचरने वाले वे सिद्ध सदा एकान्त स्थान में निवास करते थे। उनके मुख से कुछ ऐसे उपदेशात्मक गीत निकले, जो श्रोता के हृदय में परमात्मभाव को जगाने वाले

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।। तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

थे। राजा ने उन गीतों को सुना, मानो वे उन्हीं पर अनुग्रह करने के लिये गाये गये थे। उन गीतों के भाव क्रमशः इस प्रकार हैं-

कुछ सिद्ध बोले-द्रष्टा का नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा जो दृश्य-विषय के साथ संयोग होता है, उससे जो विषयसुख की प्रतीति होती है, उसके द्वारा बुद्धि वृत्ति में स्वयं सहज आनन्द रूप से जो निश्चय प्रकट होता है, वही जिसका स्वभाव है तथा जो आत्मतत्त्व के परिशोध से निरतिशय भूमारूप में अविर्भूत हुआ है, उस विशुद्ध आत्मा या परमात्मा की हम निश्चय समाधि के द्वारा उपासना करते हैं।

दूसरे सिद्ध बोले-वासना सहित द्रष्टा, दर्शन और दृश्य की त्रिपुटी को त्याग देने पर जो विशुद्ध दर्शन या ज्ञान के रूप में प्रकाशित होता है, उस विशुद्ध आत्मा की हम उपासना करते हैं।

अन्य सिद्धों ने कहा-अस्ति और नास्ति-इन दोनों पक्षों के बीच में उनके साक्षीरूप से जो सदा विद्यमान है, प्रकाशनीय वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले उन परमात्मा की हम उपसना करते हैं।

दूसरे सिद्ध बोले-जिसमें सब है, जिसका सब है, जिससे सब है, जिसके लिये यह सब है, जिसके द्वारा सब है तथा जो स्वयं ही सब कुछ है, उस परमसत्य आत्मा की हम उपासना करते हैं।

अन्य सिद्धों ने कहा-जो आकार से लेकर हकार तक समस्त वर्णों के रूप में स्थित हो निरन्तर उच्चरित हो रहा है, अपने आत्मरूप उस परमात्मा की हम उपासना करते हैं।

दूसरे सिद्ध बोले-जो हृदयगुफा में विराजमान दीप्तिमान् परमेश्वर को छोड़कर दूसरे का आश्रय लेते हैं, वे हाथ में आये हुए कौस्तुभ मणि को त्याग कर दूसरे तुच्छ रत्नों की इच्छा करते हैं।

अन्य सिद्धों ने कहा-सम्पूर्ण आशाओं का त्याग करने पर हृदय में स्थित ज्ञान का फलरूप यह ब्रह्म प्राप्त होता है, जिससे आशारूप विष-वल्लरी की मूल-परम्परा ही कट जाती है।

दूसरे सिद्ध बोले-जो दुर्बुद्धि पुरुष भोग्य पदार्थों की अत्यन्त नीरसता को जानकर भी उनमें बारंबार अपने मन की भावना को बाँधता है, वह मनुष्य नहीं, गदहा है।

अन्य सिद्धों ने कहा–जैसे इन्द्र ने वज्र के द्वारा पर्वतों को मारा था, उसी प्रकार बारंबार उठने और गिरने वाले इन इन्द्रियरूपी सर्पों पर विवेकरूपी डंडे से प्रहार करना चाहिये।

दूसरे सिद्ध बोले–उपशम या शान्ति के पवित्र सुख को प्राप्त करना चाहिये; जो उत्तम शम (मनोनिग्रह) से सम्पन्न है, उस पुरुष का विशुद्ध चित्त ही शान्ति को प्राप्त होता है। जिसका चित्त शान्त हो गया है, उसी को अपने परमानन्दमय स्वरूप में दीर्घकाल के लिये उत्तम स्थिति प्राप्त होती है।

चौथा सर्ग समाप्त

↔

पांचवां सर्ग

राजा जनक द्वारा अपने आन्तरिक उद्‌गार को प्रकट करना

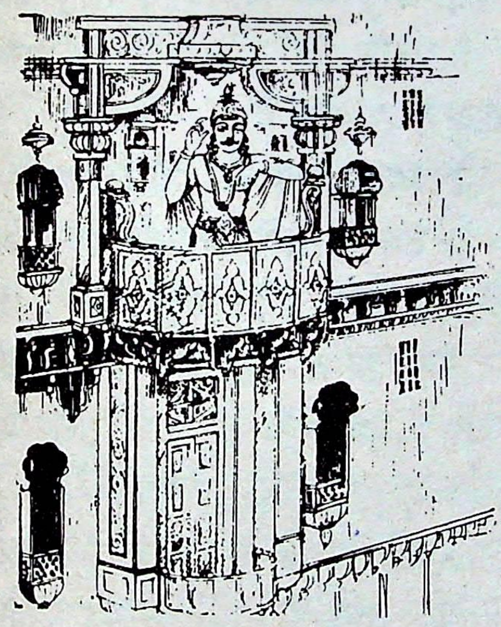

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! उन सिद्धगणों के मुख से निकले हुए उन उपदेशात्मक गीतों (वचनों) को सुनकर राजा शीघ्र ही निर्वेद को प्राप्त हो गये। वे अपने साथ के सब लोगों को घर की ओर खींचते हुए उस उपवन से चले और समस्त परिवार को अपने-अपने स्थान पर छोड़कर अकेले ही अपने ऊँचे महल पर चढ़ गये। वहाँ लोक की वर्तमान अवस्थाओं का अवलोकन करते हुए वे व्याकुल हो इस प्रकार अपना उद्‌गार प्रकट करने लगे–'हाय! बड़े दुःख की बात है कि जन्म, जरा, रोग और मरण आदि के कारण समस्त लोकों की जो अत्यन्त कष्टप्रद चंचल दशाएँ हैं, उन्हीं में मैं बलपूर्वक लोट-पोट रहा हूँ–आवागमन के चक्कर में पड़ा हुआ हूँ। जिस काल का कभी अन्त नहीं होता, उसका एक अत्यन्त अल्पतम अंश मेरा जीवन है। उस क्षणिक जीवन में मैं आसक्त हो रहा हूँ, अपने मन को बाँधे रखता हूँ। केवल जीवन काल तक रहने वाला मेरा यह राज्य कितना है ? कुछ भी तो नहीं है ! परंतु इतने से ही संतुष्ट होकर मैं मूर्ख मनुष्य के समान क्यों निश्चिन्त बैठा हूँ ? मुझे अपनी इस मूढ़ता पर दुःख क्यों नहीं होता ? इस जगत् में ऐसी कोई वस्तु

है ही नहीं, जो सत्य हो, रमणीय हो, उदार हो और किसी से उत्पन्न न होकर नित्य निर्विकाररूप से स्थित हो। फिर मेरी बुद्धि यहाँ किसमें लगे ? कहाँ शान्ति प्राप्त करे ? जो वस्तु दूरस्थ कही जाती है, वह भी वास्तव में दूर नहीं है; क्योंकि वह मेरे मन में वर्तमान है। ऐसा निश्चय करके मैं बाह्य पदार्थों की भावना का त्याग कर रहा हूँ। प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन और प्रतिक्षण जो दुःख से भरे हुए सांसारिक सुख बारंबार उपलब्ध होते हैं, वे वास्तव में दुःख रूप ही हैं। आज जो बड़े-बड़े लोगों के सिरमौर बने हुए हैं, वे ही कुछ दिनों में नीचे गिर जाते हैं। ऐ मेरे अभागे चित्त ! फिर इस जगत् की महत्ता में तुम्हारा यह कैसा विश्वास है ? यद्यपि मैं बुद्धिमान् हूँ, तो भी जैसे सूर्यदेव के समक्ष उनके प्रकाश को ढक लेने वाला काला मेघ आ जाता है, उसी प्रकार मेरे सामने यह आत्मा के प्रकाश को छिपा देनेवाला मोह सहसा कहाँ से आ गया ? ये महान् भोग मेरे कौन हैं ? ये भाई-बन्धु भी मेरे कौन हैं ? जैसे बालक मिथ्या ही भूत के भय से व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार मैं इनमें ममतारूपी झूठे सम्बन्ध की कल्पना करके व्याकुल हो रहा हूँ।

मैं इन भोगों और सम्बन्धियों में स्वयं ही यह आस्था क्यों बाँध रहा हूँ ? यह आस्था तो जरा और मृत्यु की सहेली है-उनकी प्राप्ति कराने वाली है। साथ ही सदा उद्वेग में डाले रखने वाली है। यह भोगों और बन्धु-बन्धवों की सम्पत्ति चली जाय या भलीभाँति स्थिर होकर रहे, इसके प्रति मेरा क्या आग्रह है ? जल में उठने वाले बुदबुदे की शोभा जैसे मिथ्या होती है, उसी तरह यह भोग आदि सम्पत्ति, जो इस रूप में उपस्थित हुई है, मिथ्या ही है। प्राचीन नरेशों के वे महान् वैभव, वे भोग और वे अच्छे-अच्छे स्नेही बन्धु-बान्धव आज कहाँ हैं ? वे सब इस समय स्मृतिपथ को प्राप्त हो गये हैं-अब उनका केवल स्मरणमात्र यहाँ शेष रह गया है। वे स्वरूपतः विद्यमान नहीं हैं। इस दृष्टान्त को सामने रखते हुए वर्तमान भोग आदि सम्पत्ति पर भी क्या आस्था हो सकती है ? पूर्ववर्ती भूमिपालों के वे धन कहाँ हैं? पूर्वकल्पों में ब्रह्माजी ने जिनकी सृष्टि की थी, वे जगत् कहाँ चले गये ? जब पहले का सब कुछ नष्ट हो गया, तब आज के इन वैभव भोगों पर मेरा यह कैसा विश्वास है ? जैसे जल में अनन्त बुद्बुदे उठते और विलीन होते हैं,उसी तरह लाखों इन्द्र काल के गाल में चले गये तो भी मैं इस जीवन में आस्था बाँधे बैठा हूँ! साधु पुरुष

मेरी इस मूढ़ता पर हँसेंगे। करोड़ों ब्रह्मा चले गये। कितनी ही सृष्टि परम्पराएँ आयीं और चली गयीं। असंख्य भूपाल धूल के समान उड़ गये। फिर मेरे इस तुच्छ जीवन पर क्या आस्था हो सकती है ? यह, वह और मैं यह तीन प्रकार की कल्पना असत्यरूप ही है अहंकाररूपी पिशाच से ग्रस्त हुए मनुष्य की भाँति मैं क्यों अब तक मूर्ख के समान विचारशून्य होकर बैठा रहा ? मैं इस व्याप्त हुई काल की सूक्ष्म रेखा से प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली अपनी आयु को देखता हुआ भी नहीं देखता! यद्यपि दिन-पर-दिन निरन्तर अब भी आते-जाते रहते हैं; फिर भी आज तक एक दिन भी ऐसा नहीं देखा, जिसमें मुझे नित्य एक सत्य परमात्म वस्तु का साक्षात्कार हुआ हो। मैं कष्ट से भी अत्यन्त कष्ट को प्राप्त हुआ, एक दुःख से दूसरे महान् दुःख में फँसता गया; परंतु आज भी इस जगत् के भोगों से विरक्त नहीं हुआ। जिन-जिन सुन्दर वस्तुओं में मैंने दृढ़ता पूर्वक स्नेह बाँधा, वे सब-की-सब नष्ट होती दिखायी दीं। फिर इस संसार में उत्तम वस्तु क्या है ? मनुष्य जगत् के जिन-जिन पदार्थों में आस्था बाँधता है-विश्वास करता है, उन-उन पदार्थों में उस मनुष्य के दुःख का प्रादुर्भाव बारंबार देखा गया है। मूढ़ मनुष्य बाल्यावस्था में एकमात्र अज्ञान से पीड़ित रहता है, युवावस्था में कामदेव के बाणों से घायल रहता है तथा अन्तिम अवस्था में स्त्री आदि कुटुम्ब के पालन पोषण की चिन्ता से जलता रहता है। भला, अपने उद्धार का साधन वह कब करे ? दुर्बुद्धि पुरुष इस उत्पत्ति विनाशशील, रसहीन, विषम दुर्दशाओं से दूषित तथा असार संसार में क्या सार वस्तु देख रहा है ? कोई सामर्थ्यशाली पुरुष राजसूय और अश्वमेध आदि सैकड़ों यज्ञों का अनुष्ठान करके भी अधिक-से-अधिक महाकल्पपर्यन्त उपभोग में आने वाले स्वर्ग को ही पाता है, जो महाकाल की दृष्टि से उसका एक अत्यन्त अल्पतम अंश है। स्वर्ग से अधिक जो अनन्त, नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म है उसकी प्राप्ति उसे नहीं होती है। कौन-सा वह स्वर्ग है और इस पृथ्वी पर या पाताल में कौन-सा ऐसा प्रदेश है, जहाँ दुष्ट भ्रमरियों की भाँति ये आपत्तियाँ जीव को अभिभूत नहीं करतीं। ये मानसी व्यथाएँ अपने ही चित्तरूपी बिल में रहने वाले सर्प हैं और ये व्याधियाँ शरीररूपी स्थल के खुदे हुए क्षुद्र जलाशय हैं। इनका निवारण कैसे किया जा सकता है।

'सत् के सिर पर असत्ता बैठी है। रमणीय पदार्थों के मस्तक पर

अरम्यता विराज रही है और सुखों के माथे पर दुःख चढ़े हुए हैं। भला, इनमें कौन-सी ऐसी एकमात्र सत्य वस्तु है, जिसका मैं आश्रय लूँ ? अज्ञान से मोहित क्षुद्र प्राणी जन्म लेते और मरते हैं। यह पृथ्वी उन्हीं लोगों से ठसाठस भरी है। जो साधुओं से भी बढ़कर साधु हैं, ऐसे महापुरुष इस संसार में दुर्लभ हैं। नीलकमल के समान मनोहर और भ्रमर के समान चंचल नेत्र वाली जो उत्कृष्ट प्रेम से विभूषित विलासिनी वनिताएँ हैं, वे भी क्षणभंगुर होने के कारण उपहास के ही योग्य हैं। संसार में रमणीय से भी रमणीय और सुस्थिर से सुस्थिर पदार्थ हैं, किन्तु यह सारी पदार्थ-सम्पत्ति अन्ततोगत्वा चिन्ता और दुःख का ही कारण होती है। फिर तुम उसकी इच्छा क्यों करते हो ? ये स्त्री, धन और ग्रह आदि विचित्र सम्पत्तियाँ यदि चित्त से आदरणीय हों तो वे भी बहुत प्रयत्नों से प्राप्त करने योग्य, दुःख से रक्षणीय तथा अवश्य विनाशशील होने के कारण महाविपत्तिरूप ही हैं-ऐसा मेरा मत है। किन्तु यदि धन, सम्पत्ति और बन्धुजनों से वियोगरूप आपत्तियाँ भी साधुसंग, तपस्या और ज्ञान आदि की प्राप्ति करा देने के कारण विचित्र एवं कल्याणकारिणी हैं-ऐसा मन में विश्वास हो जाय तो वे भी विवेक-वैराग्य आदि महान् आरम्भों से युक्त सम्पत्तियाँ ही हैं-ऐसा मैं मानता हूँ। समुद्र में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की भाँति क्षणभंगुर, मिथ्यारूप, एकमात्र मन का परिणामस्वरूप जो यह जगत् है, इसमें 'यह मेरा है' यह अपूर्व पद-वाक्यरूप अक्षरमाला कहाँ से आयी ? अर्थात् इसमें ममता करना व्यर्थ है। अग्नि की शिखाओं में आसक्त हुए पतिंगों की भाँति मैं देश, काल और वस्तु से सीमित तथा त्रिविध तापों से संतप्त किन सुखनामक दृष्टियों में अनुरक्त हो रहा हूँ ? निरन्तर दग्ध करने वाली रौरव नरक की आग में लोटना अच्छा है, परंतु सुख-दुःख के परिवर्तन से युक्त विषयभोगरूप संसार में रहना अच्छा नहीं। संसार ही समस्त दुःखों की चरम सीमा कहलाता है। उसके भीतर पड़े हुए शरीर में सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है। जो बाह्य आकार मात्र से रमणीय प्रतीत होने वाली किन्तु विनाश की प्राप्ति कराने वाली हैं, मनरूपी बंदर की उन चपलतारूप वृत्तियों का अनुभव हो जाने पर मैं आज से ही इनमें रमण नहीं करूँगा। जो सैकड़ों आशारूपी पाशों से ओतप्रोत तथा अधोगति, ऊर्ध्वगति एवं संताप को देनेवाली हैं, उन संसार की वृत्तियों को मैंने बहुत भोग लिया। अब मैं इनसे विश्राम लेता हूँ। मैं प्रबुद्ध हूँ तथा हर्ष एवं उत्साह से

भरपूर हूँ। अपने पारमार्थिक धन को चुराने वाले मन नामक चोर को मैंने देख लिया है। अतः अब इसे मैं मारे डालता हूँ; क्योंकि इस मन ने चिरकाल से मुझे मारा है–मेरा पतन कराया है। जैसे सूर्य की धूप से ओस या पाले के कण गल जाते हैं, उसी तरह मेरा मन यथार्थ ज्ञान द्वारा ब्रह्मतत्त्व में नित्य-निरन्तर स्थिति प्राप्त करने के लिये बहुत शीघ्र लय को प्राप्त होगा। सिद्ध महापुरुषों ने नाना प्रकार के उपदेशों द्वारा मुझे अच्छी तरह बोध करा दिया है। अब मैं परमानन्दस्वरूप परमात्मा में प्रवेश कर रहा हूँ। परमात्मारूपी मणि को पाकर एकान्त में उसी को देखता हुआ मैं अन्य सारी इच्छाओं को शान्त करके सुख पूर्वक स्थित होऊँगा। 'यह देह मैं हूँ, यह विस्तृत धन-राज्य आदि मेरा है; इस प्रकार अन्तःकरण में स्फुरित हुए असत्यरूप का यर्थाथ ज्ञान के द्वारा नाश करके अत्यन्त बलशाली मनरूपी शत्रु को ध्यान के अभ्यास से अच्छी तरह मारकर मैं अतिशय शान्ति को प्राप्त हो रहा हूँ।'

पाँचवां सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

राजा जनक द्वारा संसार की स्थिति पर विचार

श्रीवसिष्ठजी बोले–रघुनन्दन! राजा जनक जब इस प्रकार चिन्तन कर रहे थे, उस समय प्रतिहार ने उनके पास जाकर नैत्यिक कार्य करने के निमित्त उठने के लिये अनुरोध किया; परंतु राजा पूर्ववत् संसार की विचित्र स्थिति में ही विचार करते रहे।

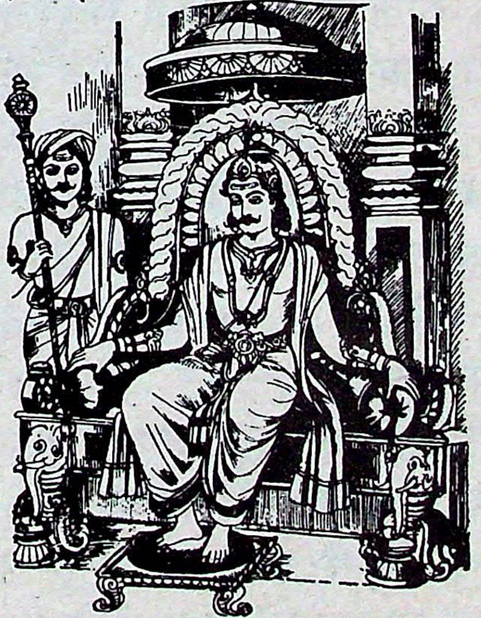

राजा बोले–जो सुखरूप में स्थित है, यह राज्य कितने दिन का है ? मुझे यहाँ इस क्षणभंगुर राज्य से कोई प्रयोजन नहीं है। यह सभी माया का मिथ्या आडम्बर है। मैं इसका त्याग करके प्रशान्त महासागर की भाँति शान्त रहकर एकान्त में ही स्थित रहूँगा। ऐ मेरे चित्त ! बारंबार भोगों के आस्वादन में जो वेगपूर्वक तेरी प्रवृत्ति हो रही है, यह बड़ी घृणित है। इससे तू दूर हो जा। तेरी जो भोग भोगने की चतुरता है, उसे जन्म, जरा एवं जड़ता के

समूहरूपी कीचड़ की शान्ति के लिये त्याग दे। चित्त! तू जिन-जिन अवस्थाओं में भ्रमवश सुख देखता है, उन्हीं से तुझे महान् दुःख की प्राप्ति होगी। इसलिये इस तुच्छ भोग-चिन्तन से कोई लाभ नहीं है।

ऐसा विचार करके राजा जनक मौन हो गये। उनके चित्त की चपलता शान्त हो चुकी थी। इसलिये वे चित्रलिखित पुरुष की भाँति अचल भाव से स्थित हो गये और पुनः इस प्रकार विचार करने लगे-'मुझे कोई भी क्रिया करने से क्या प्रयोजन है और कुछ न करके निष्क्रिय होकर बैठ रहने से भी क्या मतलब है ? इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उत्पन्न होकर विनाश को न प्राप्त हो मिथ्यारूप से प्रकट हुआ यह शरीर कर्म करे या निष्क्रिय होकर बैठ रहे, सर्वत्र समान भाव से स्थित हुए मुझ विशुद्ध चेतन की इससे क्या क्षति होने वाली है ? मैं न तो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता हूँ और न प्राप्त वस्तु का त्याग ही। मेरा इस जगत् में न तो कुछ करने से प्रयोजन है और न न करने से ही। करने या न करने से जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह सब असन्मय-विनाशशील ही है। इसलिये यह शरीर उठकर क्रमशः प्राप्त हुए कर्तव्य का पालन करे। यह निश्चेष्ट होकर क्यों सूख रहा है ?'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! ऐसा विचार करके वे राजा जनक अनासक्त भाव से न्यायतः प्राप्त हुए कर्तव्य कर्म का सम्पादन करने के लिये उठे। उन्होंने श्रेष्ठ पुरुषों के समादर पूर्वक उस दिन का सारा कार्य भलीभाँति पूर्ण करके उसी ध्यानरूप विनोद से अकेले ही रात बितायी। जब रात बीतने लगी, तब विषय-भ्रम से रहित मन को एकाग्र करके उन्होंने अपने चित्त को इस प्रकार समझाना आरम्भ किया-'ऐ मेरे चंचल चित्त ! यह संसार आत्मा के सुख का साधन नहीं है। तुम शम का आश्रय लो। शम से शान्त सारभूत आत्मसुख की प्राप्ति होती है। जैसे-जैसे तुम विविध विकल्पों का संकल्प करते हो, वैसे-ही-वैसे तुम्हारे विषय चिन्तन से यह संसार अनायास ही वृद्धि को प्राप्त होता है। दुष्ट मन ! जैसे वृक्ष को सींचने से उसमें सैंकड़ों शाखाएँ निकल आती हैं, उसी प्रकार तुम भी विषयभोग की इच्छा करने से अनन्त आन्तरिक व्यथाओं से युक्त हो जाते हो। जन्म तथा संसार की सृष्टियाँ विषय-चिन्ताओं के विलास से ही प्रकट हुई हैं; इसलिये तुम नाना प्रकार की चिन्ताओं का त्याग करके उपशम को प्राप्त होओ-संसार से उपरत हो जाओ। सुन्दर चित्त! इस

चंचल संसार सृष्टि को और शान्ति के सुख को विचार की तराजू में रखकर तौलो। यदि तुम्हें संसार की सृष्टि में ही सार प्रतीत हो तो इसी का आश्रय लो; नहीं तो शान्तस्वरूप ब्रह्म में स्थित हो जाओ। मेरे अच्छे मन ! पहले से अविद्यमान यह दृश्य-प्रपंच उत्पन्न हो जाय अथवा यह वर्तमान दृश्य नष्ट हो जाय, तुम इसके गुणों और अवगुणों से-उदय और नाश से हर्ष-विषादरूप विषमता को न प्राप्त होओ। इस दृश्य वस्तु संसार के साथ तुम्हारा थोड़ा सा भी सम्बन्ध नहीं है। इसका रूप है ही नहीं। ऐसे मिथ्या दृश्य वस्तु संसार के साथ तुम्हारा थोड़ा-सा भी सम्बन्ध नहीं है। इसका रूप है ही नहीं। ऐसे मिथ्या दृश्य जगत् से तुम्हारा इस तरह का सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है। सुन्दर चित्त ! यदि यह दृश्य जगत् असत् है और तुम सत्य हो तो तुम्हीं बतलाओ, सत् और असत् में, जीवित और मृत में कैसे सम्बन्ध स्थापित हो सकता है ? चित्त ! यदि तुम और दृश्य जगत् दोनों ही सत् हो और सदा साथ रहने वाले हो, तब तुम्हारे लिये हर्ष और विषाद का अवसर ही कहाँ है ? इसलिये इस विशाल आन्तरिक व्यथा का त्याग करो। आत्मानन्द को जो मौन होकर सो रहा है, विवेक-वैराग्य से जगाओ और इस अमंगलमयी स्थिति चंचलता को छोड़ो। अरे शठ चित्त ! जड़ दृश्यरूप इस संसार में ऐसी कोई उन्नत और उत्तम वस्तु नहीं है, जिसकी प्राप्ति होने से तुम्हें परम परिपूर्णता प्राप्त हो जाय। इसलिये अभ्यास और वैराग्य के बल से अत्यन्त धीरता का आश्रय ले चंचलता को त्याग दो।'

छठा सर्ग समाप्त

↔

सातवां सर्ग

स्थिति तथा विशुद्ध विचार एवं प्रज्ञा के अद्भुत माहात्म्य का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन! उस समय इस प्रकार विचार करके धीरबुद्धि राजा जनक अपने राज्य के सारे काम-काज सँभालने लगे। फिर उन्हें मोह नहीं हुआ उनका मन कहीं हर्ष के स्थानों में किंचितमात्र भी उल्लास को प्राप्त नहीं हुआ। जैसे केवल सुषुप्ति में स्थित हो, उस प्रकार सदा ही विक्षेपरहित एवं शान्तभाव से स्थिर रहा। तबसे लेकर उन्होंने न तो दृश्य जगत् को मन से ग्रहण किया और न उसका त्याग ही किया। केवल वर्तमान संसार में वे निश्शंक होकर स्थित रहे। इस प्रकार आत्मविवेक के अनुसंधान से राजा जनक का परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान अनन्त एवं अत्यन्त विशुद्ध हो गया।

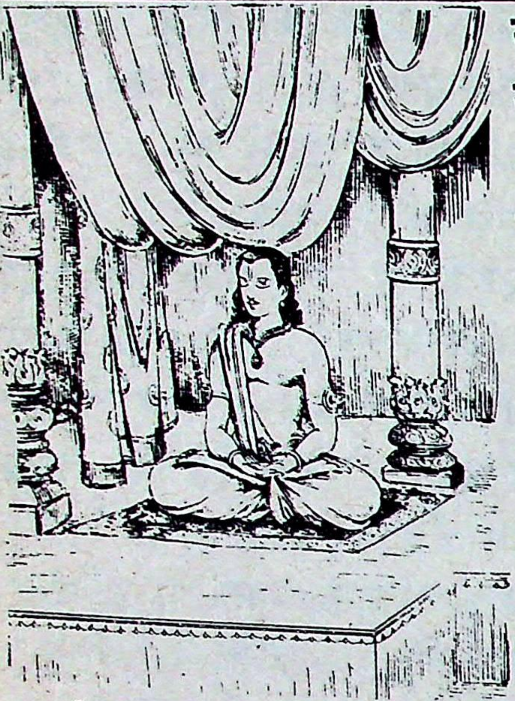

सम्पूर्ण भूतों के आत्मस्वरूप परमात्मा को जानने तथा आत्मा की अनन्तता का अनुभव करने वाले राजा ने चिन्मय परमात्मा में स्थित सारे पदार्थों को अपने आत्मा के रूप में अनुभव किया। वे न तो अनुकूल वस्तु को पाकर हर्ष से उल्लसित हुए और न कभी प्रतिकूल वस्तु को पाकर शोक से आतुर ही हुए। सब कुछ प्रकृति का व्यवहार होने के कारण वे उसमें सदा ही समचित्त एवं विकार शून्य होकर रहे। तभी से लोक में सगुण–निर्गुण परब्रह्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने वाले और समस्त प्राणियों को सम्मान देने वाले वे राजा जनक परमात्मा के यथार्थ ज्ञान में निपुण हो जीवन्मुक्त होगये। वे लोगों को प्राणों के समान प्रिय थे और विदेह देश का राज्य करते हुए कभी हर्ष और विषाद के वशीभूत हो संतप्त नहीं होते थे। सुषुप्तावस्था में स्थिति की भाँति राजा जनक की राग–द्वेष आदि समस्त वासनाएँ सम्पूर्ण पदार्थों से सर्वथा निवृत्त हो गयी थीं। वे न कभी भूत की चिन्ता करते और न भविष्य का अनुसंधान। वर्तमान काल का ही वे प्रसन्नतापूर्वक अनुसरण करते थे। कमलनयन श्रीराम ! अपने परमात्म विषयक विवेकपूर्ण विचार द्वारा ही राजा जनक को पाने योग्य परब्रह्म परमात्मरूप वस्तु की पूर्णतया प्राप्ति हो गयी।

अपने चित्त से तब तक परमात्म तत्त्व का विचार करते रहना चाहिये, जब तक विचारों की सीमा का अन्त प्राप्त न हो जाय। महापुरुषों के संग से निर्मलतारूप अभ्युदय को प्राप्त हुए चित्त के विवेकपूर्वक शुद्ध विचार से जो परमात्मरूप परमपद प्राप्त होता है, वह न तो गुरु के उपदेश से न शास्त्रार्थ से और न पुण्य से ही प्राप्त होता है। श्रीराम ! अपने मित्र के तुल्य स्थिर, शुद्ध एवं तीक्ष्ण बुद्धि से जो उत्तम पद प्राप्त होता है, वह दूसरी किसी क्रिया से नहीं होता है। जिस पुरुष की पूर्वापर का विचार करने वाली कुशाग्र एवं तीक्ष्ण प्रज्ञारूपी दीपशिखा प्रज्वलित है, उसे कभी अज्ञानरूपी अन्धकार क्लेश नहीं पहुँचाता। महामते ! दुःखरूपी उत्ताल तरंगों से व्याप्त जो विपत्तिरूपिणी दुस्तर

सरिताएँ हैं, उनको तीक्ष्ण और विशुद्ध बुद्धिरूपी नौका द्वारा ही पार किया जाता है। जैसे वायु का हल्का-सा झोंका भी निस्सार तिनके को उड़ा देता है, उसी प्रकार प्रज्ञाहीन मूढ़ पुरुष को थोड़ी-सी आपत्ति भी शोकाकुल कर देती है। शत्रुमर्दन श्रीराम ! तीक्ष्ण और विशुद्ध प्रज्ञा से युक्त पुरुष दूसरों की सहायता तथा शास्त्राभ्यास के बिना भी संसार-समुद्र से अनायास ही पार हो जाता है। जैसे फल की प्राप्ति के लिये सींचने और संरक्षण आदि के द्वारा अंगूर आदि की लता को बढ़ाया जाता है, उसी प्रकार शास्त्रों के अभ्यास और सत्पुरुषों की संगति से पहले प्रज्ञा को बढ़ाना चाहिये अर्थात् बुद्धि को पवित्र एवं तीक्ष्ण बनाना चाहिए। जैसे चन्द्रमण्डल संसार के अन्धकार को दूर करने वाली चाँदनी को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार निष्काम कर्मरूपी वृक्ष, जिसका शुद्ध तीक्ष्ण प्रज्ञाबल ही महान् मूल है, परम रसमय परमात्मा की प्राप्तिरूप फल को उत्पन्न करता है। लोग धन-सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थों के उपार्जन के लिये जैसा प्रयत्न करते हैं, वही यत्न पहले विशुद्ध बुद्धि की अभिवृद्धि के लिये करना चाहिये। बुद्धि की मन्दता समस्त दुःखों की चरम सीमा है, विपत्तियों का सबसे बड़ा भंडार है और संसाररूपी वृक्षों का बीज है; अतः उसका यत्नपूर्वक विनाश करना चाहिये।

रघुनन्दन ! न दानों से, न तीर्थों से और न तपस्या से ही भयंकर संसार-सागर पार किया जा सकता है। केवल पवित्र एवं अविचल बुद्धिरूपी जहाज का आश्रय लेने से ही उसके पार पहुँचा जा सकता है। पृथ्वी पर विचरने वाले मनुष्यों को भी जो दैवी सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह शुद्ध एवं अविचल प्रज्ञामयी लता से उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट फल है। जिन सिंहों ने अपने पंजों से मत्त गजराजों के कुम्भ स्थल विदीर्ण पर डाले थे, वे भी सियारों द्वारा बुद्धि-बल से इस तरह पराजित हुए हैं, जैसे सिंहों से हरिन। विवेकी पुरुष के हृदयरूपी कोशागार में स्थित यह पवित्र प्रज्ञा चिन्तामणि के समान है। यह कल्पलता की भाँति मनोवाछित फल देती है। श्रेष्ठ पुरुष पवित्र और अविचल प्रज्ञा के द्वारा संसार-सागर से पार हो जाता है, किन्तु अधम मानव उसमें डूब जाता है। क्यों न हो ? नौका चलाने की कला में शिक्षित हुआ केवट ही नौका से नदी के पार पहुँचता है, अशिक्षित केवट नहीं। जैसे समुद्र की भँवर में चक्कर काटती हुई नौका उस पर चढ़े हुए लोगों को विपत्ति में डाल देती है,

उसी प्रकार राग, द्वेष, लोभ आदि असन्मार्ग में लगायी गयी अशुद्ध बुद्धि संसार में भटक कर मनुष्य को आपत्ति में डाल देती है और वही बुद्धि यदि विवेक, वैराग्य आदि सन्मार्ग में लगायी जाय तो वह मनुष्य को भवसागर से पार कर देती है। जैसे कवच बाँधकर युद्ध करनेवाले योद्धा को बाण पीड़ित नहीं करते, उसी प्रकार विवेकशील, मूढ़ता रहित एवं पवित्र बुद्धि वाले पुरुष को तृष्णा वर्ग के काम, लोभ आदि से उत्पन्न हुए क्रोध द्वेष और मोह आदि दोष बाधा नहीं पहुँचाते । रघुवीर ! इस लोक में प्रज्ञारूपी नेत्र से यह सारा जगत् ठीक–ठीक दिखायी देता है। उस यथार्थदर्शी पुरुष के पास न तो सम्पत्तियाँ आती हैं और न विपत्तियाँ ही। जैसे सूर्य को ढकने वाला जलमय विस्तृत काला मेघ वायु में छिन्न–भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार अहंकाररूपी मत्त मेघ जो परमात्मारूपी सूर्य पर आवरण डालने वाला है, पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिरूपी वायु से बाधित हो जाता है। परमात्मा की प्राप्तिरूप अनुपम उन्नत पद में पहुँचने वाले पुरुष को पहले सत्संग और विवेक वैराग्य द्वारा इस बुद्धि का ही शोधन करना चाहिये–ठीक उसी तरह, जैसे धान्य आदि की वृद्धि चाहने वाला किसान सबसे पहले पृथ्वी को हल से जोतकर शुद्ध बनाता है।

सातवां सर्ग समाप्त

आठवां सर्ग

चित्त की शान्ति के उपायों का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! बिना जीती हुई मन सहित इन्द्रियाँ शत्रु के समान हैं। इन्हें तब तक बारंबार जीतकर परमात्मा में लगाने का प्रयत्न करे, जब तक अन्तःकरण स्वयं ही परमात्मा के ध्यान में एकाग्र होकर शुद्ध एवं प्रसन्न न हो जाय। इस प्रकार के साधन से नित्य प्रसन्न, सर्वव्यापी, दिव्यस्वरूप, देवेश्वर परमात्मा का स्वतः साक्षात्कार हो जाता है और ऐसा होने पर सारी दुःख–दृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं। उस सगुण–निर्गुणरूप परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर हृदय–ग्रन्थिरूपी कुदृष्टियाँ जो मोहरूपी बीज की मुट्ठियाँ और नाना प्रकार की आपत्तियों की वृष्टियाँ हैं, नष्ट हो जाती हैं। नित्य आन्तरिक विचार वाले जगत् को क्षणभंगुर देखने वाले पुरुष का अन्तःकरण राजा जनक के अन्तःकरण की तरह समय आने पर अपने आप ही शुद्ध हो जाता है। संसार से भयभीत हुए पुरुषों के लिये सच्चिदानन्दघन परमात्मा के

ध्यानरूप परम पुरुषार्थ को छोड़कर न दैव शरण देने वाला है न कर्म, न धन आश्रय देने वाला है न भाई-बन्धु। तात ! जो लोग विवेक, वैराग्य, विचार उपासना और धर्मपालन आदि उत्तम कार्यों में भाग्य के अधीन रहते हैं तथा मिथ्या विपरीत कल्पनाएँ करते रहते हैं, उनकी मन्दमति विनाश की ओर ले जाने वाली है; अतः उसका अनुसरण नहीं करना चाहिए। उत्तम विवेक का आश्रय ले अपने आत्मा का अपने ही द्वारा अनुभव करके परम वैराग्य से पुष्ट हुई पवित्र एवं सूक्ष्म बुद्धिरूप नौका द्वारा संसार-सागर को पार करे। श्रीराम ! यह मैंने तुमसे आकाश से गिरने वाले फल के समान शीघ्रतापूर्वक होने वाली ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन किया है। यह ज्ञान अज्ञानरूपी वृक्ष को काट डालने वाला तथा निरतिशय सुख प्रदान करने वाला है। वांछित और अवांछित वस्तु की आशंकारूपिणी चंचल वानरियाँ जिस चित्तरूपी वृक्ष पर कूद-फाँद लगाये रहती हैं, उसमें सौम्यता कहाँ से आ सकती है।

निष्कामता, निर्भयता, स्थिरता, समता, ज्ञान, निरीहता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धैर्य, मैत्री, मननशीलता, संतोष, मृदुता और मधुरभाषिता ये गुण हेय और उपादेय से रहित ज्ञानी पुरुष में बिना किसी वासना के रहते हैं। जैसे बहते हुए जल को बाँध से रोका जाता है, उसी प्रकार निकृष्ट विषयों की ओर दौड़ते हुए मन को विवेक-वैराग्य के बल से विषयों की ओर से लौटाये अर्थात् चित्त की बहिर्मुख वृत्ति को विवेक-वैराग्य द्वारा अन्तर्मुखी करे। श्रीराम ! मोह संसार को भूलकर फिर नहीं प्रस्फुटित होता और संसार चित्त को भुलाकर फिर नहीं अंकुरित होता। खड़े होते, चलते, सोते, जागते, कहीं निवास करते, उछलते और गिरते-पड़ते 'यह दृश्य प्रपंच असत् ही है' ऐसा मन में निश्चय करके इसके प्रति आस्था का परित्याग कर देना चाहिए। रघुनन्दन ! समता का भलीभाँति आश्रय ले प्राप्त हुए कर्तव्य का पालन करते हुए अप्राप्त का चिन्तन न करके निर्द्वन्द्व हो इस लोक में विचरना चाहिए। श्रीराम ! तुम्हीं सर्वज्ञ, तुम्हीं, अजन्मा, तुम्हीं सबके आत्मा और तुम्हीं महेश्वर हो, तुम अपने चैतन्य स्वभाव से कभी च्युत नहीं होते, तथापि तुमने इस प्रकार इस संसार का विस्तार किया है। जिसने सद्रूप आत्मदृश्य में परमार्थ सत्स्वरूपता की भावना करके सब ओर से दूसरी भावना का परित्याग कर दिया, वह पुरुष हर्ष, क्रोध और विषाद आदि से होने वाले दोषों से नहीं बँधता। जो राग द्वेष

मुक्त है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण को समान समझता है तथा संसार की वासनाओं का त्याग कर चुका है, ऐसा योगी युक्त कहलाता है। वह जो कुछ करता, खाता, देता और नष्ट करता है, उन सब क्रियाओं में उसकी अहंभावना नहीं होती तथा वह सुख-दुःख में भी समान भाव रखता है। जो इष्ट और अनिष्ट की भावना का त्याग करके प्राप्त हुए कार्य को कर्तव्य समझकर ही उसमें प्रवृत्त होता है, उसका कहीं भी पतन नहीं होता। महामते ! यह जगत् चेतनामात्र ही है-इस प्रकार के निश्चय वाला मन जब भोगों का चिन्तन त्याग देता है, तब वह शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

वास्तव में तो न मन है, न बुद्धि है और न यह शरीर ही है; केवल एकमात्र आत्मा ही सदा विद्यमान है। आत्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् है और आत्मा ही कालक्रम है। वह विशुद्ध आत्मा आकाश से भी सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष प्रतीत न होने पर भी ध्रुव सत्य है।

सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष प्रतीत न होने पर भी यह आत्मा नित्य सत्य चेतनरूप है, अतएव सब प्रकार के लक्षणों से अतीत शुद्ध आत्मा केवल अपने अनुभव से ही जाना जाता है। जहाँ केवल परमात्मा की चेतनता है, वहाँ उसी तरह का मन का क्षय हो जाता है, जैसे प्रकाश में अन्धकार का नाश हो जाता है। अतः उस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये वैराग्य से, प्राणायाम के अभ्यास से, विवेक-विचार से, दुर्व्यसनों के विनाश से तथा परमार्थ-तत्त्व के बोध से प्राणवायु का निरोध करना चाहिये। जड़ तथा स्वरूपहीन होने के कारण मन सदा ही मरा हुआ है। किन्तु आश्चर्य है कि उस मरे हुए मन के द्वारा ही लोग मारे जा रहे हैं। चक्र के समान घूमती हुई यह मूर्खता की परम्परा बड़ी विचित्र है। अहो ! महामायावी मायासुर का भी निर्माण करने वाली यह माया अत्यन्त अद्‌भुत है, जिसके कारण अत्यन्त चंचल चित्त के द्वारा भी यह लोक अभिभूत हो रहा है। जब मूर्खता आती है, तब पुरुष सभी आपत्तियों का भाजन हो जाता है, भला, अज्ञानी पर कौन-सी आपत्ति नहीं आती। देखो, अज्ञान ने ही मूर्खता से इस सृष्टि को उत्पन्न किया है। हाय ! बड़े क्लेश की बात है कि यह सृष्टि दुर्बुद्धि के कारण मूर्खता के वश में पड़ी हुई उसके द्वारा पीड़ित हो रही है, तथापि यह जीव असत् का अनुवर्तन करके उत्तरोत्तर दुःख उठाने के लिये ही इस सृष्टि को उपलब्ध करता है। मैं समझता हूँ, यह मूर्खतामयी सृष्टि

अत्यन्त सुकुमार-अविचार मात्र से सिद्ध है। अतएव एकमात्र विचार से ही इसका बोध किया जा सकता है। श्रीराम ! इस मूर्ख लोकमयी सृष्टिरूप में असत्‌रूप मन ही प्रकट हुआ है अर्थात् यह मन का ही विकार है। जो पुरुष उस मन को वश में नहीं कर सकता, वह आध्यात्मशास्त्र के उपदेश का पात्र नहीं है। उस पुरुष की बुद्धि चारों ओर से विषयों में ही आरूढ़ है और उतने से ही वह अपने को परिपूर्ण मानती है, इसलिये परमात्मा की ओर अभिमुख नहीं होती, सूक्ष्म वस्तु के विचार में समर्थ नहीं हो पाती। इसीलिये उसमें आध्यात्मिक शास्त्र का उपदेश पाने की योग्यता नहीं होती।

आठवां सर्ग समाप्त

नवां सर्ग

अनाधिकारी को दिये गये उपदेश की व्यर्थता

श्रीवसिष्ठजी बोले-रघुनन्दन ! इस भूतल पर जो मनुष्य पशु मनुष्यों पशु-पक्षियों के समान धर्मा होकर आहार, निद्रा और मैथुन आदि में ही लगे हुए हैं, उन्हें उपदेश देना उचित नहीं। भला, वन में ठूँठे काठ के निकट कथा का तात्पर्य कहने से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? जिन्होंने अपने मन को विषयों में फैला रक्खा है, उन मनुष्यों में और पशुओं में क्या अन्तर है ? पशु रस्सी से बाँधकर खींचे जाते हैं और मूढ़चेत्ता मनुष्य आसक्ति के कारण मन के द्वारा विषयों की ओर घसीटे जाते हैं। जिन लोगों ने अपने मन को नहीं जीता है, उन्हें सब ओर से दुःखदायिनी दशाएँ प्राप्त होती हैं। रघुनन्दन ! जिन्होंने अपने चित्त पर विजय प्राप्त कर ली है, उनके दुःख उत्तम विचार के द्वारा दूर किये जा सकते हैं इसलिये जिसे ज्ञेय तत्त्व का ज्ञान हो चुका है, वह ज्ञानी पुरुष उनके दुःख का मार्जन करने में प्रवृत्त हो। इस त्रिगुणात्मक मायामय प्रपंच का आश्रय लेना बन्धन में ही डालने वाला है। यदि इसका त्याग कर दिया जाय तो यह भव-बन्धन से छुटकारा दिला सकता है। 'मैं' और 'यह' दोनों ही नहीं हैं, इस प्रकार चिन्तन करते हुए तुम अनन्त आकाश के समान विशाल हृदय वाले आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो पर्वत के समान अविचल भाव से स्थित हो जाओ। यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा ही है, ऐसे ज्ञान का अन्तःकरण में उदय होने पर कहाँ चित्त है, कहाँ चेत्य है और क्या चेतन है ? मैं चिन्मय ब्रह्म हूँ, जीवन नहीं; क्योंकि वास्तव में एकमात्र परब्रह्म परमात्मा के सिवा जीव

नामक कोई अलग पदार्थ नहीं है। यही चित्त की शान्ति है और इसी को परम सुख कहते हैं। रघुनन्दन ! यह संसार परमात्मा का ही स्वरूप है, ऐसा निश्चय हो जाने पर निस्संदेह चित्त की कोई अलग सत्ता नहीं रह जाती। इस प्रकार परमार्थ-तत्त्व का बोध होने से यह जगत् परमात्मा ही है, ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है उस दशा में जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार का नाश हो जाता है, उसी तरह मन भलीभाँति गल जाता है। जब तक मनरूपी सर्प इस शरीर में विद्यमान है, तब तक महान् भय बना रहता है। योग से उसको मार भगाने पर भय के लिये अवसर ही कहाँ रह जाता है ?

श्रीराम ! तृष्णा विष-लता के समान है। वह बढ़ते हुए महान् मोह को देनेवाली और भयंकर है। वह मनुष्य को केवल अज्ञान ही देती है वर्षा ऋतु की अँधेरी रात के समान मन में अनन्त विकार उत्पन्न करने वाली यह तृष्णा जब-जब प्रकट होती है, तब-तब महामोह प्रदान करती है। रघुनन्दन ! संसार में जो दुरन्त, दुर्जर और महान् दुःख हैं, वे तृष्णारूपिणी विष-लता के ही फल हैं। तृष्णा से पीड़ित मनुष्य में दीनता प्रत्यक्ष देखी गयी है। वह मन मारे रहता है, उसका तेज नष्ट हो जाता है, वह बहुत नीचे गिर जाता है। वह मोहग्रस्त होता, रोता और गिरता रहता है। निश्चय ही जहाँ तृष्णारूपिणी काली रात नष्ट हो गयी है, वहाँ शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भाँति सत्कर्म ही बढ़ते हैं। जिस पुरुषरूपी वृक्ष में तृष्णारूपी घुन नहीं लगे हैं, उसमें सदा पुण्यरूपी फूल खिलते हैं और वह विकासशील अवस्था को प्राप्त होता है। तृष्णा द्वारा ये सब लोग सूत में बँधे हुए पक्षी के समान देश-विदेश में भटकाये जाते, शोक से जर्जर किये जाते और अन्ततोगत्वा मारे जाते हैं। जैसे हिरन तिनकों से आच्छादित हुए गड्डे के ऊपर रक्खी हुई हरी-भरी घास की शाखाओं को चरने के लिये जाकर उस गड्डे में गिर जाता है, उसी प्रकार तृष्णा का अनुसरण करने वाला मूढ़ मनुष्य नरक में गिरता है। बुढ़ापा कितना ही बढ़ा हुआ क्यों न हो, वह नेत्रों को क्षणभर में उतना अंधा नहीं बनाता, जितना हृदय में रहने वाली पिशाची के समान तृष्णा बना देती है। जिसका आकार सम्पूर्ण दुःखों से भरा हुआ है और जो जगत् के लोगों के जीवन का नाश करने वाली है, उस तृष्णा को क्रूर सर्पिणी के समान दूर से ही त्याग देना चाहिए।

दूसरों को मान देने वाले कमलनयन श्रीराम ! वासना का त्याग ज्ञेय और

ध्येय के भेद से दो प्रकार का बताया जाता है। सबको ब्रह्मरूप से समान समझकर मनुष्य ममता से रहित हो जिस वासनाक्षय का सम्पादन करके शरीर का त्याग करता है, वह ज्ञेय नामक वासनाक्षय कहा गया है। जो अहंकारमयी वासना का त्याग करके लोक संग्रहोचित व्यवहार में संलग्न रहता है, वह ध्येय नामक वासना से युक्त हुआ पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। रघुनन्दन ! मूल अज्ञान के सहित संकल्परूप वासना का त्याग करके जो शान्ति को प्राप्त हुआ है, उस जीवन्मुक्त पुरुष को ज्ञेय नामक वासना त्याग से सम्पन्न समझ। जनक आदि महात्मा पुरुष ध्येय नामक वासना त्याग का सम्पादन करके जीवन्मुक्त हो लोकसंग्रह के लिये व्यवहार में स्थित हुए हैं। ज्ञेय नामक वासना त्याग को सम्पन्न करके शान्ति को प्राप्त हुए विदेहमुक्त पुरुष परावरस्वरूप परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित होते हैं। रघुनन्दन ! पूर्वोक्त दोनों ही त्याग समान हैं। दोनों ही प्रकार के त्याग वाले पुरुष मुक्त-पद पर प्रतिष्ठित हैं। ये दोनों ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हैं और दोनों ही चिन्ता एवं ताप से छुटकारा पा चुके हैं। एक ध्येय नाम वासनाक्षय से युक्त पुरुष इस देह के रहते हुए ही जीवन्मुक्त होकर शोक और चिन्ता से रहित हो जाता है। और दूसरा ज्ञेय नामक वासनाक्षय से युक्त पुरुष देह त्याग के अनन्तर मुक्त होता है। जो समयानुसार निरन्तर प्राप्त होने वाले सुखों और दुःखों में हर्ष और शोक के वशीभूत नहीं होता, वही इस लोक में मुक्त कहा जाता है। जिस पुरुष का इष्ट वस्तुओं में राग और अनिष्ट वस्तुओं में द्वेष नहीं होता, वह मुक्त कहलाता है। जिस पुरुष का अहंता-ममता को लेकर ग्रहण और त्यागरूप संकल्प क्षीण हो गया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम और कायरता की दृष्टियों से जो रहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

श्रीवाल्मीकिजी बोले-भरद्वाज ! महर्षि वसिष्ठ जब इतना उपदेश दे चुके, तब दिन बीत गया, सूर्य अस्ताचल को चले गये। उस सभा के सभी सदस्य मुनि को नमस्कार करके सायंकालिक उपासना के निमित्त स्नान करने चले गये और रात बीतने पर सूर्य की किरणों के उदय के साथ ही फिर उस सभा भवन में आ गये।

नवां सर्ग समाप्त

दसवां सर्ग

जीवन्मुक्ति की प्राप्ति कराने वाले विभिन्न प्रकार के निश्चय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! जो विदेह मुक्त हैं, वे वाणी के विषय नहीं होते। अतः तुम इस जीवन्मुक्ति का वर्णन सुनो। संसार सत्य है, यह समझते हुए जिसके कारण विषय भोगों के भोगने में दृढ़ भावना हो गयी है, ऐसी तृष्णा द्वारा जीव की जो बाह्य पदार्थ में उसकी सत्ता को लेकर आसक्ति है, उसे आचार्य लोग सुदृढ़ संसार बंधन कहते हैं। जीवन्मुक्तों के शरीर के अन्तःकरण में 'भोग पदार्थ मिथ्या है' इस निश्चय से हृदय में भोग संकल्परहित और बाह्य संसार में बिहार करनेवाली स्फुरणा हुआ करती है। महामते श्रीराम ! 'यह मुझे प्राप्त हो' इस प्रकार ही जो हृदय में भावना है, उसे तुम तृष्णा और संकल्प नामक श्रंखला समझो। उस तृष्णा का सत् और असत् सभी पदार्थों में सदा त्याग करके जो परम उदार हो गया है, वह महामनस्वी पुरुष जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त करता है।

श्रीराम ! विचारवान् पुरुष के हृदय में चार प्रकार का दृढ़ निश्चय होता है-पहला निश्चय यह है कि मैं सिर से लेकर पैर तक माता-पिता के द्वारा रचा गया हूँ; यह असत् दृष्टि हैं। इसके कारण मनुष्य को बन्धन प्राप्त होता है। मैं देह-इन्द्रिय आदि सब पदार्थों से रहित तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर हूँ,-ऐसा जो दूसरा निश्चय है, वह साधु पुरुषों को मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला होता है। रघुनन्दन ! 'जगत् के सब पदार्थ मुझ अविनाशी परमात्मा के ही स्वरूप हैं" इस तरह का तीसरा निश्चय भी मोक्ष की ही प्राप्ति कराने वाला है। अहंकार अथवा यह सारा जगत् सदा आकाश के समान शून्य ही है' ऐसा जो चौथा निश्चय है, वह भी मोक्ष की ही सिद्धि का कारण होता है। इन चार निश्चयों में जो पहला है, उसे बन्धनकारक कहा गया है। शुद्ध भावना से उत्पन्न हुए शेष तीन प्रकार के निश्चय मोक्षदायक बताये गये हैं।

महामते ! मैं आत्मा ही सब कुछ हूँ-इस प्रकार का जो निश्चय है, उसे पाकर ही मेरी बुद्धि फिर कभी विषाद को नहीं प्राप्त होती। आत्मा की महिमा ऊपर-नीचे और अगल-बगल में सर्वत्र व्यापक है। सब आत्मा ही है ऐसे आन्तरिक निश्चय से युक्त पुरुष कभी बन्धन में नहीं पड़ता। जैसे अपार महासागर पाताल तक जल से भरा हुआ है, वैसे ही ब्रह्मा से लेकर कीट पतंग

तक सारा जगत् परमात्मा से परिपूर्ण है। इसलिये एकमात्र ब्रह्म ही नित्य और सत्य है। उससे अतिरिक्त जगत् की कोई सत्ता नहीं है—ठीक वैसे ही जैसे सारा समुद्र जल ही है, उससे भिन्न तरंग आदि कुछ नहीं हैं, जैसे सोने के कड़े, बाजूबंद और नूपुर आदि सुवर्ण से भिन्न नहीं हैं, उसी तरह वृक्ष, तृण आदि कोटि-कोटि पदार्थ आत्मा से भिन्न नहीं हैं। परमात्ममयी अद्वैत शक्ति ही द्वैत और अद्वैत के भेद से जगन्निर्माण की लीला को करती हुई विस्तार को प्राप्त होती है। वास्तव में न तो अहंकार है और न यह जगत् ही है। यह सब कुछ केवल निर्विकार शान्त विज्ञानानन्दघन ही प्रकाशित हो रहा है। यह संसार न तो असत् है और न सत् ही है—सदा यही समझना चाहिये। परम, अमृत, अनादि, सब ज्योतियों को प्रकाशित करने वाला, अजर, अजन्मा, अचिन्त्य, निष्फल, निर्विकार, सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित, प्राणों का भी प्राण, समस्त संकल्पों से रहित, कारणों का भी कारण नित्य उदित, परमात्मा, व्यापक, चिन्मय प्रकाश स्वरूप आकाश में परिपूर्ण, अनुभव का बीज अपने आप में ही अपने आपका अनुभव करने योग्य, आन्तरिक आनन्दानुभवस्वरूप ब्रह्म ही तुम, मैं और जगत् है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। इस प्रकार का निश्चय तुम्हें करना चाहिये।

दसवां सर्ग समाप्त

ग्यारहवां सर्ग

महापुरुषों के स्वभाव का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम ! जिनका चित्त एकाग्र है तथा जो काम, लोभ आदि कुदृष्टियों से आहत नहीं हुए हैं, इस संसार में लीलापूर्वक विचरने वाले उन महापुरुषों का निम्नांकित स्वभाव बताया जा रहा है। जीवन्मुक्त चित्तवाला मुनि इस संसार में विचरण करता हुआ भी आदि, मध्य और अन्त में—सदा ही रसहीन जो जगत् की अवस्थाएँ हैं, उनको उपहास के योग्य समझे। जो न तो प्राप्त हुई प्रिय वस्तु का अभिनन्दन करता है, न अप्रिय से द्वेष करता है, न नष्ट हुई वस्तु के लिये शोक करता है और न अप्राप्त वस्तु को पाने की इच्छा करता है, सदा मननशील रहकर कर्तव्य कर्म में आलस्य छोड़कर प्रवत्त होता है, वह पुरुष संसार में कभी दुखी नहीं होता। जो पूछने पर प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन करता है, न पूछने पर मौन हो सूखे काठ की

भाँति अविचलभाव से स्थित रहता है तथा इच्छा और अनिच्छा के बन्धन से मुक्त है, वह पुरुष संसार में दुखी नहीं होता। जो सबके अनुकूल बोलता, किसी के पूछने या प्रेरणा करने पर सुन्दर उक्तियों द्वारा समाधान करता और प्राणियों के मनोभाव को समझ लेता है, वह पुरुष संसार में दुखी नहीं होता। वह परम पद में आरूढ़ हो जगत् की क्षणभंगुर अवस्था को अपनी शान्त बुद्धि के द्वारा हँसता हुआ-सा देखता है। रघुनन्दन ! जिन्होंने अपने चित्त को जीत लिया है और परावरस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का साक्षात् करके जो महात्मा हो गये हैं, उन्हीं का ऐसा स्वभाव मैंने तुम्हें बताया है।

अपने चित्त को न जीतने वाले मूढ़ मनुष्यों के जो यज्ञ आदि कर्म हैं, वे फल की कामना से युक्त होते हैं, नाना प्रकार के दम्भ, मान, मद आदि दुर्गुणों से भरे होते हैं; अतएव पुनर्जन्म आदि के कारण होनेवाले सुख-दुःखों से परिपूर्ण हुआ करते हैं। इसलिये हम उन मूढ़ मनुष्यों के उद्धार का कोई उपाय नहीं बता सकते। रघुनन्दन ! तुम तो भीतर से सब आशाओं का त्याग करके, वीतराग और वासनाशून्य हो बाहर से समस्त सत्कर्मों का एवं सदाचारों का ठीक-ठीक पालन करते हुए संसार में विचरो। श्रीराम ! तुम उदार, सदाचारी, समस्त शास्त्रीय कर्मों का भली- भाँति आचरण करने वाले तथा भीतर सम्पूर्ण कामनाओं और आसक्तियों से शून्य हो संसार में विचरण करो। रघुनन्दन ! तुम सब पदार्थों का यथार्थ रहस्य एवं अन्तर जान चुके हो; इसलिय जैसी अभीष्ट हो वैसी ही दृष्टि से देखते हुए अनासक्तभाव से संसार में विचरो।श्रीराम ! अहंकार से रहित, अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित, आकाश के समान निर्लेप एवं निर्मल तथा कलंक से दूर रहकर संसार में विचरण करो। राघव ! सैंकड़ों आशारूपी पाशों से नित्य मुक्त, सब पदार्थों में सम तथा बाहर प्रजाओं के हितकर कार्यों में तत्पर रहकर तुम लोक में विचरो। वास्तव में जीवात्मा का न तो बन्धन है और न मोक्ष ही है। यह मिथ्या माया इन्द्रजाल की भाँति संसार में भटकने वाली है। आत्मा तो सर्वथा एकरूप, सर्वव्यापी और आसक्ति के बन्धन से रहित है; फिर उसका बन्धन कैसे हो सकता है। और जब वह बँधा ही नहीं है, तब किस के लिये मोक्ष का विधान होगा। यह भ्रान्तिरूप विशाल संसार यथार्थ तत्त्व को जानने के कारण अज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है। यथार्थ तत्त्व का ज्ञान होने से यह उसी तरह नष्ट हो जाता है, जैसे रस्सी का ज्ञान होने से

उसमें सर्प बुद्धि नष्ट हो जाती है। तुम अनन्त, सत्स्वरूप एंव आकाश के समान व्यापक हो। ज्वालाओं के मध्य भाग की भाँति प्रकाशमान एवं नित्य शुद्ध हो। तुम्हारा स्वरूप किसी की दृष्टि नहीं आता। तुम सूक्ष्मस्वरूप होकर सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों के भीतर उसी प्रकार स्थित हो, जैसे मुक्ताहार के सभी मोतियों में एक ही सूत समाया हुआ है। महाबाहु श्रीराम ! यह शत्रु है, यह अपना है, यह दूसरा है, यह तुम हो, यह मैं हूँ-इत्यादि भावनाएँ यहाँ उसी प्रकार सत्य नहीं हैं, जैसे दृष्टि-दोष के कारण होनेवाला दो चन्द्रमा आदि का दर्शन।

ग्यारहवां सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

पिता-माता के शोक से व्याकुल हुए अपने भाई पावन को पुण्य का समझाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! इसी विषय में विज्ञ पुरुष इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। गंगाजी के तट पर दो मुनिकुमारों में, जो परस्पर भाई थे, उक्त विषय को लेकर ही जो संवाद हुआ था, वही यह पवित्र एवं अद्भुत इतिहास है; तुम इसे सुनो। इस जम्बूद्वीप की किसी पर्वतमाला में एक महेन्द्र नामक पर्वत है। उसके एक देश में जहाँ सुविस्तृत एवं मनोरम रत्नमय शिखर है, मुनियों ने स्नान और जलपान के लिये आकाशगंगा को उतारा था। उसी गंगाजी के तट-प्रदेश में, जहाँ के वृक्ष फूलों से लदे हुए थे तथा जो पार्श्ववर्ती रत्नमय शिखर की प्रभा से प्रकाशमान और दीप्तिमान् सुवर्ण की कान्ति से सुनहरे रंग का दिखायी देता था, एक महर्षि निवास करते थे। उनका नाम था दीर्घतपा। उन्हें सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो चुका था। वे तपस्या की राशि और उदार बुद्धि थे तपस्या के मूर्तिमान्‌रूप-से जान पड़ते थे। उन महर्षि के दो पुत्र थे, जो चन्द्रमा के समान सुन्दर थे। उनके नाम थे पुण्य और पावन। उन दोनों पुत्रों और एक पत्नी के साथ वे मुनि गंगाजी के उस तट पर रहते थे, जहाँ के वृक्ष फलों से भरे हुए थे। कुछ समय बीतने

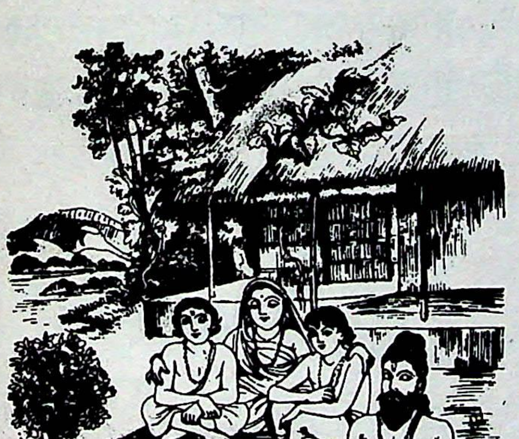

पर मुनि के उन दोनों पुत्रों में जो अवस्था और गुण दोनों ही दृष्टियों से ज्येष्ठ थे, वे पुण्यात्मक मुनि सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न हो गये; परंतु उनके दूसरे पुत्र पावन का ज्ञान अधूरा ही रह गया। वे मूर्खता की सीमा से तो बाहर हो गये थे; परंतु उन्हें परमार्थतत्व का यथार्थज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। इसलिये वे बीच में ही झूल रहे थे।

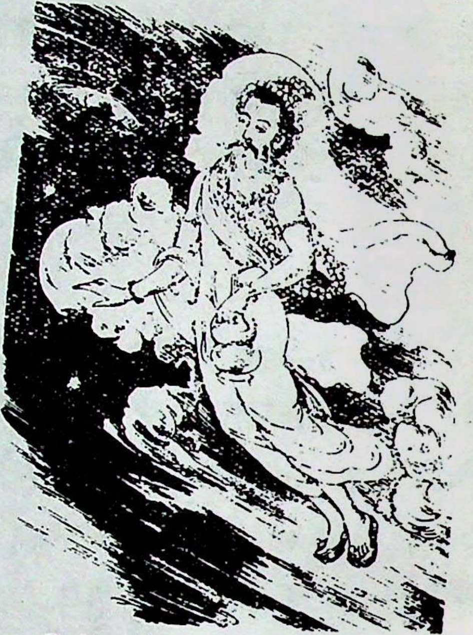

तदनन्तर सौ वर्ष बीत जाने पर दीर्घतपा जरावस्था से जर्जर हो गये। अतः उन्होंने अपने शरीर को त्याग दिया और संकल्प तथा राग से शून्य परम पदस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् पति के शरीर को प्राण और आपान से रहित होकर पृथ्वी पर पड़ा देख मुनि की पत्नी ने भी पति की सिखायी हुई चिरकाल से अभ्यस्त यौगिक क्रिया द्वारा अपने शरीर को त्याग दिया और लोगों की दृष्टि से अदृश्य हो अपने पति का उसी तरह अनुसरण किया, जैसे प्रभा गगनमण्डल में अस्त होते हुए चन्द्रदेव का अनुसरण करती है। माता और पिता के परलोकवासी हो जाने पर ज्येष्ठ पुत्र पुण्य ही स्थिरचित्त हो उनके अन्तयेष्टि-कर्म में प्रवृत्त हुए। पावन को माता-पिता से बिछुड़ जाने के कारण बड़ा दुःख हो रहा था। उनका चित्त शोक से व्याकुल था। वे बड़े भाई की ओर न देखकर वन की गलियों में घूम-घूमकर विलाप करने लगे। माता-पिता का और्ध्वदेहिक कर्म समाप्त करके उदार बुद्धि पुण्य वन में अपने शोकाकुल बन्धु पावन के पास आये। पास आकर पुण्य ने कहा-

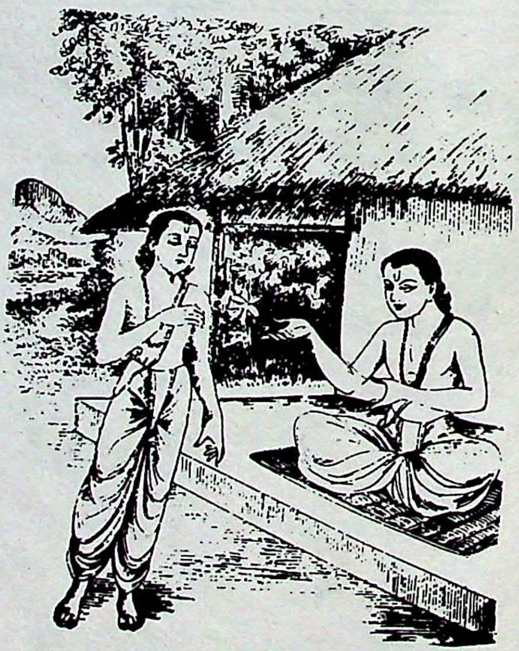

वत्स ! यह शोक अन्धता (मोह) का एकमात्र कारण है। तुम इसे घनीभूत क्यों बना रहे हो ? महाप्राज्ञ ! तुम्हारे पिता

तुम्हारी माताजी के साथ उस मोक्ष नामक सच्चिदानन्दघन परमात्मपद को प्राप्त हो गये हैं, जो सबका अपना ही स्वरूप है। वही सब प्राणियों का अधिष्ठान है और वही जितात्मा ब्रह्मवेत्ताओं का स्वरूप है। जब पिता अपने स्वरूप को ही प्राप्त हुए हैं, तब तुम उनके लिये बारंबार शोक क्यों करते हो ? तुमने इस संसार में ऐसी मोहजनित ममतामयी भावना बाँध रक्खी है, जिससे तुम अशोचनीय पिता के लिये भी शोक कर रहे हो ! न वे ही तुम्हारी माता थीं और वे ही तुम्हारे पिता थे। वत्स ! जैसे प्रत्येक वन में जल के बहने के लिये बहुत-से नाले होते हैं, उसी तरह तुम्हारे सहस्त्रों माता-पिता हो चुके हैं। उन माता-पिता के भी असंख्य पुत्र हो चुके हैं, केवल तुम्हीं उनके पुत्र नहीं हो। जैसे नदी के जल में बहुत-सी तरगें उठती और विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य आदि प्राणियों के जन्म-जन्म में बहुत से पुत्र हो-होकर काल के गाल में जा चुके हैं। वत्स ! यदि स्नेह के कारण माता-पिता और पुत्रों के लिये शोक करना ही उचित हो तो पहले के जन्मों में जो सहस्त्रों माता-पिता बीत चुके हैं, उनके लिये निरन्तर शोक क्यों नहीं किया जाता ? महाभाग ! जगत् की कल्पना के निमित्तभूत भ्रम या अज्ञान के कारण ही यह प्रपंच दिखायी देता है। विद्वान् ! वास्तव में तो तुम्हारे न कोई मित्र है और न बन्धु-बान्धव ही हैं। वत्स ! परमार्थिक दृष्टि से सत्य क्या है ? इसका तुम विचार करो। विचार करने से तुम्हें ज्ञात होगा कि न तुम हो न हम हैं। तुम्हारे अन्तःकरण में जो भ्रम है, उसी के कारण इस जगत् की प्रतीति हो रही है। अतः तुम उसे त्याग दो। 'यह गया, यह मर गया' इत्यादि कुदृष्टियाँ अपने संकल्परूप अज्ञान से उत्पन्न हो सामने दिखायी देती हैं, वास्तव में इनकी सत्ता नहीं है।

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

पुण्य का पावन को उपदेश

पुण्य कहते हैं-पावन ! बन्धु, मित्र, पुत्र, स्नेह, द्वेष तथा मोह-दशारूप रोग से युक्त जो प्रपंच है, यह अपने नाममात्र से विस्तार को प्राप्त हो रहा है। जिसके प्रति बन्धुभावना कर ली गयी है, वह बन्धु हो गया और जिसके प्रति शत्रु की भावना कर ली गयी, वह शत्रु हो गया। परंतु सभी शरीरों में

अभिन्नरूप से विद्यमान जो सर्वव्यापी आत्मा है, उस एक में ही 'यह बन्धु है, यह शत्रु है' ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है ? वत्स ! यह शरीर रक्त, मांस और हड्डियों का समूह है, अस्थियों का पंजर है; इससे भिन्न मैं कौन हूँ, इसका तुम स्वयं अपने चित्त से विचार करो। पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर न तुम कोई हो और न मैं कोई हूँ। 'यह पुण्य है, यह पावन है' इत्यादि कल्पनाओं के रूप में मिथ्याज्ञान ही नृत्य कर रहा है। यदि तुम आत्मा से भिन्न कोई लिंगशरीर ही हो तो बताओ। बीते हुए दूसरे अनेक जन्मों में जो तुम्हारे बन्धु और धन-वैभव नष्ट हो गये हैं, उनके लिये भी शोक क्यों नहीं करते ? सुन्दर फूलों से सुशोभित वनस्थलियों में तुम्हारे बहुत-से बन्धु मृगयोनियों में मृग-शरीर धारण कर रहे हैं, उनके लिये तुम्हें शोक क्यों नहीं हो रहा है ? वत्स!

इसी जम्बूद्वीप में तुम पहले अन्यान्य बहुत-सी योनियों में सैकड़ों हजारों बार जन्म ले चुके हो। मैं तत्वज्ञान से शुद्ध हुई सूक्ष्म-बुद्धि के द्वारा तुम्हारे और अपने पूर्वजन्म के वासनाक्रम को देख रहा हूँ। मेरी भी बहुत-सी योनियाँ अनेक बार बीत चुकी हैं, उन मोह-मन्थर (अज्ञान से जड़ीभूत) अतीत योनियों को आज मैं तत्वज्ञान से उदित हुई सूक्ष्मदृष्टि के द्वारा देखता और स्मरण करता हूँ। ऐसी अवस्था में जो जगत् में उत्पन्न हुए सैकड़ों माता-पिता, भाई-बन्धु और मित्र काल के गाल में जा चुके हैं, उनमें से किन-किन के लिये हम दोनों शोक करें और किनके लिये न करें अथवा किनको-किनको छोड़कर यहाँ किन-किनके लिये हम शोक में डूबे रहें; क्योंकि संसार की तो ऐसी ही गति है। पावन ! तुम्हारा भला हो। मन में अहंभाव के रूप में स्थित इस प्रपंच भावना को त्यागकर तुम उस गति को प्राप्त करो, जो आत्मज्ञानी पुरुषों को उपलब्ध होती है। वत्स ! तुम शान्तचित्त होकर आत्मा का- अपने आपका, जो भाव और अभाव (उत्पत्ति और विनाश) से मुक्त तथा जरा और मृत्यु से रहित है, स्मरण करो। मन में मूढ़ता न लाओ। उत्तम बुद्धि वाले पावन! न तुम्हें दुःख है न तुम्हारा जन्म हुआ है; न तुम्हारी कोई माता है और न पिता ही है। तुम केवल शुद्ध-बुद्ध आत्मा हो, दूसरे कोई नहीं हो। जैसे रात होने पर दीपक संनिधिमात्र से प्रकाश के कर्त्ता होते हुए भी व्यापार शून्य होने के कारण अकर्ता ही हैं, उसी प्रकार तत्वज्ञानी पुरुष कर्तापन के अभिमान से रहित होने के कारण लोक-व्यवहार की स्थिति में कर्ता होकर भी अकर्ता ही हैं। वत्स ! जो

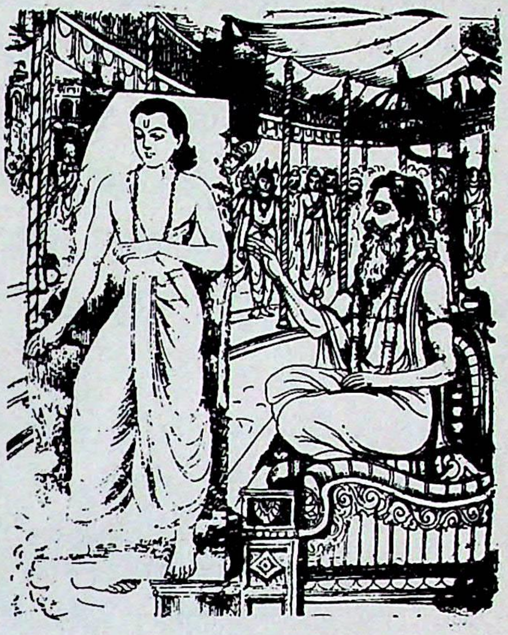

समस्त एषणाओं के कलंक से रहित एवं मननशील है तथा जिसका हृदय-कमल में स्वस्थ आत्मस्वरूप से साक्षात्कार किया गया है, उस आत्मा के द्वारा अपने भीतर के सम्पूर्ण संसार भ्रम को मिटाकर अवशिष्ट हुए उस भावस्वरूप आत्मा (परब्रह्म परमात्मा) से ही संतोष प्राप्त करो।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! पुण्य के इस प्रकार समझाने-बुझाने पर पावन को उत्कृष्ट बोध (परमात्म-तत्व का दृढ़ निश्चय) प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् ज्ञान और विज्ञान में पारंगत तथा सिद्ध और अनिन्द्य स्थिति को प्राप्त हुए वे दोनों बन्धु उस वन में इच्छानुसार विचरने लगे। तदनन्तर समय आने पर वे दोनों रहित हो परम निर्वाणपद (परमात्मा) को प्राप्त हो गये। निष्पाप श्रीराम ! इस प्रकार पूर्वजन्मों में जो असंख्य देह धारण कर चुके हैं, उन प्राणियों के माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदि का समुदाय अनन्त है। उनमें से कौन किनको ग्रहण करे और कौन किनका त्याग। रघुनन्दन! इसलिये इन असंख्य तृष्णाओं की निवृत्ति का एकमात्र उपाय त्याग ही है, उनको पोसना नहीं। जैसे लकड़ी डालने से आग प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार विषय-भोगों के चिन्तन से चिन्ता बढ़ती जाती है; और जैसे बिना ईंधन के आग बुझ जाती है, उसी प्रकार विषयों का चिन्तन न करने से चिन्ता मिट जाती है। एकमात्र विवेकरूपी सखा और एकमात्र पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिरूपिणी प्रिय सखी को साथ ले संसार में शास्त्रविहित आचरण करने वाला पुरुष संकट पड़ने पर भी मोहग्रस्त नहीं होता। वैराग्य से, शास्त्रों के अभ्यास से तथा महत्तायुक्त क्षमा, दया, शान्ति, समता और संतोष आदि गुणों से यत्नपूर्वक आपत्ति का निवारण करने के लिये मनुष्य स्वयं ही मन को उन्नत बनाये। जो परम पद की प्राप्तिरूप फल पूर्वोक्त महत्तायुक्त गुणों से उत्कर्ष को प्राप्त हुए मन के द्वारा उपलब्ध हो सकता है, वह तीनों लोकों के ऐश्वर्य तथा रत्नों से भरे हुए कोश की प्राप्ति से भी नहीं हो सकता। मन के विशुद्ध अमृत-रस से पूर्ण होने पर सारी वसुधा आनन्द की

सुधाधारा से आप्लावित हो जाती है। मन वैराग्य से ही पूर्णता को प्राप्त-विज्ञानानन्दघन रस से परिपूर्ण होता है। आशा (इच्छा, कामना आदि) के वशीभूत हुआ मन उपर्युक्त पूर्णता को नहीं प्राप्त होता। जिनके चित्त में किसी लौकिक वस्तु की स्पृहा नहीं है, उन लोगों के लिये तीनों लोकों का ऐश्वर्य कमलगट्टे के समान अत्यन्त तुच्छ है। श्रीराम ! चित्त के नष्ट हो जाने पर अविचल धैर्य से युक्त पुरुष उस परमपद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ फिर नाश का भय नहीं है।

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

राजा बलि के अन्तःकरण में वैराग्य एवं विचार का उदय तथा उनका अपने पिता से पहले के पूछे हुए प्रश्नों का स्मरण करना

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-अथवा हे रघुकुलरूपी आकाश के पूर्ण चन्द्रमा श्रीराम ! तुम राजा बलि की भाँति विवेक के द्वारा परब्रह्म परमात्मा का यथार्थ एवं विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करो।

श्रीरामचन्द्रजी बोले-भगवन् ! सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता गुरुदेव ! आपकी कृपा से मुझे प्राप्तव्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा के ज्ञान का यथार्थ अनुभव प्राप्त है और उसी निर्मल पद में मैं परम शान्ति को प्राप्त होकर स्थित हूँ। प्रभो ! जैसे शरदृऋतु में आकाश से बादल हट जाते हैं, उसी प्रकार मेरे चित्त से तृष्णा नामक महान्तम (अज्ञानान्धकार) का अत्यन्त अभाव हो गया है। पूर्णिमा के सायंकाल में उदित हुए आकाशवर्ती शीतल अमृतमयी किरणों से सम्पन्न तथा महातेजस्वी पूर्ण चन्द्रमा के समान मैं विज्ञानानन्दघनमय अमृत से परिपूर्ण, चिन्मय आकाशस्वरूप ब्रह्म में विराजमान शान्तिमय महान् प्रकाशस्वरूप तथा अन्तःकरण में परमानन्द से परिपूर्ण होकर स्थित हूँ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! मैं तुमसे बलि के उत्तम वृत्तान्त का वर्णन करता हूँ, सुनो ! इस ब्रह्माण्डकोश के भीतर किसी दिशारूपी निकुंज में भूमि के नीचे विद्यमान पाताल नाम से विख्यात एक लोक है, जिसमें असुरों के बाहुदण्डों पर आधारित महान् साम्राज्य है। उस साम्राज्य पर विरोचनकुमार बलि राजा के रूप में प्रतिष्ठित हुए। वे दैत्यराज बलि त्रिलोकी के रत्नों के कोश, समस्त शरीरधारियों के रक्षक तथा भुवनपालों के भी पालक हैं। उन्होंने

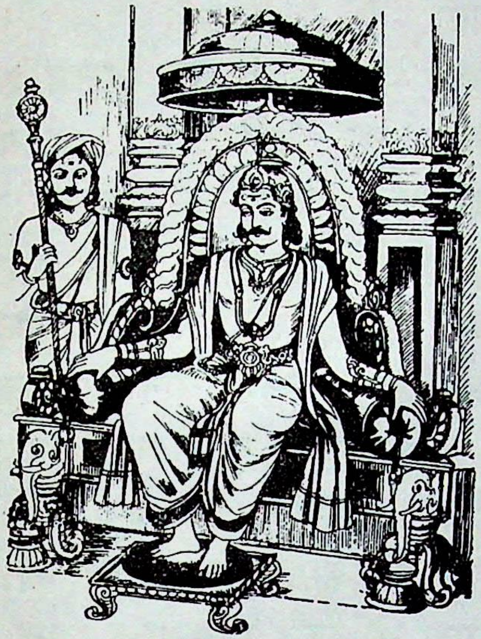

अनायास ही वश में किये हुए सम्पूर्ण लोकों के विस्तार से अपने आपको विभूषित करके दस करोड़ वर्षों तक राज्य किया। तदनन्तर आने-जाने वाले बहुत-से युग बीत गये। देवताओं और असुरों के महान् समूह कभी उन्नति को प्राप्त हुए और कभी उनका पतन हुआ। तीनों लोकों में अत्यन्त उत्कृष्ट समझे जाने वाले बहुत-से भोगों का निरन्तर उपभोग करते- करते एक समय दानवराज बलि को उन भोगों से अत्यन्त उद्वेग (वैराग्य) प्राप्त हुआ। एक दिन मेरूपर्वत के शिखर पर स्थित रत्नों के बने हुए विशाल भवन में खिड़की के सामने बैठे हुए दैत्यराज बलि स्वयं ही संसार की स्थिति पर विचार करने लगे-'अहो ! अक्षुण्ण शक्ति वाले मुझ बलि को अब इस लोक में कितने समय तक यह साम्राज्य चलाना और तीनों लोकों में विचरना होगा ? मेरा यह महान् राष्ट्र तीनों लोकों को आश्चर्य में डालने वाला है। प्रचुर भोगों से सम्पन्न होने के कारण यह अत्यन्त मनोहर जान पड़ता है, किंतु इसके उपभोग से मेरा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है ? जो आरम्भ में तभी तक मधुर प्रतीत होता है, जब तक वह नष्ट या विकृत नहीं हो जाता, और जिसका विनाश अवश्यम्भावी है, उस भोग-समुदाय का उपभोग मात्र करना मेरे लिये क्या सुखदायक हो सकता है ? जिसके प्राप्त हो जाने पर दूसरा कुछ पाना या करना शेष न रह जाय, उस परम उदार अद्वितीय (परमात्मप्राप्ति रूप) फल को मैं यहाँ नहीं देख पाता। इन क्षणभंगुर भोगों को छोड़कर दूसरा नित्य, उत्तम एवं यथार्थ सुख क्या

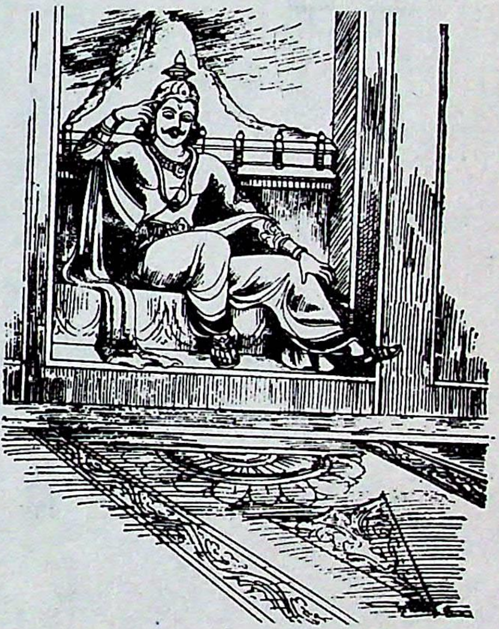

है–इसी का मैं विचार करता हूँ।' विवेक–वैराग्य युक्त बुद्धि से ऐसा सोच–समझकर राजा बलि तत्काल ध्यानमग्न हो गये।

तदनन्तर विचार किये हुए परम पुरुषार्थ का मन ही मन चिन्तन करते हुए असुरराज बलि ने क्षणभर में भ्रूभंगपूर्वक कहा–"अरे ! याद आ गया। पहले की बात है–जिन्होंने लोक के छोटे बड़े सभी व्यवहारों को देखा था और जो आत्मतत्व के ज्ञान से सम्पन्न थे, उन अपने ऐश्वर्यशाली पिता महाराज विरोचन से मैंने पूछा–'महामते ! जहाँ समस्त दुःखों और सुखों से सम्बन्ध रखने वाले सारे भ्रम शान्त हो जाते हैं, संसार की वह सीमा कौन है ? तात ! मन का मोह कहाँ शान्त होता है ? समस्त एषणाओं का कहाँ अभाव होता है तथा चिरकाल के लिये निरन्तर एवं पुनरावृत्तिरहित विश्राम कहाँ प्राप्त होता है? पूज्य पिताजी ! अविनाशी आनन्द से परम सुन्दर किसी ऐसे परमपद का मेरे लिये वर्णन कीजिये, जहाँ स्थित होकर मैं सदा के लिये परमशान्ति प्राप्त कर लूँ।' मेरे इस प्रश्न को सुनकर पिता ने सम्मोहशान्ति (अज्ञान–निवारण) के लिये मुझसे यह बात कही।'

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

विरोचन का बलि को परमात्मसाक्षात्कार के लिये उपदेश

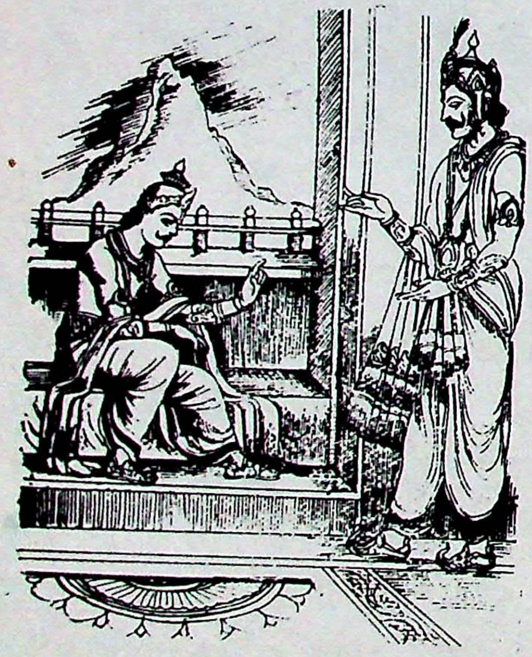

विरोचन बोले–महामते ! मनुष्य से लेकर ब्रह्मपाद तक सम्पूर्ण पदों का अतिक्रमण करने वाला जो मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर का स्वामी शुद्ध आत्मा है, वह एक राजा के समान है। उसने बुद्धियुक्त मन को अपना मन्त्री बनाया है। उस मन्त्री को जीत लेने से सबको जीत लिया जाता है और सब कुछ प्राप्त हो जाता है। परंतु उसे अत्यन्त दुर्जय समझना चाहिये। वह बल से नहीं, युक्ति से ही जीता जाता है।

बलि ने कहा–भगवन् ! उस चित्तरूपी मन्त्री पर आक्रमण करने के लिये

जो युक्ति या उपाय हो, उसे आप भलीभाँति बताइये, जिससे मैं उस भयंकर मन पर विजय पा सकूँ।

विरोचन बोले—बेटा ! सभी विषयों के प्रति सब प्रकार से जो अत्यन्त अनास्था (वैराग्य) है, वही मन पर विजय पाने के लिये उत्तम युक्ति है। यह अनास्था ही वह उत्तम युक्ति है, जिससे महान् मदमत्त मनरूपी मातंग (गजराज) का शीघ्र ही दमन किया जा सकता है। महामते ! यह युक्ति अत्यन्त दुर्लभ और परम सुलभ भी है। यदि इसके लिये अभ्यास न किया जाय तो यह अनायास ही प्राप्त हो जाती है। बेटा ! यदि क्रमशः विषयों के विरक्त होने का अभ्यास किया जाय तो जैसे सींचने से लता लहलहा उठती है, उसी प्रकार यह विरक्ति भी सब ओर से सुस्पष्टतः प्रकट हो जाती है। पुत्र ! जैसे बोये बिना धान नहीं प्राप्त होता, वैसे ही यदि विरक्ति के लिये अभ्यास न किया जाय तो विषय-लोलुप पुरुष कितना ही क्यों न चाहे, यह विरक्ति उसे नहीं मिलती; अतः तुम इसे अभ्यास के द्वारा दृढ़ करो। संसाररूपी गर्त में निवास करने वाले ये जीव तब तक नाना प्रकार के दुःखों में भटकते रहते हैं, जब तक उन्हें विषयों से वैराग्य नहीं हो जाता। जैसे कोई अत्यन्त बलवान् देहवाला मनुष्य भी यदि पैर उठाकर कहीं जाय नहीं तो वह देशान्तर में नहीं पहुँच सकता, उसी तरह कोई शारीरिक शक्ति से सम्पन्न पुरुष भी यदि अभ्यास न करे तो वह विषयों से वैराग्य नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिये देहधारी मनुष्य को चाहिये कि वह जीवन्मुक्ति के हेतुभूत पूर्वकथित ध्येय नामक वासना त्याग की अभिलाषा एवं चिन्तन करते हुए भोगों की ओर से विरक्ति का अभ्यासपूर्वक विस्तार करे—ठीक वैसे ही, जैसे सींचने आदि के द्वारा लगायी हुई बेल को बढ़ाया जाता है। बेटा ! हर्ष और अमर्ष से रहित शुभ कर्मफल को प्राप्त करने के लिये इस संसार में परम पुरुषार्थ के सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है। संसार में दैव की चर्चा बहुत की जाती है। परंतु दैव कहीं देहधारण करके स्थित हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य होने वाली जो भवितव्यता है—नियति के द्वारा मिलने वाला जो अपने ही शुभाशुभ कर्मों का फल है, उसी को यहाँ देव अथवा प्रारब्ध नाम दिया गया है।

प्रारब्ध-भोगरूप जो दैव है, उसे परम पुरुषार्थ से ही जीता जाता है। जीवात्मा पुरुष-शरीर धारण करके पुरुषार्थ से जिस पदार्थ का जैसे संकल्प

करता है, इस लोक में वह पदार्थ उसे उसी रूप में प्राप्त होता है, दूसरे किसी रूप में नहीं। बेटा ! इस जगत् में पुरुषार्थ सिवा दूसरा कुछ नहीं है। अतः उत्तम पुरुषार्थ का आश्रय ले भोगों की ओर से वैराग्य प्राप्त करे। जब तक भोगों से वैराग्य, जो संसार-बन्धन का विनाश करने वाला है, नहीं प्राप्त होता, तब तक विजयदायक परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक मोह में डालने वाली विषयासक्ति बनी हुई है, तबतक भवदशारूपी झूला चंचल गति से आन्दोलित होता रहता है अर्थात् जीव को संसार में भटकाने वाली अस्थिर अवस्था प्राप्त होती रहती है। पुत्र ! अभ्यास के बिना विषयभोगरूपी भुजंगमों से भरी हुई दुःखदायिनी दुराशा कदापि दूर नहीं होती।

बलि ने पूछा-असुरेश्वर ! विषयों की ओर से जो वैराग्य है, वह जीव के अन्तःकरण में कैसे दृढ़तापूर्वक स्थित होता है ?

विरोचन ने कहा-बेटा ! आत्म साक्षात्काररूपिणी फल दायिनी लता जीव के अन्तःकरण में विषय भोगों से विरक्तिरूपी फल अवश्य उत्पन्न करती है। आत्मसाक्षात्कार होने पर विषयों में राग (आसक्ति) का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसलिये पुरुष पवित्र और तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा अति उत्तम विवेक-विचार से परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करे। साथ ही विषयों की आसक्ति से सर्वथा रहित हो जाय। पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धि वाला पुरुष दिन के दो भागों में अपने चित्त को वैराग्य पूर्वक परमार्थ-साधनरूप सत्-सास्त्र के अनुशीलन में लगाये, तीसरे भाग में एकान्त देश में स्थित होकर मन को सच्चिदानन्दघन परमात्मा के ध्यान में लगाये तथा चौथे भाग में अपने चित्त को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरु की सेवा और आज्ञा पालन में लगाये। साधु स्वभाव (श्रेष्ठ आचरण) को प्राप्त हुआ पुरुष ही ज्ञानोपदेश पाने का अधिकारी होता है। जैसे स्वच्छ वस्त्र ही उत्तम रंग को ग्रहण करता है, उसी तरह सदाचारी पुरुष ही ज्ञानोपदेश को अपने हृदय में धारण करता है। यह चित्त एक बालक के समान है। इसे पवित्र वचनों, युक्तियों और शास्त्र के अनुशीलन से धीरे-धीरे लाड़-प्यार के साथ रिझाकर वश में करना चाहिये। बेटा ! शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धि से तृष्णा-आसक्ति का सर्वथा अभाव करते हुए ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार होने पर तृष्णा एवं आसक्ति का सर्वथा अभाव होता है और तृष्णा एवं आसक्ति का अभाव होने पर परमात्मा का

साक्षात्कार होता है। इस तरह ये दोनों बातें एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। इसलिये दोनों साधनों को एक साथ करते रहना चाहिये। जब भोग-समूहों में आसक्ति का अत्यन्त अभाव हो जाता है तथा पारावारस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मदेव का साक्षात्कार हो जाता है, तब जीव को कभी नष्ट न होने वाली सीमा रहित परमशान्ति प्राप्त हो जाती है। विषयों में ही आनन्द मनाकर उनका आस्वादन करने वाले मनुष्यों को तो इस जगत् में कभी भी परमात्म तत्व के श्रवण बिना निस्सीम एवं निरतिशय आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। सकाम भाव से किये गये यज्ञ, दान,तप और तीर्थ सेवन से तो स्वर्गादि सुख ही प्राप्त होते हैं। आत्मा का यथार्थ ज्ञान हुए बिना उन तप, दान और तीर्थ-सेवनरूप सकाम साधनों द्वारा जीव को कभी विषयों सें वैराग्य नहीं होता।

बेटा ! अपने परम पुरुषार्थ के बिना पुरुष की बुद्धि किसी भी युक्ति से कल्याण के हेतु भूत आत्मज्ञान में प्रवृत नहीं होती। भोगों के सर्वथा त्याग से प्राप्त होने वाले परम पुरुषार्थ के बिना ब्रह्मपद की प्राप्तिरूप परम शान्ति एवं परमानन्द की उपलब्धि नहीं होती। परम कारणरूप परमात्मा का यथार्थ बोध हो जाने पर मनुष्य को जैसी शान्ति प्राप्त होती है, वैसी ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त इस सम्पूर्ण जगत् में कहीं भी नहीं मिलती। बुद्धिमान् मनुष्य परमपुरुषार्थ का आश्रय ले दैव (प्रारब्ध) को दूर से ही त्याग दे तथा कल्याणरूपी भवन के द्वार को दृढ़तापूर्वक बंद रखने वाले अर्गलारूप जो भोग हैं, उनसे घृणा करे-उनकी ओर से सर्वथा विरक्त हो जाय। भोगों के प्रति वैराग्य से परमात्मविषयक विचार उत्पन्न होता है और परमात्मविषयक विचार उदित होने पर भोगों की ओर से वैराग्य होने लगता है। जैसे समुद्र बादल को और बादल समुद्र को भरते हैं, उसी तरह ये दोनों साधन एक-दूसरे के पूरक हैं। जैसे परस्पर अत्यन्त स्नेह रखने वाले सुहृद् एक-दूसरे के मनोरथ सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार भोगों से वैराग्य,परमात्मविषयक विचार और नित्य आत्मदर्शन-ये तीनों एक दूसरे को पुष्ट करते हैं। मनुष्य को चाहिये कि पहले देशाचार के अनुकूल तथा बन्धु-बान्धवों की सम्पत्ति के अनुरूप न्याययुक्त पुरुषार्थ द्वारा क्रमशः धन का उपार्जन करे। उस धन के द्वारा कुलीन और गुणशाली सज्जनों को अपनाये-उनकी सेवा करके उन्हें अपने अनुकूल बनाये। उन सत्पुरुषों का संग करने से भोगों की ओर से विरक्ति होने लगती है। तदनन्तर विवेकपूर्वक विचार का उदय होता है।

तत्पश्चात् शास्त्रों के यथार्थ अर्थ का अनुभव होता है। उसके बाद क्रमशः परम पदस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है।

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

बलि का पिता के दिये हुए उपदेश का स्मरण

बलि मन ही–मन कहने लगे–पूर्वकाल में सुन्दर विचार रखने वाले मेरे पूज्य पिताजी ने मुझे ऐसा उपदेश दिया था। सौभाग्य की बात है कि वह उपदेश मुझे इस समय याद आ गया, इससे मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ। आज मेरे अन्तःकरण में भोगों के प्रति यह अतिशय विरक्ति प्रत्यक्ष अनुभव में आने लगी है। बड़े आनन्द की बात है कि मैं अमृत के समान शीतल, विशुद्ध एवं परम शान्तिमय परमानन्द–सिंधु में प्रविष्ट हो गया हूँ। अहा ! अन्तःकरण को शीतल बना देने वाली यह शान्तिमयी स्थिति बड़ी ही रमणीय है। इस शान्तिमयी स्थिति में सुख–दुःख की सारी दृष्टियाँ ही शान्त (विलीन) हो गयी हैं। परम उपरति में स्थित हो मैं परम शान्ति का अनुभव करता हूँ। सब ओर से निर्वाण को प्राप्त हो रहा हूँ और मेरे अन्तःकरण में ऐसा अपार हर्ष हो रहा है, मानो मुझे चन्द्रमण्डल में स्थापित कर दिया गया है। समस्त वैभवों के दृष्टान्तभूत महान् वैभव का मैंने उपभोग किया, भोगने योग्य सारे भोगों को बिना किसी बाधा के भोग लिया और समस्त प्राणियों को पद दलित कर दिया, तो भी इससे मुझे कौन सा सुन्दर लाभ मिला ? परलोक में, इस लोक में तथा अन्य स्वर्ग आदि में इधर–उधर, बारंबार वे ही पहले की अनुभव की हुई वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। कहीं कोई अपूर्व (नूतन) वस्तु नहीं है। पाताल में, भूलोक में और स्वर्ग में सार पदार्थ क्या है–सुन्दरी स्त्रियाँ, रत्न एवं मणिमय प्रस्तर आदि। परंतु काल इन सबको क्षणभर में निगल जाता है। आज से पहले इतने समय तक मैं पूरा मूर्ख बना रहा जो तुच्छ सांसारिक वस्तुओं की इच्छा से देवताओं के साथ द्वेष करता रहा। जो मन की कल्पनामात्र है, उस जगत् नाम की महती मानसिक व्यथा का त्याग न करने से कौन–सा पुरुषार्थ सिद्ध होता है ? इसमें महात्मा पुरुष का क्या अनुराग होगा ? अहो ! बड़े दुःख की बात है कि अज्ञानरूपी मद से मत्त हुए मैंने दीर्घकाल तक अनर्थ में ही अर्थ–बुद्धि करके स्वयं ही

उसका सेवन किया। अत्यन्त चंचल तृष्णावाले मुझ मूर्ख ने तीनों लोकों में केवल अपने पश्चाताप को बढ़ाने के लिये अब तक क्या नहीं किया ? अब मैं आश्रितजनों पर सदा प्रसन्न रहने वाले गुरुदेव भगवान् शुक्राचार्य का चिन्तन करता हूँ। उनकी वाणी द्वारा उपदेश पाकर मैं अनन्त प्रभावशाली विज्ञानानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में स्थित होऊँगा; क्योंकि महात्माओं के उपदेश-वाक्य अक्षय वस्तु को फलरूप में उत्पन्न करके अविनाशी तत्त्व का बोध करा देते हैं।

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

शुक्राचार्य का उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! बलवान् बलि ने ऐसा सोचकर आँखें बंद कर लीं और विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप आकाश में स्थित कमल नयन शुक्राचार्य का चिन्तन किया। तब परमात्मा के ध्यान में नित्य तत्पर रहने वाले शुक्राचार्य ने सर्वव्यापी ब्रह्म के स्वरूप में स्थित और चित्त के द्वारा परमात्म तत्व का चिन्तन करने वाले अपने शिष्य बलि के विषय में यह जान लिया कि वह अपने नगर में तत्त्वज्ञान की इच्छा रखकर गुरु से मिलना चाहता है। यह जानकर प्रभु शुक्राचार्य जी, जो सर्वगत अनन्त चेतन परमात्मा में स्थित हैं, अपने आपको बलि की रत्ननिर्मित खिड़की के पास ले आये अर्थात् वे बलि के यहाँ स्वयं उपस्थित हो गये। वहाँ राजा ने रत्नमय अर्घ्य देकर,मन्दारवृक्ष के पुष्पों की राशियाँ चढ़ाकर और चरणों में मस्तक झुकाकर इन शुक्राचार्य का पूजन किया। जब वे रत्नमय अर्घ्य ग्रहण करके पूर्णतया पूजित तथा मन्दारवृक्ष के फलों द्वारा निर्मित मुकुट से विभूषित होकर बहुमूल्य आसन पर विराजमान हो गये, तब बलि ने अपने उन गुरुदेव से इस प्रकार कहा।

बलि बोले-भगवन् ! जैसे नवोदित सूर्य की प्रभा संध्या-वन्दन आदि कर्म करने के लिये लोगों को प्रेरित करती है, उसी प्रकार आपके कृपा-प्रसाद से उत्पन्न हुई मेरी यह बुद्धि मुझे आपके सामने कुछ कहने के लिये प्रेरित कर रही है। प्रभो ! मैं महान् मोह प्रदान करने वाले भोगों से विरक्त हूँ, इस लिये ऐसे परम तत्त्व को जानना चाहता हूँ, जो अपने ज्ञानमात्र से महान् मोह का नाश कर दे।

शुक्राचार्य बोले-सर्वदानवराजेन्द्र ! इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ ? मैं आकाश में जाने के लिये उद्यत हूँ; इसलिये संक्षेप से सार-तत्त्व बता रहा हूँ, सुनो ! इस संसार में एकमात्र चेतन ही है। यह सब जगत् भी चेतनमात्र-चिन्मय ही है। तुम भी चिन्मय, मैं भी चिन्मय और ये लोक भी चिन्मय हैं। अर्थात् जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है-यह समस्त सिद्धान्तों का सार है। यदि तुम श्रद्धालु हो तो इस निश्चय से तुम सब कुछ प्राप्त कर सकते हो; और यदि तुममें श्रद्धा नहीं है तो तुम्हें दिया गया बहुत-सा उपदेश भी राख में डाली गयी आहुति के समान व्यर्थ है। चेतन की जो विषयकार कल्पना है, वही बन्धन है। उसे छूटना ही मोक्ष कहलाता है। विषयाकार रहित चेतन ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है, यह समस्त सिद्धान्तों का सार है। इस सिद्धान्त को ग्रहण करके यदि तुम स्वयं अखण्डाकार वृत्ति से अपने द्वारा अपने-आपका यथार्थ अनुभव करोगे तो अनन्त परमपद स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाओगे। मैं इस समय देवलोक को जाता हूँ। मुझे यहीं पर सप्तर्षि मिले थे। वहाँ देवताओं के किसी कार्य के लिये मुझे रहना होगा। ऐसा कह कर शुक्राचार्य जी ग्रह समुदाय से भरे हुए आकाश मार्ग से चले गये।

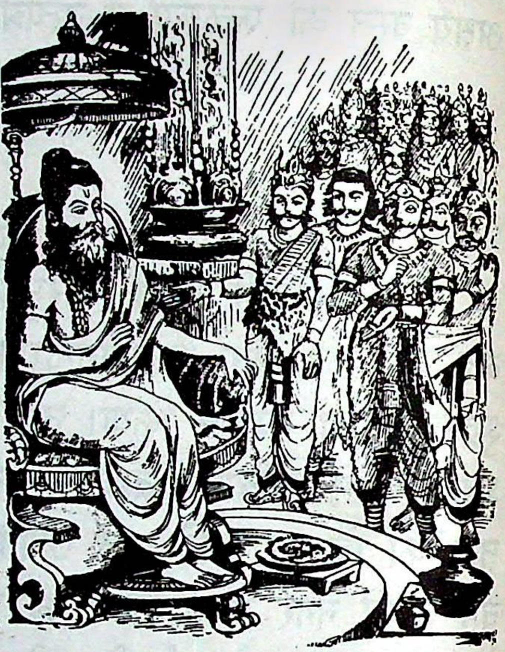

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

राजा बलि का शुक्राचार्य के दिये हुए उपदेश पर विचार

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं-श्रीराम ! देवताओं और असुरों में श्रेष्ठ माने जाने वाले भृगुनन्दन शुक्राचार्य के चले जाने पर बुद्धिमानों में श्रेष्ठ बलि ने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया-"भगवान् शुक्राचार्य ने यह ठीक ही कहा है कि 'ये तीनों लोक चेतन ही हैं। मैं चेतन हूँ, ये सब लोग चेतन हैं, दिशाएँ चेतन हैं और ये सब क्रियाएँ भी चेतन ही हैं।' वास्तव में जगत् के बाहर और

भीतर सब चेतन ही है। चेतन के अतिरिक्त यहाँ कहीं कुछ भी नहीं है। इन्द्रियाँ चेतन हैं, शरीर चेतन है, मन चेतन है, उसकी इच्छा चेतन है, भीतर चेतन है, बाहर चेतन है, आकाश चेतन है, समस्त भाव-पदार्थ चेतन हैं तथा इस जगत् की स्थिति भी चेतन ही है। अर्थात जो कुछ भी है, वह एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा का ही स्वरूप है। यहाँ केवल चेतन-ही-चेतन है, दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है। संसार में जब द्वैत की सम्भावना ही नहीं है अर्थात् एक चेतन परमात्मा के सिवा दूसरी किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है, तब कौन किसका शत्रु है और कौन किसका मित्र। बहुत विचार करने से भी इस विशाल त्रिलोकी के भीतर चेतन से अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं होती। उस अतिशय शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा में न द्वेष है न राग, न मन है और न उसकी वृत्तियाँ ही। फिर उस चिन्मय परमात्मा में विकल्प की कल्पना हो ही कैसे सकती है। मैं सर्वत्र विचरने वाला, व्यापक, नित्यानन्दमय विकल्प-कल्पना से रहित तथा द्वैत से शून्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हूँ। मैं आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त, अनन्त और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हूँ; इसलिये ये सुख-दुःख आदि की दशाएँ मेरे पास नहीं फटकने पातीं।"

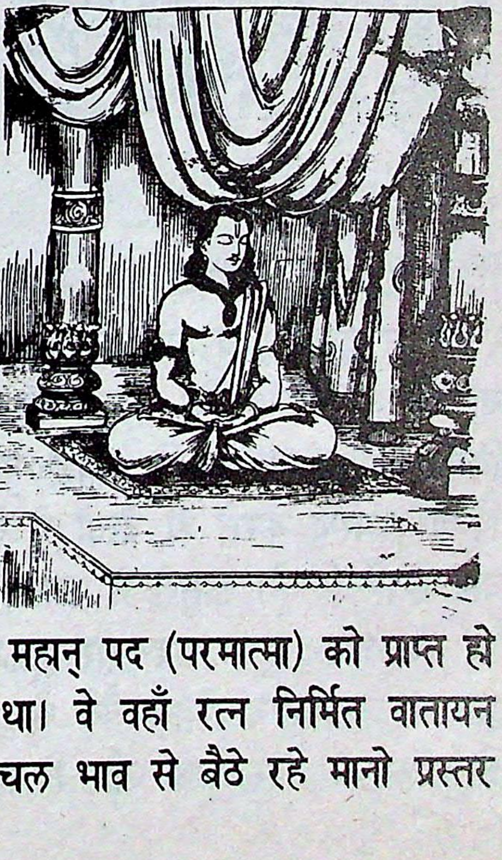

इस प्रकार विचार करते हुए ही परम विवेकी दैत्यराज बलि ओंकार से प्रकट हुए अर्धमात्रा (मकार) के अर्थभूत तुरीय परमात्मा का चिन्तन करने लगे और चुपचाप समाधिस्थ हो गये। उस समय बलि के सारे संकल्प शान्त हो गये, समस्त कल्पनाएँ विलीन हो गयीं। उनके भीतर किसी प्रकार की शंका नहीं रह गयी। वे ध्याता, ध्येय और ध्यान से रहित हो गये। उनकी बुद्धि चेत्य, चिन्तक और चिन्तन की त्रिपुटी दूर हो गयी। वे निर्मल और वासनाशून्य हो वायुरहित स्थान में रक्खे हुए दीपक की लौ के समान निश्चल हो गये। वे महान् पद (परमात्मा) को प्राप्त हो गये थे। उनका मन सर्वथा शान्त हो गया था। वे वहाँ रत्न निर्मित वातायन (खिड़की) में दीर्घकाल तक उसी तरह अविचल भाव से बैठे रहे मानो प्रस्तर

में खुदी हुई मूर्ति हो।

रघुनन्दन ! तदनन्तर बलि के अनुचर दानव लोग स्फटिकमणि के बने हुए उनके महल की ऊँची अट्टालिका पर क्षण भर में चढ़ गये। डिम्भ आदि धीर मन्त्री, कुमुद आदि सामन्त, सुर आदि राजा, वृत्त आदि सेनापति, हयग्रीव आदि सैनिक, चाक्राज आदि भाई-बन्धु, लड्डुक आदि सुहृद, वल्लुक आदि लाड़ लड़ाने वाले सखा, हाथ में भेंट लेकर उपस्थित हुए कुबेर, यम और इन्द्र आदि देवता, सेवा का अवसर चाहने वाले यक्ष, विद्याधर और नाग उस समय बलि की सेवा के लिये उस स्थान पर आ पहुँचे। इनके सिवा त्रिलोकी के भीतर निवास करने वाले अन्य बहुत-से सिद्ध भी आये। उनके पास आकर उन सबके मुकुट प्रणाम के लिये झुक गये। उन सबने बड़े आदर के साथ राजा बलि को देखा, वे ध्यान में मौन हो समाधिस्थ हो गये थे और चित्रलिखित पुरुष की भाँति निश्चल भाव से बैठे थे। उस अवस्था में उनका दर्शन करके आवश्यक-कर्तव्य प्रणाम आदि कर चुकने पर वे महान् असुर पहले तो उन्हें निष्प्राण समझकर विषाद में डूब गये, परंतु उनके मुख पर छायी हुई प्रसन्नता देख विस्मित हुए। तत्पश्चात् रोमांच आदि आनन्द के चिन्ह देखकर वे स्वयं भी आनन्दमग्न हो गये। परंतु उस समय अपना कोई रक्षक न देखकर वे भय के कारण शिथिल होने लगे। फिर दानव मन्त्रियों ने यह विचार किया कि अब यहाँ हमारे लिये कौन-सा कर्तव्य प्राप्त है। यह विचार आते ही उन्होंने सर्वज्ञ पुरुषों में श्रेष्ठ दैत्यगुरु शुक्राचार्य का स्मरण किया। स्मरण करते ही दैत्यों ने देखा, भृगुनन्दन शुक्र अपने तेजस्वी शरीर से वहाँ उपस्थित हैं। असुरों ने उनका पूजन किया, फिर वे गुरु के उच्च सिंहासन पर विराजमान हुए। तदनन्तर शुक्राचार्य ने दानवराज बलि को देखा, जो मौन भाव से ध्यानमग्न होकर बैठे थे। क्षणभर विश्राम करके शुक्राचार्य ने बड़े प्रेम से बलि की ओर देखा और विचार करके वे इस निश्चय पर पहुँचे कि बलि

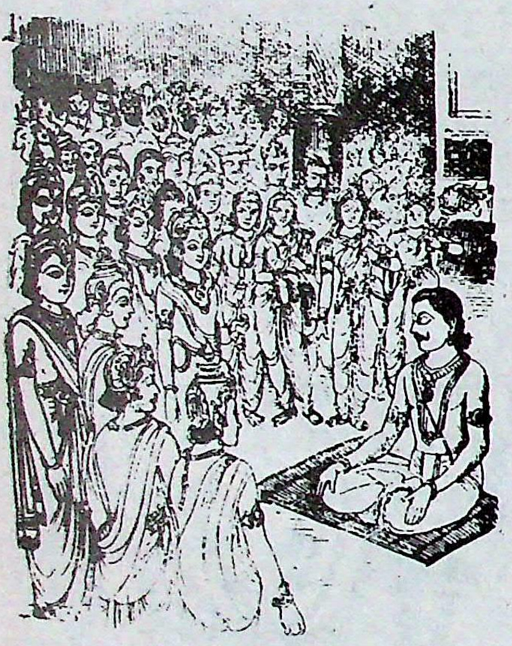

का संसाररूपी भ्रम नष्ट हो गया है। तत्पश्चात् गुरु ने उस दैत्य मण्डली से कहा–'दैत्यो ! ये ऐश्वर्यशाली बलि अपनी विचारधारा से ही विशुद्ध परमपद को प्राप्त होकर सिद्ध हो गये हैं। यही अतिशय शान्तिमय परमानन्द है। दानव-शिरोमणियो ! ये इसी तरह समाधि में स्थित हो अपने परमानन्दस्वरूप आत्मा में नित्य स्थिति को प्राप्त हों और निर्विकार परमपद का साक्षात्कार करें। दानवो ! जैसे थके हुए पुरुष को विश्राम मिले, उसी प्रकार ये बलि भी चित्त की भ्रान्ति से रहित हो परम विश्राम को प्राप्त हुए हैं। इनका संसाररूपी कुहरा (अज्ञान) शान्त हो गया है; अतः इस समय तुम लोग इनसे बातचीत न करो। जैसे भूतल पर रात्रि के अन्धकार एवं निद्रा आदि के शान्त होने पर दिन में सूर्य की किरणों का समुदाय प्राप्त होता है, उसी प्रकार इनका अज्ञानयुक्त भ्रम दूर हो जाने पर अब इन्हें अपना ही प्रकाश प्राप्त हुआ है। समय आने पर ये स्वयं ही इस समाधिं से जाग उठेंगे। दानव नायको ! तुम सब लोग अपने स्वामी के कार्य करो। ये राजा बलि एक सहस्त्र वर्ष पर समाधि से उठेंगे।'

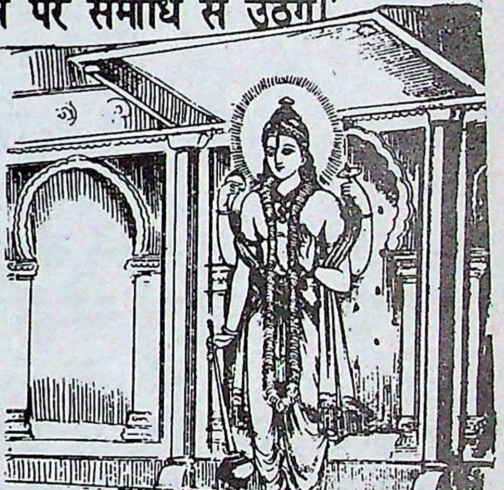

गुरुदेव ऐसा करने पर दैत्यों ने हर्ष, अमर्ष और दुःख से उत्पन्न हुई चिन्ता को त्याग दिया तथा पहले की व्यवस्था के अनुसार बलि की राज्य सभा का सुदृढ़ संगठन करके वे सभी असुर यथाधिकार अपने-अपने कार्य में सलंग्न हो गये। तत्पश्चात् मनुष्य भूतल को, नागराज रसातल को, ग्रह अन्तरिक्ष को, देववृन्द स्वर्ग को, पर्वत और दिक्पाल अपनी-अपनी दिशाओं को वनचर जीव अपनी कन्दराओं को और आकाशचारी प्राणी आकाश को चले गये।

अठारहवां सर्ग समाप्त

उन्नीसवां सर्ग

श्रीराम के चिन्मय स्वरूप का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! तदनन्तर एक सहस्त्र दिव्य वर्ष व्यतीत होने पर ऐश्वर्यशाली असुरराज बलिदेव दुन्दुभियों का तुमुलनाद सुनकर समाधि

से जागे और इस प्रकार विचार करने लगे-'न बन्धन है न मोक्ष है मेरी मूर्खता (अज्ञान) का नाश हो गया। ध्यान के लीला-विलास से मेरा क्या होगा अथवा ध्यान न करने से भी कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? न मैं ध्यान की इच्छा करता हूँ और न ध्यान न करने की; न भोग चाहता हूँ न भोगों का अभाव; मैं चिन्ता रहित स्वभाव से स्थित हूँ। अथवा यहाँ यह जगत् का राज्य रहे, तो भी मैं यहाँ स्थिर भाव से स्थित हूँ। अथवा यहाँ यह जगत् का राज्य न रहे, तो भी मैं शान्तरूप हो परमात्मा में स्थित हूँ। ध्यान दृष्टि से मेरा क्या काम है ? राज्य वैभव की सम्पत्ति से भी मेरा क्या प्रयोजन है ? जो आता है, वह आये। न वह मैं हूँ न कहीं कुछ मेरा है। यदि आवश्यकता की दृष्टि से इस समय मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है तो अकर्तव्य भी कुछ नहीं है। अतः यह जो कुछ प्रस्तुत कर्म-राज्यपालन आदि है, इसे मैं क्यों न करूँ ?'

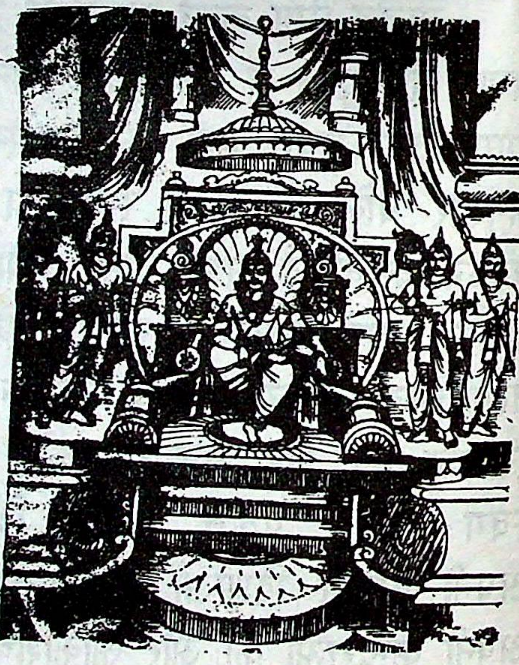

ऐसा विचार करके बलि वासनारहित मन से वहाँ समस्त राज्य कार्य करने लगे। उन्होंने पूजन के अर्घ्य पाद्य आदि उपचारों द्वारा देवतओं, ब्राह्मणों और गुरुजनों की पूजा की तथा सुहृदों, बन्धु-बान्धवों, सामन्तों और सत्पुरुषों का दान-मान आदि के द्वारा सत्कार किया। इतना ही नहीं, उन्होंने सेवकों और याचकों को धन-धान्य से परिपूर्ण कर दिया। इस प्रकार उस राज्य में, जहाँ सब पर समान रूप से शासन किया जाता था राजा बलि दिनों-दिन बढ़ने लगे। किसी समय उनके मन में यज्ञ करने का विचार हुआ, तब वे शुक्राचार्य आदि मुख्य-मुख्य ब्राह्मणों के साथ महायज्ञ अश्वमेध का अनुष्ठान करने लगे। उस यज्ञ में समस्त भुवनों के प्राणियों को तृप्त किया गया। देवर्षियों के समुदाय ने उस यज्ञ की भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजा बलि को भोग समूहों की अभिलाषा नहीं है-ऐसा निश्चय करके सिद्धिदाता भगवान् लक्ष्मीपति विष्णु बलि के अभीष्ट मनोरथ की सिद्धि के लिये उस यज्ञ में पधारे। कार्य के तत्त्व को जानने वाले श्रीहरि एकमात्र भोगों में आसक्त होने के कारण कृपण एवं

शोचनीय देवराज इन्द्र को, जो (उनके बड़े भाई होने के नाते) अवस्था में ज्येष्ठ थे, इस जगत्‌रूपी जंगल का भाग देने के लिये वहाँ आये थे। उन्होंने बल पूर्वक पैर बढ़ाकर तीनों लोकों को नाप लिया और बलि को वैभव-भोग से वंचित करके उन्हें पाताल में ही बाँध दिया अर्थात् उन्हें पाताल लोक के ही राज्य का अधिकारी बना दिया। श्रीराम! अब वे जीवन्मुक्त और अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा में स्थित हो मन को सदा परमात्मा चिन्तन में लगाये रखकर पुनः भावी इन्द्र पद की प्राप्ति के हेतु पाताल में ही विराजमान हैं। पातालरूपी गर्त में रहकर जीवन्मुक्तस्वरूप बलि आपत्ति और सम्पत्ति को समान दृष्टि से ही देखते हैं। उनका सारा मनोरथ पूर्ण हो चुका है। वे भोगों की अभिलाषा छोड़कर नित्य अपने आत्मा में ही रमण करते हुए पाताल में प्रतिष्ठित हैं। श्रीराम! ये बलि पुनः इन्द्र पद पर विराजमान हो बहुत वर्षों तक इस सम्पूर्ण जगत् पर शासन करेंगे। भविष्य में होने वाली इन्द्रपद की प्राप्ति की आशा से न तो उन्हें हर्ष होता है और न अपने त्रिलोकी के राज्यपद से भ्रष्ट कर दिये जाने के कारण उनके मन में उद्वेग ही होता है। वे सभी भावों में सम तथा सदा ही संतुष्ट चित्त रहकर प्राप्त भोगों का अनासक्त भाव से सेवन करते हुए आकाश के समान अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा में नित्य स्थित हैं।

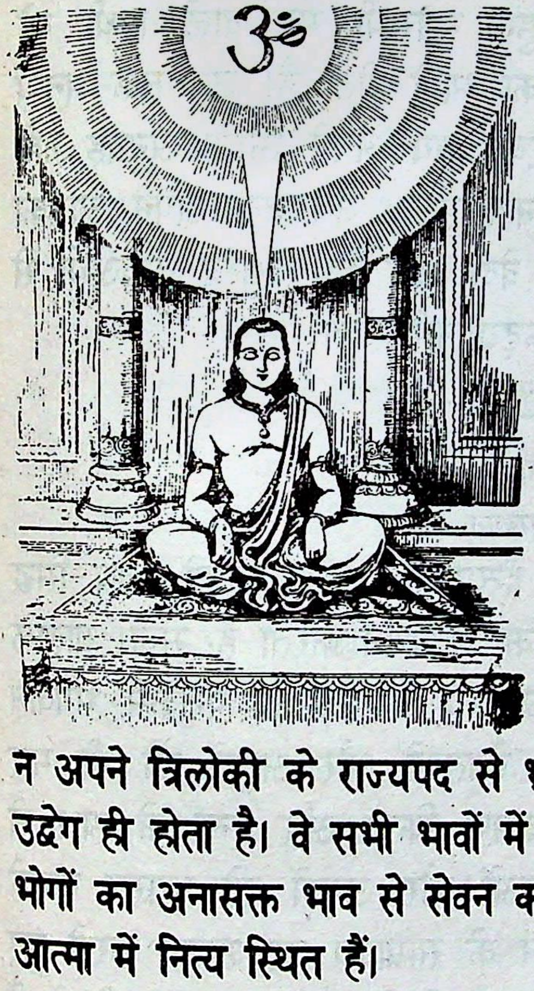

असुरराज बलि लगातार दस करोड़ वर्षों तक तीनों लोकों का राज्य करके अन्त में उससे विरक्त हो गये। अतः भोग समूहों में अवश्य वैरस्य (रस का अभाव एवं दुःख का बाहुल्य) है। श्रीराम! सूर्य के समान सब को प्रकाशित करने वाले सच्चिदानन्द स्वरूप तुम्हीं सम्पूर्ण जगत् में स्थित हो। तुम्हारे लिये कौन अपना है और कौन पराया ? महाबाहो! तुम अनन्त हो, आदि पुरुषोत्तम हो। तुम्हारा शरीर चिन्मय है। सैकड़ों पदार्थों के रूप में तुम्हीं चेष्टा कर रहे हो। जैसे सूत में मणियाँ पिरोयी होती हैं, उसी प्रकार नित्य प्रकाशमान,

शुद्ध-बुद्धस्वरूप तुम में यह सारा चराचर जगत् पिरोया हुआ है। तुम्हारा न जन्म होता है न मृत्यु। तुम अजन्मा हो, अन्तर्यामी और विराट् पुरुष हो। शुद्ध चैतन्य ही तुम्हारा स्वरूप है। तुम इस जगत् के स्वामी और नित्य प्रकाशित होने वाले चिन्मय सूर्यरूप से स्थित हो। तुममें ही यह स्वप्न-तुल्य सारा संसार भासित होता है। मनुष्य को उचित है कि बालक के समान यह मन जिन-जिन स्थानों में आसक्त होता है, वहाँ-वहाँ से उसे हटाकर परम तत्त्वस्वरूप परमात्मा में लगाये। इस प्रकार अभ्यास को प्राप्त हुए मनरूपी मत वाले हाथी को सर्वतोभावेन बाँधकर मनुष्य परम कल्याण का भागी होता है। जब तक मनुष्य आत्मसाक्षात्कार के लिये परम पुरुषार्थ करके स्वयं अपने ऊपर अनुग्रह नहीं करता, तब तक विवेक-विचार का उदय नहीं होता। जब तक अपने आपका यथार्थरूप से अनुभव नहीं होता, तब तक वेदों और वेदान्तशास्त्र के अर्थों से तथा तार्किक दृष्टियों से भी आत्मा का प्राकट्य नहीं होता।

उन्नीसवां सर्ग समाप्त

बीसवां सर्ग

प्रहलाद का उपाख्यान

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम! जैसे दैत्यराज प्रहलाद अपने-आप सिद्ध हो गये थे, ज्ञान प्राप्ति के उस उत्तम क्रम का मैं वर्णन करता हूँ; सुनो। पाताल लोक में हिरण्यकशिपु नाम से प्रसिद्ध एक दैत्य था जिसका पराक्रम भगवान् नारायण के समान था। उसने युद्धभूमि में देवतओं और असुरों को भी मार भगाया था। उसने समस्त भुवनों पर आक्रमण किया और इन्द्र के हाथ से त्रिलोकी का राज्य छीन लिया। वह देवताओं और असुरों को परास्त करके तीनों लोकों का राजय करने लगा। त्रिभुवन के साम्राज्य पर शासन करते हुए उस असुराज ने यथा समय बहुत से पुत्र उत्पन्न किये। जैसे बहुमूल्य मणियों में कौस्तुभ प्रधान है, उसी प्रकार उन सभी पुत्रों में प्रहलाद नामक बलवान् पुत्र प्रधान हुआ। इससे हिरण्यकशिपु का गर्व और भी बढ़ गया। उसका आक्रमण जनित ताप उत्तरोत्तर बढ़कर तीनों लोकों को उसी तरह तपाने लगा, जैसे प्रलयकाल के बारह सूर्य अपनी किरणों की नूतन प्रभा से समस्त भुवनों को संतप्त कर देते हैं। उसके आक्रमण से सूर्य और चन्द्र आदि देवता खिन्न हो उठे। उन सबने ब्रह्माजी से उस दैत्यराज के वध के लिये प्रार्थना की। क्यों न

हो, किसी के बारंबार किये जाने वाले दुष्कर्म या अपराध को महापुरुष भी सहन नहीं कर सकते। तदनन्तर लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु ने नृसिंहरूप धारण कर जोर-जोर से दहाड़ते हुए उस महान् असुर को उसी प्रकार मार डाला, जैसे हाथी कटकट शब्द के साथ घोड़ों को मार डालता है। भगवान् नृसिंह के नख दिग्गजों के दाँतों के समान सुदृढ़ और वज्र आदि के समान भयंकर थे। उनकी चमकीली दन्त पंक्ति सुस्थिर विद्युल्लता के समान शोभा पा रही थी। उनका क्रोध तीनों लोकों को दग्ध करने के लिये प्रज्वलित हुई प्रलयाग्नि के समान जान पड़ता था। उनके सम्पूर्ण अंगों से पट्टिश, प्रास, तोमर आदि नाना प्रकार के आयुध निकल रहे थे। जैसे प्रलयकाल में अग्नि की ज्वाला समस्त जगजंजाल को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार भगवान् नृसिंह के नेत्रों से प्रकट हुई आग ने उस असुरपुरी के समस्त असुरों को दग्ध कर दिया। संवर्तक नामक प्रलयंकर मेघों की गर्जना युक्त धारावाहिक वृष्टि से सर्वत्र व्याप्त हुए एकार्णव में बिक्षुब्ध हुई वायु के समान जब भगवान् नृसिंह अत्यन्त क्षोभ से भर गये, तब समस्त दानवों के समुदाय दिशाओं में जलते हुए मच्छरों के समान भाग-भागकर अदृश्य हो गये। भगवान् नृसिंह हिरणयकशिपु का वध करके आश्वस्त हुए देवताओं द्वारा बड़े आदर के साथ पूजित हो तब धीरे से कहीं चले गये, तब मरने से बचे हुए दानव प्रहलाद से सुरक्षित हो अपने उस जले हुए देश में लौट गये। वहाँ अपने बन्धु-बान्धवों के नाश का विचार करके समयोचित विलाप करने के अनन्तर उन सबने परलोकवासी बन्धुओं का और्ध्वदैहिक संस्कार एवं श्राद्ध किया। तदनन्तर जिनके बन्धु-बान्धव मारे अथवा भगवान् नृसिंह की क्रोधाग्नि से जल गये थे, मरने से बचे हुए उन आत्मीय जनों को उन सबने धीरे-धीरे आश्वासन दिया।

भगवान् नृसिंह ने जहाँ दानवों का विनाश कर डाला था, उस पाताल-गर्त में रहने वाले मननशील प्रहलाद ने मन-ही-मन अत्यन्त दुखी हो विवेकपूर्वक विचार किया-'इस संसार में सब प्रकार से, सब तरह की पवित्र बुद्धियों से और समस्त उत्तम क्रियाओं द्वारा तीव्रतापूर्वक शरण लेने योग्य एकमात्र भगवान् श्रीहरि ही हैं। उनके सिवा यहाँ दूसरी कोई गति नहीं है। तीनों लोकों में उनसे बढ़कर कोई नहीं है। सृष्टि, पालन और संहार के एकमात्र कारण श्रीहरि ही हैं। अब इसी क्षण से सदा के लिये मैं अजन्मा भगवान् नारायण की शरण में

आया हूँ। जैसे वायु आकाश से अलग नहीं होती, उसी प्रकार सम्पूर्ण मनोरथों का साधक 'नमो नारायणाय' यह मंत्र मेरे हृदयकोष से दूर नहीं होता। श्रीहरि ही दिशा हैं, हरि ही आकाश हैं; वे ही पृथ्वी हैं और वे ही जगत् हैं; अतः मैं भी अप्रमेयात्मा श्रीहरि ही हूँ। मैं विष्णुरूप हो गया हूँ। श्रीहरि ही प्रहलाद नाम से प्रकट हैं। मुझ आत्मा से श्रीहरि भिन्न नहीं हैं, मेरे अन्तःकरण में यह दृढ़ निश्चय हो गया है, अतएव मैं सर्वव्यापी हरि ही हूँ। जिनकी हाथरूपी शाखाओं पर चक्र, गदा और खंग आदि अस्त्ररूपी पक्षी सदा विश्राम करते हैं, जो नख किरणमयी मंजरियों से व्याप्त हैं जिनके कंधे कोमल–कोमल मन्दार पुष्प की मालाओं से अलंकृत हैं, वे महान मरकत्–मणिमय वृक्षों के समान ये मेरी चार भुजाएँ सुशोभित हो रही हैं, जिनके बाजूबंद समुद्र मन्थन के समय मन्दराचल की रगड़ से घिस गये थे। ये सदा क्रमशः शीतल तथा उष्ण रहने वाले दो देवता चन्द्रमा और सूर्य, जिन्होंने संसार को प्रकाशित किया है, मेरे मुखमण्डल के दो नेत्र हैं, नील कमल के समान श्याम तथा गहरी मेघ मालाओं के समान सुन्दर मेरी यह अंग कान्ति सब ओर फैल रही है। मेरे हाथ में यह पांचजन्य शंख है, जिससे गम्भीर ध्वनि का विस्तार होता है। यह शब्द स्वरूप होने के कारण मूर्तिमान् आकाश और श्वेत होने से क्षीर सागर के समान जान पड़ता है। मेरे करतल में यह शोभाशाली कमल विद्यमान है, जो मेरी ही नाभि से उत्पन्न हुआ है। यह दैत्यों और दानवों का मर्दन करने वाली मेरी भारी गदा है, जो रत्नजटित होने से चितकबरी और सोने के अंगद (वलय) से विभूषित होने के कारण सुमेरू पर्वत के शिखर सी प्रतीत होती है, यह मेरा सुदर्शन चक्र है, जिससे सब ओर किरणें छिटक रही हैं तथा जिसकी आकृति साक्षात् सूर्य के समान दिखायी देती है। यह धूमयुक्त अग्नि के समान सुन्दर मेरा काला और चमकीला नन्दक नामक खंग है, जो दैत्यरूपी वृक्षों का उच्छेद करने के लिये कुठार है, और देवताओं को आनन्द प्रदान करने वाला है। यह इन्द्रधनुष के समान सुन्दर और नागराज वासुकि के समान कुण्डलाकार मेरा शंख धनुष, जो पुष्पक और आवर्तक नामक मेघों के समान बाणरूपी जल की अविच्छिन्न धाराएँ बरसाता है। पृथ्वी ये मेरे दोनों पैर हैं, आकाश मेरा यह सिर है, तीनों लोक मेरे शरीर हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ मेरी कुक्षि हैं। मैं नील मेघ के भीतरी भाग की भाँति श्याम कान्ति से सुशोभित, गरुड़रूपी पर्वत पर आरूढ़ एवं शंख,

चक्र तथा गदा धारण करनेवाला साक्षत् विष्णु हूँ। मेरे सामने खड़े हुए ये देवता और असुर मेरे तेज के प्रवाह को उसी तरह नहीं सह सकते, जैसे मन्द दृष्टि वाले लोग सूर्य की प्रभा को नहीं सहन कर पाते। ये ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि और रुद्र आदि देवता बहुसंख्य मुखों से निकली हुई अनन्त वाणी द्वारा मुझ सर्वेश्वर विष्णु की ही स्तुति करते हैं। मेरा ऐश्वर्य बहुत बढ़ा हुआ है। मैं अपराजित विष्णुरूप हो गया हूँ, सब प्रकार के द्वन्द्वों से ऊपर उठकर अपनी सर्वोत्कृष्ट महिमा से सम्पन्न हूँ।

बीसवां सर्ग समाप्त

इक्कीसवां सर्ग

प्रह्लाद के द्वारा भगवान् विष्णु की मानसिक एवं बाह्य पूजा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! इस प्रकार विचार करके भावना द्वारा अपने शरीर को साक्षात् नारायण का स्वरूप बनाकर प्रह्लाद ने उन असुरारि श्रीहरि की पूजा के लिये फिर इस प्रकार चिन्तन आरम्भ किया–'मैं भावना-दृष्टि से देख रहा हूँ कि ये भगवान् विष्णु दूसरा शरीर धारण करके मेरे भीतर से बाहर आकर खड़े हैं, गरुड़ की पीठ पर बैठे हैं, चतुर्विध शक्तियों से सम्पन्न हैं। इनके हाथों में शंख, चक्र और गदा आदि शोभा पा रहे हैं। भगवान् के श्रीअंग सुन्दर श्याम कान्ति से सुशोभित हैं। इनके चार भुजाएँ हैं। चन्द्रमा और सूर्य ही इनके नेत्र हैं। ये अद्भुत शोभा से सम्पन्न हैं। कान्तिमान् नन्दक नामक खंग से अपने भक्तजनों को आनन्द प्रदान करते हैं। इनके हाथ में कमल शोभा दे रहा है। नेत्र बड़े-बड़े हैं। ये शार्ङ्गधनुष धारण करते हैं और महान् तेज से सम्पन्न हैं। इनके पार्षद इन्हें सब ओर से घेरे हुए हैं। इसलिये मैं शीघ्र ही भावना भावित समस्त सामग्रियों से सुशोभित मानसिक पूजा द्वारा इनका पूजन आरम्भ करता हूँ। इसके बाद बाहरी उपकरणों से युक्त और अनेक प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण विशाल पूजा का

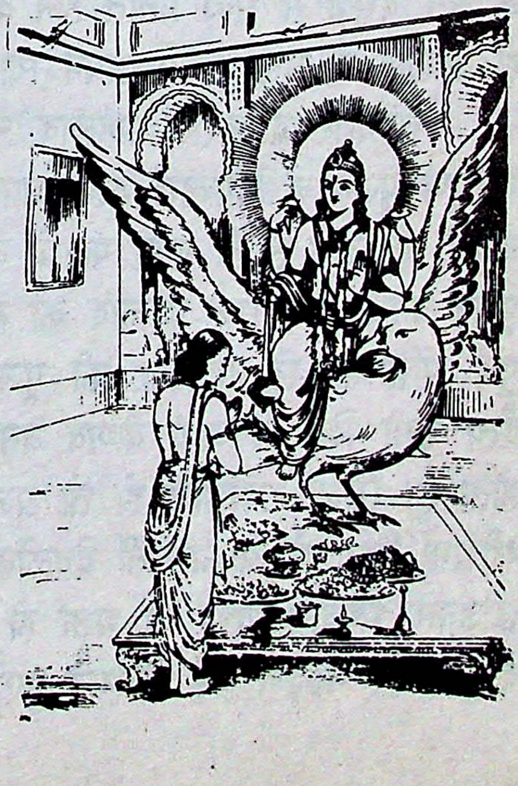

भी आयोजन करके इन महान् देव नारायण की पूजा-अर्चना करूँगा।

ऐसा विचार कर प्रहलाद ने विविध पूजा-सामग्रियों के सम्भार से युक्त मन के द्वारा कमलापति माधव का पूजन आरम्भ किया। रत्नसमूहों से जटित नाना प्रकार के पात्रों द्वारा अभिषेक करके भगवान् के श्रीअंगों में उन्होंने चन्दन आदि का अनुलेप किया। फिर नाना प्रकार धूप-दीप निवेदन किये, भाँति-भाँति के वैभवशाली आभूषण पहनाये, मन्दार-पुष्पों की मालाएँ धारण करायीं, सुवर्णमय कमलों की राशि भेंट की, कल्पवृक्ष की लताओं तथा रत्नों के गुच्छ (गुलदस्ते) अर्पित किये, दिव्य वृक्षों के पल्लव तथा नाना प्रकार के फूलों के हार उपहार में दिये, किंकिरात, बक, कुन्द, चम्पा, नीलकमल, लालकमल, कुमुद, काश, खजूर, आम, पलाश, अशोक, मेनफल, बेल, कनेर, किरातक, कदम्ब, बकुल, नीम, सिन्दुवार, जूही, परिभद्र, गगुल और बिन्दुक आदि के यथायोग्य पत्र-पुष्प एवं फल अर्पित किये। प्रियंग, पाट, पाटल, धातुपाटल, आम, अमड़ा, गव्य, हर्रे और बहेड़े भेंट किये। शाल, ताल और तमाल के लता, फूल एवं पल्लव चढ़ाये, कोमल कलिकाएँ अर्पित कीं, सहकार, कुकुंम, केतक, शतपत्र और इलायची की मंजरियाँ अर्पित कीं। फिर नैवेद्य, ताम्बूल, आरती और पुष्पांजलि आदि सुन्दर-सुन्दर उपचारों को सादर समर्पित किया। अन्त में अपने आपको श्रीहरि के चरणों में भेंट कर दिया। इस प्रकार जगत् के सारे वैभवों से भव्य प्रतीत होने वाली पूजन सामग्री एवं उच्चकोटि की भक्ति से प्रहलाद ने अन्तःपुर में अपने स्वामी भगवान्‌विष्णु का मानसिक पूजन किया।

तदनंतर दानवराज प्रहलाद ने सुप्रसिद्ध देव मन्दिर में ब्राह्य वैभवों से परिपूर्ण पूजन के उपचारों द्वारा भगवान् जनार्दन की पूजा की। मानस-पूजन में बताये गये क्रम से ही बाह्य पदार्थों के अर्पण द्वारा बारंबार परमेश्वर श्रीहरि का पूजन करके दानवराज प्रहलाद को बड़ा संतोष हुआ। तभी से प्रहलाद प्रतिदिन पूर्ण भक्तिभाव से परमेश्वर की पूजा करने लगे। फिर तो उस नगर के सभी दैत्य उसी दिन से भव्य वैष्णव बन गये; क्योंकि राजा ही आचार का कारण होता है। (राजा सदाचारी हो तो प्रजा भी सदाचार परायण होती है।) शत्रुसूदन श्रीराम! फिर तो आकाशवर्ती देवलोक में यह बात फैल गयी कि सारे दैत्य द्वेष छोड़कर भगवान् विष्णु के भक्त हो गये हैं। रघुनन्दन! यह सुनकर इन्द्र आदि देवता और मरुद्गण बड़े विस्मित हुए कि दैत्यों ने भगवान् विष्णु की भक्ति कैसे

अपनायी। आश्चर्य में डूबे हुए देवता अन्तरिक्षवर्ती स्वर्गलोक को छोड़कर क्षीरसागर में शेषनाग की शय्या पर विराजमान भगवान् श्रीहरि के पास गये। वहाँ बैठे हुए भगवान् से उन्होंने दैत्यों का सारा समाचार कह सुनाया और इस अपूर्व आश्चर्य तथा विस्मय से भरे हुए स्वभाव-परिवर्तन का कारण पूछा।

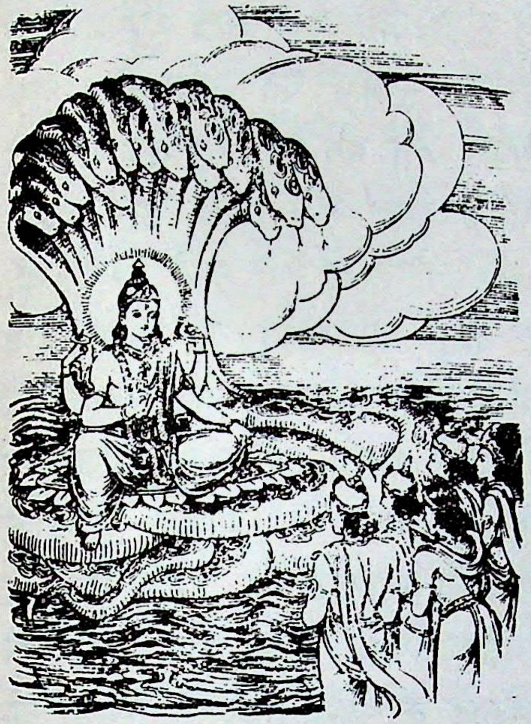

देवता बोले-भगवन्! यह क्या बात है? जो दैत्य सदा ही आपके विरोधी रहे, वे ही आपकी भक्ति में कैसे तन्मय हो गये ? कहाँ तो वे अत्यन्त दुराचारी दानव और कहाँ आप भगवान् जनार्दन के प्रति उत्तम भक्ति। कहाँ तो पामरोचित कार्य करने वाला, सदा निन्दित कर्मों में निरत और हीन जाति वाला बेचारा दानव-समाज और कहाँ आप भगवान् विष्णु की उत्तम भक्ति !

श्रीभगवान् बोले-देवताओ ! तुम विषाद में न पड़ो। शत्रुदमन प्रहलाद भक्तिमान् हो गये हैं। यह उनका अन्तिम जन्म है। अब वे मोक्ष के अधिकारी हो गये हैं। इसके बाद ये दानवप्रहलाद गर्भवास नहीं कर सकते। जैसे भूना हुआ बीज अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए कर्म बन्धन कारक नहीं हो सकते। श्रेष्ठ देवगण! तुम लोग अपने-अपने विचित्र लोकों में पधारो। प्रहलाद की यह गुणवत्ता (उनकी यह भगवद्‌भक्ति) तुम्हें दुःख देने वाली नहीं हो सकती।

इक्कीसवां सर्ग समाप्त

बाईसवां सर्ग

प्रहलाद द्वारा स्तुति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! देवताओं से ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये और देवताओं का समुदाय स्वर्गलोक को लौट गया। तब से प्रहलाद के प्रति देवताओं की मित्रता हो गयी। भक्त प्रहलाद इसी प्रकार प्रतिदिन मन, वाणी, और क्रिया द्वारा देवाधिदेव भगवान् जनार्दन की पूजा

करने लगे। पूजा में तत्पर रहने वाले प्रहलाद के हृदय में समय पाकर विवेक, आनन्द, वैराग्य और विभूति आदि गुण बढ़ने लगे। जैसे पक्षी सूखे हुए वृक्ष को पसंद नहीं करते, उसी प्रकार प्रहलाद ने भोग–समूहों का अभिनन्दन नहीं किया–भोगों की ओर से उनकी रुचि हट गयी। जैसे मृग जन समुदाय से भरी हुई भूमि में प्रसन्न नहीं होता, उसी प्रकार उनका मन कान्ताओं में नहीं रमता था, शास्त्रीय बातों की चर्चा के सिवा अन्य लोकचर्याओं में उसका मन नहीं लगता था। नाशवान् दृश्य पदार्थों से उनकी आसक्ति सर्वथा दूर हो गयी थी। भगवान् विष्णु ने क्षीरसागररूपी मन्दिरों में रहते हुए ही अपनी सर्वव्यापिनी परम दिव्य बुद्धि के द्वारा प्रहलाद की उस उच्चतम स्थिति को जान लिया। तदनन्तर भक्तों को आल्हाद प्रदान करने वाले भगवान् विष्णु पाताल–मार्ग से प्रहलाद के उस भवन में पधारे, जिसमें वे अपने इष्ट देव की पूजा किया करते थे। कमलनयन भगवान् विष्णु को आया हुआ जानकर दैत्यराज प्रहलाद ने पहले की अपेक्षा दुगुनी वैभवशाली सामग्री से सुशोभित पूजा–विधि द्वारा उनका आदर–सत्कार पूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् पूजागृह में पधारे हुए भगवान् श्रीहरि को प्रत्यक्ष विराजमान देख परम प्रतियुक्त हुए प्रहलाद ने भक्ति से परिपुष्ट हुई वाणी द्वारा उनका स्तवन आरम्भ किया।

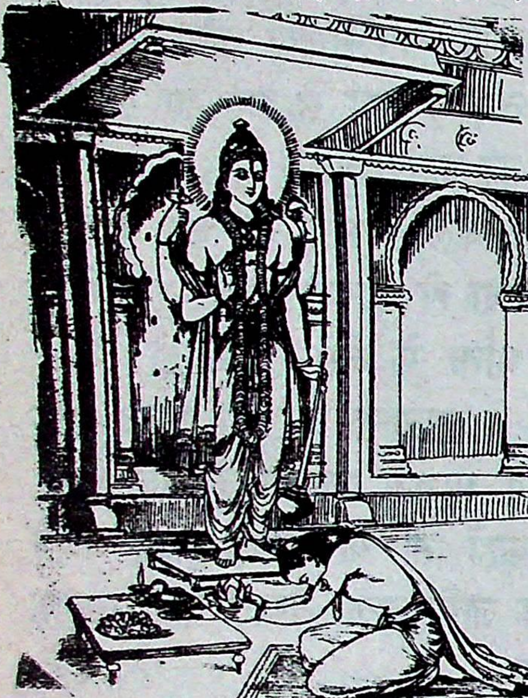

प्रहलाद बोले–जो त्रिभुवनरूपी रत्न को सुरक्षित रखने के लिये मनोहर कोशागार हैं, उपासकों के सारे पापों को हर लेने वाले हैं, अज्ञानान्धकार से परे परम प्रकाशस्वरूप हैं, अशरण को शरण देने वाले तथा शरणागत पालक हैं, उन अजन्मा, अच्युत, परमेश्वर श्रीहरि की मैं शरण लेता हूँ।

जो प्रफुल्ल नील कमलदल तथा नीलमणि के समान श्याम सुन्दर कान्ति से सुशोभित हैं, जिनके श्याम विग्रह के लिये शरद् ऋतु के निर्मल आकाश के मध्याभाग से उपमा दी जाती है, भ्रमर, अन्धकार, काजल और अंजन के समान नील आभा से जिनके श्रीअंग प्रकाशित होते हैं तथा जो अपने हाथों में

कमल, चक्र एवं गदा धारण करते हैं, उन भगवान् विष्णु की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

जो परम निर्मल हैं, जिनके कोमल अंग अलिकलाप (भ्रमर-राशि) के समान श्याम हैं, जिनके हाथ में श्वेत दलवाले अधखिले कमल के समान शंख शोभा पाता है, जिनके नाभि-कमल में वेद मंत्रों की ध्वनिरूप गुंजारव से युक्त ब्रह्मारूपी भ्रमर विराजमान है तथा जो अपने भक्तजनों के हृदय-कमल-दल में निवास करते हैं, उन भगवान् श्रीहरि की मैं शरण लेता हूँ।

भगवान् के श्वेत नखसमूह जहाँ तारों के समान छिटके हुए हैं, जहाँ मधुर मुस्कान की ज्योत्स्ना से उज्ज्वल मुखरूपी पूर्ण चन्द्र-मण्डल का प्रकाश छा रहा है तथा हृदय स्थित कौस्तुभ मणि की किरणों का समूह जहाँ आकाश गंगा की छटा छिटका रहा है, उन सर्वव्यापी श्रीहरिरूपी शरत्कालिक निर्मल आकाश की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

प्रलयकाल में अक्षवट के पत्र पर शयन करने वाले शिशुरूप बालमुकुन्द की मैं शरण लेता हूँ। बालक होने पर भी उनका अनन्त कल्याणमय दिव्य गुणगणों से सुशोभित शरीर बहुत पुराना (वृद्ध) है। उनके उस बालवपु के उदर भाग में यह घनीभूत सारी सृष्टि पूर्णतया समायी हुई है। वे भगवान् नित्य निरन्तर विराजमान, जन्म-वृद्धि आदि विकारों से रहित तथा विशाल (सर्वत्र व्यापक) हैं।

नूतन खिले हुए नाभि-कमल के पराग से जिनका वक्षःस्थल गौरवर्ण का प्रतीत होता है, जिनका वामांग लक्ष्मीजी के दीप्तिमान् देह से विभूषित है, जो सायंकालिक अरुण किरण के समान लाल अंगराग धारण करते हैं तथा सुवर्ण के समान रंगवाले रेशमी पीताम्बर से जिनका श्रीविग्रह परम सुन्दर दिखायी देता है, उन भगवान् श्रीनारायण की मैं शरण लेता हूँ।

दैत्यरूपिणी कमलिनी पर तुषारपात करने के लिये जो हेमन्त और शिशिर के समान हैं, देवरूपिणी नलिनी को विकसित करने के लिय सदा उदित रहने वाले सूर्यबिम्ब के सदृश हैं तथा ब्रह्मारूपी कमल के उद्भव के लिये जो जल से भरे हुए तड़ाग के तुल्य हैं, उपासकों के हृदय-कमल में निवास करने वाले उन भगवान् श्रीहरि का मैं आश्रय लेता हूँ।

जो त्रिभुवनरूपी कमल के विकास के लिये सूर्य के सदृश हैं, अन्धकार

की भाँति बुद्धि को आच्छादित करने वाले मोह या अज्ञान का निवारण करने के लिये उत्तम एवं प्रज्वलित दीपक के तुल्य हैं, जिनमें जड़तारूपिणी माया का अभाव है, जो सदा अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हैं अथवा नित्य दिव्य प्रकाश जिनका रूप है, उन चिन्मय आत्मतत्त्वस्वरूप तथा सम्पूर्ण जगत् की सारी पीड़ाओं को हर लेने वाले श्रीहरि की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

वसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! इसप्रकार बहुत सी गुणावलियों से युक्त स्तुतिवचनों द्वारा पूजित हुये असुर–विनाशक तथा नीलकमल दल के समान श्याम भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर प्रीतियुक्त भक्त दैत्यराज प्रहलाद से बोले।

बाईसवां सर्ग समाप्त

तेईसवां सर्ग

प्रहलाद को भगवान् द्वारा वर–प्राप्ति

श्रीभगवान् ने कहा–दैत्यकुलशिरोमणि प्रहलाद ! तुम तो गुणों के आकर हो, अतः जन्म–मरणरूपी दुःख की निवृत्ति के लिये तुम पुनः अपना अभीष्ट वर माँग लो।

प्रहलाद बोले–भगवान्! आप समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में विराजमान होकर उनके इच्छानुसार फल प्रदान करने वाले हैं; अतः विभो! आप जिस वस्तु को सबसे श्रेष्ठ समझते हों, वही मुझे देने की कृपा कीजिये।

श्रीभगवान् ने कहा–निष्पाप प्रहलाद ! जब तक तुम्हें ब्रह्मत्व की प्राप्ति न हो जाय, तब तक तुम सम्पूर्ण संशयों की पूर्णतया शान्ति तथा सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूप फल के लिए विचार परायण बने रहो।

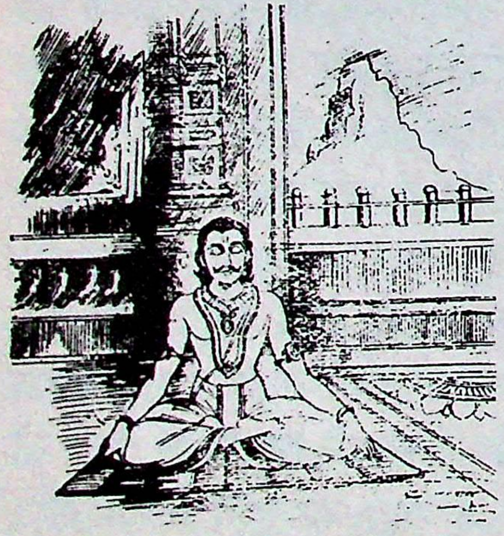

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! दैत्यराज प्रहलाद से ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। उन विष्णुदेव के अन्तर्हित हो जाने पर प्रहलाद ने पूजा के अन्त में मणि–रत्नों से सुशोभित पुष्पांजलि समर्पित की। उस समय उनका चित्त

अत्यन्त प्रसन्न था। वे एक श्रेष्ठ आसन पर पद्मासन लगाकर बैठ गये और स्तोत्र पाठ करते समय अपने हृदय में यों विचार करने लगे कि आवागमनरूपी संसार का निवारण करने वाले भगवान् ने मुझे ऐसा उपदेश दिया है कि 'तुम विवेक-विचार-संयुक्त होओ। अतः मैं अपने अन्तःकरण में आत्म विचार करने में तत्पर होता हूँ। वृक्ष, तृण और पर्वतों से युक्त यह जगत् तो मैं हूँ नहीं; क्योंकि जो बाह्य और अत्यन्त जड़ है, वह मैं कैसे हो सकता हूँ। अचेतन शरीर भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि यह असत् होता हुआ भी प्रकट, जड़ होने के कारण बोलने में असमर्थ, प्राण वायुओं द्वारा अपने संचरणकाल में ही परिचालित और अल्प काल में ही विनष्ट होने वाला है। मैं तो केवल वह शुद्ध चेतन ही हूँ, जो ममताहीन, मननरूप मन के व्यापार से शून्य, शान्त, पाँचों इन्द्रियों भ्रमों से रहित और माया के सम्बन्ध से हीन है। यह जो सबका प्रकाशक, बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त, अखण्ड, निर्मल और सत्तामात्र है, वह जड़ दृश्यरहित शुद्ध चिन्मय आत्मस्वरूप ही मैं हूँ। यह आत्मा, जो सर्वव्यापक और विकल्परहित चिन्मय बोधस्वरूप है, वह मैं ही हूँ। यह आत्मा ही जगत् की स्थिति में निरन्तर अनुभव में आने वाले समस्त पदार्थों का आदि कारण है, परंतु इस आत्मा का कोई कारण नहीं है। इसी आत्मा से सारे पदार्थों का पदार्थत्व उत्पन्न होता है। ये घट-घट आदि आकार वाले सैकड़ों सांसारिक पदार्थ विशाल दर्पणरूप इस चिन्मय शुद्ध आत्मा में प्रतिबिम्बित होते हैं। यह अकेला मैं जो आदि और अन्त से रहित तथा सर्वव्यापक हूँ, सम्पूर्ण चराचर प्राणियों के अंदर आत्मस्वरूप से स्थित हूँ। मेरा यह साँवला स्वरूप-जो शंख, चक्र और गदा धारण करने वाला तथा सम्पूर्ण सौभाग्यों की चरम सीमा है, इस जगत् का पालन करता है। जो कमलरूपी आसन पर विराजते हैं और निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर परम सुख का अनुभव करते हैं, उन ब्रह्मा के रूप में मैं ही सदा इस जगत् में उत्पन्न होता हूँ मैं ही त्रिनेत्रधारी शिव होकर प्रलयकाल में इस जगत् का संहार करता हूँ। मैं ही इन्द्ररूप से मन्वन्तर के क्रम से प्राप्त हुई इस सम्पूर्ण त्रिलोकी का पालन करता हूँ। यह जो कुछ स्थावर-जंगमरूप जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है सम्पूर्ण संकल्पों से रहित वह परम शुद्ध चेतन आत्मरूप में ही हूँ। जिसमें अनन्त आनन्द का अनुभव प्राप्त होता है तथा जो परम शान्ति से सुशोभित एवं शुद्ध है, ऐसी यह चिन्मयी दृष्टि सम्पूर्ण दृष्टियों से बढ़कर है। जो शाश्वत एवं

विज्ञानानन्दघनरूप है, उस उत्तम साम्राज्य का परित्याग करके मुझे इन अनित्य एवं दुःखरूप राज्य-विभूतियों में लेशमात्र भी सुख की प्रतीति नहीं होती; क्योंकि ये विभूतियाँ रमणीय नहीं हैं। ऐसे विज्ञानानन्दघन परम पद को छोड़कर मूर्ख ही तुच्छ विषय भोगों में आसक्त होता है, विवेकशील ज्ञानी नहीं। भला, इस परम दिव्य दृष्टि का त्याग करके कौन मनुष्य घृणा करने योग्य तुच्छ राज्य में आसक्त होगा। जिन्होंने इस उत्तम दृष्टि का परित्याग करके दुःखरूप क्षणभंगुर राज्य में मन लगाया, वे सब-के-सब वास्तव में मूर्ख ही थे; क्योंकि कहाँ तो नन्दनवन की प्रफुल्लित रमणीय वनस्थली और कहाँ संतप्त मरुस्थल ! उसी प्रकार कहाँ तो ये पारमार्थिक शान्त दिव्य ज्ञानदृष्टियाँ और कहाँ देह एवं विषय-भोगों में अहंता-ममता बुद्धि ! अर्थात् इनमें आकाश-पाताल का अन्तर है। इस त्रिलोकी में राज्य पाकर भी वास्तविक सुख लेशमात्र भी नहीं मिलता, किंतु मूर्खता के कारण ही मनुष्य उसे चाहता है। उधर जो सर्वव्यापक, स्वस्थ सम, निर्विकार और सर्वरूप है, उस चेतन का आश्रय ग्रहण करने से सम्पूर्ण वास्तविक आनन्द सदा-सर्वदा प्राप्त होता रहता है। ये जो कोई भी विषयी मनुष्य मोहरूपी जाल में आ फँसे हैं, उनके गिरने का प्रधान कारण उनकी संकल्प-कल्पना ही है। इसी प्रकार मेरे पितामह आदि पूर्वजों ने भी जो संकल्प समूहों से आवृत और विषयरूपी गर्त में गिरने वाले थे, इस बाधारहित परमानन्दस्वरूप आत्म पद का अनुभव नहीं किया। इसलिये वे भूतल पर इने-गिने दिनों तक ही स्फुरित होकर गड्डे में गिरे हुए क्षुद्र मच्छरों की भाँति विनष्ट हो गये। सभी जीव इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूपी मोह से युक्त होने के कारण पृथ्वी के छिद्र में छिपे हुए कीटों की समता को प्राप्त हो गये हैं; परंतु जिसकी अनुकूल और प्रतिकूल कल्पनारूपी मृगतृष्णा सच्चिदानन्द परमात्मा के ज्ञानरूपी मेघ से शान्त हो चुकी है, उसी का जीवन धन्य है।

'ॐ' ही जिस सच्चिदानन्द ब्रह्म का सर्वोत्तम नाम है और जो समस्त विकारों से सर्वथा रहित है, वह परमात्मा ही भूतल के समस्त पदार्थों के रूप में विराजमान है। ज्योतिःस्वरूप वह परमात्मा ही सूर्य आदि के अंदर स्थित होकर अपनी सत्ता-स्फूर्ति से उन्हें प्रकाशित करता है। वही अग्नि को उष्णतायुक्त करता है और जल को रसमय बनाता है। भयरहित वह परमात्मा

स्वयं ही प्रकट होता है और ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त समस्त जगत् को अपनी सत्ता-स्फूर्ति से घुमाता रहता है। वह स्थाणु से भी बढ़कर नित्य अचल और आकाश से भी बढ़कर नित्य निर्लेप है। इसी का सदा अन्वेषण, स्तवन और ध्यान करना चाहिये। समस्त प्राणियों के शरीरों के अंदर उनके हृदय कमल में स्थित यह परमात्मा अत्यन्त सुलभ है; क्योंकि हृदय की भी सच्ची पुकार से यह तत्क्षण सम्मुख प्रकट हो जाता है। यह परमात्मदेव सभी शरीरों में उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे पुष्पों में सुगन्ध, तिलकणों में तेल और रसयुक्त पदार्थों में माधुर्य। परंतु हृदय में विद्यमान रहने पर भी यह चेतन विवेक विचार के अभाव के कारण जाना नहीं जा सकता; विचारणा के द्वारा ही उस परमेश्वर का ज्ञान होता है। उसे भलीभाँति जान लेने पर प्रियजन के समागम की तरह परमानन्द की प्राप्ति होती है। अतिशय आनन्द प्रदान करने वाले परमात्मारूपी उस परमप्रेमी बन्धु का दर्शन होने पर ऐसी-ऐसी बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके प्रभाव से साधक का परमात्मा से कभी वियोग नहीं होता। उसके सांसारिक स्नेह के समस्त बन्धन टूट जाते हैं, काम-क्रोध आदि सारे शत्रु विनष्ट हो जाते हैं, और तृष्णाएँ मन को चंचल नहीं कर पातीं। यही परमात्मा आकाश में शून्यता, वायु में स्पन्दन, तेजस्वी पदार्थों में प्रकाश, जल में उत्तम मधुरता, पृथ्वी में कठोरता, अग्नि में उष्णता, चन्द्रमा में शीतलता और सृष्टि समूह में सत्तारूप से स्थित है।

अज्ञानरूपी शत्रु ने मेरे विवेक-धन का अपहरण करके उसका सर्वनाश कर डाला था और वह इतने काल तक मुझे कष्ट देता रहा; परंतु इस समय स्वतः उत्पन्न हुई सर्वोत्तम विष्णु-कृपा से मुझे परम तत्त्व का ज्ञान हो गया है, जिससे मैंने उस अज्ञान का परित्याग कर दिया है। इस समय मैंने उस परम ज्ञानरूपी मंत्र के बल से इस अहंकार-पिशाच को शरीररूपी वृक्ष के खोखले से बाहर निकाल दिया है, जिससे मेरा यह शरीररूपी महान् वृक्ष अहंकाररूपी यक्ष से रहित होकर परम पवित्र हो गया है। और प्रफुल्लित वृक्ष के समान सुशोभित हो रहा है। विवेकरूपी धनराशि की प्राप्ति के कारण जब मेरे दुराशारूपी दोष सर्वथा नष्ट हो गये, तब मेरी अज्ञानरूपी दरिद्रता भी पूर्णतया शान्त हो गयी; अतः अब मैं परमेश्वर के रूप में स्थित हूँ। भगवान् की कृपा से मुझे सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त हो गया है और मैंने देखने योग्य सभी दृष्टियों

विज्ञानानन्दघनरूप है, उस उत्तम साम्राज्य का परित्याग करके मुझे इन अनित्य एवं दुःखरूप राज्य–विभूतियों में लेशमात्र भी सुख की प्रतीति नहीं होती; क्योंकि ये विभूतियाँ रमणीय नहीं है। ऐसे विज्ञानानन्दघन परम पद को छोड़कर मूर्ख ही तुच्छ विषय भोगों में आसक्त होता है, विवेकशील ज्ञानी नहीं। भला, इस परम दिव्य दृष्टि का त्याग करके कौन मनुष्य घृणा करने योग्य तुच्छ राज्य में आसक्त होगा। जिन्होंने इस उत्तम दृष्टि का परित्याग करके दुःखरूप क्षणभंगुर राज्य में मन लगाया, वे सब–के–सब वास्तव में मूर्ख ही थे; क्योंकि कहाँ तो नन्दनवन की प्रफुल्लित रमणीय वनस्थली और कहाँ संतप्त मरुस्थल ! उसी प्रकार कहाँ तो ये पारमार्थिक शान्त दिव्य ज्ञानदृष्टियाँ और कहाँ देह एवं विषय–भोगों में अहंता–ममता बुद्धि ! अर्थात् इनमें आकाश–पाताल का अन्तर है। इस त्रिलोकी में राज्य पाकर भी वास्तविक सुख लेशमात्र भी नहीं मिलता, किंतु मूर्खता के कारण ही मनुष्य उसे चाहता है। उधर जो सर्वव्यापक, स्वस्थ सम, निर्विकार और सर्वरूप है, उस चेतन का आश्रय ग्रहण करने से सम्पूर्ण वास्तविक आनन्द सदा–सर्वदा प्राप्त होता रहता है। ये जो कोई भी विषयी मनुष्य मोहरूपी जाल में आ फँसे हैं, उनके गिरने का प्रधान कारण उनकी संकल्प–कल्पना ही है। इसी प्रकार मेरे पितामह आदि पूर्वजों ने भी जो संकल्प समूहों से आवृत और विषयरूपी गर्त में गिरने वाले थे, इस बाधारहित परमानन्दस्वरूप आत्म पद का अनुभव नहीं किया। इसलिये वे भूतल पर इने-गिने दिनों तक ही स्फुरित होकर गड्डे में गिरे हुए क्षुद्र मच्छरों की भाँति विनष्ट हो गये। सभी जीव इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए सुख–दुःखादि द्वन्द्वरूपी मोह से युक्त होने के कारण पृथ्वी के छिद्र में छिपे हुए कीटों की समता को प्राप्त हो गये हैं; परंतु जिसकी अनुकूल और प्रतिकूल कल्पनारूपी मृगतृष्णा सच्चिदानन्द परमात्मा के ज्ञानरूपी मेघ से शान्त हो चुकी है, उसी का जीवन धन्य है।

'ॐ' ही जिस सच्चिदानन्द ब्रह्म का सर्वोत्तम नाम है और जो समस्त विकारों से सर्वथा रहित है, वह परमात्मा ही भूतल के समस्त पदार्थों के रूप में विराजमान है। ज्योतिःस्वरूप वह परमात्मा ही सूर्य आदि के अंदर स्थित होकर अपनी सत्ता–स्फूर्ति से उन्हें प्रकाशित करता है। वही अग्नि को उष्णतायुक्त करता है और जल को रसमय बनाता है। भयरहित वह परमात्मा

स्वयं ही प्रकट होता है और ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त समस्त जगत् को अपनी सत्ता-स्फूर्ति से घुमाता रहता है। वह स्थाणु से भी बढ़कर नित्य अचल और आकाश से भी बढ़कर नित्य निर्लेप है। इसी का सदा अन्वेषण, स्तवन और ध्यान करना चाहिये। समस्त प्राणियों के शरीरों के अंदर उनके हृदय कमल में स्थित यह परमात्मा अत्यन्त सुलभ है; क्योंकि हृदय की भी सच्ची पुकार से यह तत्क्षण सम्मुख प्रकट हो जाता है। यह परमात्मदेव सभी शरीरों में उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे पुष्पों में सुगन्ध, तिलकणों में तेल और रसयुक्त पदार्थों में माधुर्य। परंतु हृदय में विद्यमान रहने पर भी यह चेतन विवेक विचार के अभाव के कारण जाना नहीं जा सकता; विचारणा के द्वारा ही उस परमेश्वर का ज्ञान होता है। उसे भलीभाँति जान लेने पर प्रियजन के समागम की तरह परमानन्द की प्राप्ति होती है। अतिशय आनन्द प्रदान करने वाले परमात्मारूपी उस परमप्रेमी बन्धु का दर्शन होने पर ऐसी-ऐसी बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके प्रभाव से साधक का परमात्मा से कभी वियोग नहीं होता। उसके सांसारिक स्नेह के समस्त बन्धन टूट जाते हैं, काम-क्रोध आदि सारे शत्रु विनष्ट हो जाते हैं, और तृष्णाएँ मन को चंचल नहीं कर पातीं। यही परमात्मा आकाश में शून्यता, वायु में स्पन्दन, तेजस्वी पदार्थों में प्रकाश, जल में उत्तम मधुरता, पृथ्वी में कठोरता, अग्नि में उष्णता, चन्द्रमा में शीतलता और सृष्टि समूह में सत्तारूप से स्थित है।

अज्ञानरूपी शत्रु ने मेरे विवेक-धन का अपहरण करके उसका सर्वनाश कर डाला था और वह इतने काल तक मुझे कष्ट देता रहा; परंतु इस समय स्वतः उत्पन्न हुई सर्वोत्तम विष्णु-कृपा से मुझे परम तत्त्व का ज्ञान हो गया है, जिससे मैंने उस अज्ञान का परित्याग कर दिया है। इस समय मैंने उस परम ज्ञानरूपी मंत्र के बल से इस अहंकार-पिशाच को शरीररूपी वृक्ष के खोखले से बाहर निकाल दिया है, जिससे मेरा यह शरीररूपी महान् वृक्ष अहंकाररूपी यक्ष से रहित होकर परम पवित्र हो गया है। और प्रफुल्लित वृक्ष के समान सुशोभित हो रहा है। विवेकरूपी धनराशि की प्राप्ति के कारण जब मेरे दुराशारूपी दोष सर्वथा नष्ट हो गये, तब मेरी अज्ञानरूपी दरिद्रता भी पूर्णतया शान्त हो गयी; अतः अब मैं परमेश्वर के रूप में स्थित हूँ। भगवान् की कृपा से मुझे सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त हो गया है और मैंने देखने योग्य सभी दृष्टियों

को देख लिया है। इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त हो गयी है, जिसके पा लेने पर कुछ भी पाना अवशिष्ट नहीं रह जाता। सौभाग्य की बात है कि मैं उस ऊँची एवं विस्तृत पारमार्थिक भूमि को प्राप्त हो गया हूँ, जिसमें अनर्थों का नाम निशान नहीं है, विषयरूपी सर्पों का अत्यन्त अभाव हो गया है, अज्ञानरूपी कुहरा सर्वथा नष्ट हो गया है, आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है, जिसकी सारी दिशाएँ रजोगुणरूपी धूल से रहित हो गयी हैं और जिसमें शान्तिरूपी शीतल छायावाला वृक्ष लहलहा रहा है। भगवान् विष्णु की स्तुति, प्रणाम और प्रार्थना करने से तथा शम एवं यम नियमों के पालन से मुझे इन सच्चिदानन्दघन परमात्मा की प्राप्ति हुई है और उन्हीं की कृपा से मैंने परमात्मा को स्पष्ट रूप से देखा और समझा भी है। वह अविनाशी एवं अहंकार रहित विज्ञानघन परमात्मा भगवान् विष्णु की कृपावश चिरकाल से मेरी स्मृति में सुदृढ़रूप से स्थित हो गया है, जिससे मेरा मोह पूर्णतया शान्त हो गया है। अहंकाररूपी राक्षस नष्ट हो गया है और मैं दुराशारूपी पिशाचिनी से मुक्त हो गया हूँ; अतः अब मेरा संताप मिट गया है। सबसे बड़े हर्ष की बात तो यह है कि मेरी बहुत-सी दुर्वासनाएँ, जो दुराशाओं तथा दीर्घकाल से दुष्ट देह आदि में आत्मत्व के अभिमान से मलिन एवं भयरूपी सर्पों के लिये हितकारिणी थीं, भगवान् ध्यान से विनष्ट हो गयी हैं। मैंने सच्चिदानन्दघन परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है और उन्हें भलीभाँति जान भी लिया है। मुझे उनका यथार्थ अनुभव हो गया है, इसलिये उनका नित्य संयोग मुझे प्राप्त है। अब मेरा मन-जिसके विषय-भोग, संकल्प-विकल्प और इच्छाएँ पूर्णतया नष्ट हो गयी हैं, जो अहंकार से सर्वथा मुक्त है, जिसमें आसक्ति और विषय-भोगों की उत्कण्ठा लेशमात्र भी नहीं रह गयी है और जो बाहर-भीतर की चेष्टाओं से रहित हो गया है, संसार से उपराम होकर परमात्मा में लीन हो गया है।

यों समस्त पदों से उत्कृष्ट आनन्दरूप परमात्मा चिरकाल से मेरी स्मृति में स्थित हुए हैं। भगवन् ! बड़े सौभाग्य से आप मुझे उपलब्ध हुए हैं, अतः आप परमात्मा के लिये मेरा नमस्कार है। प्रभो ! मैं चिरकाल से आपका दर्शन करते हुए प्रणाम करके आलिंगन कर रहा हूँ। भला, त्रिलोकी में आपके अतिरिक्त मेरा परमप्रिय बन्धु और कौन हो सकता है। विश्व को उत्पन्न करने वाले विभो ! आपने अपनी सत्ता स्फूर्ति से सम्पूर्ण विश्व को परिपूर्ण कर रक्खा

है, इसी कारण सर्वत्र आपका नित्य अनुभव होता है; अतः अब आप कहाँ भागकर जा सकते हैं अर्थात् अदृश्य हो सकते हैं। परम प्रिय मित्र ! बहुसंख्य जन्मों के व्यवधान के कारण अज्ञानवश हम दोनों में जो अन्तर प्रतीत होता था, वह अब उस अज्ञान के नाश होने से दूर हो गया है और अभेदरूप समीपता प्राप्त हो गयी है। बड़े सौभाग्य से मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। आप कृतकृत्य, संसार के कर्ता और सबका भरण-पोषण करने वाले हैं; आपको बारंबार नमस्कार है। आप संसार वृक्ष के कारण, अविनाशी और विशुद्धात्मा हैं; आपको मेरा प्रणाम है। जिनके हाथों में चक्र और कमल सुशोभित होते हैं, उन विष्णु-रूप आपको नमस्कार है। ललाट पर अर्धचन्द्र धारण करने वाले शिवस्वरूप आपको मैं अभिवादन करता हूँ। कमल से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मारूप आपको प्रणाम है। देवराज इन्द्र के रूप में विराजमान आपकी मैं वन्दना करता हूँ। भगवन् ! हम दोनों में जो यह भेद दृष्टिगोचर हो रहा है, वह समुद्र के जल और उसकी तरंग के समान केवल झूठी कल्पना ही है। वस्तुतः हम दोनों में कोई भेद है ही नहीं आप सृष्टिकर्ता, सबके साक्षीरूप और अनन्त रूपों में प्रकट होने वाले हैं; आपको पुनः-पुनः नमस्कार है। सबके आत्मरूप और सर्वव्यापी आप परमात्मा को बारंबार प्रणाम है। देव ! मिट्टी, काष्ठ, पत्थर और जलमात्र यह सारा जगत् आपके सिवा और कुछ नहीं है अर्थात् आपका ही स्वरूप है; अतः आपकी प्राप्ति हो जाने पर फिर किसी अन्य वस्तु के प्राप्त करने के इच्छा ही नहीं रह जाती। जिसका वेद-वेदान्त के सिद्धान्त, तर्क और पुराणों के गीतों द्वारा वर्णन किया गया है, उस परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर फिर वह कैसे विस्मृत हो सकता है। निर्मल परब्रह्म परमात्मारूप आपका साक्षात्कार हो जाने पर देह के वे सुन्दर विषय-भोग भी आज मेरे हृदय को रुचिकर नहीं लग रहे हैं। आप निर्मल दिव्य ज्योतिःस्वरूप हैं। आपसे ही सूर्य में प्रकाशकता आयी है और शीतल हिमरूप आपसे ही चन्द्रमा को शीतलता की प्राप्ति हुई है। आपके ही प्रभाव से ये पर्वत गुरुता से सम्पन्न हुए हैं और आपने ही इन खेचरों को धारण कर रक्खा है। आपके ही बल से यह पृथ्वी अटलरूप से स्थित है और आपकी ही सत्ता से आकाश आकाशता को प्राप्त हो गये हैं और मैं आपके रूप में परिणत हो गया हूँ; अतः अब मैं आप हूँ और आप मैं हैं। इसलिये देव ! अब हम दोनों में भेद नहीं रह गया है

अर्थात् हम एकीभाव को प्राप्त हो गये हैं। इसमें भी मेरा सौभाग्य ही कारण है। मेरी आत्मा–जो सम, शुद्ध, निराकार और दिशा–काल आदि से रहित है, उसी में आप स्थित हैं। आपका स्वरूप सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। आपके ही अंदर यह संसार–मंडल था और रहेगा। काष्ठ में व्याप्त हुई आग की भाँति आप इस शरीर के अंदर स्थित हैं। आप ही सर्वोत्तम अमृतस्वरूप रस हैं और तेजस्वी पदार्थों को प्रकाशित करने वाले भी आप ही हैं। आप ही पदार्थों के ज्ञाता और ज्योतियों के प्रकाशक हैं। जैसे सुवर्ण में कड़े, बाजूबंद, केयूर आदि आभूषणों का आरोप किया जाता है, उसी तरह सांसारिक पदार्थ–समूह आपमें ही आरोपित हैं। आपको प्राप्त कर लेने पर प्रारब्धानुकूल प्राप्त हुए सुख–दुःख का प्रवाह समूल नष्ट हो जाता है–ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य के प्रकाश को पाकर अन्धकार का अथवा गरमी को पाकर हिम का नाम–निशान मिट जाता है। भगवन् ! यह सारा विश्व आपका ही स्वरूप है, आपकी जय हो। आप शान्ति परायण, सभी प्रामणों से परे और सम्पूर्ण अगमों द्वारा जानने योग्य हैं; आपकी बारंबार जय हो।

तेईसवां सर्ग समाप्त

चौबीसवां सर्ग

प्रहलाद का आत्मचिन्तन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! शत्रु वीरों का संहार करने वाले प्रहलाद इस प्रकार परमात्मा का चिन्तन करते–करते निर्विकल्प परमानन्दस्वरूप परमात्मा में समाधिस्थ हो गये। अपने महल में यों समाधि–अवस्था में पड़े हुए दैत्यवंशी प्रहलाद का बहुत सा समय व्यतीत हो गया। उस समय यद्यपि असुर श्रेष्ठों ने उन्हें जगाने की बहुत चेष्टा की, तथापि असमय में उन महाबुद्धिमान् की समाधि भंग न हुई। यों निश्चल ब्रह्मस्वरूप एवं शान्त हुए प्रहलाद बाह्य दृष्टि शून्य होकर हजारों वर्षों तक उस दैत्यनगरी में समाधिस्थ पड़े रहे। उस समय हिरण्यकशिपु मर चुका था और उसके पुत्र प्रहलाद समाधिस्थ हो गये थे; अतः जब पाताल में कोई अन्य राजा नहीं रह गया, तब दानवों को अपने अधिपति का अभाव खटकने लगा। इसलिये उन्होंने प्रहलाद को समाधि से जगाने के लिये घोर प्रयत्न किया, परंतु वे नहीं जगे। तब उस राजारहित नगर में बलवान् दैत्य लुटेरों की तरह स्वेच्छानुसार लूट–पाट करने लगे, जिससे

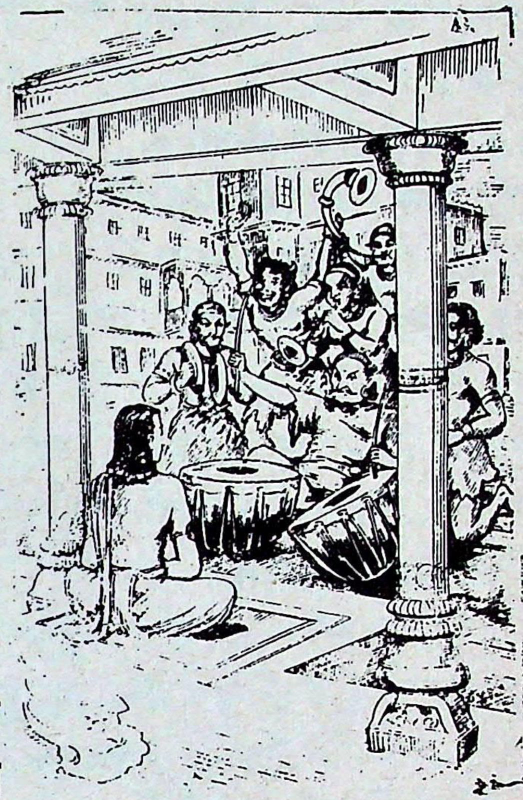

उद्विग्न होकर अन्य दैत्य अपनी अभीष्ट दिशाओं में भाग गये। उस अराजकता के कारण पाताललोक चिरकाल के लिये मात्स्य न्याय से अस्त-व्यस्त और मर्यादा रहित हो गया। वहाँ बलवानों ने दुर्बलों के नगर छीन लिये। मर्यादा के क्रम का सर्वथा विनाश हो गया। सभी लोग स्त्रियों को पीड़ा पहुँचाने लगे। पुरुषों के प्रलाप और रोदन के शब्द चारों ओर व्याप्त हो गये। लोगों ने एक दूसरे के वस्त्र छीन लिये। नगर का मध्यभाग खँडहर के रूप में परिणत हो गया और क्रीड़ोद्यान नष्ट-भ्रष्ट हो गये। सारा राज्य व्यर्थ के अनर्थों से पीड़ित हो गया। दिशाएँ धूल से व्याप्त हो गयीं। अन्न, फल और उत्पात से विवश होकर सारा असुर-समुदाय चिन्ताग्रस्त हो गया। उस समय वह असुर-मण्डल भय से उद्विग्न हो गया था। वहाँ स्त्रियाँ, धन, मंत्र और युद्ध मर्यादाहीन हो गये थे। जिनके धन और स्त्रियों का अपहरण हो गया था उनका करुण क्रन्दन चारों ओर गूँज रहा था, जिससे वह दैत्य-समाज कलियुग आने पर लूट-पाट करने वाले क्रूर लुटेरों-सा जान पड़ता था।

राघव ! तदनन्तर एक बार शेषशय्या पर विराजमान शत्रुसूदन श्रीहरि, जो लीलापूर्वक सम्पूर्ण जगत् का पालन करते हैं, देवताओं की प्रयोजन सिद्धि के लिये अपनी बुद्धि से सांसारिक स्थिति का निरीक्षण करने लगे। पहले उन्होंने मन-ही-मन स्वर्गलोक का अवलोकन करके तत्पश्चात् भूतलवासियों के आचरणों का निरीक्षण किया। फिर वे मन से ही शीघ्र दैत्यों द्वारा सुरक्षित पाताल लोक में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि दानवराज प्रहलाद अटल समाधि में स्थित हैं, जिससे अमरावतीपुरी में सम्पत्ति की भरपूर वृद्धि हो गयी है। तब जो शेष शय्या पर पद्मासन लगाकर बैठे थे तथा जिनके हाथों में शंख, चक्र और गदा सुशोभित हो रहे थे, उन भगवान् नारायण के मन में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि मैं रसताल में जाकर दानवराज प्रहलाद को उसके कर्म में

पहले की तरह उसी प्रकार स्थापित करूँगा, जैसे बसन्त ऋतु वृक्ष को पुनः उसकी पूर्व दशा में ला देती है। यदि मैं प्रहलाद के अतिरिक्त किसी दूसरे को दानवराज के पद पर स्थापित करता हूँ तो वह निश्चय ही देवताओं पर आक्रमण कर देगा। साथ ही प्रहलाद का यह अन्तिम शरीर परम पावन है। वह इसी शरीर से कल्पपर्यन्त यहाँ निवास करेगा; क्योंकि परमेश्वर की नियति देवी ने ऐसा ही निशिचत किया है कि प्रहलाद को इसी शरीर से यहाँ एक कल्प तक रहना चाहिए। इसलिये मैं वहाँ जाकर दैत्यराज प्रहलाद को ही जगाऊँगा, जिससे वह जीवन्मुक्तों की समाधि में स्थित होकर दैत्याधिपत्य को ग्रहण करे। निश्चय ही हम मर्यादारहित दस्युओं के अत्याचार से भयानक उस पाताल में जाकर दैत्यराज प्रहलाद को समाधि से विरत करेंगे और इस सम्पूर्ण जगत् को पूर्ववत् स्वस्थ बनायेंगे।

चौबीसवां सर्ग समाप्त

पच्चीसवां सर्ग

भगवान् विष्णु का पाताल में जाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-वत्स राम! यों विचारकर सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि शंख, चक्र, गदा, पद्म और लक्ष्मी आदि पार्षदों के साथ अपने नगर क्षीरसागर से चल पड़े। वे उसी क्षीरसागर के तले के छिद्र से निकलकर प्रहलाद के नगर में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्वर्णमय महल के मध्य में स्थित असुरराज प्रहलाद को देखा। भगवान् विष्णु के तेज से प्रभावित होकर वहाँ का सारा दैत्य समुदाय धूल की तरह उड़कर उसी प्रकार अदृश्य हो गया, जैसे सूर्य की किरणों से भयभीत होकर उलूक छिप जाते हैं। तब अपने परिवार सहित श्रीहरि ने दो-तीन प्रधान-प्रधान असुरों को साथ लेकर प्रहलाद के महल में प्रवेश किया। उस समय वे गरुड़ की पीठ पर सवार थे। लक्ष्मीजी उन पर चँवर डुला रही थीं। वे शंख, चक्र गदा आदि अपने (सजीव) आयुधों से घिरे हुए थे, और देवर्षि तथा मुनि उनकी वन्दना कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर भगवान् विष्णु ने कहा 'महात्मन् ! समाधि का त्याग करके उठो यों कहते हुए अपना पांचजन्य शंख बजाया, जिसकी ध्वनि से सारी दिशाएँ गूँज उठीं। विष्णु भगवान् के बल पूर्वक फूँकने से इस शंख से ऐसा घोर शब्द प्रकट हुआ, जो प्रलयकाल में एक साथ परिक्षुब्ध हुए मेघों और सागरों की गर्जना के समान वेगशाली था। उस

शब्द से भयभीत होकर आनन्द पूर्वक हर्ष मनाने लगे। प्रहलाद के शरीर में प्राण और अपान का संचार होने से नाड़ीविवरों में सवेदन आरम्भ हो गया। फिर तो जैसे वायु से पीड़ित होकर कमल चंचल हो जाता है, उसी तरह उनका शरीर स्पन्दन युक्त हो गया तथा नेत्र, मन, प्राण और शरीर-सभी विकसित हो गये। इस अवसर पर भगवान् श्रीहरि ने ज्यों ही 'जागो' ऐसा कहा, त्यों ही वह सचेत हो गया। तब कल्प के आदि में जैसे त्रिलोकेश्वर भगवान् कमलयोनि ब्रह्मा से कहते हैं, उसी प्रकार श्रीहरि ने प्रहलाद से-जिसके नेत्र प्रफुल्लित हो गये थे, जिसे 'मैं प्रहलाद हूँ, ऐसी पहचान हो चुकी थी और जिसकी पूर्व स्मृति सुदृढ़ हो गयी थी-यों कहना प्रारम्भ किया-

"साधो ! अब उठो, शीघ्र उठो और इस विशाल दैत्य-राज्यलक्ष्मी का तथा अपने स्वरूप का स्मरण करो। अनघ ! तुम तो जीवन्मुक्त हो, अतः राज्य शासन करते हुए ही उद्वेगरहित होकर अपने इस शरीर को कल्पान्तपर्यन्त कर्मों से प्रेरित करते रहो। प्रलय के समय जब इस शरीर का नाश हो जायगा, तब तुम निरतिशय सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में निवास करोगे-ठीक उसी तरह, जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाता है। तुम्हारी यह शुद्ध देह कल्पान्त तक स्थित रहने वाली है, लोक के ऊँच-नीच व्यवहारों का अनुभव कर चुकी है और जीवन्मुक्ति से सुशोभित है। मैं गरुड़ पर सवार होकर स्वेदज, अण्डज, जरायुज, उद्भासित दसों दिशाओं में विचरता रहता हूँ। ऐसी परिस्थिति में तुम इस शरीर का परित्याग मत करो। ये हम लोग हैं। ये पर्वत हैं। ये प्राणी हैं। यह जगत् है। यह आकाश है। ये सभी जब प्रलयपर्यन्त रहने वाले हैं, तब तुम भी तब तक इस शरीर को कायम रक्खो। जिसकी बुद्धि स्वात्म तत्त्व के विचार से ऊबती नहीं, उस यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञानी का जीवन शोभा देता है। जिसका अहंभाव नष्ट हो गया है और जिसकी बुद्धि स्वार्थ में लिप्त नहीं है तथा जिसका सम्पूर्ण पदार्थों में समभाव है, उसका जीवन सुन्दर है। जो राग-द्वेषविहीन अतएव अन्तःशीतल बुद्धि से साक्षी की भाँति इस जगत् को देखता है, उसी के जीवन की शोभा होती है। जो सत्य का दृष्टि का अवलम्बन करके वासना रहित होकर लीलापूर्वक इस जगत् व्यवहार को करता हुआ भी न तो अनुकूल की प्राप्ति से अन्तःकरण में प्रसन्नता का अनुभव करता है और न प्रतिकूल की प्राप्ति होने पर उद्विग्न होता है, उसी का जीवन

प्रशसंनीय है। जिसके गुणों के सुनने पर, स्वरूप का दर्शन करने पर और जिसकी याद आ जाने पर प्राणियों को आनन्द प्राप्त होता है, उसी का जीवन सार्थक है।

"असुरेश ! इस वर्तमान देह की स्थिरता को लोग जीवन कहते हैं और देहान्तर की प्राप्ति के लिये इसके परित्याग को मरण कहा गया है; किंतु महामते ! तुम तो इन दोनों जन्म मरणरूप पक्षों से रहित हो, अतएव इस लोक में वस्तुतः न तो तुम्हारा जन्म है और न मरण ही। शत्रुसूदन ! यह सब तो मैंने तुम्हें समझाने के लिये कहा है। सर्वज्ञ ! तुम्हारा तो न कभी जन्म होता है और न कभी तुम मरते हो; क्योंकि तुम तो देह दृष्टि से सर्वथा रहित हो, इसी कारण देह में स्थित रहते हुए भी तुम विदेह हो। तुम्हें परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो गया है, अतएव तुम प्रबुद्ध हो गये हो। भला, प्रबुद्ध हुए पुरुषों का शरीर से क्या सम्बन्ध है ? यह परिच्छिन्न देह तो केवल अज्ञानियों की दृष्टि में ही है अर्थात् 'देह मैं हूँ' ऐसा अभिमान अज्ञानियों को ही होता है। तुम्हारी बुद्धि तो सर्वदा एकमात्र परमात्मा में ही लीन रहती है, अतएव तुम चित्प्रकाश से संयुक्त हो। इसलिये सब कुछ तुम्हीं हो तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष प्रलयकाल में उत्पातसूचक वायुओं के बहने पर, प्रलयाग्नि के धधकने तथा पर्वतों के ढह जाने पर भी नित्य परमात्मा में ही स्थित रहता है। संसार के सभी प्राणी स्थित रहें अथवा सब के सब चले जायँ, उनका विनाश हो जाय अथवा उनकी वृद्धि हो तत्त्वज्ञानी तो परमात्मा में ही स्थित रहता है, उससे विचलित नहीं होता। परमात्मा इस शरीर का नाश हो जानेपर न तो नष्ट होता है, न इसके वृद्धिगत होने पर बढ़ता है और न इसके चेष्टा करने पर चेष्टाशील ही होता है। तब 'इस देह को धारण करने वाला देही मैं हूँ' चित्त के ऐसे अज्ञान के नष्ट हो जाने पर 'मैं इसका त्याग करता हूँ अथवा नहीं करता' ऐसी निरर्थक कल्पना क्यों उत्पन्न होती हैं ? तात ! जिन्हें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है, उनके हृदय में 'मैं इस कार्य को समाप्त करके इसे करूँगा और इसका त्याग करके इसे छोड़ूँगा' ऐसे संकल्पों का सर्वथा अभाव हो जाता है । ज्ञानी पुरुष इस जगत् में शास्त्रोक्त सारे कर्मों को करते हुए भी कुछ नहीं करते और उनका कभी भी अनुष्ठान न करने पर वे सदा अकर्तारूप से ही स्थित रहते हैं। इस प्रकार संसार में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का उपशम हो जानेपर

एकमात्र शान्ति ही शेष रह जाती है, तब विद्वान् लोग उसे मुक्ति नाम से पुकारते हैं। ग्राह्य-ग्राहक-सम्बन्ध का विनाश होने पर परम शान्ति का उदय होता है। वही शान्ति जब स्थिरता को प्राप्त हो जाती है, तब मोक्ष नाम से कही जाती है। जिनका चित्त परमात्मा में ही संलग्न है, ऐसे ज्ञानीजन संसार रमणीय विषयभोगों के प्राप्त होनेपर न तो प्रसन्न होते हैं और न मन के विपरीत दुःखों के आ पड़ने पर उद्विग्न ही होते हैं। अर्थात् सुख दुःख उनकी समान स्थिति रहती है। महात्मन् ! तुम परमात्मा के परमपद में स्थित होकर ब्रह्मा के एक दिन (इस कल्प के अन्त) तक इस पाताल में ही विविध गुणों से युक्त राज्य लक्ष्मी का उपभोग करके अविनाशी परम पद को प्राप्त होओ।''

पच्चीसवां सर्ग समाप्त

छबीसवाँ सर्ग

तत्व ज्ञान का उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जब जगद्रूपी रत्नों के आकर तथा त्रैलोक्यरूपी अदभुत पदार्थों को प्रदर्शन करने वाले भगवान् विष्णु ने चन्द्रकिरण-सदृश शीतल वाणी द्वारा इस प्रकार कहा, तब जिसके नेत्र-कमल आनन्दवश प्रफुल्लित हो उठे थे तथा जिसने मननक्रम ग्रहण कर लिया था, उस धैर्यशाली प्रहलाद नामक देह ने हर्षपूर्वक यों कहना आरम्भ किया।

प्रहलाद ने कहा-भगवन् ! आपकी कृपा से मुझे तत्वज्ञान द्वारा भलीभाँति स्वरूपावस्थिति प्राप्त हो गयी है, जिससे मैं समाधि अथवा व्युत्थानावस्था-दोनों में वास्तविकरूप से सदा ही सम हूँ। देवाधिदेव ! मैंने चिरकाल तक विशुद्ध बुद्धि द्वारा अपने हृदय में आपका साक्षात्कार किया है। देव ! सौभाग्य की बात है कि अब पुनः बाहर नेत्रों से भी आपका प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ। महेश्वर ! मैं जो समस्त संकल्पों से रहित इस अनन्त दृष्टि में स्थित था, वह शोक, मोह, वैराग्य-चिन्ता, देहत्याग के प्रयोजन अथवा संसार के भय से नहीं था; क्योंकि जब एक ही विज्ञानानन्दघन परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है, तब शोक, हानि, देह, संसार, स्थिति और भय-अभय कहाँ से प्राप्त होंगे। परंतु परमेश्वर ! 'हाय ! मैं विरक्त हो गया हूँ, अतः इस संसार का त्याग करता हूँ, इस प्रकार की अज्ञानियों द्वारा की गयी चिन्ता हर्ष शोकरूप विकार उत्पन्न करने वाली होती है। यह सुख है, यह दुःख है; यह मेरा है, यह मेरा नहीं है-यों द्विविधाग्रस्त

चित्त ही मूर्ख का विनाशक होता है, पण्डित का नहीं। मैं अन्य हूँ और यह अन्य है–ऐसी वासना इस जगत् में उन अज्ञानी प्राणियों को ही प्रभावित करती है, जो तत्वज्ञान से बहुत दूर हैं। कमललोचन ! जब सभी प्राणियों में आत्मरूप से आप ही व्याप्त हैं, तब ग्रहण–त्याग के पक्ष का अवलम्बन करने वाली कल्पना कहाँ से हो सकती है। देवेश्वर ! समाधिकाल में तो मैं भाव–अभाव से परे रहकर ग्रहण–त्याग से रहित था; परंतु इस समय प्रबुद्ध होकर वही कार्य करने के लिये उद्यत हूँ, जो आपको रुचिकर है। भगवन् ! आप तो वे ही पुण्डरीकाक्ष नारायण हैं, जिनकी तीनों लोकों में पूजा होती है; अतः मेरे द्वारा स्वभावतः प्राप्त हुई पूजा को ग्रहण कीजिये। यों कहकर दानवराज प्रहलाद ने उन भुवनाधिपति भगवान् गोविन्द की– जिनके अंदर त्रिलोकी वर्तमान थी तथा जो शंख–चक्र आदि आयुधों, अप्सरासमूह, देवगण और पक्षीराज गरुड़ के साथ सामने खड़े थे–पूजा की। पूजोपरान्त चरणों में पड़े हुए प्रहलाद से भगवान् लक्ष्मीपति ने कहा।

श्रीभगवान् बोले–दानवाधीश ! उठो और तब तक इस सिंहासन पर बैठे रहो, जब तक मैं शीघ्र स्वंय अपने हाथ से ही तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ। साथ ही पांचजन्य शंख की ध्वनि सुनकर जो ये साध्य, सिद्ध और देवगण यहाँ आए हुए हैं, ये सब–के सब तुम्हारी मंगलकामना करें। यों कहकर कमलनयन भगवान् नारायण ने प्रहलाद को सिंहासन पर बैठा दिया। तदनन्तर अप्रमेय आत्मबल से सम्पन्न श्रीहरि ने समस्त महर्षि–समुदाय, सारे सिद्धगण, विद्याधर और लोकपालों को साथ लेकर इन महान् असुर प्रहलाद को आवाहन किये गये क्षीराब्धि आदि महासागरों, गंगा आदि सरिताओं और सम्पूर्ण तीर्थों के जल से सींचकर दैत्यराज्य को उसी प्रकार अभिषिक्त कर दिया, जैसे पूर्वकाल में देवगणों द्वारा स्तुति किये जाते हुए इन्द्र का स्वर्गलोक के राज्य पर अभिषेक किया था। उस समय अभिषिक्त हुए प्रहलाद की देवता और असुर– सभी स्तुति कर रहे थे। तब सुरासुरवन्दित भगवान् मधुसूदन उनसे इस प्रकार बोले।

श्रीभगवान् ने कहा–निष्पाप प्रहलाद ! जब तक सुमेरुगिरि, पृथ्वी तथा सूर्य और चन्द्रमा का मण्डल कायम रहेगा, तब तक तुम राज्य करोगे और तुम्हारे समस्त गुणों की प्रशंसा होगी। तुम राग, भय और क्रोध से रहित होकर इष्ट–अनिष्ट फलों का परित्याग करके समतायुक्त बुद्धि से इस राज्य का

भलीभाँति पालन करो। शत्रु-प्रजा आदि के ऊपर निग्रह-अनुग्रह आदि यथावसर प्राप्त हुई दृष्टियों से देश, काल और क्रिया के अनुरूप प्राप्त हुए कर्तव्य का तुम न्यायपूर्वक पालन करो और राग-द्वेष आदि विषमता का त्याग करके समबुद्धि बने रहो। आत्मा देह से अतिरिक्त है-इस भाव से लाभ-हानि में सम तथा इदंता-ममता से रहित कार्य करते हुए भी तुम इस जगत् में बन्धन को नहीं प्राप्त होओगे। जगद्-व्यवहार को तो तुमने देख ही लिया है और उस अनुपम परमपद का अनुभव भी तुम्हें प्राप्त हो गया है। इस प्रकार तुम्हें देश-कालानुरूप सभी वस्तुएँ ज्ञात हैं। अब दूसरा और क्या उपदेश दिया जाय। अर्थात् व्यवहार और परमार्थ-दोनों में तुम कुशल हो, अतः अब तुम्हें उपदेश की आवश्यकता नहीं है। राग, भय और क्रोध से रहित तुम्हारे राजा होने पर अब देवताओं द्वारा प्राप्त दुःख न तो असुरों में टिक सकेगा और न उनका संहार ही कर सकेगा। आज से देवताओं और दानवों का युद्ध नहीं होगा, जिससे जगत् स्वस्थ हो जायेगा।

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

पुरुषार्थ की शक्ति का कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-वत्स राम ! प्रहलाद से ऐसा कहकर कमलनयन भगवान् नारायण देवता, किन्नर और मनुष्यों के साथ उस दैत्यसदन से चल पड़े। उस समय प्रहलाद आदि असुर पीछे से उन पर अंजलि भर-भरकर पुष्पों की वर्षा कर रहे थे, जिससे गरुड़ के पंख का पिछला भाग पुष्पों से आच्छादित हो गया। इस प्रकार क्रमशः चलते हुए वे क्षीरसागर के तट पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देवगणों को विदा कर दिया और स्वयं शेषशय्या पर स्थित हो गये। इस प्रकार शेषशय्या पर विष्णु, स्वर्गलोक में देवताओं सहित इन्द्र और पाताल में दानवराज प्रहलाद-तीनों संतापरहित होकर स्थित हुए ! श्रीराम ! प्रहलाद की ज्ञान प्राप्ति सम्पूर्ण पापों का विनाश करने वाली तथा अमृत के समान शीतल है। उसका वर्णन मैंने तुम्हें सुना दिया। संसार में जो मनुष्य-चाहे वे घोर-से-घोर पातकी ही क्यों न हों- विवेकपूर्वक उसका विचार करेंगे, वे शीघ्र ही परमपद को प्राप्त हो जायेंगे। अज्ञान ही पाप कहलाता है और उस अज्ञान का नाश विवेकपूर्वक विचार करने से होता है; इसलिये पाप का समूल

विनाश करने वाले विचार का परित्याग नहीं करना चाहिये। प्रहलाद की इस सिद्धि का विवेकपूर्वक विचार करने वाले लोगों के पूर्व के सात जन्मों में किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं-इसमें संशय नहीं है।

श्रीरामजी ने पूछा-भगवन्! महामनस्वी प्रहलाद का मन तो परमपद में तल्लीन था, वह पांचजन्य शंख की ध्वनि सुनकर कैसे प्रबुद्ध हुआ ? यह बताने की कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-निर्दोष स्वरूपवाले राम ! लोक में दो प्रकार की मुक्ति होती है-एक सदेहमुक्ति अर्थात् जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति। इन दोनों का विभाग इस प्रकार है, सुनो। जिस अनासक्त बुद्धिवाले पुरुष की इष्टानिष्ट कर्मों के ग्रहण-त्याग में अपनी कोई इच्छा नहीं रहती अर्थात् जिसकी इच्छा का सर्वथा अभाव हो गया है, ऐसे पुरुष की स्थिति को तुम जीवन्मुक्त-अवस्था-सदेह मुक्ति समझो। फिर देह का विनाश होने पर पुनर्जन्म से रहित हुई वही जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति कही गयी है। श्रीराम ! जिन्हें विदेहमुक्ति की प्राप्ति हो गयी है, वे फिर जन्म धारण करके दृश्यता को नहीं प्राप्त होते-ठीक उसी तरह, जैसे भुना हुआ बीज जमता नहीं है। महाबाहु राम ! प्रहलाद के अन्तःकरण में शुद्ध सत्वमयी वासना स्थित थी, वह शंखध्वनि होते ही उद्‌बुद्ध हो उठी। अपनी उसी वासना से प्रहलाद को बोध प्राप्त हुआ था। श्रीहरि ही समस्त प्राणियों के आत्मा हैं, इसलिये उनके मन में जैसा संकल्प होता है, वह शीघ्र ही उसी रूप में मूर्त हो जाता है; क्योंकि परमात्मा ही सबके कारण हैं। भगवान् वासुदेव ने ज्यों ही ऐसा संकल्प किया कि प्रहलाद प्रबुद्ध हो जाय, त्यों ही वह क्षणमात्र में उठ बैठा। अर्थात् भगवान् के संकल्प से ही प्रहलाद पांचजन्य शंख की ध्वनि से प्रबुद्ध हो गया। भगवान् वासुदेव ने निजी स्वार्थ के बिना ही प्राणियों के कल्याण के हेतु अपने आत्मा में ही जगत् की सृष्टि लिये विष्णुरूप से शरीर धारण किया है। परमात्मा के साक्षात्कार से शीघ्र ही भगवान् माधव का दर्शन प्राप्त हो जाता है और उन माधव की आराधना से शीघ्र ही निर्गुण-निराकार परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

श्रीरामजी ने पूछा-भगवन् ! आप तो सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता हैं; अतः आपके शुद्ध वचनरूपी किरणों से हम उसी प्रकार आल्हादित हुए हैं, जैसे चन्द्रमा की रश्मियों के स्पर्श से अनाज के पौधे प्रफुल्लित हो जाते हैं। परंतु

गुरुदेव ! यदि पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न करने से ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है तो भगवान् माधव के वरदान बिना प्रह्लाद अपने पुरुषार्थ से ही क्यों नहीं प्रबुद्ध हुआ ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–राघव ! महामनस्वी प्रह्लाद ने जिन-जिन पदार्थों को प्राप्त किया था, वे सभी उसे अपने पुरुषार्थ से ही मिले थे। उनकी प्राप्ति में दूसरा कोई कारण नहीं है। (क्योंकि प्रह्लाद ने परम पुरुषार्थ से जो भक्ति की, उसी से भगवान् ने उनको वर दिया; इसलिये भगवान् का वर मिलना भी अपना पुरुषार्थ ही है।) जो विष्णु है, वही सबका आत्मा है, वही विष्णु है। इस प्रकार पुष्प और उसकी सुगन्ध की भाँति आत्मा और नारायण भिन्न नहीं हैं। पहले-पहल प्रह्लाद नामक आत्मा ही अपने-आप अपनी परम शक्ति से ही विष्णुभक्ति में नियुक्त हुआ। फिर उसने स्वात्मभूत विष्णु से ही स्वयं यह वर प्राप्त किया और स्वयं ही अपने मन को विचारशील बनाकर स्वयं ही आत्मज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार कभी तो आत्मा अपने आप ही अपनी शक्ति से प्रबुद्ध हो जाती है और कभी भक्तिरूपी प्रयत्न से प्राप्त होने वाले विष्णु रूप से प्रबोधित किया जाता है। इसलिये किसी को जहाँ-कहीं भी जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब उसे अपनी सामर्थ्यरूप प्रयत्न से ही मिलता है; कहीं भी किसी अन्य कारण से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अठ्ठाईसवाँ सर्ग

मायाचक्र का निरूपण

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! जो भगवत्प्राप्ति के साधनरूप सम्पूर्ण अंगों का उच्छेदक तथा यों वेगपूर्वक घूमता रहता है, उस मायाचक्र का निरोध कैसे किया जाय ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–राघव ! यह संसाररूपी मायाचक्र नित्य भ्रमणशील तथा भ्रान्तिदायक है। तुम चित्त को इस चक्र की महानाभि समझो। जब पुरुष प्रयत्नपूर्वक बुद्धि द्वारा इस चित्त को स्तम्भित कर देता है, तब जिसकी नाभि पकड़ ली गयी है, ऐसा यह मायाचक्र शीघ्र ही आगे बढ़ने से रुक जाता है। इस चित्त निरोधरूपी युक्ति के बिना आत्मा को अनन्त दुःखों की प्राप्ति हो रही है, परंतु इस उपर्युक्त दृष्टि के प्राप्त होने पर तुम सारे-के-सारे दुःखों को

क्षणमात्र में नष्ट हुआ ही समझो। यह संसार एक महाभयंकर रोग है। चित्त निरोध ही इस रोग की परमोत्तम औषध है। इस औषध के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्न से उस व्याधि की शान्ति नहीं होती। जैसे घड़े के भीतर घटाकाश रहता है, परंतु घड़े के नष्ट होने पर घटाकाश नहीं रह जाता, उसी तरह यह संसार चित्त के अंदर ही है, अतः चित्त का नाश होने पर संसार भी विनष्ट हो जाता है। यह चित्त जब भूत और भविष्य के पदार्थों का चिन्तन न करके वर्तमान समय का बाह्य बुद्धि द्वारा अनायास ही उपयोग करने लगता है, उसी क्षण अचित्तता को प्राप्त हो जाता है; क्योंकि चित्त की वृत्तियाँ तभी तक रहती हैं, जब तक संकल्प की कल्पना बनी रहती है-ठीक उसी तरह, जैसे जब तक मेघ का विस्तार रहता है, तभी तक आकाश में जल के अणु वर्तमान रहते हैं। संकल्प-कल्पना भी तभी तक रहती है, जब तक चेतन जीवात्मा मन के साथ है। रघुनन्दन ! यदि ऐसी भावना की जाय कि चेतन जीवात्मा मन से पृथक है तो जैसे सिद्ध पुरुषों में मूल अविद्या सहित वासनाओं का ज्ञानद्वारा जलकर अत्यन्ताभाव हो जाता है, उसी तरह तुम अपने संसार के मूलों-वासनाओं को मूल विद्या सहित जलकर भस्म हुआ समझो। चित्त से शून्य हुआ चेतन प्रत्यक्चेतन अर्थात् शुद्ध आत्मा कहा जाता है। वास्तव में तो निर्मनस्क रहना उसका स्वभाव ही है; क्योंकि उसमें संकल्परूपी मल नहीं है। वह शुद्ध आत्मा ही वास्तव में सत्यता है; वही कल्याणरूपता, सच्चिदानन्द परमात्मा की प्राप्तिरूप अवस्था, सर्वज्ञता और वास्तविक दृष्टि है। किंतु जिस समय उसका विनाशकाल मन के साथ संयोग बना रहता है, उस समय उसकी उपर्युक्त स्थिति नहीं रहती; क्योंकि जहाँ मन रहता है, वहाँ उसके संनिकट अनेक प्रकार की आशाएँ और सुख-दुःख उसी प्रकार सदा आते रहते हैं, जैसे शमशानभूमि में कौए मँडराया करते हैं। परंतु जब परमार्थ वस्तुरूप परमात्मा के तत्व का ज्ञान हो जाता है, तब उसे पुरुष के मन के संकल्प में आशा आदि सम्पूर्ण भावों की व्यवस्थापिका संसाररूपी लता का बीज उत्पन्न ही नहीं होता; क्योंकि उस समय उसका मन भुने हुए बीज के समान हो जाता है। शास्त्राध्ययन और सज्जनों की संगति का निरन्तर अभ्यास करने से सांसारिक पदार्थों की अवास्तविकता का ज्ञान होता है, अर्थात् जगत् के पदार्थ वास्तव में असत् हैं- ऐसा अनुभव होता है। इसलिये निश्चयपूर्वक परम प्रयत्न के साथ मन को

अविवेक से हटाकर उसे बलात्कार से शास्त्राध्ययन और सत्पुरुषों के संग में लगाना चाहिये; क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार होने में शुद्ध आत्मा ही प्रधान कारण है।

श्रीराम ! अपना आत्मा ही अपने द्वारा अनुभूत दुःखों को त्याग देने की इच्छा करता है, अतएव परमात्मा का साक्षात्कार होने में एकमात्र शुद्ध आत्मा ही मुख्य हेतु कहा गया है। इसलिये तुम बोलते हुए, त्याग करते हुए, ग्रहण करते हुए तथा आँखों को खोलते और मींचते हुए भी अचिन्त्य, अनन्त, नित्यविज्ञानानन्दघन परमात्मा में स्थित रहो। इसी प्रकार बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था में, दुःखों में, सुखों में तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में तुम सदा-सर्वदा अपने वास्तविक सच्चिदानन्दस्वरूप में बने रहो। जो आत्मज्ञान सम्पन्न एवं अमृतस्वरूप परमार्थ-तत्व का अनुभव करने वाला है, उसके लिये हलाहल विष भी अमृत के समान फलदायक हो जाता है। जिस समय निर्मल एवं अखण्ड चैतन्य का ज्ञान नहीं रहता, उस समय संसाररूपी भ्रम का कारण स्वरूप महामोह वृद्धि को प्राप्त होता है और जब उस निर्मल एवं अखण्ड सच्चिदानन्दघन परमात्मा में दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब संसार-भ्रम का कारणभूत मोह सर्वथा विनष्ट हो जाता है। श्रीराम ! जो अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्म में स्थित होकर अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूप का साक्षात्कार करने वाला है, उसके लिये स्वादिष्ट रसायन भी विष-तुल्य हो जाता है। परमात्मा के तत्व को जानने वाला महापुरुष समस्त प्रकाशों में, सभी प्रभावों में, समस्त बलवानों में, सम्पूर्ण महान् व्यक्तियों में तथा सभी उन्नतिशाली मनुष्यों में परम उन्नत होता है। जिस परमात्मा की प्रभा से सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, मणि और तारे आदि प्रकाशित होते हैं, उस जगदीश्वर का जिन महापुरुषों को ज्ञान हो गया है, वे भी सूर्यादि की भाँति जगत् में सुशोभित होते हैं। परंतु श्रीराम ! जो मानव परमात्मविषयक ज्ञान से हीन हैं, वे पृथ्वी के दरारों में रहने वाले कीड़ों, गदहों एवं अन्य तिर्यग्योनि में उत्पन्न हुए जीवों से भी अत्यन्त तुच्छ माने जाते हैं। आत्मज्ञानविहीन पुरुष की सारी चेष्टाएँ दुःखदायिनी होती हैं। वह भूतल पर चलाता-फिरता हुआ भी मुर्दा ही है। इसलिये आत्मज्ञ पुरुष को चाहिये कि वह भोगों के रसों में आसक्त न होते हुए उनके उपभोग के तिरस्कार द्वारा मन को अत्यन्त सूखे हुए पत्ते के समान समयानुसार धीरे-धीरे कृश बना डाले; क्योंकि

यह मन अनात्मा में आत्मभाव, देहमात्र में ऐसी आस्था, पुत्र, कलत्र और कुटुम्ब की ममता, अहंकार के विकास, ममतारूपी मल में सने रहना, 'यह मेरा है' ऐसी भावना, जरा-मरणरूपी दुःख, व्यर्थ ही उन्नति को प्राप्त हुए काम-क्रोधादि दोषरूपी सर्पों के विषरूप संसार की ममता, आधिव्याधि की अभिवृद्धि, संसार की रमणीयता में विश्वास, हेयोपादेय के प्रयत्न, स्त्री-पुत्र आदि के प्रति स्नेह तथा रत्नों और स्त्रियों के आपातरमणीय लाभ से उत्पन्न हुए धन के लोभ से स्थूलता को प्राप्त होता है। यह चित्त सर्प के समान है, जो दुराशारूपी दूध के पीने से, भोग रूपी वायु के बल से, आदरप्रदान से तथा नाना प्रकार के विषयों में संचरण करने से मोटा-ताजा हो जाता है। आना और जाना-उत्पत्ति-विनाश ही जिनका स्वरूप है तथा जो विष की विषमता को सूचित करने वाले हैं, ऐसे भीषण भोगों का उपभोग करने से चित्त स्थूलभाव को प्राप्त हो जाता है।

राघव ! यह चित्त विषवृक्ष के समान है, जो चिरकाल से शरीररूपी बुरे गड्डे में उगा हुआ है। आशाएँ ही इसकी विशाल शाखाएँ और विकल्प ही इसके पत्ते हैं। अनेक प्रकार की चिन्ताएँ ही इसकी लंबी-लंबी मंजरियाँ हैं। कामोपभोगों के समूह ही इसमें खिले हुए पुष्प हैं। यह जरा-मरण और व्याधिरूपी फलों के भार से झुका हुआ है। इस पर्वतकार अद्भुत वृक्ष को तुम निश्शंक होकर हठपूर्वक विवेक-विचाररूपी मजबूत आरे से काट डालो। जब तक इस चित्तरूपी पिशाच को-जो अज्ञानरूपी विशाल वटवृक्षों पर विश्राम करने वाला है, तृष्णा-पिशाची जिसकी परिचर्या करती है और जो चेतनरहित सैकड़ों देह धारण करके अपनी कल्पनारूपी अटवी में चिरकाल से भटक रहा है-विवेक, वैराग्य, गुरुसंनिधि, प्रयत्न और मन्त्र आदि स्वतन्त्र उपायों द्वारा चेतन जीवात्मा के निवास-स्थानरूप अपने हृदय से हटाया नहीं जायेगा, तब तक इस जगत् में आत्मसिद्धि की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उन्तीसवाँ सर्ग

भगवत्प्राप्ति महिमा

रघुनन्दन ! मेरे वाक्यों के एकमात्र तत्वज्ञ तो तुम्हीं हो, इसीलिये केवल मेरे वाक्यार्थों की भावना से तुम्हें सुख मिलता है। वत्स राम ! पूर्वकाल में

उद्दालक मुनि को पंच महाभूतों के विचार-विमर्श से जिस प्रकार परमोत्कृष्ट एवं अविनाशी दृष्टि प्राप्त हुई थी, वह वृत्तान्त तुम्हें कहता हूँ; सुनो! प्राचीन काल में पर्वतराज गन्धमादन के किसी भूभाग में एक ऊँचे शिखर पर एक मुनि निवास करते थे। उनका नाम उद्दालक था। अभी उनकी जवानी नहीं आयी थी। वे स्वाभिमानी और महाबुद्धिमान् थे। तथा मौन रहकर घोर तपस्या में संलग्न थे। पहले तो उनकी बुद्धि मन्द थी। उनमें विवेक-विचार भी नहीं था। उन्हें परमपररूप शान्ति की प्राप्ति भी नहीं हुई थी तथा वे परमात्मा के तत्व से भी अनभिज्ञ थे; परंतु उनका अन्तःकरण शुभ भावों से युक्त था। तदनन्तर तपस्या, नियमपूर्वक शास्त्रार्थ-चिन्तन और अभ्यास के पाकस्वरूप क्रमों से उनके हृदय में विवेक जाग उठा। उनका मन तो शुद्ध था ही, अतः उनकी बुद्धि इस संसार रूपी रोग को देखकर भयभीत हो उठी। तब वे किसी समय एकान्त में बैठकर इस प्रकार विचार करने लगे-

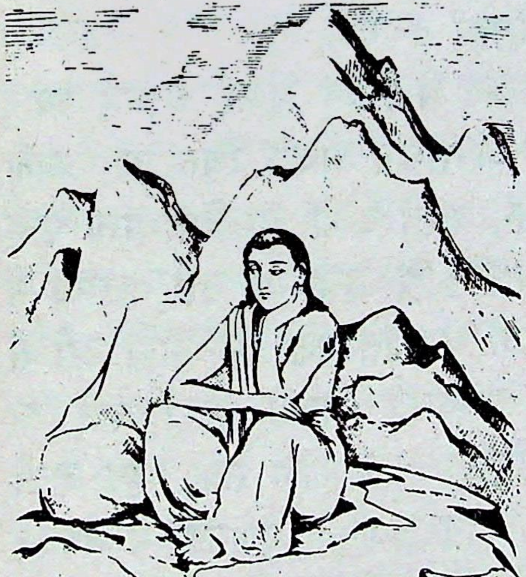

'जिसमें विश्राम प्राप्त हो जाने पर शोक का अत्यन्तभाव हो जाता है तथा जिसे पा लेने पर पुनर्जन्म नहीं होता, वह प्राप्त करने योग्य प्रधानवस्तु क्या है? मैं मनन रहित परम पवित्र पद में चिरकाल के लिये कब विश्राम को प्राप्त होऊँगा ? जैसे किलोल करती हुई चंचल तरगें समुद्र में ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह भोगतृष्णाएँ कब मेरे अंदर ही शान्त हो जायँगी ? कब मैं परमपद में विश्राम को प्राप्त हुई अपनी बुद्धि द्वारा 'यह कार्य करके पुनः इस दूसरे कार्य को भी करना है' ऐसी व्यर्थ कल्पना का भीतर-ही-भीतर उपहास करूँगा ? मेरे मन में स्थित हुए भी विकल्प-समूह कमल दल पर पड़े हुए जल की तरह सम्बन्ध रहित होकर कब चित्त से विलग हो जायँगे ? अर्थात् संकल्प-विकल्पों का अभाव कब होगा ? मैं उन्मत्त होकर बहने वाली तृष्णा-नदी को, जो बहुसंख्यक भीषण तरंगों से युक्त है, अपनी परमोत्कृष्ट बुद्धिरूपी नौका से कब पार कर जाऊँगा ? मैं जगत् के प्राणियों

द्वारा की जाने वाली इस बाह्य प्रवृत्ति को, जो मिथ्या तथा चित्त को व्यग्र कर देने वाली है, बालकों की क्रीड़ा के समान समझकर कब उसका उपहास करूँगा ? मेरा मन, जो विकल्पों से विक्षिप्त तथा हिंडोले की तरह चंचल है, कब शान्ति लाभ करेगा ? मेरा अन्तःकरण परमात्मा के समान आकार वाला, सौम्य और सम्पूर्ण पदार्थों की स्पृहा से रहित होकर कब शान्ति को प्राप्त होगा ? वह दिन कब होगा, जब मैं अपनी शान्त हुई कल्पनाओं वाली बुद्धि द्वारा बाहर-भीतर सहित इस सम्पूर्ण विश्व को सच्चिदानन्द रूप से देखता हुआ अनुभव करूँगा ? कब मैं इष्ट और अनिष्ट तथा हेय और उपादेय से रहित एवं स्वयंप्रकाशस्वरूप परमद में स्थित होकर अपने अन्तःकरण में परम शान्ति को प्राप्त होऊँगा ? ऐसा सुअवसर कब आयेगा, जब मैं किसी पर्वत की कन्दरा में निर्विकल्प समाधि द्वारा मन के व्यापार से रहित होकर शिला की भाँति निश्चल हो जाऊँगा ? मौनव्रत धारण करके अविचल ध्यान में निमग्न हुए मेरे मस्तक पर वन की चिड़ियाँ कब घोंसला बनायेंगी ?'

यों चिन्तापरवश हुए उद्दालक मुनि ने वन में स्थित होकर बारंबार ध्यान का अभ्यास किया, परंतु विषय उनके बंदर के समान चंचल चित्त को अपनी ओर खींच ले जाते थे; जिससे प्रसन्नता प्रदान करने वाली समाधिस्थिरता उन्हें न मिल सकी। उनका मन कभी-कभी विषयासक्त हो जाता था; उस अवस्था में वह अपने हृदयान्तर्वर्ती तमोगुण का त्याग करके भयभीत पक्षी की भाँति वहाँ से भाग निकलता था। कभी वह बाह्य और आभ्यन्तर विषयों के चिन्तन का परित्याग करके तमोगुण में लीन होकर निद्रारूपी लंबे काल तक रहने वाली स्थिति को प्राप्त हो जाता था। यद्यपि वे प्रतिदिन भयानक गुफाओं में बैठकर अपने मन को ध्यानमग्न करने में तत्पर थे, फिर भी ध्यानवृत्तियों में विघ्न पड़ने के कारण उनका अन्तःकरण अत्यन्त व्याकुल हो गया और शरीर तुच्छ तृष्णा-नदी के तटवर्ती तरंगों के थपेड़ों से चंचल हो उठा। इस प्रकार जब वे मुनि संकटापन्न हो गये, तब विक्षिप्तचित्त होकर उस पर्वत पर भ्रमण करने लगे।

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

परमार्थ चिन्तन

रघुकुलभूषण राम ! तदनन्तर धर्मात्मा उद्दालक बहुत अन्वेषण के पश्चात् प्राप्त हुई गन्धमादन की एक रमणीय गुहा में प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने न मुरझाये हुए कोमल पत्तों का एक आसन बनाया, जिसके चारों ओर पुष्पों के गुच्छे शोभा पा रहे थे। उस आसन के ऊपर उन्होंने एक सुन्दर मृगचर्म फैला दिया। तत्पश्चात शुद्ध अन्तःकरण वाले उद्दालक अपने मन की वृत्तियों को सूक्ष्म बनाते हुए उस आसन पर विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने उत्तराभिमुख होकर दोनों एड़ियों से अण्डकोषों को दबाकर ज्ञानी की भाँति सुदृढ़ पद्मासन लगाया। वे विषयों की ओर दौड़ते हुए अपने मनरूपी मृग को वासनाओं से हटाकर निर्विकल्प समाधि में स्थित होना चाहते थे, इसलिये यों विचार करने लगे-

"अरे मूर्ख मन ! इन सांसारिक वृत्तियों से तेरा क्या प्रयोजन है ? क्योंकि बुद्धिमान् लोग ऐसी क्रिया के लिये चेष्टा नहीं करते, जो परिणाम में दुःखदायिनी हो। जो शान्तिप्रद उपरतिरूपी रसायन को छोड़कर विषयभोगों के पीछे दौड़ता है, वह मानो मन्दार-वन का परित्याग करके विषवृक्षों से भरे हुए जंगल की ओर जा रहा है। तू चाहे पाताल में चला जा अथवा ब्रह्मलोक में ही क्यों न पहुँच जा, किंतु शान्तिप्रद उपरतिरूपी अमृत के बिना तुझे निर्वाण ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। रे मन ! तू सैकड़ों भोगाशाओं से परिपूर्ण होने के कारण इस प्रकार समस्त दुःखों का प्रदाता बना हुआ है, अतः इन दुःखदायिनी भोगाशाओं का सर्वथा परित्याग करके अत्यन्त सुन्दर परम ऐकान्तिक कल्याणस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर ले। ये उत्पत्ति-विनाशमयी विचित्र कल्पनाएँ तो तुझे भयानक दुःख देने वाली ही हैं, इनसे कभी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। अरे मूर्ख ! तू व्यर्थ बहिर्मुखतारूप उत्थान से वृद्धि को प्राप्त हुई श्रोत्रेन्द्रिय के वशीभूत होकर सांसारिक रसिक-गान का अनुसरण करने वाली बुद्धिवृत्ति द्वारा व्याध के वीणा-गीत आदि से मोहित हुए मृग के समान विनाश को मत प्राप्त हो। मन्दबुद्धे ! जैसे हथिनी के स्पर्श सुख का लोभी गजेन्द्र शिकारियों द्वारा बाँध लिया जाता है, उसी तरह तू भी सुन्दरी युवती के स्पर्श-सुख का अनुभव करने के लिये उन्मुख हुई बुद्धिवृत्ति से केवल दुःख के लिये ही त्वगिन्द्रिय का आश्रय लेकर बन्धन में मत पड़। रे अंधे ! परिणाम में

दुःख को देने वाले स्वादिष्ट अन्नों की अभिलाषा से रसनेन्द्रियता को प्राप्त होकर बंसी में लगे हुए चारे के लोभी मत्स्य की भाँति तू अपना विनाश मत कर। मूढ़ ! तू युवती स्त्री, बालक, बालिका आदि नाना प्रकार के सुन्दर दृश्यों को देखने में तत्पर हुई चक्षुरिन्द्रिय का अवलम्बन करके प्रकाश के लोलुप फतिंगे के समान जलन को मत प्राप्त हो। जैसे गन्धलोलुप भ्रमर सायंकाल में कमल–कोश में बंद हो जाता है, उसी प्रकार तेल–फुलेल, इत्र, पुष्प आदि सुगन्धित पदार्थों की गन्ध के अनुभव की इच्छा से घ्राणेन्द्रिय का आश्रय लेकर तू भी शरीररूपी कमल–कोश के भीतर बँध मत जा। मन्दबुद्धे ! मृग शब्द से, भ्रमर गन्ध से, फतिंगा रूप से, गजेन्द्र स्पर्श से और मत्स्य रस से–इस प्रकार ये सब तो केवल एक–एक विषय से नष्ट हो गये; किंतु तू तो इन पाँचों इन्द्रियों के विषय–भोगरूप अनर्थों से व्याप्त है, अतः तुझे सुख कैसे मिल सकता है। यदि तू सांसारिक दोषों से रहित, अतएव शरत्कालीन मेघ के समान निर्मल अन्तःकरण की शुद्धि को प्राप्त होकर समस्त अनर्थों के मूल अज्ञान का उच्छेद करके शान्ति को प्राप्त होगा तो यह तेरी असीम विजय होगी। जैसे जब तक वर्षा ऋतु के मेघ वर्तमान हैं, तब तक कुहरे की प्रचुरता रहेगी ही, उसी तरह जब तक घनीभूत अज्ञान मौजूद है, तब तक चित्त की स्थूलता का रहना निश्चित ही है। तथा ज्यों–ज्यों वर्षाकालीन मेघ क्षीण होते जाते हैं, त्यों–त्यों कुहरे का भी विनाश होता जाता है, उसी प्रकार ज्यों–ज्यों अज्ञान क्षीण होता जायेगा, त्यों–त्यों चित्त की भी सूक्ष्मता बढ़ती जायेगी।

“असत्वस्वरूप मन ! मैं अहंकार और वासनाओं से रहित निर्विकल्प चिन्मय ज्योतिःस्वरूप हूँ और तू अहंकारों का बीजस्वरूप है। अतः तुझसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ‘अहं’ रूप से कौन स्थित है ?– इसका मैंने पैर के अँगूठे से लेकर सिर तक सर्वत्र अन्वेषण किया; किंतु यह ‘अहं’ नामक पदार्थ मुझे कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इस शरीर में यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, ये श्वासवायु हैं, पर यह ‘अहं’ रूप से स्थित कौन है ? देह में स्पन्दनांश तो प्राणवायुओं का है, चेतनांश परमात्मा का है तथा जरा–मरण शरीर के धर्म हैं; फिर यह ‘अहं’ क्या वस्तु है ? रे चित्त ! मांस अहं से पृथक है, रक्त उससे भिन्न है, हड्डियाँ भी दूसरी हैं, चेतनता उससे अन्य है, स्पन्दन भी उससे अलग है; फिर ‘अहं’ रूप से स्थित पदार्थ कौन है ? यह नासिका

है, यह जिव्हा है, यह त्वचा है, ये दोनों कान हैं, यह आँख है और यह स्पन्दन है; फिर 'अहं' रूप से स्थित कौन वस्तु है ? परमार्थरूप से विचार करने पर न तो मन अहं है न चित्त अहं है और न वासना ही अहं है। आत्मा तो अहं हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो केवल शुद्ध चेतन प्रकाशस्वरूप है। वस्तुतः तो इस जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है। अथवा विनाशशील असत् होने के कारण कोई भी पदार्थ मेरा स्वरूप नहीं है-यही दृष्टि सच्ची है, इससे भिन्न दूसरा कोई क्रम नहीं है। परंतु अज्ञानरूपी धूर्त अहंकार के द्वारा चिरकाल से मुझे उसी प्रकार कष्ट दे रहा है, जैसे जंगल में कोई ढीठ भेड़िया मृगछौने को क्लेश पहुँचाये। सौभाग्य की बात है कि अब मैंने उस अज्ञानरूपी चोर को भली भाँति जान लिया है। वह मेरे स्वरूप रूपी धन का अपहरण करने वाला है, अतः अब मैं पुनः उसका आश्रय नहीं ग्रहण करूँगा। यह देह में अहंतारूपी भावना मृगतृष्णा के सदृश व्यर्थ है। जब ऐसी भावना असत्य ही है, तब 'यह देह अहं है' ऐसा जो भाव है, वह केवल भ्रम ही है। किंतु ज्ञानी महात्मा जो वासनाहीन हो गये हैं, वे भी अपने जीवन-निर्वाह के लिये स्वतः बाह्यरूप से चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा कर्मों में प्रवृत्त होते ही हैं। उनकी इस प्रवृत्ति में वासना कारण नहीं है। चित्त ! यदि केवल वासनारहित कर्म किया जाय तो भविष्य में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। इसलिये मूर्ख इन्द्रियो ! यदि तुम अपनी अन्तर्वासना का परित्याग करके सम्पूर्ण कर्म करोगी तो तुम्हें दुःख की प्राप्ति नहीं होगी। निष्पाप ! जैसे तरंग आदि जल से भिन्न नहीं हैं, उसी तरह ज्ञानी महात्मा की दृष्टि में ये वासना आदि सभी पदार्थ आत्मा से पृथक नहीं हैं; किंतु अज्ञानी की दृष्टि में उनकी पृथक सत्ता है। इन्द्रियरूपी बालको ! जैसे रेशम के कीड़े अपने द्वारा उत्पन्न हुए तन्तु से ही नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह तुम लोग भी स्वतः उद्धृत तृष्णाद्वारा विनष्ट हो रहे हो। वासना ही तुम लोगों को एक जगह बाँधने में हेतु है-ठीक उसी तरह, जैसे छिद्रों में पिरोयी हुई रज्जु मोतियों के बन्धन में कारण होती है। वस्तुतः तो यह वासना कल्पना मात्र से ही उद्धृत हुई है, अतः यह सत्य नहीं है; क्योंकि संकल्प का त्याग कर देने से यह विनष्ट हो जाती है।

"यह चेतन आत्मा सर्वव्यापक सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतः इसका जन्म अथवा मरण नहीं होता। फिर कैसे इसकी मृत्यु हो सकती है अथवा कैसे किसी

के द्वारा यह मारा जा सकता है। इसका जीवन से तो कोई प्रयोजन है नहीं; क्योंकि यह सर्वात्मा ही सबका जीवन है। यदि शुद्ध चेतन आत्मा ही सबका जीवन है तो उसे इस जीवन से कब कौन-सी दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्त होगी, जिसके लिये उसे जीवन की इच्छा हो ? जिसका अपनी देह में अहंभाव है, वही भाव-अभावरूप जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता है; परंतु आत्मन् ! तुम्हारे में तो देहाहंभाव है नहीं, इसलिये तुम्हें भाव-अभावरूप जन्म-मरण कहाँ से प्राप्त होंगे। अहंकार तो व्यर्थ मोहरूप है, मन मृगतृष्णा के समान है और पदार्थ समूह जड़ है; ऐसी दशा में अहंभाव किसको हो ? शरीर रक्त-मांसमय है, विवेक-विचार द्वारा मन का विनाश हो गया है और चित्त आदि सभी जड़ हैं; फिर देह में अहंभावना किसको कैसे हो ? सभी इन्द्रियाँ नित्य अपने-अपने व्यापार में संलग्न हैं और जड़ पदार्थ अपने स्वरूप में स्थित हैं; फिर किसको और कैसे अहंभाव हो ? गुणों की कार्यरूपा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में बरत रही हैं, प्रकृति गुणसाम्यावस्थारूप अपने स्वभाव में स्थित है और सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आप में ही पूर्ण रूप से विराजमान है; फिर देह में अहंभावना किसको और कैसे हो ? इस प्रकार इस भूतल पर जो कुछ स्थित है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है। वह 'सत्' (ब्रह्म) मैं ही हूँ और वह 'तत्' (ब्रह्म) भी मैं ही हूँ; फिर व्यर्थ ही शोक क्यों करूँ। जब केवल एक ही सर्वव्यापक विशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मारूप परमपद सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, तब अहंकाररूपी कलंक की उत्पत्ति कहाँ से हो सकती है। वास्तव में तो पदार्थ-सम्पत्ति है ही नहीं, एकमात्र सर्वव्यापक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हो रहा है। अथवा यदि पदार्थ-सम्पत्ति की सत्ता मान भी लें तो उसके साथ किसी का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। वस्तुतः तो अहंकाररूपी महान् भ्रम असत्-मिथ्या है; किंतु इसका प्रादुर्भाव होने पर यह सारा जगत् 'यह मेरा है, यह उसका है' यों व्यर्थ ही विपर्यास को प्राप्त हुआ है। यह आश्चर्यमय अहंकार परमात्मा के तत्व का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही उत्पन्न हुआ है। उस परमात्मतत्व के ज्ञात हो जाने पर तो इसका उसी प्रकार विनाश हो जाता है, जैसे सूर्य के ताप से हिमकणिका गल जाती है। इससे सिद्ध हुआ है कि परमात्मा के अतिरिक्त और किसी की भी सत्ता नहीं है; इसलिये 'सर्व ब्रह्म' इस प्रकार का जो मेरा अनुभव सिद्ध तत्व है, उसी का मैं चिन्तन

करूँगा। मैं तो यही उत्तम समझता हूँ कि आकाश की नीलिमा के सदृश उत्पन्न हुए इस अहंकाररूपी महाभ्रम को ऐसे भुला दिया जाय जिससे पुनः कभी इसका स्मरण ही नहीं हो। मैं चिरकाल से प्राप्त हुए इस मूलाविद्या सहित अहंकाररूपी महाभ्रम का सर्वथा त्याग करके शान्तात्मा होकर विशुद्ध परमात्मा में ही स्थित रहूँगा, जैसे शरत्कालीन आकाश अपने निर्मल स्वभाव में स्थित रहता है। यह अहंभाव जब बढ़ जाता है, तब अनर्थ-परम्पराओं की सृष्टि करता है, पाप का विस्तार करता है और संताप को बढ़ाता है। मरणादि पारलौकिक दुःख पुनर्जन्म तक भोगना पड़ता है एवं जीवन आदि ऐहलौकिक कष्ट मरणपर्यन्त रहता है और वर्तमान काल के पदार्थ काल के पदार्थ विनाशशील हैं, अतः यह दुःखवेदना घोर कष्टप्रद है। दुर्बुद्धिजनों की 'यह मुझे मिल गया, अब इसे प्राप्त करूँगा' इस प्रकार की संतापदायिनी पीड़ा कभी शान्त नहीं होती। अहंकार का समूल विनाश हो जाने पर संसार रूपी वृक्ष सूख जाता है। उसकी उत्पादन शक्ति विनष्ट हो जाती है, जिससे वह पाषाण की भाँति पुनः अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है।

देहरूपी वृक्ष को अपना निवास स्थान बनाकर रहने वाली तृष्णारूपी काली नागिनें हृदय में विवेक विचाररूपी गरुड़ का आगमन होते ही न जाने कहाँ लुप्त हो जाती हैं। जब विश्व असत्य सिद्ध हो जाता है, तब उससे उत्पन्न होने वाला सारा-का-सारा भेद-व्यवहार असत्य हो जाता है। इस प्रकार व्यवहार के असत्य हो जाने पर 'अहं'-'त्वं' का भेद-व्यवहार सत्य कैसे रह सकता है। तरंग की भाँति क्षणभंगुर एवं विनाशोन्मुख इस देह में जिनकी आस्था सुदृण हो गयी है, उन दुर्बुद्धियों का परमार्थ से पतन हो जाता है; क्योंकि देह आदि समस्त वस्तुएँ सर्वत्र उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के पश्चात नहीं रहतीं, केवल मध्य में ही इनका प्राकट्य दृष्टिगोचर होता है। फिर उनकी मिथ्या स्थिरता में आस्था कैसी। अर्थात् इन देह आदि विनाशी पदार्थों को सत्य मानकर उनमें नहीं फँसना चाहिये। जब मन पूर्णतया इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि यह जो कुछ विशाल दृश्यमण्डल है, व सारा-का-सारा अवास्तविक है, तब वह अमन-मन के व्यापार से शून्य हो जाता है। तदनन्तर 'यह अवास्तविक है' ऐसा मन में दृढ़ निश्चय हो जाने पर सारी भोग-वासनाएँ उसी प्रकार क्षीण हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतु में वृक्षों की मंजरियाँ झड़ जाती हैं। वास्तव में न तो कोई किसी

का स्वाभाविक मित्र ही है; किंतु जो सुख पहुँचाने वाला है, वह मित्र कहा गया है और जो दुःखप्रद हैं, वे शत्रु कहलाते हैं। इसलिये अब मैं मनरूपी वन को, जो संकल्परूपी वृक्षों से व्याप्त तथा तृष्णारूपी लताओं से आच्छादित है, छिन्न-भिन्न करके विस्तृत मुक्तिरूपी भूमि में जाकर सुखपूर्वक विचरण करूँगा। इस प्रकार मन के पूर्णतया क्षीण हो जाने पर रक्त-मांस आदि धातुओं का संघातरूप यह मेरा अनिष्टकारी शरीर चाहे रहे अथवा नष्ट हो जाय, इससे कोई हानि नहीं है। अतः मन का विनाश करना ही आवश्यक है। मैं देह नहीं हूँ-इस विषय में मैं एक युक्ति बतलाता हूँ; सुनो ! यदि देह को ही आत्मा मान लिया जाय तो मरने पर शरीर के सभी अंगों के वर्तमान रहने पर भी मुर्दा शरीर व्यवहार क्यों नहीं करता ? इससे सिद्ध हुआ कि देह आत्मा नहीं है। मैं तो नित्य अविनाशी ज्योतिःस्वरूप हूँ और इस देह से अतीत हूँ। न तो मैं अज्ञानी हूँ, न मुझे कोई दुःख है, न अनर्थ है और न दुःख का कोई कारण ही है। अब तो यह शरीर रहे अथवा न रहे, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; मैं तो संताप रहित हुआ नित्य स्थित हूँ। मुझे उस परम पर स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति हो चुकी है; इसलिये मैं सबसे उत्कृष्ट, केवल-शुद्धस्वरूप, विक्षेपरहित, शान्तरूप, अंशाशीभाव से रहित, अपने आप में परिपूर्ण, निष्क्रिय एवं इच्छारहित ब्रह्मस्वरूप हूँ। स्वच्छता, प्रभावशालिता, सत्ता, सुहृदयता, सत्यभाषण, यथार्थ ज्ञान, आनन्दस्वरूपता, शान्ति,सदा मृदुभाषिता, पूर्णता, उदारता, सत्यस्वरूपता, कान्तिमत्ता, एकाग्रता, सर्वात्मकता, निर्भयता और द्वैत के विकल्प का अभाव-ये सभी गुण मुझ आत्मनिष्ठ के हृदय को अत्यन्त प्रिय लगने वाले हैं। चूँकि सर्वरूप परमात्मा परमात्मा में सभी कुछ सर्वदा एवं सर्वथा सम्भव है, इसलिये सभी विषयों के प्रति मेरी इच्छा अनिच्छा और सुख-दुःख क्षीण हो गये हैं। अब मेरा मोह विनष्ट हो गया है, मन अमनी भाव को प्राप्त हो गया है और चित्त के संकल्प-विकल्प दूर हो गये हैं; अतः मैं शान्तस्वरूप परमात्मा में रमण कर रहा हूँ।

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकत्तीसवाँ सर्ग

महर्षि उद्दालक की साधना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! उद्दालक मुनि अपनी विशाल एवं

विशुद्ध बुद्धि से यों निर्णय करके पद्मासन लगाकर बैठ गये। उस समय उनके नेत्र आधे मुँदे हुए थे। तदनन्तर "जो ॐकार का उच्चारण करता है, उसे परमपद की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि 'ॐ' का यह अक्षर परब्रह्म है।" ऐसा निश्चय करके उन्होंने ॐकार का, जिसकी ध्वनि ऊपर को जा रही थी, उसी प्रकार उच्च स्वर से उच्चारण किया, जैसे घंटे के अधोभाग में लटके हुए लटकन को अच्छी तरह पीटने से जोर का शब्द होता है। उनके द्वारा उच्चारित प्रणवध्वनि जब तक ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त व्याप्त नहीं हो गयी और जब तक वे सर्वव्यापक, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा के अभिमुख नहीं हो गये, तब तक 'ॐ' का उच्चारण करते रहे। प्रणव के अकार, उकार, मकार और बिन्दु-इस प्रकार साढ़े तीन अंश हैं। उनमें से प्रथम अंश अकार के उच्चस्वर से उच्चरित होने पर जब शरीर के भीतर शब्द के गूँजने के कारण प्राण पूर्ण रूप से क्षुब्ध हो उठे, तब प्राणवायु को छोड़ने के क्रमने जिसे रेचक कहा जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर को रिक्त कर दिया, जैसे महर्षि अगस्त्य ने सागर के जल को पीकर उसे खाली कर दिया था। तत्पश्चात् प्रणव के द्वितीय अंश 'उकार' के उच्चारण के समय ॐकार की समस्थिति होने पर प्राणों का निश्चल कुम्भक नामक क्रम सम्पन्न। उस समय प्राण न बाहर थे न भीतर, न अधोभाग में थे न ऊर्ध्वभाग में और न दिशाओं में ही भ्रमण कर रहे थे, बल्कि भलीभाँति स्तम्भित किये गये जल की तरह पूर्णतः शान्त थे। तदनन्तर प्रणव के उपशान्तिप्रद तृतीयांश मकार के उच्चारण-काल में प्राण वायु को भीतर ले जाने के कारण प्राणों का पूरक नामक क्रम घटित हुआ। इस तीसरे क्रम में प्राण जीवात्मा में भावना द्वारा भावित अमृत के मध्य में पहुँचकर हिमस्पर्श के समान सुन्दर शीतलता को प्राप्त हो गये।

तदुपरान्त पद्मासन से बैठे हुए उद्दालक मुनि ने उस भावनामय शरीर में दृढ़ स्थिति करके आलान में बँधे हुए गजराज की तरह अपनी पाँचों इन्द्रियों को देह में निबद्ध कर दिया। फिर वे निर्विकल्प समाधि के लिये तथा शरत्कालीन निर्मल आकाश की तरह अपने स्वभाव को शुद्ध बनाने के हेतु प्रयत्न करने लगे। जब उद्दालक मुनि को उस समाधि से तत्वज्ञान की प्राप्ति हो गयी, तब वे दृश्य-प्रपंच के विकल्पों से रहित होकर उस नित्य अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्मा में तद्रूप हो गये, जो जगत् का अधिष्ठानभूत,

शुद्धस्वरूप एवं महान् है। वे शरीर से पृथक होकर किसी अनिर्वचनीय स्थिति को प्राप्त हो गये और नित्य-सत्य-सम-चिन्मयरूप होकर आनन्द सागर परमात्मा में विलीन हो गये। उस समय वे वातरहित स्थान में रखे हुए दीपक की भाँति कान्तिमान्, चित्रलिखित के सदृश अटल मनवाले, निस्तरंग समुद्र के समान गम्भीर एवं बरसे हुए निर्जल बादल की तरह मूक हो गये।

इस प्रकार जब इस महालोकस्वरूप परब्रह्म में स्थित हुए उद्दालक का बहुत-सा समय व्यतीत हो गया, तब उन्होंने बहुसंख्यक आकाशचारी सिद्धों तथा देवताओं को भी देखा। तदनन्तर जो इन्द्र और सूर्य का पद प्रदान करने की सामर्थ्य रखती थीं, ऐसी बहुत-सी विचित्र सिद्धियाँ भी अप्सराओं से घिरी हुई वहाँ चारों ओर से आ पहुँचीं; परंतु उद्दालक मुनि ने उन सिद्धियों को बच्चों के खिलौनों की तरह समझकर उनका कुछ भी आदर नहीं किया; क्योंकि उनका मन क्षोभरहित और बुद्धि गम्भीर थी। इस प्रकार सिद्धि-समूहों का अनादर करके वे छः महीने तक उस आनन्द-मन्दिर रूप समाधि में स्थित रहे-ठीक उसी तरह, जैसे उत्तरायण के छः मास तक सूर्य उत्तर दिशा की ओर रहते हैं। इतने समय तक उद्दालक मुनि को जीवन्मुक्त पद की प्राप्ति हो गयी। तब वहाँ उनके समीप सिद्धों का दल, देवताओं का समुदाय, साध्यगण, ब्रह्मा और शंकर आदि उपस्थित हुए। परमात्मा की प्राप्ति ही वह परम पद है, वही परम शान्त गति है, वही शाश्वत कल्याणस्वरूप मंगलमय पद है। जिसे वहाँ विश्राम करने का अवसर प्राप्त हो गया, उसे भ्रम पुनः बाधा नहीं पहुँचा सकता। संत पुरुष उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करके इस विनाशशील बाह्य दृश्य प्रपंचों में उसी प्रकार नहीं रमते, जैसे चैत्ररथ नामक रमणीय उद्यान में पहुँचे हुए जन खैर के वन में जाने की इच्छा नहीं करते। उद्दालक मुनि ने सिद्धियों को दूर हटा दिया था। वे छः मास तक समाधि में स्थित रहने के पश्चात् जब पुनः समाधि से विरत होकर जागे, तब उन्हें अपने सम्मुख कुछ परम तेजस्विनी रमणियाँ दीख पड़ीं, जो चन्द्रबिम्ब के समान सुन्दर शरीर वाली, स्नेहमयी और प्रणाम करने की लालसा से युक्त थीं। साथ ही कतार-के-कतार दिव्य विमान भी दृष्टिगोचर हुए, जो गौर वर्ण वाले मन्दार पुष्पों के पराग से धूसरित भ्रमरों और चँवरों से सुशोभित थे तथा जिन पर पताकाएँ फहरा रही थीं। दूसरी ओर उन्होंने जिनके करकमलों में कुशा की पवित्रणी धारण करने से

चिन्ह पड़ गये थे, उन हमारे जैसे मुनियों को और विद्याधरियों सहित श्रेष्ठ विद्याधरों को भी देखा। उन सबने उन महात्मा उद्दालक मुनि से कहा–'भगवन् ! हम आपको प्रणाम कर रहे हैं। आप अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से हमारी ओर देखिये। मुने ! आइये और इस विमान पर चढ़कर स्वर्गलोक को पधारिये; क्योंकि जगत् की भोग-सम्पत्तियों की चरम सीमा स्वर्ग ही तो है। विभो ! वहाँ चलकर आप कल्पपर्यन्त अपने अभीष्ट भोगों का समुचित रूप से उपभोग कीजिये; क्योंकि समस्त तपस्याएँ स्वर्गादिरूप का फल का उपभोग करने के लिये ही होती हैं। भगवन् ! ये विद्याधरों की ललनाएँ हार और चँवर धारण किये आपके पास खड़ी हैं, इन पर दृष्टिपात कीजिये; क्योंकि धर्म और अर्थ का सार काम है तथा काम की सारभूता सुन्दरी युवतियाँ हैं। जैस मंजरियाँ वसन्त ऋतु में ही उपलब्ध होती हैं, उसी तरह ये वरांगनाएँ स्वर्ग में ही मिलती हैं।–

यों कहने वाले उन सभी विद्याधर और ऋषि-मुनि आदि अतिथियों का यथोचित आदर-सत्कार करके उद्दालक मुनि निर्भ्रान्त एवं निश्चल भाव से बैठे रहे। उनकी बुद्धि तो गम्भीर थी ही; अतः उन्होंने न तो उस विभूति का अभिनन्दन किया और न तिरस्कार ही किया अर्थात् उदासीन बने रहे तथा 'भो सिद्धगण ! आप लोग जाइये' यों कहकर वे अपने समाधिरूप कार्य में संलग्न हो गये। तदनन्तर सिद्धगण कुछ दिनों तक उद्दालक मुनि की, जो भोगों की आसक्ति से रहित और अपने धर्म में निरत थे, प्रणाम, स्तुत-प्रशंसा आदि द्वारा उपासना करके अपने-आप चले गये। तब जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए मुनि स्वेच्छानुसार वनप्रान्तों तथा मुनियों के आश्रमों में सुखपूर्वक विचरते रहे। उस समय से उद्दालकमुनि परमपद के प्राप्त होने पर पर्वतों की कन्दराओं में ध्यान आदि लीलाएँ करते हुए निवास करने लगे। ध्यानस्थ होने पर उनका कभी एक दिन में, कभी एक मास में, कभी एक वर्ष में और कभी-कभी तो कई वर्षों में उस ध्यान-समाधि से व्युत्थान होता था। उस समय से लेकर उद्दालक मुनि व्यवहार में तत्पर रहते हुए भी चिन्मय परमात्मा में एकीभाव से स्थित होकर परम समाहित-चित्त बन रहते थे। यों चिन्मय परमात्मतत्व में एकीभाव के दृढ़ अभ्यास से महान् चिन्मय विज्ञानानन्दघन परमात्मा को प्राप्त करके उन मुनि की सर्वत्र समदृष्टि हो गयी, जैसे सूर्य का तेज भूतल पर सर्वत्र समभाव से पड़ता है। इस प्रकार समस्त विक्षेगों का उपशमन होने के कारण

परम पद की प्राप्ति से उनका चित्त जब शान्त हो गया, उनकी जन्म-मरणरूपी फाँसी कट गयी और वे संशय तथा चंचलता से रहित हो गये, तब वे शरत्कालीन आकाश के समान शान्त, सर्वव्यापक, तेजस्वी, प्रकाशमय, चित्त रहित विशुद्धस्वरूप चिन्मय परमात्मा को प्राप्त हो गये।

इकत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

परमात्मप्राप्ति का कथन

श्रीरामजी ने पूछा-ऐश्वर्यशाली गुरो ! आप आत्मज्ञानरूपी दिन के लिये सूर्यस्वरूप हैं, अतः अब यह बतलाने की कृपा करें कि सत्ता-सामान्य का क्या लक्षण है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-राघव ! दृश्य वस्तु है ही नहीं-इस प्रकार की दृढ़ भावना से चित्त जब सर्वथा क्षीण हो जाता है, तब उस सामान्यरूप चेतन की सबमें सामान्यभाव से व्यापक स्वतःसिद्ध सत्तामात्र ही सत्ता-सामान्य अवस्था होती है। जब चैतन्य समस्त दृश्य पदार्थों से रहित होकर परमात्मा में विलीन हो जाता है, तब उसकी निराकार आकाश की भाँति अत्यन्त निर्मल सत्ता-सामान्य होती है। जब चैतन्य बाह्य एवं आभ्यन्तरसहित यह जो कुछ है, उस सबका अपलाप करके स्थित हो, उस समय उसकी सत्ता-सामान्य अवस्था समझनी चाहिये। जब साधक सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच को अपने वास्तविक स्वरूप से स्वप्रकाशात्मक सत्ता-सामान्यतावस्था जाननी चाहिये। यह परम दृष्टि तुर्यातीत पद के सदृश है, अतः यह सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनों के लिए सदा समान है। निष्पाप राम ! यह दृष्टि ज्ञान से प्रादुर्भूत ही है, अतः यह केवल तुर्यातीत ज्ञानी महापुरुष को समाधि अवस्था एवं व्युत्थान-अवस्था-दोनों में होती है, किंतु अज्ञानी को कभी नहीं होती। यह सत्ता-सामान्य पदवी समस्त भयों का विनाश करने वाली है। इसका आश्रय लेकर उद्दालक मुनि दैवेच्छानुसार प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने तक जगत् में स्थित रहे। वे पर्वत की गुफा में पत्तों के आसन पर नेत्रों को आधा मूँदकर पद्मासन से बैठे थे। उस समय वे महात्मा चित्रलिखित-से निश्चल होकर शरद्ऋतु के निर्मल आकाश में सम्पूर्ण कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रमा के समान विशुद्ध और सम हो गये। उनके सारे संकल्प विकल्प जाते रहे। वे निर्विकार एवं समस्त पापों और विषय-भोगों की उपाधि

से रहित होने के कारण अभिराम हो गये। उन्हें उस चिन्मय परम आनन्द की प्राप्ति हुई, जहाँ से सारे सांसारिक सुख प्रादुर्भूत होते हैं तथा जिसकी समता में इन्द्र का ऐश्वर्य भी समुद्र में तिनके के समान है। तदनन्तर वे विप्रवर उद्दालक, जो अनन्त आकाशों में व्याप्त रहने वाली दिशाओं को भी व्याप्त करने वाला, सदा समस्त वस्तुओं से पूर्ण, भुवनों का भरण-पोषण करने वाला, बड़े भाग्य से एवं उत्तम जनों द्वारा सेवा करने योग्य, वाणी से परे, अनन्त, सबका आदि और सत्यस्वरूप है, उस परम विज्ञानानन्दघन परमात्मा में तद्रूप हो गये। जो विवेक द्वारा स्फुरित हुए आनन्द रूपी विकसित पुष्पों से सुशोभित है, उद्दालक की वह चंचलता रहित पवित्र चित्तवृत्तिरूपिणी कल्पलता जिसके हृदय-कानन में उगकर विस्तार को प्राप्त हो जाती है, वह संसार-कानन में विहार करता हुआ भी सत्यस्वरूप परमात्मा के आश्रयरूपा छाया से कभी वियुक्त नहीं होता, अपितु उसका सर्वोत्कृष्ट मोक्षफल से सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसलिये कल्याणकामी मनुष्य को उद्दालक की चित्तवृत्तिरूपा लता को हृदय में रोपकर उसका विस्तार करना चाहिये।

रघुकुलभूषण राम ! संसार से वैराग्य, जप-ध्यान के अभ्यास, सत-शास्त्रों के विचारपूर्वक अध्ययन, पवित्र और तीक्ष्ण बुद्धि, सद्गुरू के उपदेश और यम-नियमों के पालन से परमात्मा की प्राप्ति रूप विशुद्ध परमपद की प्राप्ति होती है अथवा केवल विशुद्ध और तीक्ष्ण प्रज्ञा से ही परमपद मिल जाता है; क्योंकि जो बुद्धि सम्यक् प्रकार से ज्ञानयुक्त, तीक्ष्ण और दोषरहित है, वह सम्पूर्ण साधनों के बिना भी यथार्थ ज्ञान द्वारा जीव को अविनाशी परमपद की प्राप्ति करा देती है।

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

⟵⟶

तेतीसवाँ सर्ग

तपस्या

श्रीरामजी ने पूछा-भूत और भविष्य के ज्ञाता भगवन् ! कोई ज्ञानी पुरुष व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थ के सदृश विश्राम को प्राप्त हुआ रहता है और कोई एकान्त का आश्रय लेकर ध्यान-समाधि में स्थित रहता है। इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? यह मुझे बतलाने की कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-वत्स राम ! जो इस सत्वादि गुणों के समाहाररूप

दृश्य जड़ संसार को अनात्मरूप (अनित्य और मिथ्या) देखता है, उस पुरुष की जो यह परम शान्तिस्वरूप अन्तःशीतलता है, वही समाधि कहलाती है। मन के रहने पर दृश्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है–ऐसा निश्चय करके जो मन से रहित होकर परम शान्ति को प्राप्त हो चुका है, ऐसा कोई पुरुष तो व्यवहार में लगा रहता है और कोई ध्यान–समाधि में तल्लीन हो जाता है। यदि उनके अन्तःकरण में परम शान्तिरूप शीतलता है तो वे दोनों ही सुखी हैं; क्योंकि जो अन्तःकरण की शीतलता है, वह अनन्त साधनरूप तपस्याओं का फल है। इसलिये जो ज्ञानी व्यवहारपरायण है और जिसने ज्ञान प्राप्त करके वन का आश्रय ले लिया है, वे दोनों ही सर्वथा समान हैं; क्योंकि उन दोनों को ही सम्पूर्ण संदेहों से रहित परम पद की प्राप्ति हो गयी है। रघुनन्दन ! चित्त में जो कर्तापन अभाव है, वह उत्तम समाधान है और वही मंगलमय परमानन्द–पद है। उसी को तुम केवल चिन्मयभाव समझो। जो मन वासनाओं से रहित हो गया है, वह स्थिर कहा गया है; वही ध्यान समाधि है, वही केवल चिन्मयभाव है और वही अविनाशी परम शान्ति है। जिसके मन की वासनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, वह पुरुष सर्वोत्कृष्ट परमपद की प्राप्ति के योग्य कहा जाता है; क्योंकि वासनाशून्य मनवाला पुरुष कर्त्तापन से रहित हो जाता है, अतः उसे परमपद प्राप्ति होती है। जिस साधन से मनुष्य की जगद्विषयिणी आस्था पूर्णतया शान्त हो जाती है और उसका अन्तःकरण शोक, भय और एषणाओं से रहित हो जाता है तथा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है, उस साधन को समाधि कहते हैं। जिन गृहस्थों के चित्त अच्छी प्रकार समाहित हो चुके हैं तथा जिनके अहंकार आदि दोष शान्त हो गये हैं, उनके लिये घर ही निर्जन वनस्थलियों के समान है। समाहित मन और बुद्धिवाले तुम्हारे–जैसे प्राणियों के लिये इस जगत में घर और वन एक–से हैं। राजकुमार राम ! जिसका चित्त अहंता, ममता, रागादि दोषरूप महामेघ से रहित होकर शान्त हो चुका है, उसके लिये जनसमूहों से व्याप्त नगर भी सुनसान अरण्य जैसे लगते हैं; परंतु शत्रु–वीरों का संहार करने वाले रघुनन्दन ! जिसका चित्त अहंता, ममता, राग आदि वृत्तियों से युक्त होने के कारण उन्मत्त बना रहता है, उसके लिये निर्जन वन भी प्रचुर जनों से परिपूर्ण नगर जैसे ही हैं।

जो मनुष्य समाधि–काल में परमात्मा को सम्पूर्ण भावों और पदार्थों से

अतीत तथा व्यवहार काल में सम्पूर्ण भावों को परमात्मा का स्वरूप समझता है, वह समाहित कहा जाता है। जिसका मन सदा अन्तर्मुख बना रहता है, वह सोते, जागते और चलते हुए भी ग्राम, नगर और देश को जंगल-जैसा ही समझता है। यद्यपि यह सारा जगत् प्राणियों से परिपूर्ण है, तथापि नित्य अन्तर्मुखी स्थिति वाले पुरुष के लिये सर्वथा अनुपयोगी होने के कारण यह आकाश की तरह शून्य हो जाता है। जिन पुरुषों के अन्तःकरण में परम शान्ति प्राप्त हो जाती है, उनके लिये सारा जगत् सदा शान्तिमय हो जाता है; परंतु जिनका अन्तःकरण तृष्णा की ज्वाला से संतप्त होता रहता है, उनके लिये जगत् दावाग्नि से दग्ध होता हुआ-सा प्रतीत होता है; क्योंकि समस्त प्राणियों के भीतर जैसा भाव होता है, वैसा ही बाहर अनुभव होता है। जो बाहर कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रियाओं का सम्पादन करता हुआ भीतर केवल आत्मा में ही रत रहता है और हर्ष-शोक के वशीभूत नहीं होता, वह समाहित कहा जाता है। जो शान्त बुद्धि पुरुष सर्वव्यापक आत्मा का साक्षात्कार करते हुए न तो किसी के लिये शोक करता है और न किसी की चिन्ता ही करता है, वह समाहित कहलाता है। जो आकाश की तरह निर्मल है, शास्त्र और शिष्टाचार के अनुकूल बाह्य चेष्टाओं का सम्यक् प्रकार से आचरण करता है और हर्ष, अमर्ष आदि विकारों में काष्ठ और मिट्टी के ढेले के समान विकार रहित एवं शान्त स्वभाव वाला है तथा जो भय से नहीं, बल्कि स्वाभाविक ही समस्त प्राणियों को अपने आत्मा के तुल्य और पराये धन को मिट्टी के ढेले के सदृश देखता है, वही यथार्थ देखता है। जो इस प्रकार के आशय से सम्पन्न होकर सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप परमपद को प्राप्त हो गया है, उसके ऐश्वर्य आदि पदार्थ चाहे पूर्ववत् स्थित रहें, चाहे अभ्युदय को प्राप्त हों, चाहे नष्ट हो जायँ, चाहे उसके बन्धु-बान्धव मृत्यु को प्राप्त हो जायँ, चाहे वह उत्तमोत्तम भोग-सामग्रियों से परिपूर्ण तथा कुटुम्बी जनों से भरपूर घर में रहे, अथवा सभी प्रकार के भोगों से शून्य विशाल वन में रहे, चाहे उसके शरीर पर चन्दन, अगुरु और कपूर का अनुलेप किया जाय अथवा वह बड़ी-बड़ी ज्वालाओं से व्याप्त अग्नि में गिरे, चाहे उसकी आज ही मृत्यु हो जाय अथवा अनेक कल्पों के बाद हो, वह न तो स्वयं कुछ बनता है और न उस महात्मा ने कुछ किया ही। अर्थात् वह सभी परिस्थितियों में विकार-रहित समभाव से स्थित रहता है। अहंकार और

वासनारूपी अनर्थों के उत्पन्न होने से संविदात्मा पुरुष के जीवन में नाना प्रकार के सुख-दुःख आते-जाते रहते हैं; परंतु उस अहंता के पूर्णतया शान्त हो जाने पर चित्त में ऐसी समता प्राप्त हो जाती है, जैसे रज्जु में सर्पभ्रान्ति के नष्ट हो जाने पर 'यह सर्प नहीं है' इस ज्ञान से निर्भयता और प्रसन्नता होती है। ज्ञानी जो कार्य करता है, जो खाता है, जो दान देता है, जो हवन आदि करता है– उन सब कर्मों को करता हुआ भी वह कुछ नहीं करता एवं न उनमें रत ही रहता है; क्योंकि वह अहंता-ममता से रहित हो जाता है, इसलिये उसका कर्म करना अथवा न करना एक-सा है। उसका न तो कर्मों के करने कोई प्रयोजन है और न कर्मों के न करने से ही कोई मतलब है; क्योंकि वह तो यथार्थ ज्ञान के प्रभाव से स्वाभाविक ही परमात्मा में स्थित है। अतः उसके मन में कामनाओं की उत्पत्ति उसी प्रकार रुक जाती है, जैसे पत्थर से मंजरियाँ नहीं निकलती।

तेतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौतीसवाँ सर्ग

किरातराज सुरघु का वृत्तान्त

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–राघव ! इस विषय में एक प्राचीन इतिहास का दृष्टान्त दिया जाता है, जो किरातराज सुरघु का परम विस्मयजनक वृत्तान्त है। पूर्वकाल में हिमालय के शिखरभूत कैलास के मूल देश में हेमजट नामक किरात निवास करते थे। उनका जो राजा था, उसका नाम सुरघु था। वह उदारचेता एवं शत्रु-नगरी पर विजय पाने वाला था। विजयलक्ष्मी तो मानो उसकी भुजा ही थी। वह बलवान् तथा प्रजापालन में दक्ष था। पराक्रम में तो वह सूर्यतुल्य और बल में साक्षात् मूर्तिमान् वायु के समान था। उसने नाना प्रकार के राज्यवैभवों तथा विविध धन-सम्पत्तियों से गुह्यकाधिपति कुबेर को, ज्ञान से इन्द्र गुरु बृहस्पति को और काव्यगुणों से असुर गुरु शुक्राचार्य को जीत लिया था। वह यथावसर प्राप्त होते हुए राजकार्यों को निग्रह–अनुग्रह की व्यवस्था से उत्साहपूर्वक करता था। तदनन्तर उन राजकार्यों से उत्पन्न हुए सुख-दुःखों से उसकी पारमार्थिक गति उसी प्रकार अभिभूत हो गयी, जैसे जाल में फँसे हुए पक्षी की गति रुक जाती है। तब वह यों विचार करने लगा–'मैं इन दुखी प्रजाजनों को कोल्हू में पेरे जाते हुए तिलों की भाँति क्यों बलपूर्वक पीड़ित

करता हूँ ? मेरे समान ही इन सभी प्राणियों को भी तो दुःख होता होगा। अतः अब मेरा इन्हें और अधिक दण्ड देना व्यर्थ है। मैं इन्हें धन-सम्पत्ति प्रदान करूँगा; क्योंकि मेरी तरह सभी लोग धन से आनन्दित होते हैं। अथवा निग्रह का अवसर प्राप्त होने पर उसे भी करूँगा; क्योंकि निग्रह के बिना प्रजा अपनी मर्यादा में स्थित नहीं रहती। यह मेरे लिये दण्डनीय है। यह सदा मेरे अनुग्रह का पात्र है। सौभाग्य की बात है कि आज मैं सुखी हूँ और दुर्भाग्यवश आज मैं दुखी हूँ। यह सब अन्त में कष्ट-ही-कष्ट है।' पृथ्वीपति सुरघु का मन इस प्रकार के संकल्प-विकल्पों से चंचल हो गया, जिससे उसे कहीं विश्राम नहीं मिला-जैसे चिरकाल की तृषा से युक्त मन जल के बड़े-बड़े आवर्तों पर घूमते रहने पर भी जल के बिना कहीं शान्ति नहीं पाता।

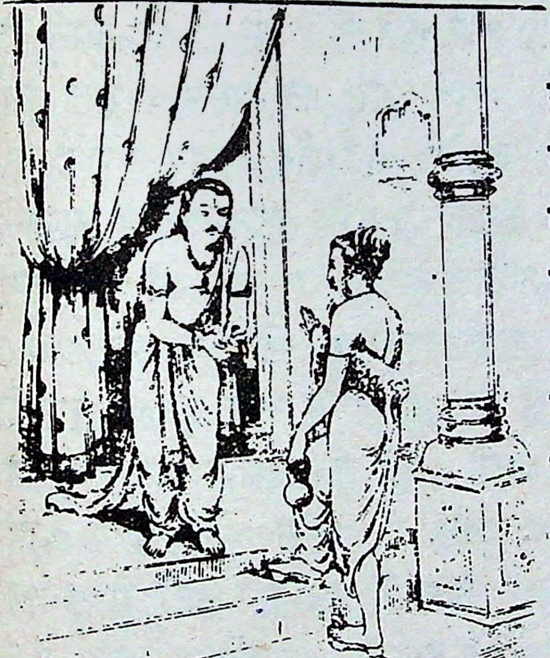

तदनन्तर किसी समय महर्षि माण्डव्य सम्पूर्ण दिशाओं में भ्रमण करते हुए राजा सुरघु के घर पधारे-ठीक उसी तरह, जैसे देवर्षि नारद इन्द्र-भवन में पदार्पण करते हैं। वे मुनिराज सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता थे, अतएव संदेहरूपी दुष्ट वृक्षस्तम्भ का छेदन करने के लिये कुठारस्वरूप थे। राजा ने उनका पूजन किया और यों पूछा।

सुरघु ने कहा-मुने ! जैसे लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु का दर्शन करके भक्त परम प्रसन्न होता है, उसी प्रकार आपके शुभागमन से मुझे परम हर्ष प्राप्त हुआ है। भगवन् आप तो सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता हैं; अतः जैसे सूर्य अन्धकार का विनाश कर देते हैं, उसी प्रकार आप मेरे संशय का निवारण कीजिये; क्योंकि दुःख के स्वरूप को पूर्णतया जाननेवाले विज्ञजन संशय को ही महान् दुःख का विनाश बतलाते हैं। भला, महापुरुषों के संग से किसके दुःख का विनाश नहीं होता अर्थात् सभी के दुःख नष्ट हो जाते हैं। प्रभो ! अपने प्रजाजनों पर मेरे द्वारा किये गये निग्रह और अनुग्रह से उत्पन्न हुई चिन्ताएँ मुझे उसी प्रकार उत्पीड़ित कर रही हैं, जैसे सिंह के नख हाथी को कष्ट में डाल देते हैं। अतः मुने !

जिस प्रकार मेरी बुद्धि में सूर्य की किरणों के समान समता का उदय हो और विषमता न आने पाये, कृपापूर्वक वैसा ही प्रयत्न कीजिये।

महर्षि माण्डव्य बोले-राजन् ! जैसे सूर्य की किरणों के स्पर्श से कुहरे का विनाश हो जाता है, उसी तरह वैराग्य, श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप अभ्यासादि निजी प्रयत्न से तथा आत्मस्थितिरूप उपाय से मन की यह कायरता पूर्णतया नष्ट हो जाती है। आत्मविषयक विवेक विचार करने से ही मन के भीतरी संताप का शमन होता है-ठीक उसी तरह, जैसे शरद्ऋतु के आगमन मात्र से विशाल मेघमण्डल विलीन हो जाता है। इसलिये तुम मन-ही-मन विचार करो-ये जो पुत्र, मित्र आदि अपने सम्बन्धी हैं तथा अपने शरीर में रहने वाली इन्द्रियाँ हैं, वे तत्वतः कौन हैं और कैसी हैं ? मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ? यह दृष्य जगत् क्या है ? प्राणियों के जन्म-मरण कैसे होते हैं ? यों विचार करने से तुम्हें परमोत्कृष्ट महत्ता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार जब परमात्म-तत्त्व का यथार्थ अनुभव कर लेने पर तुम संतुष्ट हो जाओगे, तब जैसे संतान संतुष्ट हुए पिता की कृपा का पात्र होती है, उसी तरह वे सभी सम्पत्तिशाली राजा-महाराजा तुम्हारे कृपा पात्र हो जाँयेंगे। सज्जनशिरोमणे ! परमात्मा की प्राप्तिरूप महत्ता के प्राप्त कर लेने पर तुम्हारा चित्त जागतिक विषय-भोगों में उसी प्रकार नहीं डूबेगा, जैसे गाय के खुर के गड्ढे के जल में हाथी नहीं डूबता। तुम्हारे अन्तःकरण में केवल दृश्य का अवलम्बन करने वाली वासनारूपा दीनता छायी हुई, है, अपनी उसी दीनता के कारण तुम कीड़े की भाँति भोगों में पच रहे हो। जो सर्वात्मिका बुद्धि से सब देश में, सब काल में, सभी प्रकारों से सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च का परित्याग कर देता है, उसे सर्वरूप परमात्मा अपने-आप उपलब्ध हो जाते हैं; किंतु जब तक सम्पूर्ण दृश्यों का पूर्णतया त्याग नहीं हो जाता, तब तक परमात्मा का साक्षात्कार होना दुर्लभ है; क्योंकि सभी अवस्थाओं का परित्याग कर देने पर जो शेष रहता है, वही परमात्मा कहा गया है। राजन्! अन्याय कार्यों का परित्याग करके आत्मा जिस विषय की प्राप्ति के लिये स्वयं सब प्रकार से यत्न करता है, उसी को पाता है; उससे भिन्न कुछ नहीं मिलता। इसलिये अपने आत्मा का साक्षात्कार करने के लिये सभी विषयों का परित्याग कर देना चाहिये; क्योंकि सब कुछ त्याग देने पर अन्त में जो दृष्टिगोचर होता है, वही परम पद है।

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन ! महर्षि माण्डव्य राजा सुरघु को यों उपदेश देकर अपने उसी रुचिर आश्रम की ओर चले गये, जहाँ मुनियों का जमघट लगा रहता था। उन मुनिश्रेष्ठ के चले जाने पर राजा सुरघु किसी दोष रहित एवं एकान्त स्थान में जाकर अपनी बुद्धि से यों विचार करने लगा-'वस्तुतः स्वयं मैं कौन हूं ? मैं मेरुपर्वत तो हूँ नहीं और न मेरुगिरि मेरा है। न तो जगत् हूँ और न जगत् मेरा है। मैं पर्वत भी नहीं हूँ और न पर्वत मेरे हैं। मैं न पृथ्वी हूँ और न पृथ्वी मेरी है। यह किरातमण्डल भी मेरा नहीं है और न मैं किरातमण्डल हूँ। केवल अपने संकेत से ही यह देश मेरा कहा जाता है। लो, मैंने इस संकेत को छोड़ दिया; अतः न तो मैं देश हूँ और न यह देश मेरा है। इस नगर के विषय में भी इस कल्पना त्याग से यही निश्चय होता है कि यह पुरी जो पताकाओं और वनश्रेणियों से सुशोभित,भृत्यों और उपवनों से व्याप्त तथा हाथी, घोड़ों और सामान्तों से परिपूर्ण है, वह मैं नहीं हूँ और न यह पुरी मेरी है। जो मिथ्याभूत मान्यता से सम्बन्ध रखने वाला और उस मान्यता का विनाश होने पर नष्ट हो जाने वाला है, ऐसा यह भोग-समुदाय और भार्या आदि कुटुम्ब भी मैं नहीं हूँ और न ये सब मेरे हैं। इसी प्रकार भृत्यों, सेनाओं, वाहनों एवं अन्याय नगरों से युक्त राज्य मैं नहीं हूँ और न राज्य मेरा है; क्योंकि यह मान्यता तो केवल कल्पित है। इस शरीर में स्थित मांस और अस्थि भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि ये जड़ हैं। कमल दल पर पड़े हुये जल की बूँद की तरह उनका मेरे साथ सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार मांस, रक्त और हड्डियाँ-ये सभी जड़ हैं; अतः मैं ये नहीं हूँ और न किसी दशा में ये मेरे हैं। कर्मेन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ और न कर्मेन्द्रियाँ मेरी हैं। इस प्रकार इस देह में यावन्मात्र जड़ पदार्थ हैं, मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं तो चेतन हूँ। मैं भोग नहीं हूँ और न भोग मेरे हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ भी मेरी नहीं हैं और न मैं ही ज्ञानेन्द्रियाँ हूँ; क्योंकि वे जड़ और असत्स्वरूपा हैं। जो संसार रूपी दोष का मूल कारण है, वह मन भी मैं नहीं हूँ क्योंकि वह तो जड़ है। बुद्धि और अहंकार भी मैं नहीं हूँ और न वे मेरे हैं; क्योंकि यह दृष्टि मनोमयी होने के कारण जड़ है। यों चंचलस्वरूप वाले शरीर से लेकर मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि तक जो स्थूल-सूक्ष्म भूतों का समुदाय है, उनमें से मैं एक भी नहीं हूँ।

'अहो ! महान् आश्चर्य की बात है, मैं तो सम्पूर्ण विकल्पों से रहित

विशुद्ध साक्षी स्वरूप चेतन आत्मा हूँ। जिसकी प्राप्ति के लिये मैं चिरकाल से प्रयत्नशील था, उस आत्मा की उपलब्धि तो मुझे आज ही हुई है। जिस विशुद्ध आत्मा का कहीं अन्त नहीं है, वह तत्पदवोध्य असीम आत्मा ही मैं हूँ। वह चेतन आत्मा निर्मल, विषय-दोषों से शून्य, सम्पूर्ण दिग्मण्डल को परिपूर्ण करने वाला, सर्वव्यापक, सूक्ष्म, उत्पत्ति-विनाश रहित, समस्त आकारों से परे एवं सर्वदा सर्वभाव को प्राप्त है। जगत् की यह अनुभवात्मक कल्पना भी चेतना शक्ति मयी ही है। यह ज़ो सुख और दुःख की दशा का ज्ञान होता है, वह तो मिथ्या अनुभव मात्र है तथा जो नाना प्रकार के आकारों की प्रतीत होती है, वह सब कुछ परम चेतन आत्मा ही है। जो समस्त जगत् में व्यापक है, वही चेतन मेरा आत्मा है और जो मेरी बुद्धि का साक्षी है, वही यह चेतन है। इसी चेतन शक्ति की कृपा से देह रूपी रथ पर आरूढ़ होकर अनेकों सृष्टि-विलासों में जाता है, वहाँ दौड़-धूप करता और नाचता है। वस्तुतः तो ये मन-शरीर आदि वस्तुएँ कुछ भी नहीं हैं; क्योंकि इनके नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता। चित्तरूपी नटने ही इस जगज्जाल रूपी नाटक का विस्तार किया है। इसे केवल वही बुद्धि देखती है, जो दीप-शिखा के समान देदीप्यमान है। अत्यन्त खेद की बात है कि निग्रह और अनुग्रह की स्थिति में मुझे देह विषयिणी चिन्ता व्यर्थ ही हुई; क्योंकि परमार्थतः देह कुछ भी नहीं है। अहो ! अब तो मुझे विशेष रूप से ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है, जिससे मेरा असद्विचार नष्ट हो गया है। जिसे जानना आवश्यक था, उसे मैंने जान लिया और जो प्राप्त करने योग्य था, उसे पा लिया। अब लोक में वे निग्रह और अनुग्रह कहाँ हैं, किस प्रकार के हैं, किस में रहते हैं और उनका स्वरूप क्या है ? इसी तरह हर्ष और अमर्ष की परम्परा भी कहाँ है ? अर्थात् ये सभी व्यर्थ कल्पनामात्र ही हैं। अब मैं रागशून्य, विषयों के संसर्ग से रहित और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से परे होकर उस विशुद्ध विज्ञानानन्दघन परमात्मा में, जो संसार-भ्रम और रागादि से शून्य है, नित्य निवास करूँगा।'

चौतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

सुरघु को परम पद प्राप्ति

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं-रघुकुल भूषण राम ! जैसे गाधिनन्दन विश्वामित्र

ने अपने तपोबल से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था, उसी तरह हेमजट नामक किरातों के राजा सुरघु ने निश्चयात्मक ज्ञान के बल से परमपद प्राप्त कर लिया। तभी से राजा सुरघु चिन्ता ज्वर से मुक्त हो गया। वह सर्वदा निग्रह-अनुग्रहरूपी अपने राजोचित कार्यों में उसी तरह अटल बना रहता था, जैसे जल प्रवाह के सम्मुख पर्वत निष्कम्प बना रहता है। हर्ष, विषाद और ईर्ष्या से रहित होकर प्रतिदिन यथावसर प्राप्त हुए कार्यों को न्याय पूर्वक करता हुआ राजा सुरघु अपनी उदार और गम्भीर आकृति द्वारा समुद्र से भी बढ़ कर सुशोभित होने लगा। उसकी वृत्ति अन्तःकरण को शीतल करने वाली, निश्चलता के कारण धीर और समदर्शनात्मक थी; उस वृत्ति से वह परिपूर्ण समुद्र और चन्द्रमा की भाँति शोभा पाने लगा। यह सारा जगत् केवल चेतन-तत्त्व की कल्पना ही है-यों निश्चय करने के कारण उसकी बुद्धि सांसारिक सुख-दुःख से रहित हो गयी थी; अतः वह पूर्णरूप से प्रकाशित हो रही थी। इसलिये प्रबुद्ध तथा चेतन में विलीन हुआ वह राजा हर्षित होते, प्रफुल्लित होते, पूर्णरूप से स्थित रहते, चलते, बैंठते और सोते समय सदा समस्वरूप परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित रहता था। उसका शरीर विकार रहित था तथा नेत्र कमल के समान सुन्दर थे। वह अनासक्त भाव से राज्य करते हुए सैकड़ों वर्षपर्यन्त इस भूमण्डल पर विद्यमान रहा। तत्पश्चात् उसने स्वयं ही इस पंचभूतात्मक शरीर का परित्याग कर दिया और परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने के कारण, जो सृष्टि और प्रलय के हेतु तथा ईश्वर हैं, उन परब्रह्म परमात्मा में प्रवेश कर गया-ठीक उसी तरह, जैसे नदियों का जल परिपूर्ण समुद्र में प्रवेश करता है। वह विशुद्ध एक रस स्वप्रकाश परमात्मा को यथार्थ रूप से जान चुका था और जन्म आदि विकारों से रहित अवस्था को प्राप्त कर लेने के कारण उसके समग्र शोक शान्त हो गये थे; इसलिये वह पूर्णरूप से परब्रह्म परमात्मा में उसी प्रकार एकीभाव को प्राप्त हो

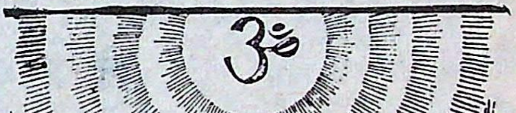

गया, जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में मिल जाता है।

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

↔

छत्तीसवाँ सर्ग

किरातराज सुरघु और राजर्षि पर्णाद का संवाद

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन ! जिस समय सुरघु को तत्त्वज्ञान हो चुका था, उसी समय अर्थात् उसके जीवन काल में ही उसका और राजर्षि पर्णाद (परिघ) का परस्पर जो अद्‌भुत संवाद हुआ था, उसे सुनो। रघुकुल को आनन्दित करने वाले राम ! जैसे रथ पर रखा हुआ परिघ नामक अस्त्र विपक्षी वीरों का संहार करने में प्रसिद्ध है, उसी तरह पारसीक देश का एक विख्यात राजा हो गया है; जो शत्रु वीरों का संहार करने वाला था। उसका नाम था परिघ। वह किरातराज सुरघु का परम मित्र था। किसी समय जैसे कल्पान्त के अवसर पर संसार में वर्षा का अभाव हो जाता है, उसी तरह राजा परिघ के राज्य में महान् आवर्षण हुआ, जिसमें प्रजाजनों का पापरूपी दोष ही कारण था। उस समय बहुत-सी जनता भूख से गतप्राण होकर उसी प्रकार विनष्ट हो गयी, जैसे जंगल में आग लग जाने पर झुंड-के-झुंड प्राणी जल कर भस्म हो जाते हैं। प्रजा के उस कष्ट को देखकर राजा परिघ को अपार विषाद हुआ। उसने प्रजाजनों को विनाश से बचाने के लिये अनेकों यत्न किये, किन्तु वे सब निष्फल सिद्ध हुए। तब उसे राज्य से वैराग्य हो गया। फिर तो जैसे राहगीर जले हुए गाँव को छोड़कर चल देते हैं, उसी तरह उसने शीघ्र ही अपने सम्पूर्ण राज्य का परित्याग कर दिया और मृगचर्मधारी मुनियों की तरह तपस्या करने के लिये जंगल की राह ली। वह विरक्तात्मा परिधि किसी दूरवर्ती कानन में, जो पुरवासियों की जानकारी के बाहर था, जाकर इस प्रकार रहने लगा मानो किसी अन्य लोक में चला गया हो। उसकी बुद्धि तो शान्त थी ही, उसने अपने मन-इन्द्रियों का भी दमन कर लिया था; अतः वह वहाँ एक पर्वत की कन्दरा में आसन लगाकर तपस्या में निरत हो गया। उस समय स्वयं सूखकर गिरे हुए पत्ते ही उसके आहार थे। इस प्रकार चिरकाल तक वह अग्नि की भाँति सूखे पत्तों को ही भक्षण करता रहा, जिससे तपस्वियों के मध्य में वह 'पर्णाद' नाम से विख्यात हुआ। तभी से वह परिघ जम्बूद्वीप में मुनियों के आश्रमों में

राजर्षिश्रेष्ठ पर्णाद के नाम से प्रसिद्ध हो गया। तदनन्तर एक सहस्त्र वर्षों की घोर तपस्या और अभ्यास के द्वारा परमात्मा की कृपा से उसे आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई। साधु स्वभाव राम ! फिर तो उसकी बुद्धि प्रबुद्ध हो उठी। वह सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से परे हो गया। उसकी विषय-वासनाएँ नष्ट हो गयीं। उसका मन विक्षेप शून्य और शान्त हो गया तथा वह विषयों की आसक्तियों और आक्षेपों से रहित हो गया। इस प्रकार जीवन्मुक्त होकर वह तत्त्वज्ञानियों तथा तत्त्वजिज्ञासु मुनियों के साथ स्वेच्छानुकूल त्रिलोकी में विचरण करने लगा। यों पर्यटन करते हुए वह एक समय हेमजट देश अधिपति राजा सुरघु के रत्ननिर्मित महल में जा पहुँचा। वे दोनों पहले के मित्र तो थे ही, साथ ही वे पूर्ण ज्ञानी उन्हें ज्ञातव्य तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो चुका था तथा वे जीवन्मुक्त थे अतः वे परस्पर एक-दूसरे का आदर-सत्कार करके यों कहने लगे-'अहो ! निश्चय ही आज मेरे कल्याणमय पावन सत्कर्मों का फल उदय हुआ, जिससे मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ।' उस समय उनके शरीर आनन्द से परिपूर्ण हो गये थे, अतः वे परस्पर आलिंगन करके एक ही आसन पर विराजमान हुए।

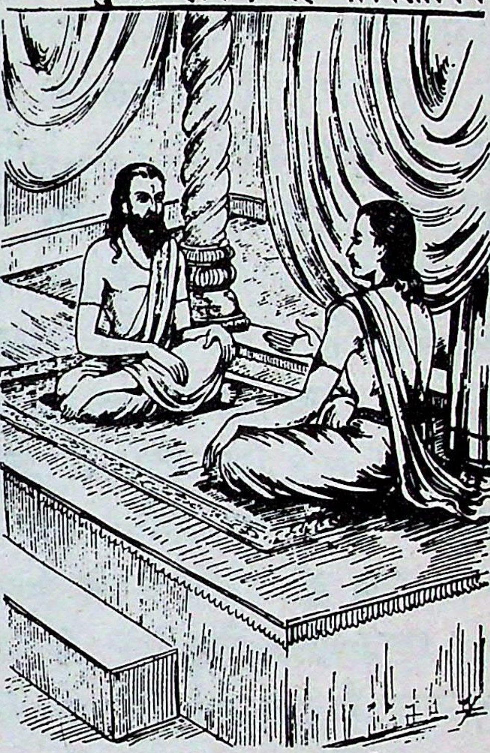

तब परिघ ने कहा-सखे ! तुम्हारे दर्शन से आज मेरा चित्त परमानन्द से परिपूर्ण हो गया है। सज्जन शिरोमणे ! पहले के वे संकोचहीन वार्तालाप, विविध लीलाएँ और विभिन्न चेष्टाएँ बारंबार मेरे स्मृति-पटल पर आ रही हैं, जिससे मुझे परम हर्ष हो रहा है। निष्पाप राजन् ! जैसे महर्षि माण्डव्य की कृपा से तुम्हें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई है, उसी तरह आराधना द्वारा प्रसन्न हुए परमात्मा के प्रसाद के प्रसाद से मुझे भी यह ज्ञान प्राप्त हुआ है। मित्र ! अब तो तुम्हें कोई कष्ट नहीं है न ? तुम मेरुगिरि पर विश्राम करने वाले भूमण्डल के अधिपति की तरह परम कारणरूप परब्रह्म परमात्मा में विश्राम को प्राप्त हो गये हो न ? परम कल्याणस्वरूप ! तुम्हारे चित्त में आत्मारामता के कारण सदा

प्रसन्नता छायी रहती है न ? परम सौभाग्यशाली नरेश ! तुम अत्यन्त प्रसन्नता एवं गम्भीरतापूर्ण समदृष्टि से जनता के कल्याणार्थ कर्तव्य कर्मों को करते हो न ? तुम्हारे देश में निवास करने वाली जनता शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं से रहित, धैर्य-सम्पन्न और धन से परिपूर्ण है न ? उसे कोई चिन्ता तो नहीं सताती ? क्या उत्तम फल प्रदान करनेवाली एवं अनेक विध फलों के भार से नम्र हुई कल्पलता की भाँति तुम्हारे राज्य की भूमि प्रजाजनों का उनके अभिलाषित पदार्थों की पूर्ति द्वारा सदा-सर्वदा पोषण करती है ? जैसे चन्द्रमा के किरणजाल सारे भूमण्डल को व्याप्त कर लेते हैं, उसी तरह तुम्हारा पावन यश, जो तुषार-राशि के सदृश निर्मल है, सारी दिशाओं में फैला हुआ है न ? जैसे सरोवर का जल अपने अंदर रहने वाले कमलनालों की भूमि को पूर्ण कर देता है, वैसे ही तुमने अपने गुण-गणों से सारी दिशाओं को भर दिया है न ? क्या गाँव-गाँव में धान की क्यारियों के कोनों में बैठी हुई हर्षित चित्तवाली कुमारियाँ तुम्हारे आनन्दवर्धक यश का गान करती हैं ? तुम्हारे धन-धान्य, ऐश्वर्य, भृत्यवर्ग, पुत्र-कुलत्र और नगर आदि सबकी कुशल तो है न ? तुम्हारी यह शरीररूपी लता शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं से रहित होकर उस पुण्य नामक फल को उत्पन्न करती है न, जिसकी इहलोक तथा परलोक-दोनों के लिये शास्त्र आज्ञा देते हैं ? जो तत्वज्ञान में प्रतिबन्धक होने के कारण महान् शत्रु-तुल्य हैं तथा सर्प के समान विषवत् फल प्रदान करने वाले हैं, ऐसे इन आपात-रमणीय विषय-भोगों से तुम्हारा मन विरक्त तो है न ? अहो ! हम दोनों को वियुक्त हुए बहुत-सा काल व्यतीत हो गया, परंतु काल की प्रेरणा से आज हम पुनः मिल गये। सखे ! जगत् में संयोग-वियोग-जनित सुख-दुःख की ऐसी कोई अवस्थाएँ हैं ही नहीं, जिनका प्राणियों को अनुभव न होता है। इसी नियम के अनुसार हम लोग भी दीर्घकालिक सुख-दुःख की दशाओं के फेर में पड़ गये थे, परंतु अब पुनः आ मिले हैं। अहो ! भगवान् का कैसा अदभुत विधान है !

सुरघु बोला-भगवन ! भगवद्विधानरूप इस नियति की गति सर्प की चाल की तरह बड़ी टेढ़ी है। वह गम्भीर एवं विस्मयजनक है। भला, उसे कौन जान सकता है। उसने ही आपको और मुझे चिरकाल तक दूर हटाकर आज पुनः मिला दिया है। अहो ! उस नियति के लिये क्या असाध्य है ? अर्थात् कुछ

नहीं। महात्मन् ! आज आपके शुभागमन-जनित पुण्य के संस्पर्श से हम सब तरह से कल्याण के भागी और परम पावन हो गये। राजर्षे ! इस नगर में हमारी जो सम्पत्तियाँ वर्तमान हैं, वे सभी आज आपके शुभागमन से सैकड़ों रूपों में वृद्धि को प्राप्त हो गयी हैं। महानुभाव ! आपके पुण्य वचन और दर्शन चारों ओर से मानो राशि-राशि अमृतरूप मधुर रसायनों की वर्षा कर रहे हैं; क्योंकि सत्पुरुषों का समागम परमपद की प्राप्ति के समान होता है।

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैतीसवां सर्ग

दुखों की शान्ति का साधन

श्री वसिष्ठजी कहते हैं-राघव ! प्रायः ऐसे ही प्राचीन स्नेह से ओतप्रोत एवं संकोचहीन वार्तालाप करते हुए राजा परिघ सुरघु के राजसदन में चिरकाल तक स्थित रहे। तदनन्तर उन्होंने सुरघु से पूछा-'राजन् ! जो समग्र संकल्पों से शून्य, विश्राम का परमोत्तम स्थान तथा विक्षेपात्मक दुःखों की शान्ति का परम साधन है, उस कल्याणकारी समाधि का अनुष्ठान तो तुम करते हो न ?

सुरघु ने कहा-प्रभो ! आप मुझसे 'सम्पूर्ण संकल्पों से रहित परम शान्ति ही कल्याणप्रद है' ऐसा तो कहिये, परंतु समाधि के लिये क्यों कहते हैं ? क्योंकि महात्मन् ! जो तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष है, वह चाहे समाधिस्थ रहे चाहे व्यवहार करे. उसका तो स्वरूप ही सदा समाधिस्थ सा होजाता है। वह कभी असमाहित चित्तवाला हो ही नहीं सकता।

जिनका चित्त प्रबुद्ध हो गया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी महात्माओं की आत्मारूपी अद्वितीय तत्त्व में परम निष्ठा हो जाती है, इसलिये वे सांसारिक व्यवहारों को करते हुए भी सदा सर्वदा समाधि सम्पन्न ही बने रहते हैं। परंतु जिसका अन्तःकरण चंचल होने के कारण विश्राम को नहीं प्राप्त हुआ है, वह चाहे पद्मासन बाँधे चाहे परब्रह्म को अंजलि समर्पित करे, उसकी कोई समाधि कैसे लग सकती है। भगवन् ! मौन होकर बैठे रहना ही समाधि थोड़े ही है। समाधि तो परमात्म तत्त्व के उस यथार्थ ज्ञान को कहते हैं, जो सम्पूर्ण आशारूपी घास-फूस को भस्म करने के लिये अग्नि स्वरूप है। साधो ! परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजन उस तीक्ष्ण और अचल परा प्रज्ञा को ही समाधि कहते हैं, जो एकाग्र, सदा-सर्वदा तृप्त और सत्य अर्थ को ग्रहण

करने वाली है। एवं जो प्रज्ञा क्षोभरहित, अहंकार शून्य, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों से पृथक् रहने वाली तथा मेरु से भी बढ़कर स्थिरता युक्त है, उसे समाधि कहते हैं। जो मनःस्थिति चिन्ता शून्य, अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त करने वाली, ग्रहणोपादान से रहित तथा सच्चिदानन्द परमात्म भाव से परिपूर्ण है, उसके लिये समाधि शब्द का व्यवहार किया जाता है। जब मन तत्त्वज्ञान के साथ सदा के लिये अत्यन्त सम्बद्ध हो जाता है, तब से ज्ञानी महात्मा की समाधि सदा बनी रहती है, उसका कभी विच्छेद नहीं होता। जैसे सूर्य दिन भर प्रकाश से विश्राम नहीं लेता, अपितु प्रकाश पूर्ण ही रहता है, उसी तरह तत्त्वज्ञानी की प्रज्ञा जीवन पर्यन्त परमात्म–तत्त्व के यथार्थ अवलोकन से विश्राम नहीं लेती, अपितु सदा सर्वदा परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से परिपूर्ण रहती है। जैसे नदी निरन्तर बेरोक–टोक जल की धारा बहाती रहती है, उसी तरह महात्मा की विज्ञानमयी दृष्टि क्षणमात्र के लिये भी परमात्मा के स्वरूप ज्ञान से विरत नहीं होती, अपितु सदा सर्वदा एक रस बनी रहती है। जैसे काल अपने क्षण आदि कलाओं की गति को कभी नहीं भूलता, उसी तरह तत्त्वज्ञानी पुरुष की बुद्धि अपने आत्मस्वरूप का कभी विस्मरण नहीं करती। तथा जैसे सर्वत्र गमन करने वाले वायु देव को सदा अपनी गति का ध्यान बना रहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी की बुद्धि निश्चय करने योग्य विज्ञानानन्दघन परमात्मा का संतत चिन्तन करती रहती है। जैसे जिस पदार्थ की सत्ता का विनाश हो जाता है, उसकी पुनः उपलब्धि नहीं होती, उसी तरह तत्त्वज्ञानी का समय परमात्मा के ज्ञान से विहीन होकर कभी उपलब्ध नहीं होता। अर्थात् वह सदा परमात्मा के ध्यान में ही रचा पचा रहता है। जैसे संसार में गुणवानों का गुणहीन होना असम्भव है, उसी तरह आत्मज्ञानी महात्मा कभी भी परमात्मा के ज्ञान से विहीन नहीं रह सकता। मैं सदा–सर्वदा ही परमात्मज्ञान से सम्पन्न, परमशुद्ध स्वरूप, शान्तात्मा और समहितचित हूँ; ऐसी दशा में मेरा समाधि से विच्छेद किसके द्वारा और कैसे हो सकता है। क्योंकि मेरी समाधि परमात्मा के स्वरूप से भिन्न नहीं है, अतः उस परमात्म स्वरूप समाधि का अस्तित्व नित्य ही बना हुआ है। जब यह जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सारा–का–सारा सदा सब प्रकार से सर्वव्यापक परमात्म स्वरूप ही है, तब किसे समाधि कहा जाय और किसे असमाधि ?

तब परिघ ने कहा-राजन् ! निश्चय ही तुम्हें परमात्मा के यथार्थरूप का ज्ञान प्राप्त हो गया है और उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्मरूप परमपद की प्राप्ति भी हो चुकी है। इसीलिये तुम्हारा अन्तःकरण परम शान्तिरूप शीतलता से युक्त हो गया है, जिससे तुम पूर्ण चन्द्रमा के समान सुशोभित हो रहे हो। महाराज ! इस समय स्नेह के कारण अत्यन्त मधुर, शीतल, आनन्दरूपी पुष्परस से परिपूर्ण एवं उत्तम श्री से सम्पन्न होने के कारण तुम्हारी शोभा कमल जैसी हो रही है। तुम्हारा चित्त निर्मल, विस्तृत, परिपूर्ण, गम्भीर और विशद आशय वाला है; इससे तुम्हारी वैसी ही शोभा हो रही है, जैसी तटवर्ती झंझावात से मुक्त हुए शान्त समुद्र की होती है। जैसी शोभा शरत्कालीन निर्मल आकाश धारण करता है, वैसे ही तुम भी स्वच्छ, आनन्द से पूरिपूर्ण, अहंकाररूपी बादलों से रहित, स्पष्ट, विस्तीर्ण और अत्यन्त गम्भीर होने के कारण शोभित हो रहे हो। राजन्! तुम सर्वत्र अपने स्वरूप में समभाव से स्थित दीख पड़ते हो, सर्वत्र पूर्णतया संतुष्ट हो और किसी विषय में तुम्हारी आसक्ति नहीं रह गयी है; इसलिय सर्वत्र तुम्हारी शोभा हो रही है। तुम अपनी उत्तम बुद्धि से सार-असार का निर्णय करके उसके झमेले से पार हो गये हो तथा तुम्हें इसका भी ज्ञान हो चुका है कि यह जो कुछ प्रपंच है, वह सारा-का-सारा अखण्ड परब्रह्म परमात्मा ही है।

सुरघु बोला-मुने ! संसार में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिसे ग्रहण करने के लिये हमारे मन में अभिलाषा हो; क्योंकि यह जितना दृश्य प्रपंच है, यह सभी कुछ नहीं है अर्थात् मिथ्या है। त्रिलोकी में जो ये स्त्रियों, पर्वत, समुद्र, वन श्रेणियाँ आदि पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये सभी वास्तविकता शून्य हैं; क्योंकि वास्तव में इस जगत् में कोई सारभूत वस्तु है ही नहीं। इस मांस और अस्थिमय शरीर में तथा काष्ठ, मिट्टी और शिलामय जगत् में, जो जर्जर, अवांछनीय और अभाव स्वरूप है, किस वस्तु की इच्छा की जाय ? अर्थात् इनमें कुछ भी वांछनीय नहीं है। इस विषय में अब विशेष कुछ कहना आवश्यक नहीं दीख पड़ता; क्योंकि यदि मन रागरूप रस से रहित तथा सम्भाव में नित्य स्थित एवं आत्मस्वरूप में ही परितृप्त है तो वही सर्वोत्तम स्थिति है। अतः परमानन्द की प्राप्ति के लिये केवल इसी दृष्टि का सदा सर्वदा आश्रय ग्रहण करना उचित है।

सैंतीसवां सर्ग समाप्त

अठ़तीसवां सर्ग

आत्मा का संसार–दुःख से उद्धार करने के उपाय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! यों तत्त्वज्ञ सुरघु और राजर्षि पर्णाद (परिघ) दोनों जगद् भ्रम का विचार करके परम प्रसन्न हुए। उन्होंने एक–दूसरे का आदर–सत्कार किया और फिर वे अपने–अपने कार्य में तत्पर होकर अभीष्ट स्थान को चले गये। ज्ञानी महापुरुषों के साथ विचार विमर्श करने के कारण अत्यन्त तीव्र हुई उत्तम बुद्धि द्वारा जिसके हृदयाकश में अहंकाररूपी काले मेघों का सर्वथा अभाव हो गया है, शरत्कालीन निर्मल आकाश की तरह जिसका विस्तृत चित्त समस्त लोगों द्वारा अनुमोदित, फलात्मक बोध से युक्त, आल्हाद जनक एवं रागादि मलों से रहित हो गया है, जो ध्यान करने एवं शरण लेने योग्य, सुगम, सम्पूर्ण आनन्दों की निधि, अत्यन्त प्रसन्न विज्ञानानन्दघन परमात्मा में स्थित रहता है और जो नित्य परमात्मा के विचार में निरत, सदा अन्तर्मुखी वृत्ति से युक्त, सुखी तथा नित्य चिन्मय परमात्मा का अनुसंधान करने वाला है, उसे मानसिक शोक कभी बाधा नहीं पहुँचा सकते। जो परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से सम्पन्न, शुद्ध, भीतर से परम शान्ति युक्त एवं मननशील महात्मा है, उसे मन क्लेश नहीं दे सकता–ठीक उसी तरह, जैसे हाथी सिंह को बाधा नहीं पहुँचा सकता। ज्ञानी का अन्तःकरण तो अत्यन्त विशाल होता है; क्योंकि वह केवल विषय भोगों की शरण लेने वाला और दीन नहीं होता। ज्यों ही 'अविद्या असत् है' यों अविद्या के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हुआ, त्यों ही उसका सदा सर्वदा के लिये अभाव हो जाता है–जैसे स्वप्न का ज्ञान हो जाने पर स्वप्न दृष्ट भोग–भूमि का सर्वथा विनाश हो जाता है। जिसकी बुद्धि विषयों की आसक्ति से रहित और केवल विज्ञानानन्दघन परमात्मा में नित्य स्थित है, उस श्रेष्ठ महापुरुष को व्यवहार परायण रहने पर भी पाप स्पर्श नहीं कर सकता। जब चेतन परमात्मा के देदीप्यमान प्रकाश का उदय होता है, तब अज्ञानरूपी रात्रि विनष्ट हो जाती है और ज्ञानी की परमानन्द को प्राप्त हुई बुद्धि प्रकाशित हो उठती है। सत् शास्त्रज्ञानरूपी सूर्य द्वारा प्रबोधित मनुष्य की अज्ञान–निद्रा का जब सर्वथा विनाश हो जाता है, तब उसे परमात्मविषयक उस यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसे पा लेने पर फिर कभी मोह नहीं होता। उन्हीं दिनों का जीवन वास्तव में सफल है और वे ही क्रियाएँ सच्चे आनन्द से युक्त हैं, जिन

दिनों और जिन क्रियाओं में हृदयाकाश में परमात्मारूपी चन्द्रमा के उदय होने से चेतनारूपिणी चाँदनी खिल रही हो। मोह का अतिक्रमण कर लेने वाला मनुष्य निरन्तर आत्मचिन्तन के प्रभाव से अपने अन्तःकरण में उसी प्रकार शीतलता को प्राप्त कर लेता है, जैसे चन्द्रमा अपने अंदर वर्तमान अमृत से सदा शीतल बना रहता है। वे ही मित्र सच्चे मित्र हैं, वे ही शास्त्र सत् शास्त्र हैं और वे ही दिन शुभ दिन हैं, जिनके सहयोग से वैरागयरूपी उल्लास से युक्त परमात्मविषयक चित्त का अभ्युदय स्पष्टरूप से सिद्ध होता है। जिनके पाप क्षीण नहीं हुए हैं और जो परमात्मा की प्राप्ति की उपेक्षा करते हैं, वे जन्मरूपी जंगल के गुल्म हैं, दीन हैं और उन्हें चिरकाल तक दुःखों के लिये शोक करना पड़ता है।

श्रीराम ! जीवात्मा एक बैल के समान है। बुढ़ापे ने इसके शरीर को जर्जरित कर दिया है, जिससे यह शोकजनित उच्छ्वास से विडम्बित हो रहा है। यह आशारूपी सैकड़ों पाशों से जकड़ा हुआ है, फिर भी भोगरूपी घास के लिये इसके मन में उत्कट लालसा भरी है। यह अपनी पीठ पर दुःख का भारी बोझ लिये हुए जन्मरूपी जंगल में भटक रहा है और सारे शरीर में कुकर्मरूपी कीचड़ लपेटे हुये मोह-जलाशय में लोट रहा है। राग की दन्तपंक्तियाँ इसे चबाये डालती हैं और तृष्णारूपी नाथ से यह खींचा जा रहा है। मनरूपी वणिक ने इस पर अधिकार जमा रखा है। यह बन्धु-ममतारूपी बन्धन में बँधा होने के कारण चलने-फिरने में असमर्थ हो गया है। पुत्र कलत्र की ममताजनित जीर्णतारूपी दलदल में यह बुरी तरह फँस गया है। लंबे रास्ते पर चलने के कारण इसका मन टूट गया है और विश्राम न मिलने से यह मन थक गया है, जिससे अब इसके चलने-फिरने की शक्ति क्षीण हो गयी है। यह संसाररूपी अरण्य में चक्कर काट रहा है, फिर भी परम शान्तिरूप शीतल छाया इसे नसीब नहीं हुई; उल्टे यह विषय-संसर्गजनित तीव्र ताप से संतप्त हो उठा है। बाह्य इन्द्रियाँ इसे आक्रान्त किये हुए हैं, जिससे ऊपर से तो इसका आकार सुन्दर है किन्तु अन्तःकरण दीन हो गया है। इसके गर्भ में लटकते हुए कर्मरूपी घंटे का शब्द हो रहा है। यह जन्म-मरणरूप गाड़ी के बोझ से लदा हुआ अज्ञान के विकट वन में लोट रहा है, ऊपर से पापरूपी कोड़ों की मार पड़ रही है, जिससे इसका शरीर भग्न हो गया है। अनर्थों में ही सदा निमग्न

रहने से दुखी, दीन और शिथिल अंग वाला यह कर्मों के भारी भार से पीड़ित होकर करुण क्रन्दन कर रहा है। अतः चिरकाल तक उत्तम यत्न का आश्रय लेकर परमात्मविषयक ज्ञानरूपी बल के सहारे इसका संसाररूपी जलाशय से उद्धार करना चाहिये।

राघव ! परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार होने से जब चित्त विनष्ट हो जाता है, तब जीवात्मा पुनः संसार में कभी जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह तो उसी समय संसार सागर से पार हो जाता है। श्रीराम ! जैसे समुद्र को पार करने के लिये नाविक से जहाज प्राप्त होता है, उसी तरह ज्ञानी महात्मा पुरुषों के संग से संसार सागर को लाँघ जाने की युक्ति ज्ञात हो जाती है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह मरुस्थल की भाँति जिस देश में परम शान्तिरूपी शीतल छाया और मोक्षरूपी फल से सम्पन्न तत्त्वज्ञ महापुरुष वृक्ष न हों, वहाँ निवास न करें। श्रीराम ! कोमल और शान्तिप्रद वचन ही जिसके पत्ते हैं, सच्चरित्रता ही जिसकी छाया है, मुसकान ही जिसके पुष्प हैं-ऐसे महापुरुषरूपी चम्पा के वृक्ष के नीचे जाने से उनके संग के प्रभाव से क्षणभर में ही आत्यन्तिक विश्राम प्राप्त हो जाता है। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है। अतः उसे चाहिये कि वह सत्संग, तीव्र अभ्यास, वैराग्य, विवेक-विचार आदि उपायों से स्वयं ही अपना उद्धार कर ले; संसार की आसक्ति, ममता, कामना और देहाभिमान के गर्व से अपने-आपको जन्म-मरणरूपी कीचड़ के महासागर में न फँसाये। विवेकशील पुरुषों को सत्संग, तीव्र अभ्यास वैराग्य आदि प्रबल उपायों द्वारा सदा यों विचार करते रहना चाहिए कि 'यह देह आदि दुःख क्या है ? कैसे आया है ? इसका मूल कारण क्या है ? और किस साधन से इसका विनाश हो सकता है ?' क्योंकि अज्ञान में निमग्न हुए अपने आत्मा का उद्धार करने में मनुष्यों का धन, मित्र, साधारण शास्त्र और बन्धु-बान्धव-कोई भी उपकारक नहीं होते। हाँ! सदा सर्वदा साथ रहने वाले विशुद्ध मनरूपी सुहृदय के साथ थोड़ा-सा भी परामर्श करने से आत्मा का उद्धार हो जाता है। तीव्र वैराग्य और अभ्यासरूपी प्रयत्नों के द्वारा विवेकपूर्वक किये गये आत्मविचार से जिसकी उपलब्धि होती है, उस परमात्म तत्व-साक्षात्काररूपी पोत के आश्रय से यह भवसागर पार किया जाता है, जिसके लिये लोग प्रतिदिन चिन्ता कर रहे हों और जो दुराशाओं द्वारा दग्ध हो रहा हो, उस अपने आत्मा की उपेक्षा नहीं

करनी चाहिये; बल्कि आदरपूर्वक उसका उद्धार करना चाहिये। यह जीवात्मारूपी दंतार गजराज, जिसे बाँधने के लिये अहंकार की सुदृढ़ आलान है, तृष्णा ही लोहे की साँकल है और मन ही जिसका मद है, जन्म-मरण के दलदल में फँस गया है; अतः इसका उद्धार करना चाहिये।

जब मनुष्य विवेक-वैराग्य की दृष्टि से यों देखने लगता है कि यह देह काष्ठ और मिट्टी के ढेले के समान है, तब उतने से ही उसे देवाधिदेव परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। पहले जब अहंकाररूपी मेघ नष्ट हो जाते हैं, तब यथार्थ आत्मज्ञानरूप सूर्य दिखायी पड़ता है। तदनन्तर उसके परिणाम स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है। जैसे अन्धकार का पूर्णतया विनाश हो जाने पर प्रकाश का अनुभव स्वतः होने लगता है, उसी तरह अहंकार का समूल नाश हो जाने पर परमात्मा का अपने आप ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार अहंकार के विनष्ट हो जाने पर जो परम आनन्द और परम शान्तिमय अवस्था होती है, वह परिपूर्णावस्था है। पूर्ण समुद्र की भाँति वह असीम होती है। न तो वह हम लोगों के मन आदि इन्द्रियों का विषय है, न उसकी किसी उपमान के साथ तुलना ही की जा सकती है और न वह विनाशशील विषयों के पीछे ही दौड़ती है; अतः उसका तीव्र प्रयत्न से निरन्तर सेवन करना चाहिए। श्रीराम ! मन और अहंकार का विनाश हो जाने पर समस्त पदार्थों के अंदर विद्यमान रहनेवाली जिसे निरतिशयानन्दात्मक परमात्म स्वरूपावस्था का अविर्भाव होता है, वह स्वयं समाधि सिद्ध तथा वाणी के अगोचर है। उसका तो केवल हृदय में ही अनुभव होता है। जैसे अनुभूति के बिना खाँड की मिठास अनुभव नहीं होती, उसी तरह अनुभव के बिना परमात्मा के स्वरूप का भी ज्ञान नहीं होता।

राजीवनयन राम ! 'यह मेरा है, यह मैं हूँ' इस प्रकार के अभिमान को त्यागकर मन से ही विवेकपूर्वक विचार द्वारा संकल्पात्मक मन का छेदन करके यदि परमात्मा का साक्षात्कार न किया जाय तो चित्रलिखित सूर्य के सदृश मिथ्या होते हुए भी इस जगद्-दुःख का कभी नाश नहीं होता, प्रत्युत महासागर की तरह विस्तार वाली एवं दुःखदायिनी संसाररूपी विपत्ति अनन्त हो जाती है। इस विषय में सह्य पर्वत के शिखर पर रहने वाले भास और विलास नामक दो मित्रों के संवादरूप में निम्नलिखित प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है। वह सह्य पर्वत नाना प्रकार के पुष्पों से आच्छादित तथा निर्मल जल से पूर्ण

बहुसंख्य झरनों से सुशोभित है। उसके ऊपरी भाग में देवता निवास करते हैं, तलहटी में मनुष्यों ने अपना आवास स्थान बना रक्खा है और पृथ्वी के अंदर का हिस्सा नागों से भरा रहता है। उसकी कन्दराओं में सिद्धों का निवास स्थान रहता है। भीतरी भाग में नाना प्रकार की खानें हैं। उसके शिखरों पर उगे हुए चन्दन-वृक्षों पर सर्प लिपटे रहते हैं और चोटियों पर सिंह दहाड़ते रहते हैं। उसी सह्य पर्वत के उत्तर-तटवर्ती शिखर पर, जहाँ फलों के भार से झुके हुए वृक्ष सुशोभित हैं, वह आश्रम सिद्धों के श्रम का अपहरण करने वाला, ब्रह्मलोक के समान उत्कृष्ट, स्वर्ग-तुल्य रमणीय और शिवाजी के नगर कैलास के समान शोभा सम्पन्न है। उसी विशाल आश्रम में शुक्र और वृहस्पति नाम के दो तपस्वी रहते थे, जो आकाश मार्ग में विचरण करने वाले शुक्र और बृहस्पति के समान शास्त्रों के ज्ञाता थे। कुछ समय बाद एक ही स्थान में रहने वाले उन दोनों तपस्वियों के पवित्र शरीर वाले दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम थे-विलास और भास। वे दोनों बालक उस आश्रम में पिताओं द्वारा लगाये हुए लता-वृक्षों के लंबे-लंबे पल्लवों की तरह क्रमशः बढ़ने लगे। वे दोनों मित्र थे। उनके मन में एक दूसरे के प्रति अत्यन्त स्नेह था, जिससे वे परस्पर प्रेम रखते थे और एक-दूसरे से मिल-जुलकर रहते थे। उन दोनों का मन समान होने के कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो एक ही मन ने दो भागों में विभक्त होकर दो शरीर धारण कर लिये हैं। इस तरह वहाँ रहते हुए उन दोनों ने थोड़े ही समय में बचपन को लाँघकर युवावस्था में प्रवेश किया। तदनन्तर जैसे दो पक्षी अपने-अपने घोंसले से उड़कर अन्यंत्र चले जायँ, उसी तरह उनके वे दोनों पिता (शुक्र और वृहस्पति) बुढ़ापे से दुखी हो शरीर का परित्याग करके स्वर्ग को चले गये। पिताओं की मृत्यु हो जाने पर उन दोनों का मुख जल से निकाले गये कमल की तरह दीन हो गया, शरीर संतप्त हो गया और उत्साह जाता रहा। वे व्यथा से अभिभूत हो गये।

तदनन्तर वे पिताओं की और्ध्वदेहिक क्रिया सम्पन्न करके पितृशोकजनित करुणापूर्ण आर्त वाणी से विलाप करने लगे।

अढ़तीसवा सर्ग समाप्त

उनतालीसवा सर्ग

भास और विलास की परस्पर बातचीत

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! इस प्रकार वे दोनों सुदृढ़ तपस्वी भास और विलास पिता के मृत्युजनित शोक से पराभूत होकर स्थित थे। उस शोकजनित संताप से उनके शरीर सूखकर काँटा हो गये थे और ऐसे लगते थे, जैसे ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड ताप से आमूल चूल सूखे हुए दो जंगली वृक्ष हों। उन्हें सांसारिक पदार्थों से परम वैराग्य हो गया था, अतः वे दोनों ब्राह्मण झुंड से बिछुड़े हुए दो मृगों की भाँति वियुक्त होकर उस जंगल में कालक्षेप करने लगे। इस प्रकार क्रमशः उनके दिन, मास और वर्ष बीतते गये। अन्ततोगत्वा उन्हें बुढ़ापे ने घेर लिया; परंतु उन्हें विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति न हुई। चिरकाल के पश्चात् एक समय प्रारब्धवश उन दोनों बिछुड़े हुए वृद्ध तापसों की परस्पर भेंट हो गयी, तब वे परस्पर यों कहने लगे।

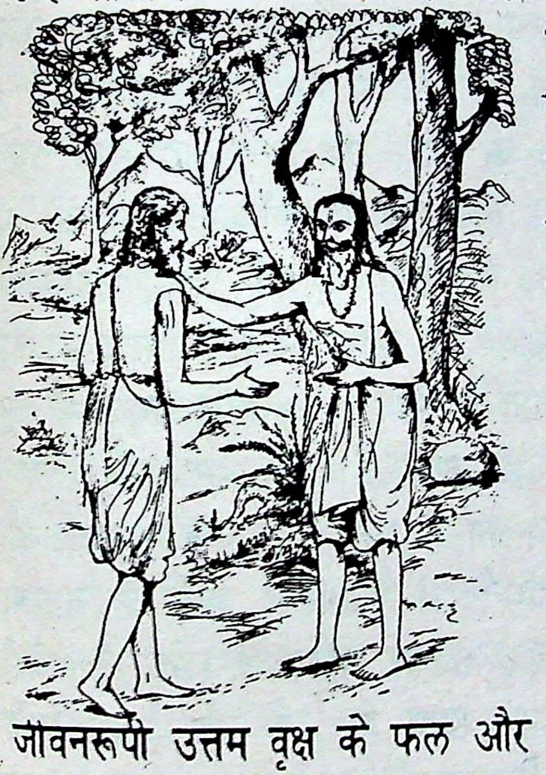

विलास ने कहा–मित्रवर ! इस जगत् में तुम्हीं मेरे परम प्रेमी बन्धु, मेरे जीवनरूपी उत्तम वृक्ष के फल और सदा-सर्वदा मेरे हृदय में निवास करने वाले अमृत के सागर हो; तुम्हारा स्वागत है। सज्जनशिरोमणे ! पहले यह तो बताओ, मुझसे अलग होकर तुमने इतने दिन कहाँ व्यतीत किये? तुम्हारी तपस्या तो सफल हुई है न ? क्या तुम्हारी बुद्धि संसार विषयक संताप से रहित हो गयी ? तुम्हारी विद्या फलवती हो गयी है न ? क्या तुमने परमात्मा को प्राप्त कर लिया ? तुम सकुशल तो हो न ?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम–तब जिसे परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई थी तथा जो संसार से पूर्णतया उद्विग्न हो गये थे, उन अपने

बहुसंख्य झरनों से सुशोभित है। उसके ऊपरी भाग में देवता निवास करते हैं, तलहटी में मनुष्यों ने अपना आवास स्थान बना रक्खा है और पृथ्वी के अंदर का हिस्सा नागों से भरा रहता है। उसकी कन्दराओं में सिद्धों का निवास स्थान रहता है। भीतरी भाग में नाना प्रकार की खानें हैं। उसके शिखरों पर उगे हुए चन्दन-वृक्षों पर सर्प लिपटे रहते हैं और चोटियों पर सिंह दहाड़ते रहते हैं। उसी सह्य पर्वत के उत्तर-तटवर्ती शिखर पर, जहाँ फलों के भार से झुके हुए वृक्ष सुशोभित हैं, वह आश्रम सिद्धों के श्रम का अपहरण करने वाला, ब्रह्मलोक के समान उत्कृष्ट, स्वर्ग-तुल्य रमणीय और शिवाजी के नगर कैलास के समान शोभा सम्पन्न है। उसी विशाल आश्रम में शुक्र और वृहस्पति नाम के दो तपस्वी रहते थे, जो आकाश मार्ग में विचरण करने वाले शुक्र और बृहस्पति के समान शास्त्रों के ज्ञाता थे। कुछ समय बाद एक ही स्थान में रहने वाले उन दोनों तपस्वियों के पवित्र शरीर वाले दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम थे-विलास और भास। वे दोनों बालक उस आश्रम में पिताओं द्वारा लगाये हुए लता-वृक्षों के लंबे-लंबे पल्लवों की तरह क्रमशः बढ़ने लगे। वे दोनों मित्र थे। उनके मन में एक दूसरे के प्रति अत्यन्त स्नेह था, जिससे वे परस्पर प्रेम रखते थे और एक-दूसरे से मिल-जुलकर रहते थे। उन दोनों का मन समान होने के कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो एक ही मन ने दो भागों में विभक्त होकर दो शरीर धारण कर लिये हैं। इस तरह वहाँ रहते हुए उन दोनों ने थोड़े ही समय में बचपन को लाँघकर युवावस्था में प्रवेश किया। तदनन्तर जैसे दो पक्षी अपने-अपने घोंसले से उड़कर अन्यंत्र चले जायँ, उसी तरह उनके वे दोनों पिता (शुक्र और वृहस्पति) बुढ़ापे से दुखी हो शरीर का परित्याग करके स्वर्ग को चले गये। पिताओं की मृत्यु हो जाने पर उन दोनों का मुख जल से निकाले गये कमल की तरह दीन हो गया, शरीर संतप्त हो गया और उत्साह जाता रहा। वे व्यथा से अभिभूत हो गये।

तदनन्तर वे पिताओं की और्ध्वदेहिक क्रिया सम्पन्न करके पितृशोकजनित करुणापूर्ण आर्त वाणी से विलाप करने लगे।

अढ़तीसवा सर्ग समाप्त

उनतालीसवा सर्ग

भास और विलास की परस्पर बातचीत

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! इस प्रकार वे दोनों सुदृढ़ तपस्वी भास और विलास पिता के मृत्युजनित शोक से पराभूत होकर स्थित थे। उस शोकजनित संताप से उनके शरीर सूखकर काँटा हो गये थे और ऐसे लगते थे, जैसे ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड ताप से आमूल चूल सूखे हुए दो जंगली वृक्ष हों। उन्हें सांसारिक पदार्थों से परम वैराग्य हो गया था, अतः वे दोनों ब्राह्मण झुंड से बिछुड़े हुए दो मृगों की भाँति वियुक्त होकर उस जंगल में कालक्षेप करने लगे। इस प्रकार क्रमशः उनके दिन, मास और वर्ष बीतते गये। अन्ततोगत्वा उन्हें बुढ़ापे ने घेर लिया; परंतु उन्हें विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति न हुई। चिरकाल के पश्चात् एक समय प्रारब्धवश उन दोनों बिछुड़े हुए वृद्ध तापसों की परस्पर भेंट हो गयी, तब वे परस्पर यों कहने लगे।

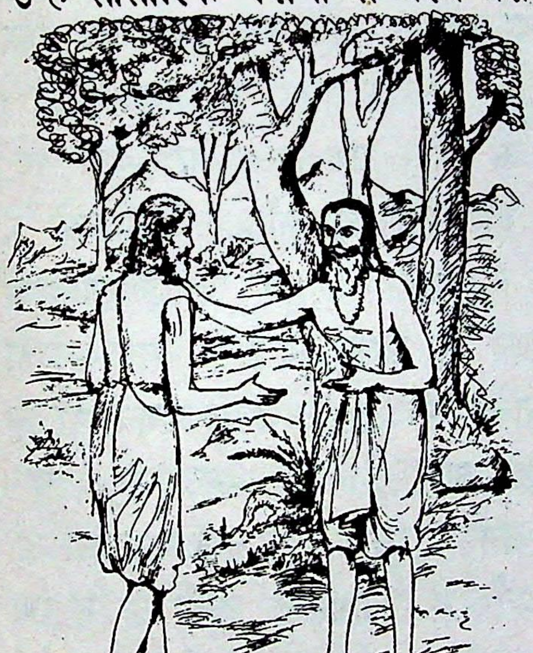

विलास ने कहा–मित्रवर ! इस जगत् में तुम्हीं मेरे परम प्रेमी बन्धु, मेरे जीवनरूपी उत्तम वृक्ष के फल और सदा-सर्वदा मेरे हृदय में निवास करने वाले अमृत के सागर हो; तुम्हारा स्वागत है। सज्जनशिरोमणे ! पहले यह तो बताओ, मुझसे अलग होकर तुमने इतने दिन कहाँ व्यतीत किये? तुम्हारी तपस्या तो सफल हुई है न ? क्या तुम्हारी बुद्धि संसार विषयक संताप से रहित हो गयी ? तुम्हारी विद्या फलवती हो गयी है न ? क्या तुमने परमात्मा को प्राप्त कर लिया ? तुम सकुशल तो हो न ?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम–तब जिसे परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई थी तथा जो संसार से पूर्णतया उद्विग्न हो गये थे, उन अपने

मित्र विलास के यों कहने पर परम हितैषी भास ने उनसे आदरपूर्वक कहना आरम्भ किया।

भास बोले–दूसरों को मान देने वाले साधो ! स्वागतता तो आज ही चरितार्थ हुई है; क्योंकि सौभाग्यवश मुझे तुम्हारा दर्शन प्राप्त हो गया। किन्तु मित्रवर ! इस दुःखमय संसार में चक्कर काटने वाले हम लोगों की कुशल कहाँ ? भला, जब तक मुझे जानने योग्य परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, मेरे मन में उत्पन्न होने वाले संकल्प आदि नष्ट नहीं हुए और मैंने संसार सागर को पार नहीं कर लिया, तब तक मेरी कुशल कहाँ। जब तक चित्त में उत्पन्न होने वाली आशाएँ तीव्र वैराग्यरूप शस्त्र के द्वारा पूर्णतया काटी नहीं गयीं, तब तक हमलोगों की कुशल कहाँ ? जब तक परमात्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ और जब तक समता उद्भूत नहीं हुई तथा जब तक विवेक नहीं उत्पन्न हुआ, तब तक हमलोगों की कुशल कहाँ। सज्जनशिरोमणे ! परमात्मा की प्राप्ति तथा ज्ञानरूपी महौषध के बिना यह जन्म–मरणरूपी दुष्ट महामारी बारंबार प्राप्त होती ही रहती है। यह जीवात्मा लौकिक क्रियाओं में तथा देहरूपी पर्वत की उन अत्यन्त भीषण कन्दराओं में, जो विषयोपभोगरूपी भयंकर सर्पों से व्याप्त एवं तृष्णारूपी कण्टकों से आच्छादित हैं, सदा–सर्वदा लोटता रहता है। यों कुत्सित आशाओं के आवेश से युक्त व्यर्थ क्रियाकलापों के करते रहने से इसकी आयु वृथा ही नष्ट हो जाती है। यह मन एक मदमत्त गजराज के समान है, जिसने परमात्मा में बन्धन हेतुभूत विवेकरूपी आलान को उखाड़ डाला है और जो तृष्णारूपिणी हथिनी में कामासक्त होने के कारण उद्विग्न हो उठा है, अतः वह जगत् में दूर से दूर भटकता रहता है। जैसे राजहंस सूखे हुए सरोवर से तत्क्षण ही भाग खड़ा होता है और फिर कभी उसकी ओर ताकता तक नहीं, उसी तरह जिसका यौवनरूपी जल नष्ट हो गया है, उस सूखते हुए शरीररूपी सरोवर से आयु तत्काल पलायन कर जाती है, पुनः वह कभी लौटती ही नहीं। जब यह जीवन वृक्ष जर्जर हो जाता है और कालरूपी वायु उसे बलपूर्वक झकझोरता है, तब उसके भोगरूपी पुष्प और दिनरूपी पत्ते झड़कर नीचे गिर जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। परंतु नाना प्रकार के अनुरागों से लिपटी हुई यह तुच्छ चंचल तृष्णा देवालयों के ऊपर फहराती हुई पताका की भाँति अधिकाधिक बढ़ती रहती है। बन्धु समूहरूपी ये

असंख्य सरिताएँ गम्भीर कोटर वाले विस्तृत काल सागर में निरन्तर गिरती रहती हैं। तात ! यह देहरूपी रतनशलाका का विनाशरूपी कीचड़ से परिपूर्ण सागर के गर्भ में न जाने कहाँ समा गयी है कि जन्म-जन्मान्तर में भी इसका पता नहीं चलता। चिरकाल से चिन्ताचक्र में बँधा हुआ तथा पापकर्मों के आचरण में संलग्न चित्त समुद्र के गम्भीर आवर्त में पड़कर चक्कर काटते हुए तृण की भाँति संसार में भटकता रहता है। इसे कार्यरूपी असंख्यों विशाल तरंगे उछालती रहती हैं तथा चिन्ता के फेर में पड़कर यह ताण्डव नृत्य करता रहता है, जिससे इसे क्षणभर भी विश्राम नहीं मिलता। 'मैंने इसे कर लिया, यह करता हूँ और आगे उसे करूँगा' इस प्रकार की कल्पनाओं के जाल में फँसकर इस मनुष्य की बुद्धिरूपी पक्षिणी अत्यन्त मोहित हो जाती है।

उनतालीसवां सर्ग समाप्त

चालीसवां सर्ग

तत्त्वज्ञान उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-राघव ! उन दोनों ने परस्पर एक-दूसरे का कुशल समाचार पूछा। तदनन्तरकाल क्रम से विवेकपूर्वक ध्यान के अभ्यास और संसार से वैराग्य के द्वारा परमात्मा का विशुद्ध ज्ञान लाभ करके वे दोनों मोक्ष को प्राप्त हो गये। महाबाहो ! इसीलिये मैं कहता हूँ कि सांसारिक पाश से जकड़े हुए चित्त को संसार-सागर से पार होने के लिये परमात्मा के यथार्थ ज्ञान के अतिरिक्त और कोई दूसरा सुगम उपाय नहीं है। यह उपर्युक्त दुःख यद्यपि अज्ञानी के लिये अनन्त है तथापि ज्ञानी पुरुष के लिये वह अत्यन्त साधारण है-ठीक उसी तरह जैसे सागर तुच्छ पक्षी के लिये दुस्तर होते हुए भी गरुड़ के लिये गौ की खुरी के जल के समान ही प्रतीत होता है। जैसे दर्शक पुरुष दूर से ही जनसमूह का अवलोकन करता है, किंतु उसके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता, उसी तरह जो देहाभिमान से रहित तथा विज्ञानानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में एकीभाव से स्थित हैं, वे ज्ञानी महात्मा पुरुष साक्षीभूत होकर दूर से ही शरीर को देखते रहते हैं। इसलिये भले ही देह दुःख से भलीभाँति क्षुब्ध हो जाय, उससे आत्मा को कौन सी क्षति पहुँचती है ? शोभाशाली राम ! भला हिमालय पर्वत और समुद्र का क्या सम्बन्ध ? उसी तरह आत्मा और संसाररूप बन्धन का भी वास्तव में परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

अर्थात् कुछ नहीं है। जैसे सरिताओं का जल कमलों को अपनी गोद में धारण किये रहता है, फिर भी वे कमल उस जल से कोई सम्बन्ध न रखकर निर्लेप बने रहते हैं, उसी तरह इस जगत् में शरीर का भी आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सुख-दुःख आदि के अनुभव केवल शुद्ध चेतन आत्मा और केवल जड़ देह को नहीं होते, किन्तु देह और आत्मा के तादात्म्य के कारण होते हैं। अतः तब सुख-दुःखों का अत्यन्ताभाव होकर केवल शुद्ध चेतन आत्मा ही शेष रह जाता है। अज्ञानी पुरुष जिस रूप में इस संसार को देखता है, वह उसी रूप में उसे सत्य मान लेता है; परंतु ज्ञानी के लिये वैसी बात नहीं है। वह उसी रूप में संसार को सत्य नहीं मानता; क्योंकि वह समझता है कि यह संसार अज्ञान से ही प्रतीत होता है।

जैसे वास्तव में सम्बन्ध न होने पर भी स्वप्न में स्त्री के साथ रति-क्रीड़ा आदि व्यापार में सम्बन्ध सा हो जाता है तथा जैसे वास्तविक प्रेत न होने पर भी अँधेरे में ठूँठ प्रेत-सा दीखने लग जाता है, उसी तरह यद्यपि वास्तव में आत्मा के साथ देहादि का सम्बन्ध नहीं है, फिर भी अज्ञान के कारण सम्बन्ध सा दीखता है। वस्तुतः तो शरीर और शुद्ध आत्मा का सम्बन्ध मिथ्या ही है; क्योंकि इनका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। विद्वानों का कथन है कि देह में अहंभावना करने से ही आत्मा दैहिक दुःखों के वशीभूत होता है तथा उस देहभावना का त्याग कर देने से वह उस दुःखजाल से मुक्त हो जाता है। वत्स राम ! जैसे सरोवर में गिरे हुए पत्ते, जल, मल और काष्ठ यद्यपि परस्पर सम्बद्ध रहते हैं, तथापि भीतरी संग से रहित होने के कारण वे दुखी नहीं होते, उसी तरह यद्यपि अन्तःकरणों में अहंता, ममता और आसक्ति का अभाव होने के कारण ज्ञानी महात्मा सदा-सर्वदा दुःखरहित ही रहते हैं। श्रीराम ! अन्तःसंघ अर्थात् अहंता, ममता और आसक्ति ही संसार में समस्त प्राणियों के जरा, मरण और मोहरूपी वृक्षों का मूल कारण है। जो जीव अहंता, ममता और आसक्ति से युक्त है, वह भवसागर में डूबा हुआ है; परंतु जो इनसे मुक्त हो गया है, वह समझ ले कि मैं संसार सागर से पार हो गया। जो चित्त विषयों की आसक्ति से रहित और निर्मल है, वह संसारी होते हुए भी निस्संदेह मुक्त है; परंतु विषयासक्त चित्त दीर्घकाल की तपस्या से युक्त होता हुआ भी कामना के कारण सुदृढ़ बन्धन से बँधा हुआ है। जैसे काष्ठभारों को पार उतारने वाली जल स्थित

नौका जल के गुण-दोष से लिपायमान नहीं होती, वैसे ही अहंता, ममता और आसक्ति से रहित पुरुष शरीर यात्रा के लिये न्याय युक्त कर्म करता हुआ भी कर्तृत्व से लिप्त नहीं होता। जो मनुष्य अहंता, ममता और आसक्ति से रहित तथा परम मधुर परमात्मा में नित्य स्थित है, वह बाहर से कुछ भी कार्य करे अथवा न करे, किसी भी दशा में वह कर्ता अथवा भोक्ता नहीं है।

चालीसवां सर्ग समाप्त

इकतालीसवां सर्ग

संसक्ति और असंसक्ति का लक्षण

श्रीरामजी ने पूछा-भगवान् ! किस प्रकार का संग मनुष्यों के लिये मोक्षदायक कहा गया है और कैसा संग बन्धन का हेतु होता है एवं उसके बन्धन का निमित्त बनने में कारण क्या है तथा बन्धन के हेतुभूत उस संग की निवृत्ति कैसे की जा सकती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! शरीर-क्षेत्र और शरीरी-क्षेत्रज्ञ आत्मा का जो विभाग है अर्थात् शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है-ऐसा जो अनुभव है, उसके अभाव में केवल देह ही आत्मा है, ऐसी भावना से उत्पन्न देहाभिमान ही संग है और वही बन्धन का हेतु कहा जाता है। तथा देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न होने के कारण आत्मा का स्वरूप अनन्त है; किन्तु अज्ञानवश उसमें परिच्छिन्नता का निश्चय हो जाने पर जीव अपने अंदर जो सुख की चाह करने लगता है, वही संग है और वही बन्धन का कारण कहा जाता है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण संसार परमात्मा का स्वरूप है, तब फिर मैं उसमें से किसकी चाह करूँ और किसको त्याग दूँ-इस प्रकार की धारणा से उत्पन्न होने वाली जो जीवन्मुक्त की अवस्था है, उसे तुम असंग स्थिति समझो। न तो मैं ही हूँ और न दूसरा ही कुछ है; अतः विषयों से उत्पन्न सुख हों अथवा न हों-ऐसा निश्चय करके जिसका अन्तःकरण अहंता, ममता और आसक्ति से रहित हो गया है, वह मनुष्य मुक्ति का अधिकारी कहलाता है। जो निष्कर्मभाव की प्रशंसा नहीं करता, किसी भी कर्म में आसक्त नहीं होता, सबमें समभाव रखता है और कर्मफलों की इच्छा से रहित है, वही पुरुष असंसक्त कहा जाता है। केवल परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थिति वाले जिस महात्मा का मन हर्ष, शोक और ईर्ष्या वशीभूत नहीं होता, वही असक्त है और उसी की 'जीवन्मुक्त'

संज्ञा होती है। जो मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों और उनके फल आदि का कर्म से नहीं, अपितु केवल मन से भलीभाँति त्याग कर देता है, वह असंसक्त कहलाता है।

रामजी ! वृक्ष एक स्थान पर स्थित रहकर अपने स्थावर शरीर से जो शीत, वात और धाम के क्लेशों को सहता रहता है, वह उसके पूर्वजन्मों के अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मों का ही फल है। पृथ्वी की दरार में पड़ा हुआ कीड़ा अंगों के पीड़ित होने के कारण विकल होकर जो कालक्षेप करता है, वह उसके पूर्वजन्म के अहंता, ममता और आसक्ति पूर्वक किये गये कर्मों का ही फल है। जिसका पेट भूख के कारण दुर्बल होकर पीठ से सट गया है तथा बुद्धि आघात के भय से सदा भीत बनी रहती है, ऐसा पक्षी जो वृक्ष की शाखाओं पर निवास करता हुआ कालयापन करता है, वह उसके पूर्वजन्मों के अहंता, ममता और आसक्ति पूर्वक किये गये कर्मों का ही फल है। दुर्वांकुरों और तिनकों का आहार करने वाला मृग किरातों के बाणों की चोट से पीड़ित होकर जो मर जाता है, वह उसके पूर्व जन्मों के अहंता, ममता और आसक्ति पूर्वक किये गये कर्मों का ही फल है। ये असंख्य भूत-प्राणी जो नदी में तरंगों की भाँति बारंबार उत्पन्न होकर पुनः विलीन हो रहे हैं, यह उनके पूर्व जन्मों के अहंता, ममता और आसक्ति पूर्वक किये गये कर्मों का ही फल है। लता और तिनकों के समान शक्तिहीन दशा को प्राप्त हुए मनुष्य चलने-फिरने की शक्ति से शून्य होकर जो बारंबार मरते रहते हैं, उसका कारण उनके पूर्वजन्म में अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मों का फल ही है।

राघव ! यह आसक्ति दो प्रकार की कही गयी है-एक वन्ध्या अर्थात् प्रशस्त और दूसरी वन्ध्या अर्थात् पुरुषार्थ फल से शून्य। इनमें तत्त्वज्ञ महात्माओं की अपने स्वरूप में आसक्ति बन्ध्या है और वन्ध्या आसक्ति सर्वत्र अज्ञानियों की है। जो आसक्ति आत्मतत्त्व के ज्ञान से शून्य, देह आदि असत्य वस्तुओं से उत्पन्न और बारंबार संसार में सुदृढ़रूप से स्थित है, वह वन्ध्या कही जाती है तथा जो आसक्ति आत्मतत्त्व के ज्ञान द्वारा यथार्थ विवेक से उत्पन्न हुई है और पुनर्जन्म का कारण नहीं है, उसे लोग वन्ध्या कहते हैं। यह वन्ध्या आसक्ति का ही प्रभाव है, जो आत्मतत्त्व के विज्ञान में कुशल सिद्धगुण, लोकपाल तथा अन्यान्य मुक्त पुरुष इस जगत् के प्रांगण में अध्यात्म विषय की प्रीति से युक्त

होकर स्थित रहते हैं। अन्यान्य भुवनों में निवास करने वाले अध्यात्म विषय की प्रीति से युक्त तत्त्वज्ञ महात्मा लोग जो जन्म-मरण से रहित शरीररूपी यंत्र समूहों को धारण करते हैं, वह भी वन्ध्या आसक्ति की ही सामर्थ्य है। किन्तु वन्ध्या आसक्ति के वशीभूत होने से मन विषय भोगों में व्यर्थ ही रमणीयता की कल्पना करके उनपर उसी प्रकार टूट पड़ता है, जैसे गीध मांस के टुकड़ों पर झपटता है। वन्ध्या असक्ति के प्रभाव से ब्रह्माण्डरूपी गूलर के फल के अंदर मच्छर ही तरह स्फुरित होते हुए देवता स्वर्ग लोक में, मनुष्य मृत्युलोक में और नाग तथा असुर पाताल में स्थित हैं। ये असंख्य प्राणी जो नदी में तरंगों की भाँति जन्मते हैं, मरते हैं, गिरते हैं और उठते हैं-यह भी वन्ध्या आसक्ति का ही चमत्कार है। यह भी वन्ध्या आसक्ति का ही प्रताप है, जो ये भूत-प्राणी झरनों के जलकणों की तरह बारंबार उत्पन्न होकर पुनः विरसता पूर्वक नष्ट हो रहे हैं।

श्रीराम ! शून्य आकाश में केवल मन की आसक्तिरूपी रंग से संकल्प पूर्वक जो यह जगद्‌रूपी चित्र बनाया गया है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। इस संसार में आसक्तिपूर्ण मन से व्यवहार करने वाले मनुष्यों के शरीरों को तृष्णा उसी प्रकार क्षीण करती रहती है, जैसे अग्नि की लपट तृणों को भस्मसात् कर देती है। जैसे मुद्र तट की सिकताओं और त्रसरेणु-समूहों की संख्या करना असम्भव है, उसी तरह जिसकी बुद्धि सर्वथा विषयों में आसक्त है, भला, उसके शरीरों की ठीक-ठीक गणना करने में कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। राघव ! विषयासक्त चित्तवाला मनुष्य दुःखों के कारण सूख जाता है, जिससे वह धधकती हुई नरकाग्नियों के लिये इन्धन-समूह का काम देता है; क्योंकि वे नरकाग्नियाँ उस इन्धन से ही जलती हैं। इस भूतल पर यह जो कुछ दुःख समूह दृष्टिगोचर हो रहा है, उस सब की कल्पना विषयासक्त चित्तवाले मनुष्यों के लिये ही हुई है। जैसे जल की तरंगों से युक्त बड़ी-बड़ी नदियाँ किलोल करती हुई समुद्र की ओर दौड़ी जाती हैं, उसी तरह सारी दुःख-परम्पराएँ विषयासक्त चित्तवाले मनुष्य को आ घेरती हैं। जो मन आसक्ति शून्य, सब ओर से शान्त, आकाश के समान निर्मलरूप से स्थित और असत् सा प्रतीत् होते हुए भी सत्‌रूप से भासमान हो रहा है, वह साधक के लिये सुख का ही हेतु होता है।

रघुनन्दन ! कल्याणकामी विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह सर्वत्र स्थित रहते हुए, सबके साथ रहते हुए और सभी न्यायुक्त कर्मों में लगे हुए भी सदा–सर्वदा अपने मन को अनासक्त और सम बनाये रक्खे। उसे चेष्टाओं में, किसी प्रकार की चिन्ताओं में, पदार्थों में, आकाश में, नीचे पाताल में, ऊपर पृथ्वी में, दसों दिशाओं में, लताओं में, बाहर के विशाल विषय भोगों में, इन्द्रिय–वृत्तियों में, अन्तःकरण में, प्राण, मूर्धा और तालू में, भ्रूमध्य में, नासिका के अग्रभाग में, मुख में, दक्षिण नेत्र की कनीनिका में, अन्धकार में, प्रकाश में, इस हृदयरूपी आकाश में, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओं में, शुद्ध सत्त्वगुण में, तमोगुण में, रजोगुण में, त्रिगुणमय पदार्थ–विशेष में, चल–अचल पदार्थों में, सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में, दूर में, समीप में, सामने, नाम रूपात्मक किसी पदार्थ में, अपने आत्मा में शब्द–स्पर्श रूप आदि विषयों में, अज्ञानजनित आनन्द की वृत्तियों में, गमनागमन की चेष्टाओं में और घड़ी, दिन, मास, संवत्, युग आदि काल की कल्पनाओं में आसक्त नहीं करना चाहिये। सर्वत्र दृश्य पदार्थों में अनासक्त–सा होकर जड़ दृश्य जगत् के आश्रयभूत नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मा में विश्राम करके परमात्मा में ही अमृतमय रस से युक्त मन वाला होकर स्थित रहना चाहिये। इस प्रकार उस परमात्मा में स्थित हुआ जीवात्मा सम्पूर्ण आसक्तियों से रहित होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। फिर तो वह इन समस्त व्यवहारों को करे अथवा न करे; क्योंकि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। जैसे आकाश का मेघों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता, उसी तरह अपने परमात्म स्वरूप में रत हुआ जीवात्मा क्रियाओं को करता हुआ अथवा न करता हुआ भी क्रियाजनित फलों के साथ तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता। अथवा शान्त चैतन्य–घन जीवात्मा को चाहिये कि वह पूर्वोक्त दृश्य संसार के सम्बन्ध का भी परित्याग करके शान्त होकर परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहे। रामभद्र ! जिसने अपने स्वरूप में परम विश्राम को प्राप्त कर लिया है, जिसका अन्तःकरण आत्मसाक्षात्कार से सम्पन्न है और जिसकी कर्म तथा उसके फलों में तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है, ऐसा जीवात्मा कर्म करते हुए भी आसक्ति से रहित होने के कारण कर्मजनित फलों से सम्बद्ध नहीं होता।

इक्तालिसवां सर्ग समाप्त

बयालीसवां सर्ग

असंग सुख में

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जो संसार में राग के अत्यन्त अभाव से उत्पन्न निर्विशेष आनन्द के अभ्यास में संलग्न हैं और जिनके अन्तःकरण अत्यन्त विशाल हैं, वे जीवन्मुक्त महापुरुष चाहे व्यवहार करें, पर वे सदा-सर्वदा भय और शोक से रहित होकर ही स्थित रहते हैं। जिसका अन्तःकरण दृश्य चिन्तन से रहित, केवल नित्य चेतन परमात्मा का ही अवलम्बन करने वाला तथा सम्पूर्ण चिन्ता ज्वरों से मुक्त हैं, उस महात्मा पुरुष के सत्संग से मनुष्य वैसे ही विशुद्ध हो जाते हैं, जैसे निर्मली से जल शुद्ध हो जाता है। परमात्मा के स्वरूप में निमग्न रहने वाला वह तत्त्वेत्ता पुरुष क्रियाशील होते हुए भी अपने स्वरूप में नित्य स्थित रहता है। जैसे चिकने स्फटिक मणि पर वास्तव में किसी भी रंग से रंग नहीं चढ़ता, वैसे ही परमात्म स्वरूप को प्राप्त तत्त्ववेत्ता का अन्तःकरण सुख-दुःख की प्राप्ति होने पर विकारवान् नहीं होता। जिसने सगुण-निर्गुणरूप परमात्मा को भलीभाँति जान लिया है और जो परमात्म स्वरूप परम अभ्युदय को प्राप्त हो गया है, उस महात्मा पुरुष के चित्त को संसार का दृश्य उसी प्रकार लिपायमान नहीं कर सकता, जैसे जलरेखा कमल को लिपायमान नहीं कर सकती। जब यह जीवात्मा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर समस्त कल्पनाओं के हेतुभूत मलों से रहित हुआ ध्यानाभाव दशा में भी परमात्मा के स्वरूपानुभव में निमग्न रहता है, तब वह 'स्वसक्त' (आत्माराम) कहलाता है। आत्माराम होने से ही मनुष्य संसार में असंग भाव को प्राप्त करता है; क्योंकि आत्मा के ज्ञान से ही विषयासक्ति का क्षय होता है। चित्त के विषय-सम्बन्धिनी वृत्तियों से रहित हो जाने पर क्षीण वृत्ति वाले अन्तःकरणों की जो वासनाओं से रहित शान्तिमयी स्थिति है, वही जाग्रत् में सुषुप्ति के समान समाधि-अवस्था कही जाती है। इस प्रकार अखण्ड समाधि-अवस्था को प्राप्त मनुष्य व्यवहार करता हुआ भी सुख-दुःख रूपी रस्सों से बँधकर संसार की ओर कभी आकृष्ट नहीं होता; क्योंकि उसकी दृष्टि संसार है ही नहीं। जो पुरुष जाग्रत् में ही परमात्मा में स्थित हुआ जगत् के कार्यों को करता है, उस पुरुष को यंत्र की पुतली के समान सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता।

जो पूर्व से ही यानी साधनावस्था से ही तीव्र वैराग्य के कारण उपेक्षा

बुद्धि से कर्म करता है तथा जिसकी बुद्धि परमात्मा में ही स्थित है, वह मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है और फिर वह उन कर्मों के फलों से नहीं बँधता। विवेकशील साधक को कर्मों का अनुष्ठान या परित्याग-कुछ भी अच्छा नहीं लगता। किंतु जिन्होंने आत्मतत्त्व को जान लिया है, वे महात्मा तो जिस समय जो कुछ प्राप्त हो जाता है, तदानुसार न्याय युक्त जीवन-यापन करते हुए स्थित हैं। सांसारिक विषयों के सम्बन्ध से रहित सच्चिदानन्दघन परमात्मपद में भलीभाँति स्थित परमात्म प्राप्त पुरुष जो-जो कर्म करता है, उसमें वस्तुतः उसका कर्तापन नहीं रहता। श्रीराम ! यही अखण्ड समाधिरूप सुषुप्ति-स्थिति अभ्यास योग से जब दृढ़ हो जाती है, तब तत्त्वज्ञ महात्माओं के द्वारा वह तुर्य स्थिति कही जाती है। जिसके अन्तःकरण से समस्त विकार विनष्ट हो चुके हैं और जिसके मन का अत्यन्त अभाव सा हो गया है, वह ज्ञानी महानुभाव विशुद्ध आनन्दमय हो जाता है। उपर्युक्त अखण्ड समाधि में स्थित रहने वाला ज्ञानी अतिशय प्रसन्नता से परिपूर्ण और परम आनन्द में निमग्न हुआ इस जगत् के व्यवहार को सदा लीला की ज्यों देखता रहता है। श्रीराम ! जिसके शोक, भय एवं सांसारिक क्लेश सदा के लिये निवृत्त हो गये हैं तथा जो संसाररूपी भ्रम से रहित है, वह तुर्यावस्था में सदा सर्वदा स्थित आत्मज्ञानी फिर इस संसार चक्र में कभी नहीं गिरता। जैसे आकाश मार्ग वायुओं के लिये गम्य है, वैसे ही दूर से भी अति दूर परमपद विदेहमुक्त पुरुषों के लिये अनुभव गम्य है। परमानन्द में निमग्न ज्ञानी पूर्वोक्त सुषुप्ति के समान अखण्ड ब्रह्माकार समाधि अवस्था से जगत्स्थिति का वास्तविक अनुभव करके उसके पश्चात् तुर्यावस्था (जीवन्मुक्तावस्था) को प्राप्त होता है। रघुकुलतिलक ! जिस प्रकार तुर्यातीत पद का ज्ञान रखनेवाले आत्मतत्त्व-ज्ञानी महात्मा तुर्यातीत पद में स्थित रहते हैं उसी प्रकार तुम भी सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित हो उस परम पद में स्थित रहो। चाहे देह नष्ट हो जाय, चाहे वह नष्ट न हो यानी स्थिर रहे, उससे तुम को क्या प्रयोजन है ? तुम तो केवल आत्मज्ञानी में ही स्थित रहो। यह देह जैसा है, वैसा भले ही बना रहे। श्रीराम ! जैसे अन्धकार और मेघ-मण्डल से मुक्त शरत्पूर्णिमा की रात्रि का आकाशमण्डल सुशोभित होता है, वैसे ही तुम अभीष्ट और अनभीष्ट विषयों से मुक्त हुए शीतल साक्षात्काररूपी आलोक की शोभा से सुशोभित हो रहे हो।

रघुनन्दन ! इस संसार में देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से शून्य एक विशुद्ध चेतन आत्मा ही है; उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। सर्वत्र व्यापक चेतन 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहार के लिये ही कल्पित है, वास्तव में नाम-रूप आदि भेद तो इस चेतन से अत्यन्त दूर ही हैं अर्थात् यह चेतन आत्मा नाम-रूप आदि उपाधि से रहित है। जैसे समुद्र जल स्वरूप ही है, उससे भिन्न तरंग आदि कुछ भी नहीं हैं, वैसे ही यह सब जगत आत्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न पृथ्वी जल आदि कुछ भी नहीं हैं। जैसे छाया और धूप का तथा प्रकाश और अन्धकार का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही शरीर और आत्मा का भी परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। श्रीराम ! जैसे सदा परस्पर विरुद्ध रहने वाले शीत और उष्ण का एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही देह और आत्मा का भी एक दूसरे से कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता। जैसे मरुभूमि में सूर्य की किरणों से प्रतीत हुआ जल किरणों के यथार्थ ज्ञान से विनष्ट हो जाता है, वैसे ही अज्ञानजनित यह देह और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध-भ्रम भी आत्म तत्त्व के साक्षात्कार से विनष्ट हो जाता है। वह चेतन आत्मा शुद्ध, अविनाशी, स्वप्रकाश एवं सम्पूर्ण विकारों से रहित है और देह विनाशशील, अनित्य और मलरूप विकार से युक्त है; ऐसी स्थिति में अत्यन्त अन्तर होने के कारण आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है। प्राणवायु से बलवान् होकर ही शरीर स्पन्द को प्राप्त करता है, इसलिये आत्मा के साथ किंचित भी शरीर का सम्बन्ध नहीं है। श्रेष्ठ बुद्धि से सम्पन्न श्रीराम ! जब द्वैत को मानने पर भी आत्मा के साथ पूर्वोक्त प्रणाली से देहादि का सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब द्वैत की असिद्धि में तो इस प्रकार सम्बन्ध की कल्पना ही कैसे हो सकती है। जैसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध प्रकाश और अन्धकार का एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता, वैसे ही परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आत्मा और शरीर का भी एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता।

जैसे शीत और उष्ण की एकता कहीं दिखलायी नहीं पड़ती, वैसे ही क्रमशः जड़ और चेतन स्वरूप देह और आत्मा का भी संयोग नहीं हो सकता। यह देह प्राणवायु से ही चलता है, उसी से उसका गमनागमन होता है एवं देह की नाड़ियों में संचार करने वाले प्राणवायु से ही शब्द होता है। जिस प्रकार

छिद्र युक्त बाँसों से वायु के गमनागमन से शब्द उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शरीर के कण्ठरूप छिद्र से निकले हुए प्राण वायु से जब कण्ठ, तालु आदि स्थानों में जिव्हा आदि के द्वारा अभिघात से निकाले जाते हैं, तब क्वर्ग, चवर्ग, ट्वर्ग, त्वर्ग आदि शब्द प्रकट होते हैं-यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। शरीररूपी स्थान को छोड़कर जहाँ चित्तरूपी पक्षी अपनी वासना के अनुसार जाता है, वहीं पर विचार करने पर आत्मा का अनुभव होता है। जहाँ पुष्प रहता है, वहीं पर जैसे गन्ध का ज्ञान रहता है, उसी प्रकार जहाँ चित्त रहता है, वहीं पर आत्मा का ज्ञान होता है। जिस प्रकार सर्वत्र स्थित आकाश दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्वत्र स्थित आत्मा शुद्ध अन्तःकरण में दिखलायी पड़ता है। जैसे पृथ्वी में नीचे का भाग जल का आश्रय स्थान होता है, उसी प्रकार अन्तःकरण ही आत्मा के अनुभव का आश्रय स्थान है। महान् बुद्धि वाले पुरुष कहते हैं कि संसार की उत्पत्ति में अविचार, अज्ञान और मूर्खता ही सारभूत है और यही अन्तःकरण की उत्पत्ति में हेतु है। रघुनन्दन ! जैसे प्रज्वलित दीपक से अन्धकार का तत्क्षण ही नाश हो जाता है, वैसे ही नित्य सिद्ध आत्मा के यथार्थ ज्ञान से ही चित्त का तत्क्षण नाश हो जाता है। जैसे बंदर वन के एक वृक्ष को त्यागकर दूसरे वृक्ष पर चला जाता है, उसी प्रकार वासना के वशीभूत जीव कर्मानुसार एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में चला जाता है। श्रीराम ! जिस शरीर में वह चला गया, उस शरीर को भी त्यागकर फिर दूसरे समय में अन्य विशाल देश के अन्तर्गत दूसरे शरीर में चला जाता है। इस प्रकार जीवों के यथार्थ स्वरूप को आवृत करके रहने वाली अपनी वंचक वासना जीवों को इधर-उधर भटकाती रहती है। श्रीराम ! वासनारूपी रज्जु में बँधे हुए जीव पहले से ही जीर्ण तो हैं ही, फिर भी वे पर्वत तुल्य जड़ शरीरों में अत्यन्त दुःखपूर्वक आयु क्षीण कर रहे हैं। जिन्होंने जीर्ण से भी अधिक जीर्ण होकर दरिद्रता, रोग, वियोग आदि से उत्पन्न हुए दुःखों का भार वहन किया है तथा जिनका जीवन अनेक योनियों में दुर्दशाग्रस्त परिणामों से जर्जर हो चुका है, वे जीव बारंबार अपने हृदय की दुर्वासनाओं से दीर्घकाल तक नरकों में निवास करते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! मुनिवर श्रीवसिष्ठजी के ऐसा कहनेपर जब दिन बीत गया, सूर्यभगवान् अस्ताचल की ओर जाने लगे, तब सभा में

उपस्थित सब लोग मुनि को प्रणाम करके सायंकालीन स्नान-संध्या-वन्दनादि नित्यकर्म करने के लिये चले गये और रात्रि बीत जाने पर दूसरे दिन सूर्य की किरणों के साथ ही पुनः सभा में उपस्थित हो गये।

बयालीसवां सर्ग समाप्त

तेतालीसवां सर्ग

देहादि के संयोग-वियोगादि में राग-द्वेष और हर्ष-शोक से रहित शुद्ध आत्मा के स्वरूप का विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! तुम देह के उत्पन्न होने पर उत्पन्न नहीं होते और देह के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होते; क्योंकि अपने स्वरूप में तुम विकार-रहित और विशुद्ध हुए नित्य स्थित हो। इस विनाशशील देह के नष्ट हो जाने पर शुद्ध आत्मा का नाश नहीं होता; इसलिये जो देह का विनाश हो पर जाने पर 'मैं नष्ट हो जाता हूँ', इस प्रकार की भावना से दुखी होता है, उस अन्ध बुद्धि को धिक्कार है ! जैसे घोड़े की लगाम और रथ का सम्बन्ध राग-द्वेष से रहित है, उसी प्रकार चेतन आत्मा का भी देह, चित्त, इन्द्रिय आदि के साथ सम्बन्ध राग-द्वेष से रहित है। जैसे मार्ग बटोहियों के संयोग और वियोग में हर्ष-शोक का अनुभव नहीं करता, वैसे ही विशुद्ध आत्मा शरीरों के संयोग वियोग में हर्ष-शोक से रहित है। जिस प्रकार कल्पित प्रेत के विकराल रूप से भयभीत बालक को होने वाला भय मिथ्या ही है, वैसे ही ये कल्पित स्नेह, सुख आदि मिथ्या ही हैं। जैसे लकड़ियों के बोझे में लकड़ियों के सिवा और कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता, वैसे ही आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी-इन पाँचों भूतों के शरीर में पाँचों भूतों के संघात के सिवा और कुछ भी दिखलायी नहीं पड़ता। अतः श्रोतागण ! आप लोग इन पाँचों भूतों की उत्पत्ति, विनाश और विकार होने पर हर्ष-अमर्ष और विषाद के वश में क्यों हो जाते हैं? जिस देह का 'स्त्री' यह दूसरा नाम है, उस तुच्छ भूतों के समूह में यानी स्त्री शरीरात्मक पाँच भूतों के पिण्ड में पुरुषों को ऐसी कौन-सी विशेषता प्रतीत होती है, जिससे उनकी उस स्त्रीरूप विषय-भोगाग्नि में पतिंगे की तरह गिरने की चेष्टा उचित कही जाय ? स्त्री की सुन्दरता, रूप-लावण्य और शरीर संगठन को लेकर जो विलक्षणता दिखायी पड़ती है, उससे तो केवल अज्ञानी ही आनन्दित होता है; किन्तु विवेकी पुरुषों को वह पाँच भूतों का पिण्ड ही

दिखायी देता है। जैसे एक पत्थर से बनायी गयी दो पाषाण प्रतिमाओं का परस्पर आलिंगन होने पर उनमें राग नहीं होता, उसी प्रकार चित्त और शरीर का परस्पर आलिंगन होने पर भी राग नहीं होना चाहिये। तथा जैसे पत्थर की बनायी गयी प्रतिमाओं में परस्पर स्नेह का सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देह, इन्द्रिय, आत्मा और प्राणों में भी परस्पर स्नेह का सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ शोक किसका ? जिस प्रकार समुद्र ऊँची-ऊँची भँवरों से युक्त हो तृण, काठ आदि पदार्थों से संयोग करता है, वैसे ही जीवात्मा भी चित्ताकृति को प्राप्त कर देह और प्राणियों के साथ संयोग करता है। (अतः मनुष्य को समुद्र की भाँति सबसे निर्लेप रहना चाहिये।) जैसे जल अपनी स्पन्दन क्रिया से ही मलिनता का परित्याग करके स्वयं ही स्वच्छता को प्राप्त करता है,उसी प्रकार जीवात्मा यथार्थज्ञान के द्वारा विषय रूपता का परित्याग करके स्वयं ही विशुद्ध आत्मरूपता को प्राप्त करता है। उस समय सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में आसक्ति से रहित जीवात्मा द्रष्टा-साक्षी हुआ देह को आत्मा से भिन्न देखता है तथा भूत-समूह को भी अपने से पृथक् देखकर अविनाशी आत्मा देहातीत हो जाता है। इस प्रकार आत्मा अपने से ही प्रमाण प्रमेयरूप विकारों से रहित अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेता है। श्रीराम ! जिनका सम्पूर्ण राग विनष्ट हो गया है, जिनके पाप दूर हो गये हैं तथा जो परब्रह्म पद को प्राप्त हो चुके हैं, वे जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष उसी प्रकार के विशिष्ट विज्ञान से युक्त हो इस संसार में विचरण करते हैं। जैसे समुद्र की तरंगें अनेक प्रकार के रत्नों के साथ अनासक्तभाव से व्यवहार करती हैं, उसी प्रकार वासना रहित उत्तम महात्मा लोग भी चित्त की चेष्टाओं के साथ अनासक्त भाव से व्यवहार करते हैं। जैसे समुद्र अपने तट पर पड़े हुए काष्ट समूहों से मलिन नहीं होता, वैसे ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला वह मनुष्य इस संसार में अपने सांसारिक व्यवहारों से मलिन नहीं होता। जैसे समुद्र को गत, आगत, स्वच्छ, चंचल, मलिन और जड़ तरंगों से राग और द्वेष नहीं होता, उसी प्रकार उस तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष को गत, आगत, स्वच्छ, चंचल, मलिन और जड़ भागों से राग-द्वेष नहीं होता; क्योंकि जो अहं, भूत आदि तथा तीनों कालों में उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ दृश्य और दर्शन के सम्बन्धों से दिखायी पड़ती हैं, वह सब केवल मन की कल्पना ही है। इसलिये आत्मसाक्षात्काररूप दृश्य-दर्शन से रहित

सुखानुभूति का अवलम्बन करने से संसार का अभाव हो जाता है, आत्मस्वरूप को आवृत करने वाली दृष्टि का विच्छेद हो जाता है और यथार्थ आत्मानुभव प्रकाशित हो जाता है। उसी का अवलम्बन करने पर तुर्यावस्था प्राप्त हो जाती है और उसी के अवलम्बन से मुक्ति हो जाती है। रघुनन्दन ! जब दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से मुक्त और परम विशुद्ध बुद्धि से युक्त यह स्वरूपदृष्टि होती है, तब दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध के असली तत्त्व को जानकर पुरुष मुक्ति को प्राप्त होता है। मुक्त होने के अनन्तर वहाँ आत्मा का स्वरूप न स्थूल है न अणु, न प्रत्यक्ष है न अप्रत्यक्ष, न चेतन है न जड़, न असत् है न सत्, न अहंरूप है न अन्यस्वरूप, न एक है न अनेक, न समीप है न दूर, न सत्तायुक्त है न असत्तायुक्त, न प्राप्य है न अप्राप्य, न सर्वात्मक है न सर्वव्यापक, न पदार्थ है न अपदार्थ, न पाँचों भूतों का आत्मा है और न पाँचों भूत ही। (तात्पर्य यह है कि वह समस्त विशेषणों और लक्षणों से रहित विशुद्ध आत्मा मन, वाणी और बुद्धि का विषय नहीं है; इसलिये उसे इंद्रता के द्वारा न कहा जा सकता है न समझाया जा सकता है। अतएव उसका यहाँ निषेधमुख से वर्णन किया गया है।) किन्तु मन के साथ चक्षु आदि छहों इन्द्रियों का विषय जो यह दृश्यत्व को प्राप्त जगत् है, वह कुछ भी नहीं है। उससे अतीत जो पद है, वही यथार्थ वस्तु है। जिस प्रकार का यह जगत् है, उस प्रकार के इस जगत् को भलीभाँति जाननेवाले पुरुष के लिये यह समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही है, कहीं भी आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, यह आत्मा ही कठोरता, द्रवता, प्रकाश, स्पन्दन और अवकाश क्रम से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशरूप सम्पूर्ण जगत्-भावों में विद्यमान है। श्रीराम ! पदार्थों की जो-जो सत्ता है, वह चेतन आत्मा के सिवा दूसरी वस्तु नहीं है; इसलिये जो यह कहता है कि 'मैं आत्मा से अतिरिक्त हूँ', उसके इस कथन को उन्मत्त के प्रलाप के समान समझो !

तेतालीसवां सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

अहंकार का एवं परमात्मा के स्वरूप का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जैसे चिन्तामणि के तत्व को जानने

वाले लोग चिन्तामणि को प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही उपर्युक्त विचार-दृष्टि से द्वैतभाव को त्याग कर आत्मा के स्वरूप को जानने वाले महापुरुष विशुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। श्रीराम ! अब मैं तुमसे दूसरी दृष्टि का वर्णन करता हूँ; सुनो ! मैं ही आकाश हूँ, मैं ही आदित्य हूँ, मैं ही दिशाएँ हूँ, मैं ही अधः हूँ, मैं ही ऊर्ध्व हूँ, मैं ही दैत्य हूँ, मैं ही देव हूँ, मैं ही लोक हूँ, मैं ही चन्द्रमा आदि की प्रभा हूँ, मैं ही अन्धकार हूँ, मैं ही मेघ हूँ, मैं ही पृथ्वी हूँ, मैं ही समुद्र आदि हूँ एवं रेणु, वायु, अग्नि और यह सारा जगत् भी मैं ही हूँ। उस सर्वरूप परमात्मा से भिन्न परिच्छिन्न मैं कौन हूँ ? मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। देह आदि भी मुझसे भिन्न क्या हैं ? एक अद्वितीय वस्तु परमात्मा में द्वैत कैसे हो सकता है। कमलनयन निष्पाप श्रीराम ! तुम्हीं बताओ, इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत् के आत्मरूप से स्थित हो जाने पर कौन अपना और कौन पराया रहेगा ? तत्वज्ञ से भिन्न ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो उसे यदि प्राप्त हो जाय तो वह हर्ष और विषाद से ग्रस्त हो ? यदि उसको ऐसी वस्तु के आ जाने से विषाद दिखायी पड़े तो वह तत्वज्ञ ही नहीं है, किंतु मूढ़ ही है; क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मय ही होता है, सच्चिदानन्दमय नहीं।

रघुनन्दन ! दो प्रकार की अहंकार-दृष्टियाँ सात्विक और अत्यन्त निर्मल हैं। उनकी तत्वज्ञान से उत्पत्ति होती है। वे मोक्ष प्रदान करने वाली और परमार्थ स्वरूप हैं। मैं सबसे परे, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और विनाशशील सम्पूर्ण पदार्थों से अतीत हूँ-यह पहली अहंकार-दृष्टि है। निष्पाप श्रीराम ! इन दोनों से भिन्न तीसरी अहंकार दृष्टि यह है-देह मैं हूँ। इस दृष्टि को तुम केवल दुःखदायिनी ही जानो, यह कभी शान्तिदायिनी नहीं होती। अब तुम इन तीनों ही अहंकारों को छोड़कर सबके शेष में रहने वाले अहंभावनाशून्य पूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप का अवलम्बन करके उसी अवलम्बनयोग्य परम तत्व में निरत हुए ही स्थित रहो; क्योंकि इस मिथ्या जगत् में परिपूर्ण और सर्वप्रकाशक आत्मा वास्तव में अखिल प्रपंचस्वरूप से मुक्त और समस्त पदार्थों की सत्ता से अतीत ही है। इसलिये श्रीराम ! तुम अपने ही अनुभव से शीघ्र ही देखो कि तुम सदा-सर्वदा प्रकट सच्चिदानन्दघन परब्रह्मस्वरूप ही हो। आत्मा न तो केवल अनुमान से प्रत्यक्ष होता है और न आप्तवचन तथा शास्त्र आदि के श्रवणमात्र से ही; किंतु वह सदा सर्वदा सब प्रकार से केवल अनुभव से ही प्रत्यक्ष होता है। ये जो कुछ

स्पर्श, आनन्द और ज्ञान आदि पदार्थ हैं, वे सब दृश्य और दर्शन से रहित सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हैं। यह प्रकाशस्वरूप परमात्मा वास्तव में न तो सत् है और न असत् है, न अणु है और न महान् है तथा न सत् और असत् के मध्य में है। यह आत्मा है और यह आत्मा नहीं है-यों जो संज्ञा भेद है, इसकी स्वयं आत्मा ने ही अपने में अपनी सर्वव्यापिनी शक्ति से कल्पना कर रक्खी है। वह प्रकाशमान परमात्मा तीनों कालों में सदा-सर्वदा सब जगह स्थित है तथापि केवल सूक्ष्म और महान् होने के कारण वह अज्ञानी पुरुषों के द्वारा जानने में नहीं आता। जैसे लोक दृष्टि से सारे पदार्थों का अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, उसी प्रकार परमार्थ दृष्टि से सच्चिदानन्दघन परमात्मा भी सर्वत्र विद्यमान है तथा सर्वव्यापी है; वह कहीं एक देश में स्थित है-ऐसी बात नहीं है। सबका यह आत्मा किसी समय भी वास्तव में न तो उत्पन्न होता है न मरता है, न कुछ ग्रहण करता है, न कुछ चाहता है, न मुक्त होता है और न बद्ध होता है। जैसे सर्प में रज्जु की भ्रान्ति दुःख देने वाली ही होती है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न देह आदि अनात्म पदार्थों में आत्म बुद्धिरूप भ्रान्ति केवल दुःख देने वाली ही होती है। यह आत्मा कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि यह अनादि है; और यह विनष्ट भी नहीं होता, क्योंकि यह अजन्मा है। तथा वह आत्मभिन्न वस्तु की कभी अभिलाषा नहीं करता; क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। यह आत्मा दिशा, देश और काल से परिमित न होने के कारण कभी भी बँधता नहीं; और जब बन्धन ही नहीं है, तब मोक्ष कहाँ से होगा। अतएव वास्तव में आत्मा बन्धन-मोक्ष से रहित है। रघुनन्दन ! उपर्युक्त गुणों से युक्त ही यह सबका आत्मा है; किन्तु ये सब लोग शरीर का विनाश होने पर अविचार से मोहित हुए व्यर्थ ही रुदन कर रहे हैं। जैसे गेहूँ आदि को पीसने के लिये निर्मित जल-चक्की आदि यन्त्र के द्वारा गेहूँ आदि का पेषण चालू होने पर पुरुष केवल साक्षीमात्र से उक्त कार्य को करता है, वैसे ही आत्मज्ञानी विद्वान् मुनि को बन्धन और मोक्षरूपी दोनों ही कल्पनाओं से रहित होकर (यन्त्र की ज्यों) देह आदि का व्यवहार करना चाहिये। सम्पूर्ण विषयों में अनासक्ति से संकल्प और कामना का अभाव हो जाने के कारण जो स्वतः ही साधक के मन का विनाश हो जाता है, उसी को आत्मदर्शी तत्वज्ञ महापुरुषों ने 'मोक्ष' नाम से कहा है। श्रीराम ! तुम समस्त कल्पनाओं से रहित अवस्था को

प्राप्त और आसक्ति रहित हो, अतः इस सगर पुत्रों के द्वारा खोदी गयी समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का दीर्घ काल तक पालन करो।

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

मन, अहंकार, वासना और अविद्या के नाश से मुक्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जैसे मरुभूमि में सूर्य की किरणों से जल प्रतीत होता है, वैसे ही अहंता ममता, राग-द्वेष आदि विकारों से युक्त और बिना हुए ही अपने स्वरूप को कायम रखने वाली माया से ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतीत हो रहा है। जैसे बर्फ से भिन्न शुक्लता की कल्पना की जाती है पर वास्तव में बर्फ और शुक्लता में परस्पर पार्थक्य नहीं है, उसी प्रकार चित्त और अहंकार की पृथक कल्पना व्यर्थ ही की जाती है; वास्तव में उनका परस्पर कोई भेद नहीं है। श्रीराम ! मन और अहंकार-इन दोनों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर मन एवं अहंकार दोनों का विनाश हो ही जाता है। इसलिये अन्यान्य इच्छाओं का परित्याग करके अपने वैराग्य और आत्मा-अनात्मा के विवेक से केवल मन का ही विनाश कर देना चाहिये। जैसे वायु वृक्ष में पल्लवों की पंक्ति को चलाता है, वैसे ही प्राणादि वायु देह में अंगों की पंक्तियों को पर्याप्त रूप से चलाता है; किंतु सब पदार्थों को व्याप्त कर लेने वाला अतिसूक्ष्म चेतन आत्मा न तो स्वतः चल है और न किसी से चलायमान होता है। जैसे अचल मेरुपर्वत वायुओं से कम्पित नहीं होता, उसी प्रकार यह चेतन आत्मा भी प्राणादि वायुओं से कम्पित नहीं होता।

रघुनन्दन ! यह मैं आने वाला हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्त्ता हूँ-इस प्रकार की वासना मूढ़ पुरुषों के हृदय में व्यर्थ ही उत्पन्न हुआ करती है, जैसे अज्ञान से मरुभूमि में सूर्य किरणों से मृगतृष्णा उत्पन्न होती है। वास्तव में असत्य होते हुए भी सत्य-सी दिखायी पड़ने वाली यह अविद्यारूपा वासना विषयों की अभिलाषा से युक्त मनरूप मत्त मृग को उसी प्रकार खींचती है, जिस प्रकार जल की अभिलाषा से युक्त मृग को मृगतृष्णा खींचती है; किंतु उस अविद्या रूपा वासना का यथार्थ स्वरूप जान लेने पर उसका विनाश हो जाता है। जैसे 'यह मृगतृष्णा का जल है' इस प्रकार तात्त्विकस्वरूप से जान लेने पर मृगतृष्णा तृषार्त्त मनुष्य को अपनी ओर नहीं खींचती, उसी प्रकार 'यह अविद्या है' इस

प्रकार तत्वतः जान लेने पर अविद्या मन को नहीं खींच सकती। श्रीराम ! जैसे दीपक से अन्धकार नष्ट हो जाता है और प्रकाश आ जाता है, वैसे ही परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से वासना समूल (अविद्या सहित) नष्ट हो जाती है और परमात्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। अविद्या का अस्तित्व किसी प्रकार नहीं है-इस तरह शास्त्र और युक्ति से दृढ़ निश्चय हो जाने पर अविद्या का तत्क्षण विनाश हो जाता है। इस जड़ देह के लिये भोगों से क्या प्रयोजन है-इस प्रकार के निश्चय से युक्त तत्वज्ञ पुरुष इच्छाओं के कारण रूप अपने अज्ञान को विनष्ट कर देता है। जैसे राज्य मिल जाने पर दरिद्र मनुष्य परम शान्ति को पा लेता है, वैसे ही यह तत्वज्ञ पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है। जैसे प्रशान्त समुद्र अपने स्वरूप में सदा अचल स्थित रहता है, उसी प्रकार वह अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूप में ही नित्य अचल स्थित रहता है। जैसे मेरुपर्वत स्थिरता और धीरता को धारण करता है, वैसे ही तत्ववेत्ता पुरुष स्थिरता और धीरता को धारण करता है। वह तत्वज्ञानी महात्मा पुरुष अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूप में ही सदा परम शान्त और परम तृप्त रहता है तथा वह तत्वज्ञ महापुरुष उस सम्पूर्ण भूतों के आत्मस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, सबके नियन्ता, सबके नायक, सर्वाकार और निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप को अपना आत्मा जान लेता है। तत्ववेत्ता पुरुष विषयी पुरुषों के संग और विषयों की आसक्ति से रहित, मान और मानसिक चिन्ताओं से शून्य, परमात्मा में ही रत तथा विज्ञानानन्द से परिपूर्ण और विशुद्ध अन्तःकरण से युक्त होता है। वह आत्मज्ञानी महात्मा कामरूपी कीचड़ से मुक्त, बन्धनस्वरूप आत्मभ्रम से शून्य तथा हर्ष-शोक, राग द्वेषादि द्वन्द्वरूप दोष और भय से रहित होता है। अतएव वह संसार-समुद्र से तर चुका होता है। वह तत्वज्ञ विद्वान् सर्वोत्तम परम शान्ति को, दुर्लभ परम पद को तथा अनावृत्तिरूप परम गति को प्राप्त है। सभी लोग मन, वाणी और कर्म द्वारा इस महापुरुष के आचरणों के अनुकरण की इच्छा करते हैं; पर वह किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता। सभी मनुष्य इसके आनन्द का अनुमोदन करते हैं, पर वह किसी का भी अनुमोदन नहीं करता-उदासीन रहता है। तत्वज्ञ पुरुष न तो त्याग करता है न ग्रहण; न किसी की स्तुति करता है न किसी की निन्दा, न मरता है न जन्म लेता है, न हर्ष करता है और न शोक। वह समस्त आरम्भों, सम्पूर्ण विकारों

और सारी आशा, इच्छा, वासना आदिसे रहित पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है।

श्रीराम ! मनुष्य को न राज्य से, न स्वर्ग से, न चन्द्रमा से, न वसन्त से और न कान्ता के कमनीय संसर्ग से ही वैसे उत्तम सुख-शान्ति प्राप्त होते हैं, जैसे आशा त्याग से क्योंकि आशा का त्याग ही सबसे बढ़-चढ़कर सुख-शान्ति है। जिस परम निर्वाणरूप मोक्ष के लिये तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ तिनके की तरह कुछ भी काम नहीं देतीं, वह आशा के त्याग से ही प्राप्त होता है। जिसके हृदय में आशा अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, सम्पूर्ण त्रिभुवन को तृण के सदृश समझने वाले उस विरक्त पुरुष की उपमा किससे दी जा सकती है ? अर्थात् किसी से नहीं। मेरे लिये यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये-इस प्रकार की इच्छा जिसके चित्त में नहीं होती, उस स्वाधीन चित्तवाले ज्ञानी महात्मा पुरुष की मनुष्य कैसे तुलना कर सकते हैं ? श्रीराम ! तुममें न तो आशाओं का अस्तित्व है और न तुम्हारा आशाओं से किसी तरह का सम्बन्ध ही है। तुम इस जगत् को मिथ्या भ्रममात्र ही समझो; क्योंकि जैसे दौड़ते हुए रथ में लगे पहियों के ऊर्ध्व और नीचे प्रदेश में होने वाला घुमाव नेमी का आश्रय लेने वाले पिपीलिका आदि जीवों के पतन, पेषण आदि अनर्थों का ही कारण होता है, वैसे ही यह जगत् भी उसका आश्रय लेने वाले (इसमें सत्य-बुद्धि रखने वाले) जीवों के जन्म-मरण आदि अनर्थों का ही कारण है।

रघुनन्दन ! यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मस्वरूप ही है, यहाँ नानारूपता है ही नहीं। जगत् को अद्वितीय परमानन्दस्वरूप जानकर धीर महात्मा तनिक भी खिन्न नहीं होते। इन पदार्थों के समूहों का जो यथार्थ-आत्मा से अभिन्न स्वरूप है, उसको जानने से ही पुरुष बुद्धि के परम विश्रामस्वरूप नैराश्य को प्राप्त होता है। जैसे वीर केसरी के पास से मृगी दूर भाग जाती है, उसी प्रकार तीव्र वैराग्य से वीरता को प्राप्त अन्तःकरण से युक्त पुरुष के पास से यह संसार को मोहित करने वाली माया दूर भाग जाती है-फिर उसके पास भी नहीं फटकती। जिस प्रकार वायु पर्वत को न आनन्द दे सकता है, न खेद और न धैर्य से च्युत कर सकता है, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा पुरुष को न तो विषयोपभोग आनन्द पहुँचा सकते हैं, न सांसारिक आपत्तियाँ हृदय में खेद पहुँचा सकती हैं और न दृश्य-सम्पत्तियाँ धैर्य से च्युत कर सकती हैं। जिसके प्रति युवती स्त्रियाँ अनुरक्त हैं, ऐसे उदारबुद्धि तत्वज्ञ महात्मा के अन्तःकरण में कामदेव के बाण छिन्न-भिन्न

होकर धूल के समान हो जाते हैं-उन युवती स्त्रियों का उस पर कोई असर नहीं होता। जो परमात्मा के स्वरूप को जानता है और मन-इन्द्रियों के वश में नहीं है, उस महापुरुष को राग और द्वेष अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। इस प्रकार वह जब राग-द्वेष के द्वारा तनिक सा भी विचलित नहीं किया जा सकता, तब उनके द्वारा उसके आक्रान्त होने की तो बात ही क्या है। जो लता और वनिता में एक-सी दृष्टि रखता है तथा जो पर्वत की तरह अचल है, वह ज्ञानी पुरुष इन तुच्छ विषयभोगों में उसी प्रकार रमण नहीं करता, जैसे बटोही मरुभूमि में रमण नहीं करता। जिसका अन्तःकरण किसी भी भोग पदार्थ में आसक्त नहीं है, वह तत्वज्ञानी महात्मा पुरुष बिना प्रयत्न के अपने-आप प्राप्त अनिषिद्ध भोग-पदार्थों का केवल शरीर रक्षा के लिये अनासक्त भाव से लीलापूर्वक सेवन करता है। काकतालीय न्याय की भाँति अनायास न्याययुक्त प्राप्त ललना आदि भोग-समूह आस्वादित होने पर भी तत्वज्ञ धीर पुरुष को सुख-दुःख नहीं दे सकते, क्योंकि जिसने परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग को भलीभाँति जान लिया है, उस तत्वज्ञ महापुरुष को सुखदुःख तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। इन विनाशशील विषयों को त्याज्य बुद्धि से देखने वाला वह मृदु, दमनशील और सम्पूर्ण चिन्ता आदि ज्वरों से रहित ज्ञानी महापुरुष सब भूतों में अन्तरात्मा स्वरूप से स्थित आत्मपद का ही अवलम्बन कर स्थित रहता है। जैसे ऋतुओं के आने-जाने से पर्वत विचलित नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी महात्मा पुरुष कालानुसार, देशानुसार और क्रमानुसार आपत्तियों और सुख-दुःख के आने पर भी विचलित नहीं होता। शरीर से पृथक आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार करने वाले, नित्यानित्य वस्तु के यथार्थ विवेक से सम्पन्न ज्ञानी के शरीर का छेदन करने पर भी उसका कुछ भी छेदन नहीं होता; क्योंकि वह अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूप परमात्मा का एक बार यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वह सदा ज्ञात ही रहता है, फिर उसका विस्मरण नहीं होता। अपने हृदय की चिज्जडग्रन्थि का उच्छेद हो जाने पर माया के तीनों गुणों के द्वारा आत्मा का पुनः बन्धन उसी प्रकार नहीं हो सकता, जैसे वृक्ष से टूटा हुआ फल किसी के द्वारा पुनः नहीं जोड़ा जा सकता। अविद्या का असली स्वरूप जान लेने के अनन्तर कौन बुद्धिमान पुरुष फिर उसमें डूबता (फँसता) है; क्योंकि सांसारिक वासना विवेकपूर्वक बुद्धि के विचार से निवृत्त हो जाती है।

श्रीराम ! तत्ववेत्ता पुरुष रूप-लावण्ययुक्त कामिनी को भी चित्र में लिखित कान्ता की प्रतिमा की तरह ही समझते हैं; क्योंकि जैसे चित्र में चित्रित कामिनी के केश, ओष्ठ आदि अवयव मषी, कुंकुम आदि रंग-स्वरूप पाँच भूतों को छोड़कर और कुछ भी नहीं होते, उसी प्रकार रूप और लावण्य से युक्त जीवित कामिनी के केश, ओष्ठ आदि भी पाँच भूतों के स्वरूप से अतिरिक्त दूसरे कुछ नहीं हैं। इसलिये कान्ता-प्रतिमा और जीवित कान्ता में तत्वतः समानता है-इस तत्व को जानने वाले विवेकशील विरक्त महात्मा पुरुष का जीवित कान्ता के उपभोग में आग्रह कैसे हो सकता है। जैसे परपुरुष में व्यसन (आसक्ति) रखने वाली नारी, घर के काम-काज में व्यग्र रहने पर भी उसी परपुरुष-सम्बन्ध रूप रसायन का अपने अंदर आस्वाद लेती रहती है, उसी प्रकार व्यवहार करते हुए भी विशुद्ध परब्रह्मतत्व में उत्तम विश्राम को प्राप्त धीर पुरुष उस विज्ञानानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में ही मग्न रहता है; फलतः वह इन्द्रादि देवताओं के द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी विचलित नहीं होता। क्योंकि जिस महात्मा की अविद्या निवृत्त हो गयी है, जिसको परमात्मविषय का अच्छी प्रकार ज्ञान है तथा जो सदाचार से युक्त है, वह महात्मा सुचारु रूप से व्यवहार करता हुआ भी अपने अन्तरात्मा में प्रसन्न रहता है। उसके शरीर का छेदन होने पर भी उसका छेदन नहीं होता, गिरते हुए अश्रुओं से युक्त होता हुआ भी वह रोता नहीं, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता और देह का विनाश होने पर भी उसका विनाश नहीं होता; क्योंकि वह देह से रहित हुआ सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के स्वरूप में नित्य स्थित है। श्रीराम ! वह तत्वज्ञ पुरुष प्रारब्ध भोग के विधान के अनुसार चाहे दरिद्र-अवस्था में रहे या संकटावस्था में, उत्तम नगर महल में रहे या विस्तृत पहाड़ या वन में, वह सदा-सर्वदा सुख-दुःख के उपद्रव से रहित ही होता है।

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

जीवन्मुक्त महात्माओं का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! अपने राज्य के व्यवहार में तत्पर होते हुए भी राजा जनक सम्पूर्ण चिन्तारूप ज्वर से अन्तःकरण की व्याकुलता से

रहित होकर ही सदा-सर्वदा स्थित रहते हैं। आपके पितामह महाराज दिलीप ने अनेक तरह के उचित सांसारिक कर्मों को सुचारु रूप से करते हुए भी आसक्ति से रहित होकर ही दीर्घकाल तक पृथ्वी का पालन किया। तथा राग आदि दोषों से रहित होने के कारण आत्मज्ञान को प्राप्त तथा सदा जीवन्मुक्त-स्वरूप महाराज मनु ने चिरकाल तक प्रजाओं का संरक्षण करते हुए राज्य का पालन किया। विचित्र सैन्य और बाहुबल के प्रयोग से युक्त युद्धों तथा अनेक व्यवहारों को निष्काम भाव से दीर्घकाल तक करते हुए महाराज मान्धाता परम पद को प्राप्त हुए। पाताल के राज्यसिंहासन पर आसीन, सदा त्यागी, सदा अनासक्त राजा बलि यथार्थरूप से व्यवहार को करते हुए भी जीवन्मुक्त रूप से स्थित हैं। दानवों के अधिपति नमुचि देवताओं के साथ युद्ध करते हुए तथा सदा नाना प्रकार के व्यवहार एवं विचार-विमर्शों में तत्पर होते हुए भी भीतर से संतप्त (खिन्न) नहीं होते थे। इन्द्र के युद्ध में अपने शरीर का परित्याग करने वाले विशाल-हृदय मानी वृत्रासुर ने प्रशान्त मन होकर ही देवताओं के साथ युद्ध किया। पातालतल का परिपालन करते समय दानवोचित्त कर्मों का अनासक्त भाव से अनुष्ठान करते हुए भक्तप्रवर प्रहलाद अविनाशी अनिवर्चनीय परमानन्दस्वरूप परमपद को प्राप्त हुए। समस्त देवताओं के मुखस्वरूप अग्नि क्रियासमूह में तत्पर होते हुए यज्ञिय शोभा का चिरकाल तक उपभोग करते हैं तथापि वे मुक्त होकर ही इस त्रिभुवन में निवास करते हैं। जगत् के प्राणि समूहों के अंगों का चिरकाल से संचरण कराते हुए भी वायु, जो सदा-सर्वदा सर्वत्र संचरण करने वाले हैं, मुक्त ही स्थित हैं। ज्ञानरूप रत्नों का एकमात्र समुद्र, तीक्ष्णबुद्धि, वीरवर स्वामी कार्तिकेय ने मुक्त होते हुए भी तारकादि असुरों से युद्ध किया। महामुनि नारद मुक्त स्वभाव होते हुए भी इस जगत् में कार्यशील और शान्त बुद्धि से विचरण किया करते हैं। जीवन्मुक्त होकर ही अनासक्त भाव से सहस्त्रमुख नागराज शेष पृथ्वी को धारण करते हैं, सूर्य दिवस-परम्पराओं का निर्माण करते हैं और यमराज धर्माधर्म-विचारपूर्वक लोगों का नियमन करते हैं। इन पूर्वोक्त महानुभावों के सिवा दूसरे भी सैकड़ों महात्मा यक्ष, राक्षस, मनुष्य और देवता इस त्रिभुवन में मुक्त स्वरूप हुए ही संसार में अनासक्त भाव से विचरण करते हैं। विचित्र आचार-व्यवहारों में स्थित कितने ही पुरुष भीतर शान्ति से युक्त हैं, जबकि कुछ तामसी मूढ़ पुरुष तो मोह में

मग्न हुए पत्थर के सदृश बने रहते हैं। कुछ महात्माओं ने परम ज्ञान का सम्पादन करके तपोवन का आश्रय लिया, जैसे–भृगु, भरद्वाज, विश्वामित्र, शुक आदि। कुछ महात्मा परमज्ञान प्राप्त कर राज्यों में ही छत्र, चवँर धारण किये रहते हैं–जैसे जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि। कुछ तत्वज्ञ आकाश में ग्रह, नक्षत्र आदि के आधारभूत ज्योतिश्चक्र के मध्य में स्थित हैं–जैसे बृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि। तिर्यक् योनियों में भी सदा से कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं और देवयोनियों में भी मूर्खबुद्धि वाले लोग विद्यमान हैं। जिसका अत्यन्त व्यापक स्वरूप है, उस सर्वस्वरूप परमात्मा में सब कुछ सर्वभाव से सर्वत्र सब प्रकार से सदा ही सम्भव है।

श्रीराम ! मुक्ति हो जाने पर फिर इस संसार में किसी प्रकार जन्म की प्राप्ति सम्भव नहीं। किंतु करोड़ों मनुष्य आत्मा के ज्ञान का अभाव होने से ही अज्ञान में निमग्न रहते हैं। रघुकुलतिलक ! मुक्ति होने पर इस संसार में विज्ञानानन्दघन परमात्मा की प्राप्ति सदा ही बनी रहती है, इसलिये आत्मा–अनात्मा के यथार्थ विवेक–विज्ञान को प्राप्त करके करोड़ों मनुष्य विमुक्त हो चुके हैं। ज्ञान से मुक्ति सुलभ है और अज्ञान से दुर्लभ। अतः जिसको मुक्ति की अभिलाषा हो, उसे आत्मज्ञान के लिये प्रयत्न करना चाहिये। आत्मज्ञान से सम्पूर्ण दुःखों का सर्वथा विनाश हो जाता है। इस वर्तमान काल में भी रागशून्य, भयरहित महाबुद्धिमान् राजा सुहोत्र और जनक आदि के समान अनेक जीवन्मुक्त महापुरुष विद्यमान हैं। इसलिये श्रीराम ! तुम भी ज्ञान–वैराग्य से उत्पन्न धीरबुद्धि से युक्त, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण में समदृष्टि तथा जीवन्मुक्त हुए विचरण करो।

रघुनन्दन ! इस लोक में देहधारी जीवों को दो प्रकार की मुक्ति होती है–एक तो सदेह–मुक्ति और दूसरी विदेह–मुक्ति। अब तुम इनका विभाग सुनो। निष्पाप श्रीराम ! पदार्थों (विषयों) के असंग से जो मन की शान्ति होती है, वही विमुक्तता है। वह विमुक्तता देह के रहते हुए और देहावसान होने पर भी होती है। जो विद्वान् विषय–स्नेह से रहित होकर जीता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है एवं जो विषय–स्नेह से युक्त होकर जीता है, वह बद्ध कहलाता है। इन दोनों से भिन्न तीसरा जो देहत्याग के पश्चात् ब्रह्म में विलीन हो जाता है, वह विदेही तो मुक्त है ही। इसलिये मनुष्य को मोक्ष के लिये युक्ति और प्रयत्न

पूर्वक साधन करना चाहिये। युक्ति और प्रयत्न बिना तो गाय का खुर टिके, इतनी भूमि भी नहीं लाँघी जा सकती।

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैतालीसवाँ सर्ग

जीवन्मुक्त महात्माओं के गुण, लक्षण और महिमा

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन ! यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, अविवेक से स्थिरता को प्राप्त होता है और परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से निश्चय ही प्रशान्त हो जाता है; क्योंकि परमात्मा का यथार्थ ज्ञान न होना ही संसार की स्थिति में कारण है और परमात्मा का यथार्थ ज्ञान ही उस संसार के विनाश में कारण है। यह संसार–सागर ऐसा घोर है कि इससे पार हो जाना अत्यन्त दुष्कर है; युक्ति और प्रयत्न के बिना इसका तरण नहीं किया जा सकता। यह संसाररूपी सागर है। इसमें मुग्ध अंगनारूपी विस्तृत तरंगें हैं। ये स्त्रीरूपी तरंगें ओठों की शोभारूप पद्मराग मणियों से युक्त, नेत्ररूपी नील–कमलों से परिपूर्ण, स्मितरूपी फेनों से सुशोभित, दाँतरूपी प्रफुल्लित पुष्पों से अलंकृत, केशरूपी इन्द्र नीलमणियों से सुसज्जित, भौहों के विलासरूपी वायु से आन्दोलित, नितम्बरूपी पुलिनों से युक्त, कण्ठरूपी शंखों से विभूषित, ललाटरूपी मणि समूहों से सुशोभित, विलासरूपी ग्राहों से संकुल, कटाक्षों की चपलता के कारण अति गहन तथा देहकान्तिरूपी सुवर्ण–बालुका से युक्त हैं। इस प्रकार की अति चंचल लहरियों के कारण जो अत्यन्त भयंकर है–ऐसे सागर में निमग्न हुआ पुरुष यदि पार हो जाय तो वह परम पुरुषार्थ ही है। शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिरूपी बड़ी नौका और विचारपूर्वक विवेकरूपी नाविक के रहते हुए भी जो मनुष्य इस संसार–सागर से पार नहीं हुआ, उस पुरुष को धिक्कार है। श्रीराम ! जो मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषों के साथ परब्रह्म का विचार करके तथा बुद्धि से संसार–सागर का तत्व समझकर जगत् में विचरण करता है, वही वास्तविक शोभा पाता है। इस संसार में तुम धन्य हो, जो इस बाल–अवस्था में ही विवेकयुक्त बुद्धि से इस संसार के विषय में विचार करते हो। जिसने तत्व को जान लिया है, उस पुरुष के बल, बुद्धि और तेज उसी प्रकार बढ़ते हैं, जिस प्रकार बसंत ऋतु में वृक्षों के सौन्दर्य आदि गुण बढ़ते हैं। रघुनन्दन ! तुम जानने योग्य वस्तु को जानते

त्रि। इस कारण इस समय तुम चिन्मय घनीभूत आनन्दामृत रसायन से परिपूर्ण, सुशीतल (त्रिविध तापों से रहित), विशुद्ध और सम शोभा से पूर्ण चन्द्रमा की तरह अत्यन्त सुशोभित हो रहे हो।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा-मुनिवर ! जिसने ब्रह्मतत्वरूप चमत्कार का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे तत्वज्ञानी पुरुष का उदार चरित्र आप मुझसे साररूप में कहिये; क्योंकि आपके वचनों से तृप्ति किसको हो सकती है।

श्रीवसिष्ठजी बोले-महाबाहु श्रीराम ! अनेक बार मैंने तुमसे जीवन्मुक्त के लक्षण कहे हैं, फिर भी मैं तुमसे कह रहा हूँ; जिसकी समस्त अभिलाषाएँ निकल गयी हैं, ऐसा आत्मवान् (तत्ववेत्ता) पुरुष उपरत हुआ ही इस दृश्यमान अखिल जगत् को सर्वत्र सदा असत्-सा देखता है। जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसका मन विक्षेप रहित-शान्तियुक्त हो गया है, वह कैवल्य को प्राप्त महापुरुष आनन्द में मग्न हुआ रहता है। शान्त बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी महात्मा अन्तरात्मा में लीन दृष्टि से जनता के व्यवहारों को यन्त्रनिर्मित कठपुतली के खेल के समान देखता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष न भविष्य की परवा करता है, न वर्तमान में किसी पदार्थ में तन्मय होता है, न भूतकालीन वस्तु का स्मरण करता है और सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप रहता है। तत्त्वज्ञानी सोता हुआ भी आत्मज्ञान में जागता रहता है और जागता हुआ भी संसार से निःस्पृह तथा उपरत रहता है। वह सब कुछ करता हुआ भी कर्तापन के अभियान से रहित होने के कारण कुछ भी नहीं करता। सम्पूर्ण संसार की आसक्ति से शून्य और सदा-सर्वदा सम्पूर्ण कामनाओं रहित तत्त्ववेत्ता महात्मा सब कार्यों को करता हुआ भी समभाव से स्थित रहता है। वह तत्त्वज्ञ पुरुष उदासीन मनुष्य की तरह स्थित रहता है। वह प्रारब्धानुसार प्राप्त हुई क्रियाओं में न इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न प्रसन्न होता है। तत्त्वज्ञ महात्मा जब अपने मुख से वाणी को प्रवृत्त करता है, तब पवित्र कथाओं को ही कहता है। उसका अन्तःकरण दीनता से रहित रहता है। वह धीर बुद्धिवाला, प्रत्यक्ष आनन्द में मग्न तथा दक्ष होता है और लोक में उसके पुण्य चरित्रों का वर्णन होता है। तत्त्वज्ञ उदार-चरित एवं उदार आकार से युक्त, सम, सौम्य, सुख का समुद्र एवं सुस्निग्ध होता है; उसका स्पर्श शान्तिमय होता है और वह पूर्णचन्द्र की तरह नित्य उदित रहता है। उसका न आवश्यक

कर्मों तथा ऐहिक ओर आमुष्मिक फल के हेतुरूप कर्मों के आरम्भ से न कर्मों के अभाव से, न बन्धन से न मोक्ष से न पाताल से और न स्वर्ग ही प्रयोजन होता है; क्योंकि सम्यक-ज्ञानरूपी अग्नि से जिसके संदेहरूपी जाल विनष्ट हो गये हैं, उस तत्त्वज्ञ महात्मा ने समस्त जगत् की स्वरूपभूत अद्वितीय परमात्मरूप यथार्थ वस्तु को भली प्रकार जान लिया है।

जिसका अन्तःकरण भ्रान्ति से रहित होकर समतारूप ब्रह्म के स्वरूप में स्थित हो गया हो, वह आकाश की तरह सभी दृष्टियों में न मरता है और न जन्मता है। देश और काल के अनुसार प्राप्त हुई क्रियाओं में स्थित हुआ भी कर्मों से जनित सुख और दुःख की प्राप्ति में तनिक भी विकारवान् नहीं होता। वह प्राप्त हुई दुःखावस्था की उपेक्षा नहीं करता और न सुखावस्था की परवाह ही करता है। न कार्यों के सफल होने पर हर्षित होता है और न कार्यों के विनष्ट होने पर खिन्न होता है। यदि सूर्य शीतल हो जाय, चन्द्रमा तपने लग जाय, अग्नि अधोमुख होकर जलने लगे, तो भी तत्वज्ञानी महात्मा को आश्चर्य नहीं होता; क्योंकि तत्ववित् पुरुष यह जानता है कि चिन्मय परब्रह्म परमात्मा की ये असीम मायाशक्तियाँ इसप्रकार प्रस्फुरित हो रहीं हैं। इसलिये आश्चर्य-समूहों के होने पर भी उसको आश्चर्य नहीं होता। वह कभी भी दीनता युक्त नहीं होता, न कभी उद्दण्ड होता है तथा न कभी उन्मत्त, खिन्न, उद्विग्न और हर्षयुक्त ही होता है। अर्थात इन सब विकारों का उसमें अत्यन्त अभाव होता है। उस परमात्म प्राप्त पुरुष के आकाश की तरह अत्यन्त निर्मल, विशाल चित्त में कोप आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। सुख-दुःख दोनों के क्षीण हो जाने से उसके लिये हेय और उपादेय तथा शुभ और अशुभ का भी विनाश हो जाता है; ऐसी स्थिति में अनुकूल और प्रतिकूल कैसे रह सकते हैं। श्रीराम ! तिलों के भस्म हो जाने पर तेल की कल्पना ही कैसे हो सकती है। इसी प्रकार मूल सहित मनके विनष्ट हो जानेपर संकलप की चर्चा ही क्या है। रघुनन्दन ! परमात्मा से पृथक् कोई भी पदार्थ नहीं है, इस प्रकार की दृढ़ भावना के कारण समस्त दृश्य पदार्थों के संकल्प-विकल्प का अभाव करके सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित ज्ञानी महात्मा नित्यतृप्त तथा अपने निरतिशयानन्दन स्वरूप से आनन्दवान् होकर स्थित रहता है।

सैतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

योग की सिद्धि के अनेक उपाय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! जैसे रात्रि में जलती हुई लुकाठी को गोल घुमाने से अग्निमय चक्र असत् होते हुए भी सत्–सा दिखायी पड़ता है, वैसे ही चित्त के संकल्प से असत् जगत् सत्–सा दिखायी पड़ता है। जैसे जल के चारों ओर घूमने से जल से पृथक गोल–नाभि के आकार का आवर्त (भँवर) दिखायी पड़ता है, वैसे ही चित्त के संकल्प–विकल्प से जगत् दिखायी पड़ता है। जैसे आकाश में नेत्रों के दोष से असत् मोर के पंख और मोती के समूह सत्य–से दिखायी पड़ते हैं, वैसे ही चित्त के संकल्प से असत् जगत् सत्य–सा दिखायी पड़ता है। रघुनन्दन ! जैसे शुक्लत्व और हिम, जैसे तिल और तेल, जैसे पुष्प और सुगंध तथा जैसे अग्नि और उष्णता एकदूसरे से मिले हुए और अभिन्नरूप हैं, वैसे ही चित्त और संकल्प एक दूसरे से मिले हुए और अभिन्न रूप हैं। उनके भेद की केवल मिथ्या कल्पना की गयी है। चित्त के विनाश के लिये दो उपाय शास्त्रों में दिखलाये गये हैं–एक योग और दूसरा ज्ञान। चित्तवृत्ति का निरोध योग है और परमात्मा का यथार्थ अपरोक्ष साक्षात्कार ही ज्ञान है।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! प्राण और अपान के निरोधरूप योग नाम की किस युक्ति से और कब मन अनन्त सुख को देने वाली परमशान्ति को प्राप्त करता है ?

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा–श्रीराम ! जैसे जल पृथ्वी में चारों ओर से प्रवेश करके व्याप्त होता है, वैसे ही इस देह में विद्यमान असंख्य नाड़ियों में चारों ओर से जो वायु प्रवेश करके व्याप्त होता है, वह प्राणवायु है। स्पन्दन के कारण भीतर क्रिया के वैचित्र्य को प्राप्त हुए उसी प्राणवायु के अपान आदि नामों की योगी–विवेकी पुरुषों ने कल्पना की है। जैसे सुगन्ध का पुष्प तथा जैसे शुक्लता का हिम आधार है, वैसे ही चित्त का यह प्राण आधार है। प्राण के स्पन्दन से चित्त का स्पन्दन होता है और चित्त के स्पन्दन से ही पदार्थों की अनुभूतियाँ होती हैं, जिस प्रकार जल के स्पन्दन से चक्र की तरह गोल आकार की रचना करने वाली लहरें उत्पन्न होती हैं। चित्त का स्पन्दन प्राण–स्पन्दन के अधीन है। अतः प्राण का निरोध करने पर मन अवश्य उपशान्त (निरुद्ध) हो जाता है–यह बात वेद–शास्त्रों को जानने वाले विद्वान् कहते हैं। मन के संकल्प का अभाव हो

जाने पर यह संसार विलीन हो जाता है।

श्रीरामजी ने पूछा–महाराज ! देहरूपी घर में स्थित हृदयादि स्थानों में विद्यमान नाड़ीरूपी छिद्रों में निरन्तर संचरण करने वाले तथा मुख, नासिका आदि छिद्रों में निरन्तर गमनागमनशील प्राण आदि वायुओं का स्पन्दन कैसे रोका जा सकता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! शास्त्रों के अध्ययन, सत्पुरुषों के संग, वैराग्य और अभ्यास से सांसारिक दृश्य पदार्थों में सत्ता का अभाव समझ लेने पर चिरकाल पर्यन्त एकतानतापूर्वक अपने इष्टदेव के ध्यान से और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में स्थिति के लिये तीव्र अभ्यास से प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। सुखपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक आदि प्राणायामों के दृढ़ अभ्यास से तथा एकान्त ध्यानयोग से प्राणवायु निरुद्ध हो जाता है। ॐकार का उच्चारण और ॐकार के अर्थ का चिन्तन करने से बाह्य विषयों के ज्ञान का अभाव हो जाने पर प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। रेचक प्राणायाम का दृढ़ अभ्यास करने से विशाल प्राणवायु के बाह्य आकाश में स्थित हो जाने पर नासिका के छिद्रों को जब प्राणवायु स्पर्श नहीं करता, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। इसी का नाम बाह्यकुम्भक प्राणायाम है। पूरक का दृढ़ अभ्यास करते–करते पर्वत पर मेघों की तरह हृदय में प्राणों के स्थित हो जाने पर जब प्राणों का संचार शान्त हो जाता है, तब प्राण–स्पन्दन रुक जाता है। इसी का नाम आभ्यन्तरकुम्भक प्राणायाम है। कुम्भ की तरह कुम्भक प्राणायाम के अनन्तकाल तक स्थिर होने पर और अभ्यास के प्राण का निश्चल स्तम्भन हो जाने पर प्राणवायु के स्पन्दन का निरोध हो जाता है। इसी का नाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है। जिव्हा के द्वारा तालु के मध्यभाग में रहने वाली घण्टिका को प्रयत्नपूर्वक स्पर्श करने से जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्र में (ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् कपाल–कुहर में, जो सुषुम्णा के ऊपरी भाग का द्वार कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। समस्त संकल्प–विकल्पों से रहित होने पर कोई भी नाम–रूप नहीं रहता, तब अत्यन्त सूक्ष्म चिन्मय आकाशरूप परमात्मा के ध्यान से बाह्याभ्यन्तर सारे विषयों के विलीन हो जाने पर प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। नासिका के अग्रभाग से लेकर बारह अंगुल पर्यन्त निर्मल आकाश भाग में नेत्रों की

लक्ष्यभूत संवित्दृष्टि (वृत्तिज्ञान) के शान्त हो जाने पर अर्थात् नेत्र और मन की वृत्ति को रोकने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

अभ्यास से यानी योगशास्त्रों में प्रदर्शित पवन-निरोध के अभ्यास से ऊर्ध्वरन्ध्र के द्वारा (सुषुम्णामार्ग से) तालु के ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राणवायु जब विलीन हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। भृकुटी के मध्य में चक्षु-इन्द्रिय की वृत्ति के शान्त होने से आज्ञाचक्र में प्राणों के विलीन हो जाने पर जब चिन्मय परमात्मा का अनुभव हो जाता है, तब प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है। ईश्वर के अनुग्रह से तुरंत उत्पन्न हुए दृढ़ीभूत तथा समस्त विकल्पांशों से रहित परमात्मज्ञान के हो जाने पर प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। मननशील श्रीराम जी ! हृदय में स्थित एकमात्र चिन्मय आकाशस्वरूपपरमात्मा के ज्ञान से, विषयवासना के अभाव से और मन के द्वारा परमात्मा का निरन्तर ध्यान करने से प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-ब्रह्मन् ! इस जगत् में प्राणियों के उस हृदय का स्वरूप क्या है, जिसमें यह सब दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह स्फुरित होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! इस जगत् में प्राणियों के दो प्रकार के हृदय हैं-एक उपादेय और दूसरा हेय। अब तुम इनका विभाग सुनो। इयत्तारूप से परिच्छिन्न इस देह में वक्षःस्थल के भीतर शरीर के एक देश में स्थित जो हृदय है, उसे तुम हेय हृदय जानो। चेतनमात्रस्वरूप से स्थित हृदय (परमात्मा) को उपादेय कहा गया है। वह परमात्मा सबके भीतर और बाहर है और भीतर एवं बाहर नहीं भी है। अर्थात् संसार के प्रतीतिकाल में तो परमात्मा भीतर और बाहर सब जगह परिपूर्ण है और वास्तव में वह संसार के भीतर बाहर नहीं है; क्योंकि संसार का अत्यन्त अभाव है। अतः परमात्मा ही अपने आप में नित्य स्थित है। वह उपादेय परमात्मा ही प्रधान हृदय है। उसी में यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थों का दर्पण है अर्थात् उसी में यह संसार दर्पण में प्रतिबिम्ब की ज्यों संकल्परूप से स्थित है और वही सम्पूर्ण सम्पत्तियों का कोष है। श्रीराम ! चेतन परमात्मा ही सभी प्राणियों का हृदय कहा जाता है। जड़ और जीर्ण पत्थर के सदृश देह के अवयव का मांस-खण्डरूप एक अंश वास्तविक हृदय नहीं है। इसलिये चेतनस्वरूप विशुद्ध हृदय-परमात्मा में वासनाओं से रहित होकर बलपूर्वक चित्त को लगाने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध

हो जाता है। इन पूर्वोक्त उपायों से तथा अन्यान्य अनेक तत्त्वज्ञ आचार्यों के मुख से उपदिष्ट नाना संकल्पों से कल्पित उपायों से प्राणस्पन्द निरुद्ध हो जाता है। ये पूर्वोक्त योगविषयक युक्तियाँ अभ्यास के द्वारा ही श्रेष्ठ साधक के लिये संसार का उच्छेदन करने में बाधारहित उपाय हैं। भ्रू, नासिका, तालुसंस्थान तथा कण्ठाग्र-प्रदेश से लेकर बारह अंगुल परिमित प्रदेश में अभ्यास से प्राण लीन हो जाता है अर्थात् प्राणों का निरोध हो जाता है। अभ्यास से ही पुरुष आत्माराम, वीतशोक तथा परमात्मा की प्राप्तिरूप भीतरी सुख से पूर्ण होता है। उस परमपदरूप परमात्मा में यह समस्त जगत् विद्यमान है; उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत् का स्वरूपभूत है और वह इस जगत् के चारों ओर विद्यमान है। किंतु वास्तव में उसमें न तो यह दृश्यमान समस्त जगत विद्यमान है, न यह उससे उत्पन्न हुआ है और न जगत् उसका स्वरूप ही है। वास्तव में इस प्रकार का जगत् है ही नहीं, प्रत्युत वह परमात्मा स्वयं ही अपने आप में स्थित है। श्रीराम ! जो महाबुद्धिमान् ज्ञानी महात्मा पुरुष सारी सीमाओं के अन्तरूप उस परमपद का अवलम्बन करके स्थित रहता है, वह स्थितप्रज्ञ, तत्त्ववेत्ता, जीवन्मुक्त कहलाता है। जिस महात्मा की समस्त कामोपभोग की इच्छाएँ निवृत्त होगयी हैं, जिसका सम्पूर्ण पदार्थों में अनुकूलता और प्रतिकूलता रूप संकल्प निवृत्त हो गया है तथा जिसका अन्तःकरण समस्त व्यवहारों में हर्ष और विषाद से रहित तथा सम हो गया है एवं जिसका मन शान्त हो चुका है, वह महात्मा सब पुरुषों में श्रेष्ठ है।

अढ़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनन्चासवाँ सर्ग

ब्रह्मविचार से परमात्मा की प्राप्ति

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा-भगवन् ! उपर्युक्त दो उपायों में से आपने योगयुक्त पुरुष के चित्त-विनाश का ही निरूपण किया है। अब आप अनुग्रह करके मुझसे यथार्थ ज्ञान का सम्यक् प्रकार से निरूपण कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले-श्रीराम ! इस जगत् में आदि और अन्त से रहित प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही है-इस प्रकार का जो दृढ़ निश्चय है, उसी निश्चय को ज्ञानी महात्मागण सम्यक्ज्ञान यानी परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कहते

हैं। ये जो घट-पट आदि आकारों से युक्त पदार्थों के सैकड़ों समूह हैं, वे सब परमात्मस्वरूप ही हैं; उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है-इस प्रकार का दृढ़ निश्चय ही परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है। परमात्मा का यथार्थ ज्ञान न होने से जन्म होता है और परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष होता है। रज्जु का यथार्थ ज्ञान न होने से रज्जु सर्परूप प्रतीत होती है और उसका यथार्थ ज्ञान होने से रज्जु सर्परूप नहीं प्रतीत होती यानी रज्जु रज्जुरूप ही दिखायी पड़ती है। इस मुक्ति में संकल्प से सर्वथा रहित, समस्त विषयों से रहित केवल चिन्मय परमात्मा ही सच्चिदानन्दरूप से विराजमान रहता है; उससे अन्य कुछ भी नहीं रहता। इन तीनों लोकों में यथार्थ आत्मदर्शन इतना ही है कि यह सब जगत् परमात्मा ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णता को प्राप्त हो जाय। उस परमात्मा से भिन्न न तो दृश्य जड़ जगत् है और न मन है। ब्रह्म ही यह दृश्य रूप बनकर चेष्टा कर रहा है। समस्त ब्रह्माण्ड एक चिन्मय आकाशरूप विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही है; अतः क्या मोक्ष है और क्या बन्धन है ? जितने बड़े-से-बड़े पदार्थ हैं, उन सबसे भी ब्रह्म महान् है। जैसे काष्ठ, पाषाण और वस्त्र आदि सब कुछ पृथ्वी ही है-इस प्रकार का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर उनमें तनिक भी भेद नहीं रह जाता, वैसे ही परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर परमात्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती। रघुनन्दन ! आदि और अन्त में जो अविनाशी, पूर्ण, शान्तस्वरूप है, वास्तव में वही सच्चिदानन्दघन परमात्मा है। जो महात्मा उस विशुद्ध परमात्मा का अनुभव करके अन्तःस्थ बुद्धि से सदा-सर्वदा स्थित रहता है, वह तत्त्वज्ञानी आत्माराम पुरुष भोगों के द्वारा बन्धन में नहीं पड़ता। जैसे मन्द पवन पर्वत का भेदन नहीं कर सकते, वैसे ही जिस ज्ञानी ने प्रकाशमान परमात्मा का पूर्णरूप से अनुभव कर लिया है, उस तत्त्वज्ञ के अन्तःकरण को काम आदि शत्रु तनिक भी भेदन (विचलित) नहीं कर सकते। जैसे जल से बाहर निकली हुई मछली को बगुले निगल जाते हैं, वैसे ही इस संसार में आशाओं में निरत, मूढ़, अज्ञानी और अविचारी पुरुष को दुःख निगल जाते हैं। श्रीराम ! जैसे अनेक प्रकार के सरोवरों में जल, फेन आदि जल से पृथक् नहीं हैं, वैसे ही दृश्य जगत् ब्रह्म से पृथक नहीं है। केवल कल्पनाओं में ही नानात्व है, वास्तव में नानात्व नहीं है-इस प्रकार विवेकपूर्वक भलीभाँति अर्थ को जान लेने वाला एक निश्चय युक्त ज्ञानी पुरुष विमुक्त कहा जाता है।

श्रीराम ! अपने हृदय में ब्रह्मविषयक विचार करने वाले विवेकी वीतराग पुरुष की सर्वदा सम्मुखस्थित सांसारिक भोगों में भी रुचि उत्पन्न ही नहीं होती। अधम नेत्र ! स्त्री, पुत्र आदि के सौन्दर्यस्वरूप रूपात्मक कीचड़ का तुम आस्वादन मत क़रो। यह रूप क्षण में ही विनष्ट हो जाने वाला है और तुम्हें विनष्ट कर देने वाला है। नेत्र ! जो उत्पत्ति-विनाशशील है और जो केवल देखने मात्र में ही रमणीय प्रतीत होता है, ऐसे मिथ्या रूपसौन्दर्य का तुम उस अवश्यम्भावी मृत्यु के मुख में प्रवेश करने के लिये आश्रय मत लो। जैसे वास्तव में परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध रूप, प्रकाश और मन एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। जैसे दो काठ लाह के द्वारा एक दूसरे से संश्लिष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये रूप, आलोक और संकल्प आदि मनन चित्त की कल्पना से एक दूसरे से संश्लिष्ट हो जाते हैं। अपने चित्त का संकल्प-विकल्पात्मक तन्तु विवेकशील बुद्धि के द्वारा यत्नपूर्वक किये गये विवेक-विचाररूप अभ्यास से विनष्ट हो जाता है। फिर उस तन्तु के नष्ट हो जानेपर स्वभावतः ही अज्ञान-भावना प्रवृत्त नहीं होती। अज्ञान के विनाश से क्षीण हुए मन में फिर ये रूप, आलोक और मनन-कोई भी एक दूसरे से संघटित नहीं होते। चित्त ! तुम मिथ्या ही उछल-कूद मचाते हो। मैंने तुम्हारे उच्छेद के लिये उपाय ढूँढ निकाला है। तुम आदि और अन्त दोनों में नितान्त तुच्छ (क्षणभंगुर) हो, इस लिये वर्तमान काल में भी विनष्ट ही हो। तुम इन्द्रियों से सम्बद्ध शब्द आदि पाँच विषयों के द्वारा अपने भीतर क्यों वृथा उछल रहे हो ? जो मनुष्य तुम्हें अपना मानता है, उसी के सामने तुम उछल-कूद से मुझे तनिक भी प्रसन्नता नहीं होती। तुम रहो चाहे जाओ, तुम न तो मेरे हो और न तुम जीते हो। विचार करने पर अपने मिथ्या स्वभाव से तुम सदा मृतक ही हो। तुम साररहित जड़, भ्रान्त और शठ हो। तुम्हारा आकार अत्यन्त विनाशशील है। अज्ञानस्वरूप तुम्हारे द्वारा अज्ञानी पुरुष को ही बाधा पहुँच सकती है, विचारवान् विवेकी पुरुष को नहीं।

जगत्रूपी चित्त-वेताल ! शठरूप तुम पहले ही नहीं थे, वर्तमान काल में भी नहीं हो और आगे भी नहीं रहोगे। इस प्रकार तुम्हारी तीनों कालों में सत्ता नहीं है। बिना हुए ही तुम कायम हो। तुम्हें क्या लज्जा नहीं आती ? चित्तरूपी वेताल ! तृष्णारूपी पिशाचिनियों तथा क्रोध आदि गुह्यकों के साथ तुम मेरे

शरीररूपी घर से बाहर निकल जाओ। बड़े आश्चर्य की बात है कि महान् जड़ एवं क्षणभंगुर शठ मन ने इस समस्त जनसमूह को विवश कर रक्खा है। अज्ञानी दीन चित्त ! मैं आज तुमको मारता नहीं हूँ; क्योंकि तुम पहले से ही मर चुके हो, यह मैंने जान लिया है। चित्त मरा हुआ है; अतः उसका अस्तित्व ही नहीं है-यह मैंने आज जान लिया। इसलिये मैं चित्त के आश्रय का परित्याग करके केवल अपने आत्मा में ही स्थित हूँ। मन को देहरूपी घर से क्षणभर में निकाल कर मैं इस वेतालरूप मन से रहित हो भीतर से स्वस्थ हुआ स्थित हूँ। भाग्यवश बहुत काल के अनन्तर अब मैंने विचाररूपी तलवार से पीड़ित कर चित्तरूपी वेताल को, जो ताल वृक्ष के सदृश ऊँचाई से युक्त है, हृदय-मन्दिर से हटा दिया है। चित्तरूपी वेताल के शान्त हो जाने और पवित्र पदवी को प्राप्त कर लेने पर अब उत्तम भाग्य से शरीररूपी नगर में केवल मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। विवेक-विचाररूपी मन्त्र से मन, चिन्ता और अहंकाररूपी राक्षस का विनाश हो गया। अब समस्त विषमताओं से रहित मैं केवल अपने स्वरूप में ही स्थित हूँ। एक, कृतकृत्य, नित्य, विशुद्ध स्वरूप तथा निर्विकल्प सच्चिदानन्दघन परमात्मरूप तुमको बार-बार नमस्कार है। विकारशून्य, नित्य, अंशरहित, सर्वस्वरूप तथा सर्वकालात्मक परमात्मस्वरूप मुझको बार-बार नमस्कार है। नाम और रूप से रहित, प्रकाशरूप, स्वयं अपने आप में ही स्थित अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परमात्मस्वरूप मुझको ही बार-बार नमस्कार है। मननरहित,सम, अत्यन्त सुन्दर,समस्त विश्व का अविर्भाव करने वाले, वास्तव में विश्व-रहित, अनन्त स्वरूप, अजन्मा, जरारहित, समस्त गुणों से अतीत तथा अविनाशी विज्ञानानन्दघन परमेश्वर के स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ।

रघुनन्दन ! जैसें आकाश में दृष्टि दोष से प्रतीत होने वाला वृक्ष भ्रमवश वृक्षरूप में प्रतीत होता है, वास्तव में वह विशुद्ध आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाश-वृक्ष नहीं है, वैसे ही चित्त अविद्यमान, जड़ और माया का कार्य करने से निश्चयरूप से असत् ही है, वह परमात्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। जैसे नौका में स्थित अज्ञानी बालक को तटवर्ती वृक्ष और पहाड़ में प्रतीत होने वाली गति केवल भ्रान्ति से ही दिखायी पड़ती है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य को यह चित्त दिखायी पड़ता है। किंतु आत्मज्ञानी तत्त्वज्ञ की दृष्टि में वह असन्मय पूर्वक ही है-है ही नहीं मेरे समस्त संदेह शान्त हो चुके हैं, समस्त

चिन्ताज्वरों से रहित होकर मैं स्वानुभाव से ही इच्छाओं से रहित हुआ स्थित हूँ। मेरा चित्त मर गया, तृष्णाएँ हट गयीं और मैं मोह तथा अहंकार से रहित हो गया। इससे मैंने अपने स्वाभाविक-वास्तविक स्वरूप को जान लिया। जगत् शान्त होकर अद्वितीय परब्रह्मरूप ही हो गया और नानात्व वास्तव में है ही नहीं। जीवत्व से तथा आदि और अन्त से रहित पवित्र परमपद को मैं प्राप्त हो गया हूँ। अतः मैं सौम्य, सर्वत्र व्यापक, अतिसूक्ष्म, सनातन परमात्मस्वरूप में स्थित हूँ। श्रीराम ! इस प्रकार की बुद्धि से तत्वज्ञानी पुरुष को खाते, चलते, सोते और स्थित रहते सदा-सर्वदा सर्वत्र प्रतिदिन भली भाँति विचार करना चाहिये। जिनका अन्तःकरण प्रमुदित है, जिनकी शरद्‌ऋतु के चन्द्रमा की तरह चमकीली मुखकान्ति है और जो प्राप्त हुए शास्त्रानुमोदित व्यवहारों में विहार करते हैं, वे असीम बुद्धिवाले महापुरुष इस संसार में मान और मद से रहित हुए सुखपूर्वक विचरण करते हैं।

उन्चासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

वीतहव्य मुनि का इन्द्रिय और मन को बोधित करना

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं-श्रीराम ! मैंने तुम्हें जिस विचार का दिग्दर्शन कराया है, उस विचार को पहले विद्वान् संवर्त (बृहस्पति के छोटे भाई) ने किया था। विन्ध्याचल पर्वत के ऊपर उसी आत्मतत्त्वज्ञ संवर्त ने उक्त विचार को मुझसे कहा था। अब तुम इस दूसरी दृष्टि का, जो परमपद को प्रदान करने वाली है, श्रवण करो। इसी दृष्टि से महामुनि वीतहव्य ने निश्शंक परमपद को प्राप्त किया था। एक समय की बात है, महामुनि वीतहव्य संसाररूपी भ्रम प्रदान करने वाले घोर आधि-व्याधिमय आकारयुक्त सांसारिक क्रियाकलापों से वैराग्ययुक्त होकर विरक्त अवस्था को प्राप्त हो गये और केवल निर्विकल्प समाधि से प्राप्त होने वाले परम उदार परब्रह्म परमात्मा को जानने की इच्छा से ही उक्त महामुनि ने अपने सांसारिक व्यवहारों का त्याग कर दिया। तदनन्तर महामुनि वीतहव्य ने स्वरचित पर्णकुटी में प्रवेश किया। उस पर्णकुटी में अपने द्वारा बिछाये गये सम और शुद्ध आसन पर वे बैठ गये। फिर बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का परित्याग करते हुए उन महामुनि ने विशुद्ध मन से क्रमशः इस प्रकार विचार किया-'कितने आश्चर्य की बात है कि यह अत्यन्त चंचल

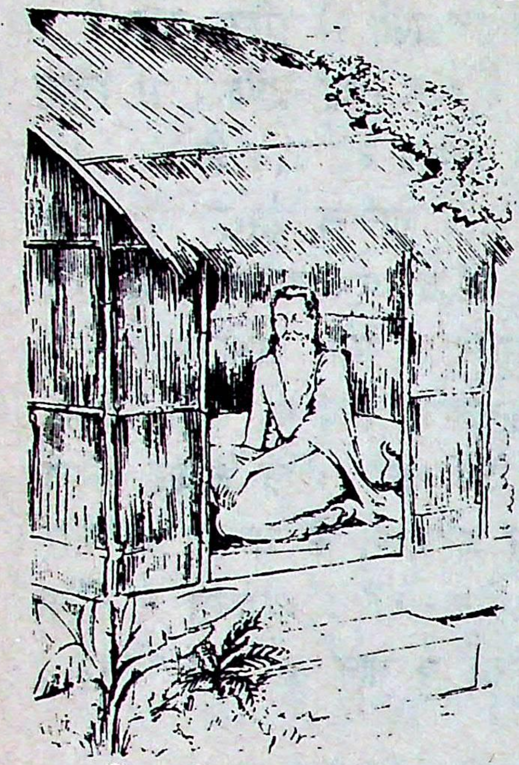

मन किसी एक निश्चित विषय में लगाया जाने पर भी क्षणभर भी उसी प्रकार स्थिर नहीं होता, जैसे तरंगों के द्वारा बहाया गया पत्ता स्थिर नहीं होता। मन घट से पट के ऊपर और पट से उत्कट शकट के ऊपर कूद जाता है। यों यह चित्त विषयों पर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार वृक्षों के ऊपर बंदर दौड़ता है। इन्द्रियगण ! तुम मन के ही अलग-अलग द्वार हो, अतएव निश्चित ही अधम और जड़ हो। मैं तो सच्चिदानन्दघन परमात्मस्वरूप में स्थित हुआ साक्षीरूप से सब कुछ कर रहा हूँ। चक्षुरादि इन्द्रियगण ! आकार से रहित तुम लोग मेरे सामने मिथ्या ही उछल-कूद कर रहे हो। तुम लोग अलातचक्र के सदृश और रज्जु में सर्पभ्रम के सदृश मिथ्यारूप ही हो। जैसे सर्पों से डरा हुआ पथिक उनसे दूर रहता है, वैसे ही दोषरहित चेतन आत्मा इन्द्रियों से सर्वथा दूर रहता है। इन्द्रियगण ! केवल चेतन सत्ता की संनिधि सेही तुम लोगों की परस्पर चेष्टा होती रहती है।

'मूर्ख मन ! 'मैं चेतन हूँ' इस प्रकार की तुम्हारी वासना मिथ्या और निरर्थक है; क्योंकि एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न धर्मवाले चेतन और जड़ मन की एकता नहीं हो सकती। चित्त ! अहंकार के उत्पन्न होने पर 'यह शरीर मैं ही हूँ' इस प्रकार का जो तुम मिथ्या अभिमान करते हो, उसे छोड़ दो। मूर्ख ! तुम कुछ भी नहीं हो; इसलिये क्यों व्यर्थ चंचल हो उठते हो ? ज्ञानस्वरूप चेतन आत्मा अनादि और अनन्त है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इस लिये महामूर्ख ! इस शरीर में चित्त नाम वाले तुम कहाँ से आये ? मूर्ख चित्त ! चक्षु आदि इन्द्रियगणों का आश्रय करके तुम उपहास के पात्र मत बनो। तुम न तो कर्ता हो और न भोक्ता हो, किंतु जड़ हो। तुम अन्य के द्वारा-द्रष्टा-साक्षी आत्मा के द्वारा जाने जाते हो। जो जड़स्वरूप है, उसका अस्तित्व है ही नहीं। अतः उस जड़ में ज्ञातापन, कर्तापन, भोक्तापन नहीं हो सकते। चित्त ! तुम स्वयं ही जड़रूप हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। भला, बतलाओ तो सही,

ज़ड़ में कैसे कर्तापन रह सकता है। क्या यहाँ पत्थर की मूर्तियाँ भी किसी प्रकार नाच सकती हैं ? जिसकी शक्ति से जो किया जाता है, वह उसी के द्वारा किया हुआ होगा। पुरुष की शक्ति से दराँती (हँसुआ) काटती है, पर काटने वाला पुरुष कहलाता है। जिसकी शक्ति से वध किया जाता है, वह उसी के द्वारा हत कहा जायगा। पुरुष की शक्ति से तलवार हनन करती है, पर हनन करने वाला पुरुष ही कहा जाता है। जिसकी शक्ति से जो किया जाता है, वह उसी के द्वारा किया गया कहा जाएगा। पात्र के द्वारा जल आदि पिये जाते हैं; पर जो मनुष्य है, वही पीने वाला कहा जाता है, पात्र नहीं। मेरे प्यारे चित्त! तुम स्वभाव से ही जड़ हो, पर उसी सर्वज्ञ साक्षी के द्वारा बोधित होते हो; क्योंकि जीवात्मा ही अपने को अपने से भोक्ता, भोग्य, करण, उपकरण आदि जगत् के रूप में स्वप्न की तरह रचता है। इससे तुम तत्वरहित हो, तुम मूढ़ हो और वास्तव में तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिये तुम्हें 'मैं तत्स्वरूप ही हूँ' ऐसा दुःखदायी मिथ्याभाव नहीं करना चाहिये। वास्तव में बाजीगर की रची हुई ऐन्द्रजालिक लता के समान चित्त की कल्पना मिथ्या है तथा इस ब्रह्माण्ड में एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म का स्वरूप ही सर्वत्र विराजमान है।

'अज्ञानी चित्त ! वह परमपद सर्वत्र व्यापक, सारे पदार्थों में स्थित और सबका स्वरूप है। उसकी प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य को सदा-सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। चित्त ! उस समय न तो तुम रहते हो और न देह ही पृथक् रहता है; किंतु एक महान् प्रकाशस्वरूप, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही अपने आप में स्थित रहता है। स्वभाव से ही प्रकाशस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, अद्वितीय चेतन परमात्मा ने ही इस समस्त ब्रह्माण्ड को परिपूर्ण कर रक्खा है। इसलिये उसके सिवा दूसरी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। वही एक और अनेक-सबका प्रकाशक है, समसतरूप है। उसी परमात्मा ने अपने आप में संकल्प से इस जगत् की रचना की है। ऐसी स्थिति में कौन किसकी कैसे इच्छा करेगा ? किंतु चित्त ! तुम्हारे-जैसे मूर्खों की दृष्टि से ही इस जगत् में व्यर्थ चंचलता उत्पन्न होती है, जिस प्रकार राजा की स्त्री को देखकर मूर्ख युवापुरुष को मदमयी चंचलता उत्पन्न होती है। परन्तु कल्पना और मन से रहित आत्मा में कर्तृत्व कैसा। क्या कहीं आकाश में पुष्प किसी तरह उत्पन्न हो सकता है ? जैसे आकाश में हाथ, पैर आदि अंग हो ही नहीं सकते, वैसे ही आत्मा में

कर्तृत्व हो ही नहीं सकता; जैसे समुद्र में तप्त अंगार नहीं रह सकता, वैसे ही परमात्मा में दूसरी कोई कल्पना रह ही नहीं सकती। इस प्रकार जब परमात्मदेव में कल्पना का अभाव है तथा मन एवं देह जड़ हैं, तब विवेकदृष्टि से 'यह अन्य है, यह अन्य नहीं है; यह शुभ है, यह अशुभ है' इत्यादि असत् कल्पनाएँ नहीं रह सकतीं। ऐसी स्थिति में सुन्दर चित्त ! विषय से रहित चेतन परमात्मा ही सारभूत वस्तु है, दूसरी नहीं। चित्त ! जैसे आकाश में वन नहीं है, वैसे ही पूर्वोक्त असत् कल्पनाएँ आत्मा में हैं ही नहीं। दृश्य से रहित केवल चेतन ही इस जगत् के रूप में विस्तृत हुआ है। इसलिये उसमें 'यह मैं हूँ, यह अन्य है' इस प्रकार की असत् कल्पनाएँ हो ही कैसे सकती हैं। अनादि, रूपरहित, सर्वगामी और व्यापक परमात्मा में कल्पनाओं का कौन कैसे आरोप कर सकता है। क्या कोई आकाश में ऋग्वेद आदि को लिख सकता है ?'

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

समस्त गुणों की और परमात्मा की प्राप्ति का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! मुनियों में श्रेष्ठ धीर वीतहव्य मुनि ने विशुद्ध धारणा से युक्त बुद्धि से एकान्त में स्थित होकर पुनः अपनी इन्द्रियों को भली भाँति इस प्रकार समझाया–'इन्द्रियगण ! मेरे पूर्व में किये गये आत्मतत्त्व के उपदेश से तुम लोगों की यह मिथ्याभूत सत्ता नष्ट ही हो गयी, ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि तुम अज्ञान से उत्पन्न हुए हो। चित्त ! तुम देखो कि तुम्हारे कायम रहने से अज्ञानी मूर्खों के राग–द्वेष आदि तरंगों से युक्त संसाररूपी नदियों का समूह कालरूपी विशाल समुद्र में प्रविष्ट हो रहा है। देखो ! एक दूसरों के अहंकार से होने वाले एक दूसरों के वध, पराजय, उत्पीड़न आदि की चिन्ताओं से युक्त दुःख की पंक्तियाँ कहीं से उसी प्रकार गिर रही हैं, जिस प्रकार वृष्टि की धाराएँ गिर रही हों। अपने विलासों से शब्द करता हुआ लोभरूपी पक्षी राग–द्वेषरूप अपने तीक्ष्ण ठोरद्वारा इस जीर्ण शरीररूपी वृक्ष के शम, दम आदि गुण समूहरूपी फल–पुष्पों को कतर रहा है। अपवित्र, दुष्ट आचरण करने वाला कामरूपी कर्कश मुर्गा हृदय के राग–द्वेष आदि दोषरूप कूड़े के ढेर को इधर–उधर बिखेर देता है। मोहरूपी महारात्रि में अज्ञानरूपी

उलूक हृदयरूपी वृक्ष के ऊपर श्मशान में वेताल की भाँति चारों ओर से प्रलाप कर रहा है। इन्द्रियगण ! आप लोगों के विद्यमान रहने पर ये और इनसे दूसरी भी बहुत-सी इच्छा, कामना, वासना, स्पृहा आदि अशुभ श्रियाँ रात्रि में पिशाचिनियों की तरह उछल-कूद मचाती रहती हैं। चित्त ! तुम्हारे विनाश होने पर समता, शान्ति, सरलता, क्षमा, दया आदि सम्पूर्ण शुभ श्रियाँ ज्ञानरूपी प्रकाश से युक्त हो उसी प्रकार पूर्णरूप से प्रफुल्लित हो उठती हैं, जिस प्रकार प्रातःकाल में कमलिनियाँ। अब मोहरूपी तुषार से रहित, रजोगुणरूप रेणु से शून्य, निर्मल ज्ञान के प्रकाश से युक्त ह्रदयाकाशरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म शोभित हो रहा है। आकाशमण्डल से गिरने वाली और वायु आदि से आकुलित वृष्टिधाराओं की तरह दुःखदायी विकल्प-समूह अब नहीं गिरते। सबको आल्हादित करने वाली, शान्त, परम पवित्र मित्रता हृदय में उत्पन्न हो रही है।

'अज्ञान का विनाश होने पर हृदय में ज्ञान का प्रकाश उसी प्रकार प्रकट हो रहा है, जिस प्रकार शरत्काल में मेघों के शान्त हो जाने पर निर्मल आकाश में सूर्यमण्डल प्रकट होता है। वायु के शान्त होने पर समुद्र जैसे सम हो जाता है, वैसे ही प्रसन्न, विशाल, गम्भीरता से युक्त, क्षोभशून्य तथा राग-द्वेष आदि दोषों से रहित वश में किया हुआ मन सम हो जाता है। परमात्मा की प्राप्तिरूप अमृत-प्रवाह से पूर्ण तथा अविनाशी आनन्द से सम्पन्न पुरुष शान्ति युक्त रहता है। केवल सच्चिदानन्द परमात्मा में विश्राम हो जाने पर परमात्मा के स्वरूप का पूर्णरूप से अनुभव हो जाता है। चित्त ! तुम्हारा स्वरूप अविचार के कारण ही कायम है। विवेकपूर्वक विचार करने पर तुम कायम नहीं रहते किंतु केवल एक समस्वरूप परमात्मा ही भली-भाँति समभाव से स्थित रह जाता है। विचार न करने पर तुम उसी प्रकार उत्पन्न होते हो, जिस प्रकार प्रकाश के न रहने पर अन्धकार। चित्त ! विचार से तुम्हारा स्वरूप उसी प्रकार विनष्ट हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार। क्योंकि जिसकी अविवेक से उत्पत्ति होती है, उसका विवेक से विनाश हो जाता है-जैसे प्रकाश से अन्धकार का विनाश होता है और प्रकाश का अभाव होने पर अन्धकार हो जाता है। तुम्हारी इच्छा न रहने पर भी विचार के दृढ़ होने पर सुख की सिद्धि के लिये तुम्हारा चारों ओर से यह विनाश प्राप्त हुआ है। (अब वीतहव्य मुनि अपनी स्थिति का वर्णन करते हैं) सौभाग्यवश मैं समस्त चिन्ता-ज्वरों से मुक्त हो गया हूँ, शान्त हो गया

हूँ और चारों ओर से तृप्त हो गया हूँ। मैं तुरीयपदरूप परमात्मस्वरूप अपनी आत्मा में स्थित हो गया हूँ इसलिये यह निश्चय हुआ कि इस संसार में जिसकी स्थिति विवेकपूर्वक विचार करने पर कायम हो ही नहीं सकती, वह चित्त है ही नहीं, है ही नहीं। किंतु परमात्मा तो अवश्य ही है, अवश्य ही है। परमात्मा को छोड़कर और कुछ भी उससे भिन्न है ही नहीं सब प्रकार के मलों से रहित आत्मा के अंदर 'यह आत्मा है' इस प्रकार की कल्पना ही नहीं हो सकती, यह मैं मानता हूँ; क्योंकि एक अद्वितीय आत्मा में इंद्ररूप से अन्य वस्तु की सत्ता से होने वाली कल्पना कैसे हो सकती है। इसी कारण 'मैं यह आत्मा हूँ' इस प्रकार कल्पना न करता हुआ मैं मौनी होकर उसी प्रकार अपने विज्ञानानन्दघन परमात्मस्वरूप में स्थित हूँ, जिस प्रकार जल में तरंग। अतः उस वासनाशून्य, जीव के आश्रय से रहित, प्राण-संचार से रहित, भेदभाव से शून्य, दृश्य से रहित, ज्ञानस्वरूप, मन और वाणी की चेष्टा से शून्य विज्ञानानन्दघन परमात्मा को प्राप्त करके मैं परम शान्त हूँ।'

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

वीतहव्य महामुनि

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! इस प्रकार निर्णय करके वे मुनिवर वीतहव्य समस्त वासनाओं को छोड़कर विन्ध्य पर्वत की गुफा में समाधि लगाकर उसमें अचल स्थित हो गये। उस समय महामुनि वीतहव्य सब प्रकार के शून्य परिपूर्ण चेतन विज्ञान आनन्द से युक्त होने के कारण अत्यन्त सुशोभित हुए। उनका मन अत्यन्त विलीन हो गया था; अतएव वे ऐसे भले लगते थे, जैसे प्रशान्त समुद्र भला लगता है। जिस प्रकार ईंधन के जल जाने पर अग्नि में ज्वालाओं का संचरण शान्त हो जाता है, वैसे ही उन महामुनि

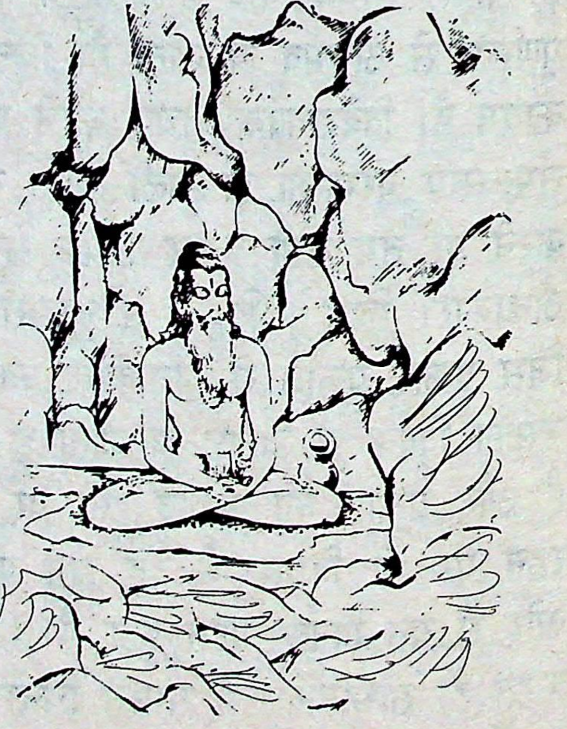

का प्राणसंचार क्रमशः भीतर हृदय में ही शान्त हो गया। समाधि में स्थित महामुनि वीतहव्य के दोनों नेत्र ऐसे दिखायी पड़ते थे, जैसे उनकी वृत्ति नासिका के अग्रभाग में दोनों ओर बराबर फैली हुई हो। महाबुद्धि वीतहव्य ने अपने आसन-बन्धन में शरीर, सिर और ग्रीवा को समानरूप से रक्खा था; इसलिये वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे पत्थर पर खोदी गयी या चित्र में लिखी गयी मूर्ति हो। श्रीराम ! विन्ध्याद्रि के किसी झरने के निकट गुफा में इस प्रकार की समाधि में स्थित महामुनि वीतहव्य के तीन सौ वर्ष आधे मुहूर्त की तरह व्यतीत हो गये। परमात्मा में स्थित ध्यान-निमग्न उन मुनि ने जीवन्मुक्तता के कारण इतने काल को कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीर का त्याग भी नहीं किया। योग के रहस्य को जानने वाले परम भाग्यशाली वे मुनि महान् मेघों के चारों ओर फैलने वाले शब्दों से, बरसती हुई वृष्टि की धाराओं के गिरने से उत्पन्न घर-घर शब्दों से, सिंहों के क्रोधपूर्वक गर्जनों से, झरनों की दिग्व्यापी घर्घराहट से, भयंकर वज्रपातों से, मनुष्यों के घने कोलाहलों से, भूकम्प के द्वारा छिन्न-भिन्न हुए पर्वत-तटों की हलचलों से तथा अग्नि की तरह कर्कश ग्रीष्म आदि के तापों से भी उतने समय तक समाधि से जागे नहीं। थोड़े ही समय में उस पर्वत की गुफा में वर्षा के कीचड़ से ढके हुए महामुनि वीतहव्य पृथ्वी में निमग्न से प्रतीत होते थे। उस गुफा की भूमि में ये मुनि कीचड़ से लथपथ होकर उसी प्रकार रहते थे, जिस प्रकार पर्वत के अंदर शिला। तदनन्तर तीन सौ वर्ष बीत जाने पर पृथ्वी की गुफा में दबे हुए वे निग्रहानुग्रह समर्थ तथा परमात्मा को प्राप्त महामुनि स्वयं ही समाधि से जाग गये। राघव ! तत्पश्चात् महामुनि वीतहव्य ने सम्पूर्ण भूतों में आत्मभाव होने के कारण अनेक लोकों का ब्रह्मरूप से अनुभव किया और वर्तमान समय में कर भी रहे हैं। श्रीराम ! आपका भी यह जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशा में जिस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसी प्रकार महामुनि वीतहव्यका भी वह जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशा में सच्चिदानन्दस्वरूप है। जब तक इस प्रकार जगत् को तत्त्वज्ञान द्वारा सच्चिदानन्दरूप नहीं जाना जाता, तब तक वह हृदय में वज्रसार की तरह अत्यन्त दृढ़ रहता है। किंतु यथार्थरूप से जान लिये जाने पर वह सच्चिदानन्दनस्वरूप हो जाता है।

श्रीराम ! दिन की समाप्ति के बाद मुनि ने फिर भी मन की

एकाग्रतारूप समाधि के लिए उसी पूर्व–परिचित विन्ध्याद्रि की गुफा में प्रवेश करके विचार किया–'शरीर, सिर और ग्रीवा को समानरूप से रखकर दृढ़ासन होकर मैं पर्वत के शिखर की तरह अचल बैठता हूँ। मन से परे, चारों ओर स्थित, परिपूर्ण समान सत्ता और परम समतारूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा में विकार रहित हुआ स्थाणु की तरह मैं नित्य स्थित हूँ।' इस प्रकार चिन्तन करते हुए वे परमात्मा के ध्यान में छः दिन तक फिर रहे। तदनन्तर उसी प्रकार समाधि से जाग गये, जिस प्रकार सोया हुआ पथिक जग जाता है। इसके बाद उन सिद्ध, महान् तपस्वी महात्मा वीतहव्य ने जीवन्मुक्त अवस्था में स्थित हुए ही चिरकाल तक यत्र–तत्र विचरण किया। ये महामुनि वीतहव्य न तो किसी वस्तु की स्तुति करते थे और न कभी किसी की निन्दा ही करते थे। वे प्रतिकूल की प्राप्ति में कभी उद्विग्न नहीं होते थे तथा अनुकूल की प्राप्ति में हर्षित नहीं होते थे।

(अब वीतहव्य मुनि अपनी इन्द्रियों के प्रति कहते हैं)'इन्द्रियगण ! अब तुम लोग विनाश को ही प्राप्त हो जाओ। तुम्हारी सारी अभिलाषाएँ निष्फल हो गयी हैं। अब आश्रयरहित तुम लोग मुझ पर आक्रमण करने में समर्थ नहीं हो। अब विस्मरण करने योग्य इस जड़दृश्य संसार की विस्मृति हो गयी है और स्मरण करने योग्य परमात्मा की स्पष्टरूप से स्मृति हो गयी है। जो सत्‌रूप परमात्मा था, वह सत् ही रहा तथा जो जड़ दृश्य वर्ग असत् था, वह असत् ही रहा।'

श्रीराम ! इस प्रकार के विचार से युक्त हो वे महान् तपस्वी मुनिश्रेष्ठ महात्मा वीतहव्य अनेक वर्षों तक इस लोक में स्थित रहे। जिसके प्राप्त होने पर पुनर्जन्म के लिये चिन्ता विनष्ट हो जाती है और मूढ़ता दूर भाग जाती है, उस विज्ञानानन्दघन परमात्मा में मुनि निरन्तर स्थित थे। त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों की प्राप्ति हो जाने पर भी त्याग और ग्रहण की बुद्धि का विनाश हो जाने के कारण महामुनि वीतहव्य का अन्तःकरण इच्छा और अनिच्छा से रहित हो गया था।

(तत्पश्चात् वे फिर अपने मन–ही–मन विचार करने लगे–)'दुःख ! तुम्हारे द्वारा संतप्त हुए मैंने अत्यन्त आदर से आत्मा का अनुभव किया है; मुझको तुमने ही सचेत कराकर इस मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है। अतः तुम्हें

मेरा प्रणाम है। आश्चर्य है कि प्राणियों के स्वार्थों की अत्यन्त विलक्षण गति है, जो आज मैं भी सैकड़ों जन्म तक साथी रहकर अपने प्यारे मित्र इस शरीर से अलग हो रहा हूँ। मातृरूप तृष्णे ! अब हम दोनों का संयोग के कारण ही सदा के लिये वियोग हो रहा है। इसलिये तुम्हें प्रणाम है। सुकृत(पुण्य)-देव ! आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आपने ही पहले मेरा नरकों से उद्धार करके मुझे स्वर्ग में भेजा था। जिसके सम्बन्ध से मैंने दीर्घकाल तक नाना योनियों का उपभोग किया, उस अज्ञान को मैं प्रणाम करता हूँ। सखी गुहातपस्विनि ! संसाररूपी महामार्ग में खिन्न हुए मेरे लिये तुम ही अकेली आश्वासन देने में समर्थ, अत्यन्त स्नेह से युक्त और समस्त लोकों का नाश करने वाली सखी हुई। इसलिये समाधि में स्त्री के सदृश व्यवहार करने वाली उस गुहारूपी तपस्विनीको भी मैं प्रणाम करता हूँ। संकट, गड्ढे और कुंजों में हाथ को अवलम्बन देने वाले, वृद्धावस्था के एकमात्र मित्र दण्ड ! तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ। प्रिय प्राण समुदाय! तुम सब प्रकृति में विलीन हो जाओ और मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म में विलीन होता हूँ; क्योंकि जितने भी भोगसमूह हैं, वे अन्त में नाशवान् हैं। जो आज उन्नत हैं, उनका अन्त में पतन निश्चित है एवं संसार में जितने संयोग हैं, उनका भी अन्त में वियोग निश्चित है।'

(अब प्रत्येक इन्द्रिय आदि के द्वारा प्राप्त करने योग्य प्रवृति का विभाग पूर्वक वर्णन करते हैं-)'चक्षु-इन्द्रिय आदित्य-मण्डल में प्रवेश करे, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाय, प्राणवायु वायुतत्व में प्रविष्ट हो जाय, श्रोत्रेन्द्रिय आकाश में प्रविष्ट हो जाय और रसनेन्द्रिय जल में प्रविष्ट हो जाय। मैं ओंकार की अन्तिम अर्धमात्रा से लक्षित परब्रह्मस्वरूप परमात्मा में अपने-आप ही अन्तःकरण से रहित हो शान्त हो रहा हूँ। अतः मैं सम्पूर्ण कार्यों की परम्परा से रहित, समस्त दृश्यों की अवस्थाओं से अतीत, उच्चारण किये हुए प्रणव की ब्रह्मरन्ध्र में विश्रान्ति का अनुसरण करके ब्रह्माकारता की प्राप्ति से उपरत-बुद्धि तथा अविद्यारूपी मल से रहित हुआ स्थित हूँ।'

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

महामुनि वीतहव्य की परमात्म प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! इस प्रकार धीरे-धीरे प्रणव का

उच्चारण करते हुए महामुनि वीतहव्य संकल्प और इच्छाओं से रहित होकर अन्तिम भूमिका को प्राप्तकर अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा से युक्त पादों के भेद ॐकार का स्मरण करते हुए ब्रह्मके स्वरूप में संसार का जो अध्यारोप है, उसका बाध करके अर्थात् केवल ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ नहीं है-इस प्रकार निश्चय करके अविनाशी विशुद्ध परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करते थे। कल्पित बाह्य और आभ्यन्तर स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर सम्पूर्ण त्रिलोकी के पदार्थों का भी परित्याग करके वे क्षोभशून्य आकार वाले महामुनि वीतहव्य नित्य आत्मस्वरूप में ही स्थित थे। वे पूर्णचन्द्र की तरह परिपूर्ण थे तथा मन्दराचल की तरह स्थिर थे। तदनन्तर 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से बोधित जो अद्वैत तत्त्व है और जो वाणी का भी अगोचर है, उस तत्व को ये मुनि प्राप्त हो गये। इसके अनन्तर ये मुनि समस्त पदार्थों में व्यापक, समस्त पदार्थों से रहित, निरतिशय समता से पूर्ण, चिन्मय, अतिशय पवित्र परमपद स्वरूप हो गये। जो ब्रह्मज्ञानियों का बह्मरूप, विज्ञानवादियों का विज्ञानरूप एवं कपिलमुनि-निर्मित सांख्यशास्त्र में प्रतिपादित पुरुषरूप, पतंजलि-निर्मित योगशास्त्र में प्रतिपादित क्लेश आदि से रहित पुरुष विशेषात्मक ईश्वररूप, आत्मा के स्वरूप को भलीप्रकार जानने वाले आत्मवादियों के मत में आत्मतत्व रूप, समस्त शास्त्र का सिद्धान्तभूत, सबके हृदय में अनुगत, सर्वात्मक, सर्वस्वरूप जो निर्मल श्रेष्ठ पद है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे। जो तत्त्व वास्तव में अद्वितीय होने के कारण एक और माया के सम्बन्ध से अनेक भी है, जो माया से युक्त होने के कारण सगुण और वास्तव में माया से अतीत-निर्गुण है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि स्थित थे।

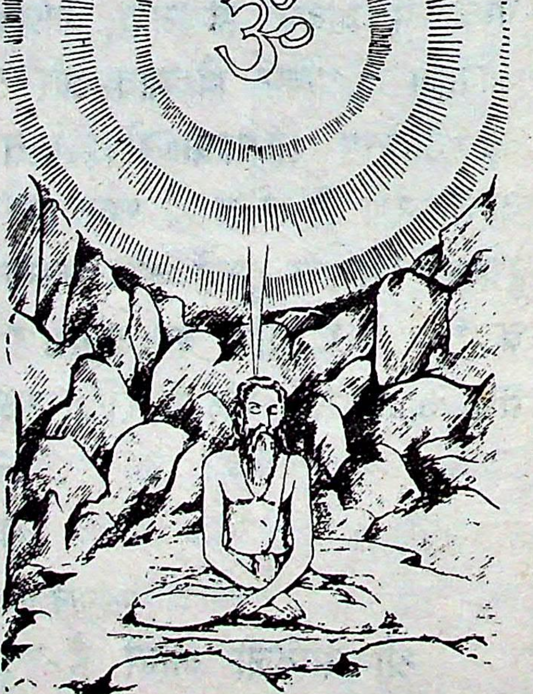

श्रीराम इस प्रकार महामुनि वीतहव्य के परम शान्त हो परम निर्वाणपद को प्राप्त हो जाने पर उनका क्रियाशून्य वह देह उसी प्रकार कुम्हला गया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में कमल रस-रहित हो कुम्हला जाता है। उस देह के सम्पूर्ण स्थूल

भूत तन्मात्रा स्वरूप सूक्ष्म महाभूतों में ही लीन हो गये तथा मांस, अस्थि और आँतरूपी देह वन की भूमि में मिल गया जैसे घड़े के फूटने पर घटाकाश महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही व्यष्टि-चेतन में जा मिला। उस शरीर के तन्मात्रारूप सूक्ष्म भूत अपने अपने उपादान कारण मूल-प्रकृति में लीन हो गये। इस प्रकार उन महामुनि के शान्त हो जाने पर सभी पदार्थ अपने-अपने उपादान-कारण में ही लीन हो गये। श्रीराम ! महामुनि वीतहव्य की यह सैकड़ों विचारों से युक्त मोक्ष-कथा तुमने मैंने कही है। अब तुम अपनी प्रज्ञा से इसका विवेचन करो। जिस तत्त्व का मैंने तुमसे वर्णन किया है, जिसका वर्णन कर रहा हूँ और जिसका वर्णन करूँगा, त्रिकाल को प्रत्यक्षरूप से देखने वाले तथा चिरकाल तक जीने वाले मैंने उसके विषय में विचार किया है और पूर्णरूप से उसको स्वंय देखा भी है। ज्ञान से ही मनुष्य दुःख के अभाव को प्राप्त होता है, ज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है, ज्ञान से ही परमात्मा की प्राप्तिरूप परम सिद्धि मिलती है, ज्ञान के बिना नहीं मिलती। इसलिये मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। जिन्होंने परम प्रयोजनरूप परमात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जिनके राग आदि दोष विनष्ट हो चुके थे, जो समस्त पापों से, अहंता-ममता आदि विकारों से, अविद्या से तथा आसक्ति एवं शोक से रहित थे, वे ज्ञानी वीतहव्य मुनि, जिसका बहुत काल तक अभ्यास किया गया था, उस अपने निर्मल असीम सच्चिदानन्दघनस्वरूप परम पद को प्राप्त हुए।

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

⟷

चौवनवाँ सर्ग

ज्ञानी महात्माओं के लिये सिद्धियों की अनावश्यकता का कथन

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं-श्रीराम ! जैसे सिंह मयूरों के वश में नहीं होते, वैसे तुम्हारे-जैसे कोई भी महापुरुष हर्ष, अमर्ष आदि विकारों के वश में नहीं होते।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ! जीवन्मुक्त शरीर वाले महात्माओं की आकाश-गमन आदि शक्तियाँ यहाँ क्यों नहीं दिखलायी पड़तीं ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! जो चित्र-विचित्र आकाश-गमन आदि

क्रिया-कलाप दिखायी पड़ता है, वह प्राणियों और पदार्थों का स्वभाव है। इसलिये वह आत्मतत्वज्ञों के लिये वाञ्छनीय नहीं है। आत्मज्ञान से शून्य अमुक्त जीव मणि, औषध आदि द्रव्यों की शक्ति से, पूर्वकृत कर्म की जन्मजात शक्ति से, योगाभ्यास आदि क्रियाओं की शक्ति से और काल की शक्ति से आकाश गमन आदि सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। इन आकाश-गमन आदि सिद्धियों का होना आत्मज्ञ पुरुष के लिये गौरव का विषय नहीं है; क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं आत्मा को प्राप्त कर चुका होता है, इसलिये वह अपने आत्मा में ही तृप्त रहता है, अविद्या के कार्य की ओर नहीं दौड़ता। संसार में जो कोई भी पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं। इसलिये अविद्या से रहित तत्वज्ञ उनमें कैसे फँस सकता है ? जो योगाभ्यास आदि साधनों से अविद्यारूप आकाश-गमन आदि सिद्धियों को भी सुख का साधन बना लेते हैं, वे आत्मतत्वज्ञ हैं ही नहीं; क्योंकि आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ अविद्यामय ही हैं। तत्वज्ञ हो चाहे अतत्वज्ञ हो, जो कोई भी दीर्घकाल तक प्रयत्नपूर्वक द्रव्य-कर्मों से शास्त्रोक्त उपाय का अनुष्ठान करता है, वह आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। यहाँ धन आदि की अभिलाषाओं से रहित और परमात्मा को यथार्थरूप से जानने वाला तथा प्रकृति से ऊपर उठा हुआ पुरुष अपने परमात्मस्वरूप में ही नित्य संतुष्ट रहता है। इसीलिये वह न कुछ चाहता है और कुछ करता है। आत्मज्ञ पुरुष को न तो आकाश-गमन से, न अणिमादि सिद्धियों से, न तुच्छ भोगों से न निग्रहानुग्रह-सामर्थ्य से, न मान-बड़ायी-प्रतिष्ठा से और न आशा, मरण तथा जीवन से ही कोई प्रयोजन है।

परमात्मा के स्वरूप में ही सदा संतुष्ट, परम शान्तिस्वरूप, राग और वासना से रहित तथा आकाश के सदृश निर्मल आकार वाला तत्वज्ञानी महापुरुष अपने परमात्मस्वरूप में ही स्थित रहता है। अपने जीवन और मरण की आसक्ति से रहित तत्वज्ञानी पुरुष अकस्मात् प्राप्त हुए सुख और दुःख से विचलित नहीं होता। उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही; तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता। जो आत्मज्ञान से शून्य है, वह भी आकाश-गमन आदि सिद्धि समूह को चाहता है और वह सिद्धियों के साधक द्रव्यों से क्रमशः उन्हें प्राप्त भी करता है। श्रीराम ! मणि, औषध आदि

द्रव्य, काल, योगाभ्यास आदि क्रिया और मन्त्र प्रयोगों में उक्त प्रकार की शक्तियाँ, जो आकाश-गमन आदि शब्दों से कही जाती हैं, स्वाभावतः सिद्ध हैं। जैसे विषघ्न मणि, मन्त्र, द्रव्य आदि की शक्तियाँ विषय का विनाश कर देती हैं, जैसे मदिरा उन्मत्त कर देती है, जैसे मधु आदि वस्तुएँ वमन करा देती हैं, वैसे ही युक्ति द्वारा प्रयुक्त मणि, औषध आदि द्रव्य, काल, योग की क्रिया आदि उपाय स्वभाव से ही सिद्धियों को अवश्य उत्पन्न करते हैं। परंतु द्रव्य-काल-क्रिया-क्रमस्वरूप मायिक पदार्थों से अतीत तथा अज्ञानरहित आत्मज्ञान में आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ हेतु अथवा विरोधी नहीं हैं; क्योंकि परमात्मा के पद की प्राप्ति में कोई भी द्रव्य, देश, क्रिया, काल आदि युक्तियाँ उपकारक नहीं हैं। किसी पुरुष को आकाशगमन आदि की इच्छा होती है तो वह उसकी सिद्धि का साधन पूर्णरूप से करता है। किंतु आत्मज्ञानी पूर्ण है। अतः उसमें कहीं इच्छा की सम्भावना नहीं है। निष्पाप श्रीराम ! परमात्मा की प्राप्ति सारी इच्छाओं की शान्ति होने पर ही होती है; आत्मज्ञानी को आत्मलाभ की विरोधिनी इच्छा कैसे और किससे हो सकती है। किंतु चाहे विवेकी हो चाहे अविवेकी, जिसकी जिस प्रकार इच्छा उत्पन्न होती है, वह उस प्रकार से उसी इच्छा से यत्न करता है और समय आने पर वह उस सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। परमात्मा ज्ञान की इच्छा वाले वीतहव्य ने सिद्धियों की इच्छा से किसी प्रकार का यत्न नहीं किया था; बल्कि परमार्थ-ज्ञान की इच्छा से ही उसने तेजी के साथ यत्न किया था। जिस प्रकार इसने वन में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये उद्योग किया था, यह मैं तुमसे पहले कह चुका हूँ। इस प्रकार काल, क्रिया, कर्म, द्रव्य, युक्ति और स्वभाव से उत्पन्न होने वाली क्रम प्राप्त सिद्धियाँ अपनी इच्छा के ही अनुसार सिद्ध हो जाती हैं। श्रीराम ! जो-जो आकाशगमन आदि सिद्धि-नामक फलों के समूह जिस पुरुष के द्वारा प्राप्त किये गये देखे जाते हैं, वे उस पुरुष के अपने प्रयत्नरूपी वृक्ष के ही फल हैं। किंतु जिनका अन्तःकरण पवित्र है, जो परमात्मा को यथार्थरूप से जानते हैं, जो परमात्मा के स्वरूप में नित्य तृप्त हैं तथा जो अपने अभिलाषित परमात्मा को प्राप्त कर चुके हैं, उन महात्माओं का सिद्धियाँ कुछ भी उपकार नहीं करतीं।

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचमनवाँ सर्ग

जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त पुरुषों के चित्तनाश का वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जब जीवन्मुक्त वीतहव्य का चित्त विवेकपूर्वक विचार के द्वारा अस्तप्राय हो गया यानी भूने हुए बीज की तरह अंकुर शक्ति से रहित हो गया, तब उसमें मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि गुणों का आर्विभाव हो गया। श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-प्रभो ! आत्मा और अनात्मा के विचार के अभ्युदय से अदृश्य हुए महामुनि वीतहव्य के अन्तःकरण में मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए, आपके इस कथन का अभिप्राय है ? वक्ताओं में श्रेष्ठ महामुने ! जब चित्त ब्रह्म में लीन हो गया, तब मैत्री आदि गुण किसके और किसमें उत्पन्न होंगे-यह आप मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! चित्त का विनाश दो प्रकार का होता है-एक सरूप विनाश और दूसरा अरूप विनाश। पहला सरूप विनाश तो जीवन्मुक्त होने से हो जाता है और दूसरा अरूप विनाश विदेह-मुक्त होने पर होता है। इस संसार में चित्त का अस्तित्व दुःख का कारण है और चित्त का विनाश सुख का कारण है। अतः पहले चित्त के अस्तित्व का भूने हुए बीज के समान विनाश करके तदनन्तर चित्त के स्वरूप का भी विनाश कर देना चाहिये। अज्ञान से उत्पन्न हुई वासनाओं से व्याप्त जो जन्म का कारण मन है, उसी को अज्ञानियों का विद्यमान मन समझो। वह विद्यमान मन केवल दुःख का ही कारण होता है। इसलिये जब तक मन का अस्तित्व है, तब तक दुःख का विनाश कैसे हो सकता है। मन जब अस्त हो जाता है, तब प्राणी का यह संकल्पमय संसार भी अस्त हो जाता है। इस अज्ञानी जीव में ही वासनारूपी अंकुरों से दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुए इस विद्यमान मन को ही दुःखरूपी वृक्ष का मूल जानो। ये दुःखरूपी वृक्ष समूह के अंकुर उन्हीं अज्ञानियों के मन में उत्पन्न होते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-ब्रह्मन् ! किस महात्मा का मन विनष्ट हो गया ? विनाश को प्राप्त हुए मन का स्वरूप किस प्रकार का होता है ? चित्त का नाश किस प्रकार होता है और नाश का स्वरूप कैसा है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-प्रश्नवेत्ताओं में श्रेष्ठ रघुकुलनायक श्रीराम ! मैंने पहले चित्त की सत्ता का स्वरूप तो बता दिया है। अब तुम इसके विनाश का स्वरूप सुनो। जैसे निःश्वासवायु पर्वतराज को अपने स्वरूप से विचलित नहीं

करते, वैसे ही सुख-दुःखरूप दशाएँ जिस धीर पुरुष को सम-स्वभाव तथा पूर्णानन्दैकरस परमात्मनिष्ठा से विचलित नहीं करती, श्रेष्ठ पुरुष उस महात्मा के चित्त को भूने हुए बीज के समान नष्ट हुआ चित्त कहते हैं 'यह जड़ देह ही मैं हूँ', इस प्रकार की तुच्छ भावना जिस श्रेष्ठ पुरुष को भीतर से विकारयुक्त नहीं करती, विद्वान लोग उस पुरुष के चित्त को नष्ट कहते हैं। जिस नररत्न के अंदर विपत्ति, कायरता, उत्साह (हर्ष), मद, बुद्धि की मन्दता और विवाहादि लौकिक महोत्सव विकार पैदा नहीं करते, विद्वान् लोग उसके चित्त को नष्टचित्त कहते हैं। इस लोक में यही चित्त का विनाश है और इसी को भूने हुए बीज के समान विनष्ट चित्त भी कहते हैं। यही जीवन्मुक्त महापुरुष की चित्तनाश-दशा है। निष्पाप श्रीराम ! जीवन्मुक्त पुरुष का मन मैत्री आदि शुभ गुणों से सम्पन्न, उत्तम वासनाओं से युक्त तथा पुनर्जन्म से शून्य होता है। ब्रह्म की वासना से युक्त तथा पुनर्जन्म से शून्य होता है। ब्रह्म की वासना से ओतप्रोत, पुनर्जन्म से रहित जो जीवन्मुक्त पुरुष के मन की सत्ता है, वह सत्व नाम से कही जाती है। जिस प्रकार चन्द्रमा में प्रसन्न किरणें रहती हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुष के मन के विनाश में विशुद्ध मैत्री आदि गुण सदा सब तरह से रहते हैं। शान्तिरूप शीतलता के आश्रय जीवन्मुक्त पुरुष के सत्व नामक मन के नाश की अवस्था में अनेक गुण-सम्पत्तियाँ प्रकट होती हैं।

रघुकुलतिलक ! जो मैंने पहले अरूप-मनोनाश कहा था, वह विदेहमुक्त का ही होता है तथा जो अवयवादि विकारों से रहित है, उस परमपवित्र विदेह मुक्तिरूपी निर्मल परमपद में समस्त श्रेष्ठ गुणों का आश्रयरूप मन भी विलीन हो जाता है। विदेहमुक्त महात्माओं की उस सत्व-विनाशरूप अरूपचित्तनाश-दशा में किसी भी दृश्य-पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् संकल्पसहित सम्पूर्ण संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। उस अरूपचित्त विनाश-दशा में न गुण है न अवगुण हैं, न शोभा है न अशोभा है, न चंचलता है न अचंलता है, न उदय है न अस्त है, न हर्ष है न अमर्ष है और न ज्ञान है, न प्रकाश है न अन्धकार है, न संध्या है न दिन या रात है, न दिशाएँ हैं न आकाश है, न अधः है और न अनर्थरूपता है, न कोई वासना है न किसी प्रकार की रचना है, न इच्छा है न अनिच्छा है, न राग है न भाव है और न अभाव है और न वह पदसाध्य ही है। वह परमपद तम और तेज से शून्य, तारे, चन्द्र, सूर्य और

वायु से तथा संध्या, रजःकण और सूर्य-कान्ति से रहित शरत्कालीन स्वच्छ आकाश के समान अत्यन्त निर्मल है। वह विशाल पद उन लोगों आश्रय-स्थान है, जो बुद्धि और संसार-भ्रमण से पार हो गये हैं। सम्पूर्ण दुःखों से रहित, चिन्मय, निष्क्रिय ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण तथा रज और तम से रहित जो परमपद है, उस परम पद में वे चित्त से रहि और आकाश के सदृश सूक्ष्म विदेह मुक्त महात्मा तद्रूप हुए स्थित रहते हैं, वे अपुनरावृत्ति रूप परमगति को प्राप्त हो जाते हैं।

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

छप्पनवाँ सर्ग

शरीर का कारण मन है तथा मन के कारण प्राण-स्पन्द और वासना इनका कारण विषय, विषय का कारण जीवात्मा और जीवात्मा का कारण परमात्मा है–इस तत्व का प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! भाव और अभाव का तथा दुःखरूपी रत्नों का खजाना चित्त ही, जो वासनाओं के वश में रहने वाला एक तरह से अनुचर है, शरीर का कारण है। प्रतीत होने के कारण सत् और विनाशशील होने के कारण असत्रूप ये शरीर समूह एकमात्र चित्त से ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे स्वप्न में भ्रम से संसार की प्रतीति सबको स्वयं होती है। जो यह मिथ्या जगत् का स्वरूप दृश्यता को प्राप्त है, वह चित्त से उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मिट्टी से घड़े आदि उत्पन्न होते हैं। अनेक तरह की वृत्तियाँ धारण करने वाले इस चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं–एक प्राण-संचरण और दूसरा दृढ़भावना। जब शरीर की नाड़ियों में प्राणवायु संचरण करने लगता है, तब वृत्तिमय चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है। किंतु जब शरीर की नाड़ियों में प्राण संचरण नहीं करता, तब वृत्ति ज्ञान न होने के कारण उसमें चित्त उत्पन्न नहीं होता। यह प्राण-संचरणरूप जगत् ही चित्त के द्वारा दिखायी पड़ता है, जिस प्रकार आकाश में नीलता आदि दिखायी पड़ते हैं। राघव ! जीवात्मा के विषयों के सम्पर्क से रहित होने पर ही उसका परम कल्याण होता है, ऐसा जानो। किंतु प्रकट हुआ जीव ही तत्काल बाह्य विषयों की ओर रागवश चला जाता है और उन विषयों के भोग के अनुभव से चित्त में अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं। जब जीवात्मा बाह्य विषयों से उदासीन होकर परमात्मा के ज्ञान के लिये प्रयत्नशील होता है, तब वह प्राप्त करने योग्य निर्मल परमपद रूप परमात्मा को

प्राप्त हो जाता है। श्रीराम ! जीवात्मा के संकल्प को ही तुम चित्त जानो। उसी चित्त ने इस अनर्थ-जाल का विस्तार किया है।

योगीलोग चित्त की शान्ति के लिये योगशास्त्र में बतलाये गये प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यानरूप योग की युक्तियों के द्वारा प्राण का निरोध करते हैं। विद्वान् लोग प्राण-निरोध को ही चित्तशान्तिरूप फल का दाता, उत्तम समता का हेतु और जीवात्मा की अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा में सुन्दर स्थिति कहते हैं। महाबाहु श्रीराम ! तीव्र संवेग से आत्मा के द्वारा जिस पदार्थ की भावना की जाती है, तत्काल ही जीवात्मा अन्य स्मृतियों को छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है। वासना के अत्यन्त वशीभूत और तद्रूप हुआ वह जीवात्मा जिस किसी को देख लेता है, उस सबको अज्ञान से सत्वस्तु मान लेता है और वासना के वेग वश अपने स्वरूप को भूल जाता है। फिर वह वास्तविक आत्मज्ञान से रहित जीवात्मा भीतरी वासनाओं के अभिभूत होकर, विष से अभिभूत पुरुष की तरह अनेक मानसिक आपत्तियों से व्याकुल रहता है। श्रीराम ! जिससे देहादि अनात्मा में आत्मभावनारूप और अवस्तु संसार में वस्तुभावनारूप अययार्थ ज्ञान होता है, उसको तुम चित्त जानो। दृढ़ अभ्यास के कारण देह आदि पदार्थों में 'अहम्' 'मम' आदि वासना से ही जन्म, जरा और मरण का कारण अति चंचल चित्त उत्पन्न होता है। जब निरन्तर वासना का अभाव होने से मन मनन से रहित हो जाता है, तब मन का अभाव हो जाता है, जो परम उपरतिस्वरूप है। जब ज़गद्रूप वस्तु में किसी पदार्थ की भावना नहीं होती, तब शून्य हृदयाकाश में चित्त कैसे उत्पन्न हो सकता है। श्रीराम ! मैं तो यही मानता हूँ कि आसक्ति से विनाशशील जगत् रूपी वस्तु में वस्तुत्व की भावना करना मात्र ही चित्त का स्वरूप है। बाह्य वस्तुओं के अस्मरणरूप साधन का अवलम्बन करने से जो समस्त दृश्य-जगत् के अभाव की भावना और परमार्थ वस्तु परमात्मा का अनुभव होता है, वह अचित्त कहा जाता है। अतः जिस महामति पुरुष को संस्कार से उत्पन्न विषय-रसास्वाद के स्मरण से विषयों में आसक्ति उत्पन्न नहीं होती, उस पुरुष का चित्त अचित्त रूपता को तथा विशुद्ध सत्व को प्राप्त कहा जाता है। जिस महापुरुष में पुनर्जन्म की कारणभूता अहंता-ममतारूप वासना का अभाव हो गया है, वह चक्र के भ्रमण-सदृश जगत् के व्यवहार में लगा हुआ भी जीवन्मुक्त और परमात्मा में स्थित है। तात्पर्य यह

कि जिस प्रकार कुम्भकार के व्यापार के अभाव में भी चक्र का भ्रमण तब तक होता रहता है, जब तक उसमें वेग रहता है, उसी प्रकार अविद्या के नाश होने पर भी प्रारब्ध संस्कार के अवशिष्ट रहने से अहंकार के बिना ही जीवन्मुक्त का शरीर और उसका व्यवहार- दोनों प्रारब्ध-भोगपर्यन्त विद्यमान रहते हैं। जिनका चित्त भूने हुए बीज के सदृश पुनर्जन्म से शून्य और विषयानुरक्ति से रहित है, वे महानुभाव जीवन्मुक्त हुए स्थित रहते हैं। जिनका चित्त विशुद्ध सत्वरूपता प्राप्त कर चुका है, ऐसे ज्ञान के पारंगत महात्मा चित्त से रहित कहे जाते हैं। प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में विलीन हो जाते हैं।

वासना का ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से वह जीवात्मा के क्षोभकारक कर्म से प्राण-स्पन्दन का उद्बोधन करती है और उससे चित्त उत्पन्न होता है। एवं स्पन्दन-धर्मवाला होने से हृदयगत राग आदि गुणों का स्पर्श करके प्राण जीवात्मा का उद्बोधन करता है और क्रम से चित्तरूपी बालक उत्पन्न होता है। श्रीराम ! वासना और प्राणस्पन्द-दोनों चित्त के कारण हैं। उनमें से किसी एक का लय हो जाने पर दोनों का और उनके कार्य चित्त का विनाश हो जाता है, जैसे विदेहमुक्त ज्ञानी का वासनासहित चित्त और प्राण ब्रह्म में विलीन हो जाता है। वासना और प्राणस्पन्दन-इन दोनों का कारण विषय है; क्योंकि उसी के सम्बन्ध से वे दोनों प्रस्फुरित होते हैं। हृदय में प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों का चिन्तन करके ही प्राणस्पन्दन और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं; इसलिये विषय ही उन दोनों का बीज (कारण) है। जिस प्रकार मूल के उच्छेद से वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषयचिन्तन का परित्याग करने से प्राणस्पन्दन और वासना-दोनों ही तत्काल समूल नष्ट हो जाते हैं। रघुनन्दन! जीवात्मा ही अपनी धीरता का परित्याग करके अपने संकल्प से विषयरूप सा बनकर चित्त का बीजरूप हो जाता है, ऐसा जानो। जिस प्रकार तिल तेल से रहित नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मा से रहित कोई भी विषय नहीं है; क्योंकि जीवात्मा सब विषयों में व्यापक है। इसलिये बाहर और भीतर कोई भी पदार्थ जीवात्मा से अलग नहीं है। अपने संकल्प से चेतन जीवात्मा ही प्रस्फुरित होता हुआ स्वयं पदार्थ को देखता है। जिस तरह स्वप्न में अपना मरण और भिन्न देश में स्थिति-दोनों अपने संकल्प से ही होते हैं, उसी तरह जाग्रत्कालीन

पदार्थ भी जीवात्मा के संकल्प से ही होते हैं। रघुनन्दन ! जिस विवेक-अवस्था में अपने पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव होता है, वह अपने संकल्प से हुआ स्वस्वरूपानुभव भी जगज्जाल (स्वप्न के सदृश) ही है; क्योंकि सच्चिदानन्द ब्रह्म अनुभव करने वाला, अनुभव करने योग्य और अनुभव-इन तीनों से ही रहित है; अतः उस अनुभव को जगज्जाल कहना उचित ही है। जैसे बालक को अपने संकल्प से ही प्रेत का और मनुष्यों को स्थाणु में पुरुष का भ्रम होता है वैसे ही संकल्प से उत्पन्न भ्रम से ही चेतन जीवात्मा की पदार्थरूपता होती है, वास्तव में नहीं। यह भ्रान्तिज्ञान मिथ्या है। वह यथार्थ परमात्मज्ञान से उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार रज्जु और चन्द्र के निर्दोष दर्शन से रज्जु में सर्प-भ्रान्ति और एक चन्द्र में दो चन्द्ररूपों की भ्रान्ति विलीन हो जाती है। पहले देखा हुआ या न देखा हुआ जो पदार्थ इस जीवात्मा को भासता है, विद्वान् को उसे विवेक-वैराग्यरूप प्रयत्न द्वारा मिथ्या समझकर उसका बाध कर देना चाहिये। इस जड़ जगत्‌रूप दृश्य का बाध न करना ही इस बड़े भारी संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ना है। यही बन्धन है तथा इस संसार के सम्बन्ध से रहित होना ही मोक्ष है-यह महात्माओं का अनुभव किया हुआ निश्चय है; क्योंकि इस जड़ दृश्य जगत् का चिन्तन ही जन्मरूप अनन्त दुःख का हेतु है और उस दृश्य-चिन्तन से रहित होकर सच्चिदानन्द परमात्मा में स्थित रहना ही पुनर्जन्मरहित अक्षय सुख का हेतु है।

वासनारहित होने के कारण अपनी आत्मा में जब किसी पदार्थ की भावना नहीं रहती और वह परमात्मा के स्वरूप में अचल स्थित रहता है, तब जड़ता से रहित, विशाल एवं विशुद्ध यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इसलिये ज्ञानवान् फिर कभी संसार में लिप्त नहीं होता। समस्त वासनाओं का अत्यन्त अभाव होने पर निर्विकल्प समाधि से परम आनन्दरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। संसार के चिन्तन से रहित योगी लोग उसी असीम आनन्द में नित्य स्थित रहते हैं। इसलिये संसार चिन्तन से रहित योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँघते हुए भी चिन्मय अक्षय आनन्द से पूर्ण और सुखी कहा जाता है। श्रीराम ! यह जीवात्मा जिसकी भावना करता है, उसी रूप में तत्काल परिणत हो जाता है। अज्ञान की भूमिकाओं से मुक्त न होने के कारण जीवात्मा दीर्घकाल बीत जाने पर भी अपना वास्तविक स्वरूप नहीं प्राप्त कर

पाता। जीवात्मा ब्रह्म का अंश है, अतः एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म ही इस जीवात्मा का कारण कहा जाता है। श्रीराम ! सत्ता के दो रूप हैं-एक तो अनेक आकारवाली व्यावहारिक सत्ता और दूसरी एक रूप वाली वास्तविक सत्ता। अब उनका विभाग सुनो। घटादि रूपों के विभाग से जो घटत्व, पटत्व, त्वत्व, मत्व आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह नानाकृति व्यावहारिक सत्ता है। जो विभाग से रहित, सत्तारूप से व्याप्त समानभाव से स्थित वास्तविक सत्ता है, वह एकरूपा वास्तविक सत्ता है, उसी को विद्वान् परमपद कहते हैं। वास्तव में सत्ता का रूप नाना आकार के रूप में कभी नहीं है; क्योंकि वह कायम नहीं रहता; अतः वह सत्यरूप नहीं हो सकता। सत्ता का जो विशुद्ध एकरूप वास्तविक स्वरूप है, वह कभी नष्ट नहीं होता और न कभी लुप्त ही होता है। वह नित्य विज्ञानानन्दस्वरूप होने से सदा कायम रहता है। उसका अभाव कभी नहीं होता। किंतु जो विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने वाली विभाग कल्पना नानारूपता का कारण देखी जाती है, वह विशुद्ध पररूपा कैसे हो सकती है।

श्रीराम ! सत्ता-सामान्य की चरम अवधिरूप जो कल्पनाओं से और आदि-अन्त से रहित परमपद है, उसका और कोई कारण नहीं है; क्योंकि वही सबका परम कारण है। जिस परमपद में सम्पूर्ण सत्ताएँ विलीन हो जाती हैं, उस निर्विकार परमपद में स्थित पुरुष इस दुःखमय संसार में कभी नहीं आता। और वही वास्तव में परम पुरुषार्थी है। वह परमात्मा ही समस्त कारणों का कारण है, उसका कोई दूसरा कारण नहीं है। वही सम्पूर्ण सारों का सार है, उससे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है। जैसे तालाब में तटस्थ वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही उस असीम चिन्मय परमात्मारूप दर्पण में ये सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। उसी आनन्द-समुद्र परब्रह्म से सभी प्रकार के सुख प्रतिबिम्बित होते हैं। उस आनन्दमय परमात्मा में ही सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है, स्थित रहता है, बढ़ता है और विलीन हो जाता है। वह परब्रह्म भारी से भी भारी, हलके से हलका, स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है। वह दूर से भी दूर, निकट से भी निकट, छोटे से भी छोटा और बड़े से भी अत्यन्त बड़ा है तथा सबका प्रकाशक होने से ज्योतियों का ज्योति है। वह सम्पूर्ण वस्तुओं से रहित और सर्ववस्तु रूप है, वही सत् और असत् है, वही दृश्य और अदृश्य है, वह अहंता से रहित और अहंस्वरूप है। श्रीराम ! वास्तव में वही विशुद्ध जरारहित

परमात्मतत्व है। उसकी प्राप्ति होने पर चित्त परम शान्त हो जाता है।

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

तत्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाश से परमपद की प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जब तक मन विलीन नहीं होता, तब तक वासना का सर्वथा विनाश नहीं और जब तक वासना विनष्ट नहीं होती, तब तक चित्त शान्त नहीं होता। जब तक परमात्मा के तत्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक चित्त की शान्ति कहाँ और जब तक चित्त की शान्ति नहीं होती, तब तक परमात्मा के तत्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जब तक वासना का सर्वथा नाश नहीं होता, तब तक तत्व ज्ञान कहाँ से होगा और जब तक तत्वज्ञान नहीं होता, तब तक वासना का सर्वथा विनाश नहीं होगा। इसलिये परमात्मा का यथार्थ ज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय-ये तीनों ही एक दूसरे के कारण हैं। अतः ये दुस्साध्य हैं, किंतु असाध्य नहीं। विशेष प्रयत्न करने ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं। श्रीराम ! विवेक से युक्त पौरुष प्रयत्न से भोगेच्छा का दूर से ही परित्याग करके इन तीनों साधनों का अवलम्बन करना चाहिये। यदि इन तीनों उपायों का एक साथ प्रयत्नपूर्वक भली प्रकार बार-बार अभ्यास न किया जाय तो सैकड़ों वर्षों तक भी परमपद की प्राप्ति सम्भव नहीं। किंतु महाबुद्धिमान् श्रीराम ! वासनाक्षय, परमात्मा का यथार्थ ज्ञान और मनोनाश-इन तीनों का एक साथ दीर्घकाल तक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परमपदरूप फल देते हैं। इन तीनों का चिरकाल तक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने से अत्यन्त दृढ़ हृदयग्रन्थियाँ निःशेषरूप से टूट जाती हैं।

श्रीराम ! यह संसार की दृढ़ स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरों से मनुष्यों के द्वारा अभ्यस्त है; अतः चिरकाल तक अभ्यास किये बिना वह किसी तरह भी नष्ट नहीं हो सकती। इसलिये चलते-फिरते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, खड़े रहते, जागते, सोते-सभी अवस्थाओं में परम कल्याण के लिये इन तीनों उपायों के अभ्यास में लग जाना चाहिये। तत्वज्ञों का मत है कि वासनाओं के परित्याग के समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है। इसलिये वासना-परित्याग के साथ-साथ प्राण-निरोध का भी अभ्यास करना आवश्यक है। वासनाओं का भली-भाँति परित्याग करने से चित्त भूने हुए बीज के समान अचित्तरूप हो

जाता है और प्राणस्पन्द के निरोध से भी चित्त अचित्तरूप हो जाता है; इसलिये तुम जैसा उचित समझो, वैसा करो। चिरकाल तक प्राणायाम के अभ्यास से, योगाभ्यास में कुशल गुरुद्वारा बतायी हुई युक्ति से, स्वस्तिक आदि आसनों की सिद्धि से और उचित भोजन से प्राण-स्पन्दन का निरोध हो जाता है। परमात्मा के स्वरूप का साक्षात् अनुभव होने पर वासना उत्पन्न नहीं होती। आदि, मध्य और अन्त में कभी पृथक् न होने वाले एकमात्र सत्यस्वरूप परमात्मा को भलीभाँति यथार्थरूप से जान लेना ही ज्ञान है। यह ज्ञान वासना का सर्वथा विनाश कर देता है तथा अनासक्त होकर व्यवहार करने से, संसार का चिन्तन छोड़ने से और शरीर को विनाशशील समझने से वासना उत्पन्न नहीं होती। जिस प्रकार पवन-स्पन्द के शान्त हो जाने पर आकाश में धूलि नहीं उठती, वैसे ही वासना का विनाश हो जाने पर चित्त विषयों में नहीं भटकता। बुद्धिमान् पुरुष को एकाग्रचित्त से बारंबार एकान्त में बैठकर प्राणस्पन्द के निरोध के लिये विशेष यत्न करना चाहिये। जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथी अंकुश के बिना दूसरे उपाय से वश में नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्ति के बिना मन वश में नहीं होता। अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधु संगति, वासना का सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दन का निरोध-ये ही युक्तियाँ चित्त पर विजय पाने के लिये निश्चित रूप से दृढ़ उपाय हैं। इनसे तत्काल ही चित्त पर विजय प्राप्त हो जाती है। उपर्युक्त इन चार युक्तियों के रहते जो पुरुष हठ से चित्त को वशीभूत करना चाहते हैं, उनके सम्बन्ध में मेरा यही मत है कि वे दीपक का परित्याग करके अंजनों से अन्धकार का निवारण करना चाहते हैं। उपर्युक्त इन चार युक्तियों को त्याग कर जो पुरुष चित्त या चित्त के निकटवर्ती अपने शरीर को स्थिर करने के लिये यत्न करते हैं, उन हठ करने वाले पुरुषों को विवेकी लोग हठी समझते हैं।

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अठ्ठावनवाँ सर्ग

वैराग्य एवं सद्गुणों से तत्वज्ञान की प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! किंचिन्मात्र विवेकपूर्वक विचार से जिसने अपने चित्त का निग्रह कर लिया, उसने जन्म का फल पा लिया। यदि हृदय में इस विचाररूपी कल्पवृक्ष का कोमल अंकुर भी प्रकट हो जाय तो वही अंकुर

अभ्यास योग के द्वारा सैकड़ों शाखाओं में फैल सकता है। विवेक-वैराग्य से जिसका विचार कुछ दृढ़ हो गया है, उस पुरुष का शान्ति, समता, क्षमा, दया आदि पवित्र गुण उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार जल से परिपूर्ण सरोवर का पक्षी और मत्स्य, कच्छप आदि आश्रय लेते हैं। भलीभाँति परमात्मविषयक विचार करने से जिसे परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार हो गया है ऐसे ज्ञानी महापुरुष को अविद्या से उत्पन्न अत्यन्त रमणीय और विशाल वैभव भी आकृष्ट नहीं कर पाते। परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी है, उस महात्मा का यहाँ के विषय, मानसिक वृत्तियाँ, आधि और व्याधि-ये सब क्या कर सकते हैं अर्थात् वे उसे तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। जिसने ज्ञान की चतुर्थ भूमिका प्राप्त कर ली है और जिसने जानने योग्य परमात्मा के स्वरूप का अनुभव कर लिया है, उस धीर वीर ज्ञानी महात्मा पुरुष पर विषय तथा इन्द्रियरूपी डाकू क्या कभी आक्रमण कर सकते हैं ? जिस पुरुष का अन्तःकरण चलते-फिरते या बैठते, जागते या सोते-इन सभी अवस्थाओं में विवेकपूर्ण ब्रह्मविचार से युक्त नहीं रहता, वह मृतक के समान है। अज्ञानरूपी अन्धकार का हरण करने वाले परमात्मविषयक विचार से तत्काल ही विशुद्ध परमपदरूप परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है-ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाशमान दीपक से वस्तु प्रत्यक्ष दिखायी पड़ती है तथा परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से सम्पूर्ण दुःखों का उसी प्रकार अत्यन्त अभाव हो जाता है। क्योंकि जब परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान पूर्णतया प्राप्त हो जाता है, तब जानने योग्य ब्रह्म के स्वरूप की प्राप्ति अपने-आप ही उसी प्रकार हो जाती है, जिस प्रकार सूर्य का उदय हो जाने पर भूमण्डल पर विशुद्ध प्रकाश उसी क्षण अपने-आप अनायास ही हो जाता है। जिस सत्-शास्त्र के विवेक पूर्वक विचार से सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ अनुभव हो जाता है, वही ज्ञान कहा जाता है ओर वह ज्ञान ज्ञेयस्वरूप परमात्मा से भिन्न नहीं है-परमात्मा का स्वरूप ही है।

श्रीराम ! पण्डित लोग विवेकपूर्वक परमात्मविषयक विचार से उत्पन्न परमात्मस्वरूप के अनुभव को ही ज्ञान कहते हैं। उसी ज्ञान के अंदर ज्ञेय उसी प्रकार छिपा रहता है, जिस प्रकार दूध के अंदर माधुर्य छिपा रहता है। सम्यक्-ज्ञान के प्रकाश से आलोकित पुरुष स्वयं ज्ञेयस्वरूप हो जाता है। सम

और विशुद्धस्वरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही ज्ञेय कहा जाता है। जिसके अन्तःकरण में आनन्द का प्राकट्य हो गया है, वह ज्ञानवान् पुरुष किसी भी सांसारिक विषय में नहीं फँसता। समस्त संगों से रहित पूर्णकाम जीवन्मुक्त ज्ञानी सम्राट की तरह सदा मस्त रहता है। श्रीराम ! ज्ञानी महात्मा पुरुष वीणा-वंशी की मधुरध्वनि आदि मनोहर शब्दों में, कामिनियों के श्रृंगार-रस-मिश्रित कमनीय गीतों में, करताल, गम्भीर मृदंग तथा चित्र-विचित्र कांस्यताल आदि वाद्यों की ध्वनियों में-चाहे ध्वनि रुक्ष हो या मधुर कहीं भी प्रेम नहीं करता। आसक्ति-रहित ज्ञानी पुरुष कोमल कदली के स्तम्भों की पल्लव-पंक्तियों से युक्त तथा देवता एवं गन्धर्वों की कन्याओं के अंगों के समान अतिकोमल अवयव वाली लताओं से युक्त नन्दनवन की क्रीड़ाओं में कहीं रमण नहीं करता। जिस प्रकार हंस मरुभूमि में रमण नहीं करता। जिस प्रकार हंस मरुभूमि में रमण नहीं करता, उसी प्रकार स्वाधीन विषयभोगों में भी आसक्ति न रखने वाला धीर तत्वज्ञ किसी भी विषय में रमण नहीं करता। कदम्ब, कटहल, अंगूर, खरबूजा, अखरोट तथा नारंगी आदि फलों में; दही, दूध, घी, मक्खन, चावल आदि भोज्य पदार्थों में; लेह्य (चटनी), पेय (शर्बत) आदि विलास-पूर्ण चित्र-विचित्र छः प्रकार के रस युक्त पदार्थों में, इनके सिवा अन्यान्य फल, कन्द-मूल, शाक आदि भोज्य पदार्थों में-कहीं पर भी वह परमात्मा के आनन्द में तृप्त, आसक्ति रहित ज्ञानी महात्मा पुरुष नहीं फँसता।

धर्मराज, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वायु के लोकों को; मेरु, मन्दराचल, कैलास, सह्याद्रि तथा दर्दुर पर्वतों के शिखरों को; चन्द्रमा की चाँदनी को; मणिमुक्तामय रत्न और सुवर्ण-निर्मित महलों को; तिलोत्तमा, उर्वशी रम्भा, मेनका आदि की अंगलताओं को-किसी को भी वह आसक्तिरहित ज्ञानी महात्मा देखना भी नहीं चाहता और वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा में परिपूर्ण, मान न चाहने वाला, मौनी महात्मा शत्रुओं के प्रतिकूल व्यवहार को देखकर भी विचलित नहीं होता। जो एक ब्रह्मदृष्टि रखने वाला तथा विकार रहित समबुद्धि ज्ञानवान् पुरुष है, वह कनेर, मन्दार, कल्हार, कमल आदि में; कुई, नीलकमल, चम्पा, केतकी, अगर, जाति (मालती) आदि पुष्पों में; चन्दन, अगुरु, कपूर एवं कस्तूरी आदि में; केसर, लौंग-इलायची, कंकोल (शीतलचीनी के वृक्ष का भेद), तगर आदि अंगरागों में से किसी की भी सुगन्ध से प्रेम नहीं करता। जो

सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के ध्यान में मग्न है, वह वज्र के भयावह शब्द से, पर्वत के विस्फोट से एवं ऐरावत आदि हाथियों के चिंघाड़ने से कम्पित नहीं होता। तीक्ष्ण छुरे के धारा में या नवीन कमलों से निर्मित शय्याओं में, सूर्य किरणों से प्रतप्त शिलाओं में या कोमल ललनाओं में, सम्पत्तियों या उग्र विपत्तियों एवं क्रीड़ाओं तथा उत्सवों में विहार करते हुए भी ज्ञानी महात्मा को प्रतिकूल पदार्थों से तो उद्वेग नहीं होता और अनुकूल की प्राप्ति में हर्ष नहीं होता। वह भीतर से सदा अहंता-ममता एवं आसक्ति से रहित होता है और बाहर से निःस्वार्थ भाव से कर्म करता रहता है। जीवन का विनाश करने वाला तथा जीवन का दान देने वाला-इन दोनों पुरुषों को ज्ञानी पुरुष प्रसन्नता एवं मधुरता से शोभित समदृष्टि से देखता है। ज्ञानवान् पुरुष देवता और मनुष्य आदि शरीरों से तथा प्रिय और अप्रिय पदार्थों से न हर्षित होता है और न ग्लानि का अनुभव करता है अर्थात् अनुकूल में हर्षित नहीं होता औ प्रतिकूल में ग्लानि और विषाद के वशीभूत नहीं होता। श्रीराम ! अपने चित्त में आसक्ति का अभाव और परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने से तत्वज्ञानी पुरुष जगत् को मिथ्या समझता है। इसलिये वह किसी भी समय इन्द्रियों के द्वारा विषयों में रमण नहीं करता; क्योंकि उसकी बुद्धि समस्त मानस पीड़ाओं से मुक्त हो चुकी रहती है। किंतु जो तत्वज्ञान से शून्य और शान्तिरहित है एवं परमात्मा को प्राप्त नहीं हुआ है, उस वास्तविक स्थिति से वंचित मनुष्य को इन्द्रियाँ तत्काल उसी प्रकार निगल जाती हैं, जिस प्रकार हरिन हरे कोमल पत्तों को निगल जाते हैं।

रघुनन्दन ! जो विवेकपूर्वक विचारशील है एवं जिसकी एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म के स्वरूप में ही स्थिति है और परमात्मा के स्वरूप में ही जिसको विश्राम प्राप्त हो गया है, उस ज्ञानी महात्मा को संसार के संकल्प-विकल्प विचलित नहीं कर सकते-ठीक उसी प्रकार जैसे जल का प्रवाह अचल पहाड़ को विचलित नहीं कर सकता। समस्त संकल्पों की सीमा के अन्तस्वरूप पद में जो महानुभाव विश्राम को प्राप्त हो गये हैं, उन परमात्मा को प्राप्त हुए महात्माओं की दृष्टि में सुवर्णमय सुमेरु पर्वत भी तृण के सदृश है अर्थात् कुछ भी नहीं है। उन विशालहृदय महात्माओं की दृष्टि में सारा संसार और एक छोटा-सा तृण, अमृत और विष, कल्प और क्षण समान हैं। जिस जड़ दृश्य संसार का आदि और अन्त में अस्तित्व नहीं है, उसकी यदि वर्तमान

काल में कुछ काल तक सत्ता प्रतीत हो रही है तो वह जीवात्मा का भ्रम ही है। ज्ञानी शरीर, मन, बुद्धि तथा आसक्ति से रहित इन्द्रियों से चाहे कर्म करे या न करे, असंग होने के कारण कर्म से लिप्त नहीं होता। महाबाहु श्रीराम ! जिस प्रकार कोई भी मनोराज्य की सम्पत्तियों के नष्ट होने या न होने पर, उससे उत्पन्न सुख-दुःखों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा पुरुष आसक्ति रहित मन से कर्म करता हुआ भी उससे उत्पन्न सुख-दुःखरूप फल से लिप्त नहीं होता तथा आसक्ति रहित मनवाला महात्मा पुरुष चक्षु से विषयों को देखता हुआ भी, उसका चित्त अन्यत्र- परमात्मा में स्थित होने के कारण, कुछ नहीं देखता। जिसका चित्त दूसरी जगह तत्परता से लगा रहता है, वह विषय को नहीं देखता-यह बात बालक भी जानता है। इसलिये आसक्तिरहित मन वाला ज्ञानी महात्मा पुरुष सुनता हुआ भी नहीं सुनता, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता, सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता, नेत्रों को खोलता और बंद करता हुआ भी न उन्हें खोलता और न बंद ही करता है। श्रीराम ! आसक्ति ही संसार का कारण है, आसक्ति ही समस्त पदार्थों का हेतु है, आसक्ति ही वासनाओं की जड़ है और आसक्ति ही समस्त विपत्तियों का मूल है। अतः आसक्ति के त्याग को ही मोक्ष समझा गया है और आसक्ति के त्याग से ही मनुष्य जन्म-मरण से छूट जाता है।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-अखिल संशयरूपी कुहरे का नाश करने वाले शरत्काल के वायुरूप महामुने ! संग (आसक्ति) किसे कहते हैं-प्रभो ! यह मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश में जो हर्ष और विषादरूप विकार उत्पन्न करने वाली मलिन वासना है, वही संग (आसक्ति) है-ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। जीवन्मुक्त स्वरूप वाले तत्ववेत्ताओं के पुनर्जन्म का नाश करने वाली, हर्ष एवं विषाद दोनों से रहित, शुद्ध वासना-आसक्ति रहित चित्तवृत्ति होती है। वह भूने हुए बीज के समान आकृति मात्र है। उस शुद्ध वासना का दूसरा नाम असंग (आसक्ति का अभाव) जानो। वह तब तक रहती है, जब तक प्रारब्ध भोगों का संस्काररूप देह रहता है। उस शुद्ध वासना से जो कुछ किया जाता है, वह पुनः संसार में जन्म-मरणरूप बन्धन का कारण नहीं होता। जो जीवन्मुक्त नहीं हैं, जो दीन

एवं मूढ़चित्त हैं, उनकी वासना हर्ष तथा विषाद से युक्त रहती है। वह वासना जन्म-मरणरूप बन्धन देने वाली होती है। इसी बन्धनकारक वासना का दूसरा नाम संग है। यह पुनर्जन्म का कारण है। इस वासना से जो कुछ किया जाता है, वह केवल बन्धन का ही हेतु होता है। रघुनन्दन ! यदि तुम दुःखों से घबराते नहीं, सुखों से हर्षित नहीं होते और सम्पूर्ण आशाओं से रहित हो तो तुम असंग ही हो। समस्त व्यवहारों में एवं सुख-दुःख की अवस्थाओं में समचित्त रहते हुए ही यदि विचरण करते हो तुम असंग ही हो। सांसारिक पदार्थों को तुम अपनी आत्मा ही समझते हो और जिस समय न्याययुक्त जैसा व्यवहार प्राप्त होता है, उसी के अनुसार शास्त्रानुकूल आचरण करते हो तो तुम असंग ही हो। जीवन्मुक्तों के ज्ञान से सम्पन्न, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, परमात्मा के स्वरूप का मनन करने वाला श्रेष्ठ मुनि मान, मद, मात्सर्य और चिन्ता ज्वर से रहित होकर स्थित रहता है। श्रीराम ! प्रचुरतर पदार्थों के सदा रहते हुए भी सबमें समानभाव रखने वाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याचना आदि रूप दीनता से शून्य अन्तःकरण वाला यह महात्मा एकमात्र अपने वर्णाश्रमोचित स्वाभाविक क्रम-प्राप्त न्याययुक्त व्यापार से पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता। वर्णाश्रमानुसार परम्परा-प्राप्त अपना जो कुछ भी कर्त्तव्य है, उसका वह ज्ञानी संसर्ग सम्बन्ध अर्थात् आसक्ति, अहंता-ममता से रहित बुद्धि से खेदशून्य हो अनुष्ठान करता हुआ परमात्मस्वरूप अपने आत्मा में रमण करता है। जिस प्रकार मन्दराचल पर्वत से मथे जाने पर भी क्षीरसमुद्र अपना स्वाभाविक शुक्लपन नहीं छोड़ता, उसी प्रकार आपत्ति अथवा उत्तम सम्पत्ति क प्राप्त होने पर वह महामति तत्वज्ञ अपना सहज स्वभाव नहीं छोड़ता।

अठ्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उपशम प्रकरण सम्पूर्ण

सचित्र
योगवासिष्ठ महारामायण

द्वितीय खण्ड

निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध

आकाश की शून्यता आकाश ही है, जल की द्रवता जल ही है, प्रकाश की आभा प्रकाश ही है, वायु का स्पन्दन वायु ही है, समुद्र की तरंगें समुद्र ही हैं, बर्फ की शीतलता बर्फ ही है, काजल की कालिमा काजल ही है–ठीक वैसे ही ब्रह्म में दीखने वाला यह समस्त जगत भी ब्रह्म ही है।